भारतीय दर्शन तथा आधुनिक विज्ञान

डॉ. सुद्यु[illegible] आचार्य

प्रथम खण्ड-प्रकाश एवं दृष्टि-विज्ञान

द्वितीय खण्ड-ध्वनि एवं श्रवण-विज्ञान

तृतीय खण्ड-वायु एवं स्पर्श-विज्ञान

चतुर्थ खण्ड-जल एवं रसना-विज्ञान

पञ्चम खण्ड-पृथिवी एवं गन्ध-विज्ञान

प्रकाशक

वेद [illegible] वितानम्, प्रकाशन एवं शिक्षण संस्थान

[illegible] ४८५००१

भारतीय दर्शन तथा आधुनिक विज्ञान

प्रथम खण्ड	-	प्रकाश एवं दृष्टि-विज्ञान
द्वितीय खण्ड	-	ध्वनि एवं श्रवण-विज्ञान
तृतीय खण्ड	-	वायु एवं स्पर्श-विज्ञान
चतुर्थ खण्ड	-	जल एवं रसना-विज्ञान
पञ्चम खण्ड	-	पृथिवी एवं गन्ध-विज्ञान

लेखक
डा० सुद्युम्न आचार्य
व्याकरणाचार्य, M.A.(अष्ट—स्वर्णपदक विजेता) D. Phil.
रीडर, स्नातकोत्तर संस्कृत अध्ययन तथा शोध विभाग
श्री मु० म० टाउन पोस्ट ग्रेजुएट कालेज
जनपद—बलिया (उ०प्र०) २७७००१

प्रकाशक : गृहसंस्थान—
वेद वाणी वितानम्. प्रकाशन एवं शिक्षण संस्थान
रघुराज नगर, कोलगवाँ, जिला—सतना (म० प्र०) ४८५००१

मूल्य– साधारण संस्करण : १२५/– रु० मात्र।
प्रथम संस्करण– वर्ष १९९८ ई०
मुद्रित– ७५० प्रतियाँ

लेजर टाइप सेटिंग–
रवि कम्प्यूटर्स
टाउन कालेज चौराहा
बलिया (उ०प्र०)

मुद्रण–
तारा प्रिंटिंग वर्क्स,
वाराणसी (उ०प्र०)

भौतिक विज्ञान के विकास की परम्परा

भारत में भौतिक विज्ञान, खगोलशास्त्र आदि विषयों पर चिन्तन तथा विकास की लम्बी परम्परा रही है। आज जिन सिद्धान्तों तथा वस्तुओं को हम सामान्य ज्ञान का विषय समझते हैं, उनके सम्बन्ध में हम जल्दी सोच भी नहीं सकते कि इनके पीछे भारत सहित विश्व के विद्वानों का कितना परिश्रम समाहित है। इन विषयों पर निश्चित सिद्धान्त स्थिर करने के लिये विश्व के विद्वानों ने निरन्तर मौलिक चिन्तन किया, एक दूसरे के सम्पर्क में रह कर अपने विचारों का आदान–प्रदान किया तथा आवश्यकता पड़ने पर परवर्ती युगों में पिछले सिद्धान्तों का परिष्कार भी किया।

भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में ग्रीस में अरस्तू तथा भारत में महर्षि कणाद का नाम सर्वाधिक सम्मानास्पद रहा है। ये दोनों भौतिक विज्ञान के प्रवर्तक या जनक माने जाते हैं। यद्यपि इनसे पूर्व भी विद्वानों में निरन्तर चिन्तन जारी रहा था। पर सभी चिन्तनों को समाहित करते हुए भौतिकी के सिद्धान्तों के क्रमबद्ध निरूपण का श्रेय इन्हें ही प्राप्त है।

अपने सिद्धान्तों की स्थापना में इन दोनों महाविद्वानों ने एक दूसरे की नकल नहीं, अपितु मौलिक स्थापनाएँ की हैं। इनके द्वारा प्रवर्तित सिद्धान्तों का प्रभाव उन–२ क्षेत्रों में हजारों वर्षों तक बना रहा है। जैसे अरस्तू ने सिद्धान्त स्थिर किया कि विश्व की सभी वस्तुएँ केवल एक ही मौलिक पदार्थ से निर्मित हैं। इस में ४ प्रकार के गुणों के भेद से विश्व में असंख्य प्रकार की यौगिक वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। इस सिद्धान्त को अकाट्य मानते हुए लोगों ने हजारों वर्षों तक विविध धातुओं से सोना बनाने में अथक परिश्रम किया। उनका सोच यह था कि जब केवल मात्रा तथा गुणों के बदलने से एक ही पदार्थ विविध रूपों में परिवर्तित हो सकता है तो सोना क्यों नहीं बन सकता!

पर भारत में महर्षि कणाद ने अपने मौलिक चिन्तन द्वारा एक दूसरे में न बदले जा सकने वाले ५ प्रकार के मौलिक उपादान–द्रव्यों या महाभूतों के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसे परवर्ती युगों में सभी आस्तिक दर्शन–सम्प्रदायों ने सदा समान रूप से स्वीकार किया। नास्तिक दार्शनिकों ने भी किंचित् परिवर्तन के साथ इसे मान्यता प्रदान की।

इन मौलिक सिद्धान्तों की स्थापना के क्रम में पूर्व और पश्चिम के लोग एक दूसरे के सम्पर्क में भी रहे थे। प्राचीन काल से भारत का यूरोप के देशों के साथ मसालों तथा कलात्मक वस्तुओं का व्यापार अविज्ञात नहीं है। इन देशों के भौतिक

वैज्ञानिक भी एक दूसरे के सम्पर्क में रहते हुए विविध विषयों पर विचार–विमर्श करते थे तथा समान निष्कर्षों पर पहुँचने की स्थिति में समान सिद्धान्तों की स्थापना भी करते थे। अनेक विषयों पर ऐसी समानता से यह तथ्य सुपुष्ट होता है। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप ऐसे भी अनेक सिद्धान्त जो आधुनिक युग में पूरे विश्व में अमान्य घोषित किये जा चुके हैं, वे भी उस समय एशिया तथा यूरोप में समान रूप से मान्यता–प्राप्त रहे हैं।

उदाहरणतः, अरस्तू ने अनेक प्रयोगों द्वारा यह स्थापित किया कि हवा में वजन नहीं होता। उनके पश्चात् भी विविध प्रयोगों से यह सिद्धान्त स्थिर पाया गया। इसमें सन्देह नहीं कि भारत में भी ऐसे अनेक प्रयोग किये गए होंगे। इनके आधार पर भारतीय दर्शन में भी यह स्थिर मान लिया गया कि ५ महाभूतों में से केवल पृथिवी और जल में ही गुरुत्व होता है तथा वायु में गुरुत्व नहीं होता।

इसी प्रकार यूक्लिड के समय पाश्चात्य देशों में यह मान्य था कि प्रकाश का स्रोत आँखों में होता है। भारत में भी इसे स्वीकार किया गया। अतः न्याय–शास्त्र में अनेक तर्कों से यह प्रतिपादित किया गया कि चाक्षुष प्रत्यक्ष के समय आँखों से किरणें निकलती हैं। इस सिद्धान्त को सुनिश्चित मानते हुए परवर्ती दार्शनिकों ने इसी आधार पर बड़े विस्तार से बाहरी वस्तुओं के दर्शन की पद्धति का निरूपण किया।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि भारत के महान् दार्शनिकों ने अनेक अवसरों पर विश्व–प्रचलित सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए अपने शास्त्रों में अपने शब्दों में उनकी स्पष्ट स्थापना की। पर परवर्ती युग में जैसे ही उन्हें यह प्रतीत हुआ कि इसमें परिष्कार की आवश्यकता है, वैसे ही उन्होंने अन्य सिद्धान्तों के प्रतिपादन में भी संकोच नहीं किया।

उदाहरण के लिये प्राचीन काल में लोगों में यह प्रमुख प्रश्न था कि जब सभी वस्तुएँ ऊपर से नीचे गिरती हैं तो आग नीचे से ऊपर किस प्रकार उठती है। इसके उत्तर में अरस्तू ने यह सिद्धान्त स्थिर किया कि विश्व में हर पदार्थ मूलतः एक सुनिश्चित स्थान रखता है तथा उसके अंश उसकी ओर आकर्षित होकर वहीं पहुँचना चाहते हैं। इस प्रकार मिट्टी का ढेला पृथिवी से सम्बद्ध होने से नीचे धरती की ओर गिरता है तथा अग्नि सूर्य से सम्बन्धित होने से उसकी ओर आकर्षित होते हुए ऊपर उठती है। *(It is, for example, a self-evident principle that everything in the universe has its place, hence one can deduce that objects fall to the ground because that's where they belong, and smoke goes up because that's where it belongs.—The universe and Dr. Einstein, Page 17)*
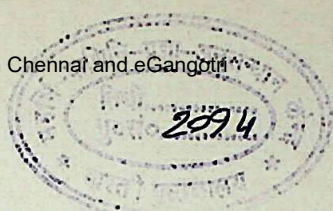
भारतीय दार्शनिकों में भी यह सिद्धान्त लोकप्रिय हुआ। अतः महाभाष्यकार ने एक प्रसंग में कहा कि आग की लपट मूलतः सूर्य की ओर आकर्षित होकर ऊपर उठती है। (*ज्योतिषो-विकारोऽर्चिराकाशदेशे सुप्रज्वलितं नैव तिर्यग्गच्छति, नार्वागारोहति, ज्योतिषो विकारो ज्योतिरेव गच्छत्यान्तर्यतः—अष्टाध्यायी सूत्र १.१.४६ पर महाभाष्य*)

पर जैसे ही विद्वानों को यह विदित हुआ कि इसमें परिष्कार की आवश्यकता है, उसी समय उन्होंने परिष्कृत सिद्धान्त की स्थापना की। सांख्य की व्याख्या में आचार्य वाचस्पति मिश्र ने कहा कि कोई पदार्थ लघुता के कारण ऊपर उठता है। इसीलिये आग का ऊपर की ओर ज्वलन होता है। (*तत्र कार्योद्गमने हेतुर्धर्मो लाघवं, गौरवप्रतिद्वन्द्वि, यतोऽग्नेरूर्ध्वज्वलनं भवति। —सांख्य—कारिका १३वें श्लोक में तत्त्व—कौमुदी*)

दर्शन में परिष्कार का दीपक कभी मन्द नहीं हुआ।

दर्शन—शास्त्र में सिद्धान्तों की परीक्षा तथा परिष्कार उसकी प्रमुख विशिष्टता रही है। इस देश के उच्च कोटि के दार्शनिक कभी लकीर के फकीर नहीं रहे। उन्होंने दर्शन को सही अर्थों में प्रकृष्ट ईक्षण का विषय बनाया था। उनका यह मानना था कि किसी बड़े आदमी के कहने से नहीं, अपितु तर्क और युक्ति से तथ्य को स्वीकार करना चाहिये—

युक्तियुक्तं वचो ग्राह्यं न तु पुरुषगौरवात्। — भास्कराचार्य।

अन्य दार्शनिकों का कहना था कि जैसे सोना को कसौटी पर कस कर तथा उसे ठोंक पीट कर ही शुद्ध माना जाता है, उसी प्रकार मेरे वचनों की परीक्षा करके ही सही मानना, किसी के कहने से नहीं—

तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्य मद्वचो ग्राह्यं न तु पुरुषगौरवात्।। —तत्त्व संग्रह।

इसलिये दार्शनिकों ने प्राचीन सिद्धान्तों की भी निरन्तर परीक्षा की तथा आवश्यकता पड़ने पर उसका परिष्कार भी किया। उदाहरणतः, वैशेषिक सूत्र में वर्णित भौतिक विज्ञान के सिद्धान्त तथा उनके तर्क अकाट्य समझे जाते रहे हैं। पर प्रशस्त पाद ने वैशेषिक के अनेक सिद्धान्तों को बदल दिया तथा परवर्ती दार्शनिकों ने इसे स्वीकार भी कर लिया। जैसे वैशेषिक ने कहा था कि 'सामान्य' तथा 'विशेष' नामक पदार्थ बुद्ध्यपेक्ष या बुद्धि—सापेक्ष होते हैं। पर प्रशस्त पाद ने इन्हें बुद्धि—निरपेक्ष, वस्तु—निष्ठ सत्ता वाला पदार्थ स्थापित किया। वैशेषिक ने केवल परमाणु का वर्णन किया था। प्रशस्त पाद ने अनेक विशिष्ट नियमों के साथ द्व्यणुक, त्रसरेणु आदि से होते हुए यौगिक पदार्थों की उत्पत्ति के क्रम को निरूपित

किया। इसी प्रकार वैशेषिक ने विश्व में केवल ६ पदार्थों की स्थापना की थी। पर उदयनाचार्य आदि ने इसमें एक और अभाव पदार्थ को जोड़ कर पदार्थों की कुल संख्या ७ कर दी।

प्रशस्त पाद आदि आचार्यों के ये सिद्धान्त इतने लोकप्रिय हुए कि इन्हें सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया। इन सिद्धान्तों को वैशेषिक का अभिन्न अंग मानते हुए इनके तर्कों को अकाट्य समझा जाने लगा।

पर परवर्ती दार्शनिकों ने आवश्यकता पड़ने पर इनके सिद्धान्तों का भी परिष्कार किया। जैसे, प्रशस्त पाद ने वृक्षों को जीवधारी नहीं माना था। उनका कहना था कि वृक्षों की क्रियाएं बुद्धि–पूर्वक न होने से ये सर्वथा अचेतन हैं। पर १७वीं शताब्दी में न्याय सिद्धान्त मुक्तावली के प्रख्यात विद्वान् दार्शनिक विश्वनाथ भट्टाचार्य ने इस सिद्धान्त को बदल डाला। उनका कहना था कि वैशेषिक में वर्णित सजीव प्राणियों के 'प्राण, जीवन' इत्यादि लक्षण वृक्षों में प्राप्त होते हैं। अतः ये निश्चय ही जीवधारी प्राणी हैं। इस प्रकार उन्होंने उपनिषदों के सिद्धान्त का समर्थन किया।

इसी प्रकार प्रशस्त पाद ने जल में स्वाभाविक द्रवत्व माना था। इसे स्वीकार करते हुए मुक्तावलीकार ने भी हिम दशा के जल में भी द्रवत्व गुण को यथावत् मानते हुए इसमें काठिन्य की प्रतीति को भ्रान्त बताया। पर नवीन न्याय के विद्वानों को यह ठीक नहीं लगा। अतः उन्होंने इसका विरोध करते हुए हिम में कठोरता को वास्तविक सिद्ध किया।

इसी प्रकार प्राचीन न्याय के विद्वानों ने सोना को 'तेजस्' नामक पदार्थ से उत्पन्न माना था। क्योंकि उनके मतानुसार सोना को तपा कर द्रव तो बनाया जा सकता है। पर भयंकर ताप में भी इसे भाप बना कर उड़ाया नहीं जा सकता। पर नवीन नैयायिकों के समय, ऐसा लगता है कि इसे अत्यन्त उत्कृष्ट ताप में उड़ा देना सम्भव होने लगा था। अतः इस नवीन परिस्थिति में पिछले सिद्धान्त का विरोध करते हुए यह माना कि सोना तैजस नहीं, अपितु पार्थिव ही होता है। उनका कहना था कि द्रुत, द्रुततर आदि क्रम से सोना के द्रवत्व का सर्वथा उच्छेद किया जाना सम्भव है। अतः यह तैजस नहीं है। (*नवीनास्तु –सुवर्णं पार्थिवमेव,... द्रुतं द्रुततरमिति प्रतीतेर्द्रवत्वस्याप्यत्यन्तोच्छेदात् ।*–मुक्तावली, तेजो–निरूपण पर दिनकरी)।

ये कुछ उदाहरण यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं कि दार्शनिकों ने सदा नवीन तथ्यों का स्वागत किया। किसी भी दार्शनिक ने दर्शन–शास्त्र की इयत्ता नहीं स्थापित की। अपितु नये तथ्यों के आलोक में नवीन सिद्धान्तों का विकास करते हुए उसे दर्शन–ग्रन्थों में समाविष्ट किया।

दर्शन के पाठ्यक्रम की वर्तमान दशा

आधुनिक युग को ज्ञान–विज्ञान के विस्फोट का युग कहा जाता है। इस युग में भौतिक विज्ञान, प्राणि–विज्ञान आदि अनेक विषयों में अपार उन्नति हुई है। इस परिस्थिति में दर्शन जैसे प्रगतिशील शास्त्र से यह अपेक्षा होती है कि यह आधुनिक विज्ञान से समन्वय स्थापित करने के साथ–साथ नए तर्कों के आलोक में नये तथ्यों का संवाहक बनेगा।

इस अपेक्षा का अनुभव करते हुए वाराणसी में संस्कृत विश्वविद्यालय के संस्थापक डॉ० सम्पूर्णानन्द ने कहा था–

"विज्ञानं दर्शनमवरजाग्रजमिव भ्रातरं संघर्षयिष्यतीति मम निश्चितं मतम्। असंस्थापिते दर्शनविज्ञान–समन्वये उभयोर्हानिर्भविष्यति। ऋषिषूत्क्रामत्सु देवा मनुष्येभ्यो तर्कमृषिं प्रायच्छन्निति गिरन्तोऽपि वयं तर्काद् भीता इव वर्तयामः"।

–स्वागत भाषण, सारस्वती सुषमा ४।२ अंक, अप्रैल १९४६

अर्थात् *मेरा यह निश्चित मत है कि विज्ञान तथा दर्शन छोटे, बड़े भाई की तरह संघर्ष करेगा। दर्शन तथा विज्ञांन के समन्वय के बिना दोनों की हानि होगी। ऋषियों के चले जाने पर देवों ने मनुष्यों को 'तर्क' नामक ऋषि दिया, यह कहते हुए भी हम तर्कों से डरते हैं।*

इस विषय में स्वाधीन भारत के निर्माता पं० जवाहर लाल नेहरू ने अपना अभिमत इस प्रकार प्रकट किया था–

It is the scientific approach, ... the search for truth and new knowledge, the refusal to accept anything without testing and trial, the capacity to change previous conclusions in the face of new evidence— all this is necessary........

—The Discovery of India, Page- 512

अर्थात् *वैज्ञानिक दृष्टिकोण, सत्य तथा नवीन ज्ञान की खोज, परीक्षा के बिना किसी तथ्य को मानने से अस्वीकार, नए तर्कों तथा साक्ष्यों के समक्ष पिछले निष्कर्षों को बदलने का सामर्थ्य –यह सभी कुछ आज की आवश्यकता है।*

महान् विद्वान् डॉ० सुब्रह्मण्यम् अय्यर ने संस्कृत विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भाषण में अपने उद्‌गार इस प्रकार प्रकट किये थे–

"संस्कृत विश्वविद्यालये प्राचीनैः शास्त्रैः सह तत्सदृशानामाधुनिकविज्ञानाना–माधुनिकदर्शनानां चाध्ययने तुलनात्मिकया दृष्ट्या क्रियमाणे यद् वैशिष्ट्यं प्रादुर्भवति

तदपि शोभनं स्यात्। यथा... फिजिक्स, कैमिस्ट्री नामकाभ्यां विज्ञानाभ्यां सहाधीतं वैशेषिक–शास्त्रम् अतीव बुद्धिवर्धनं भवेत्"।

—दीक्षान्त भाषण सारस्वती सुषमा १२।३–४

अर्थात् संस्कृत विश्वविद्यालय में प्राचीन शास्त्रों के साथ उनके सदृश आधुनिक विज्ञान तथा आधुनिक दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन अत्यन्त समुचित होगा। जैसे फिजिक्स, कैमिस्ट्री के साथ वैशेषिक शास्त्र का अध्ययन अत्यन्त बुद्धि–वर्धक होगा।

यह वक्तव्य सचमुच अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तुलनात्मक अध्ययन होने पर हम पाते हैं कि महर्षि कणाद के कुछ सिद्धान्तों में न्यूटन के सिद्धान्त बीज रूप से निहित हैं। जैसे महर्षि कणाद ने माना कि किसी पिण्ड का वेग उसके पतन में प्रतिबन्धक होता है। इसे अपने विस्तृत रूप में ग्रहों के अपतन के कारण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इसी प्रकार दर्शन के अनेक न्याय ज्यामिति के प्राचीन प्रमेयों के समकक्ष हैं। जैसे, वेदान्त के 'तदभिन्नाभिन्नत्वे सति तदभिन्नत्व–नियमः' —यह यूक्लिड के प्रथम स्वयंसिद्ध से तुलनीय है। पर दोनों शास्त्रों के तुलनात्मक अध्ययन के अभाव में हम ऐसे समतुल्य सिद्धान्तों को नहीं जान सकते।

आज स्थिति यह है कि हमारे देश के विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में कम से कम २५०–३०० वर्ष पुराने दर्शन के ग्रन्थ ठीक उसी रूप में बिना किसी तुलना या समीक्षा के साथ पढ़े पढ़ाए जाते हैं। इन ग्रन्थों में नए तथ्यों का समावेश करते हुए छात्र को यह नहीं बताया जाता कि आधुनिक विज्ञान का उन विषयों में क्या मन्तव्य है। दर्शन के प्राचीन विद्वानों में किसी ने यह तो नहीं कहा था कि दर्शन इतना ही है या इसमें नए तथ्यों का प्रवेश वर्जित है। संस्कृत जैसी अतिसमृद्ध भाषा ऐसी भी नहीं है कि उसमें नए भावों के प्रकाशन का सामर्थ्य क्षीण हो गया हो। फिर भी आज संस्कृत में न्याय–वैशेषिक के माध्यम से भौतिक विज्ञान का अध्ययन करने वाला छात्र बिना किसी समीक्षा के साथ यह पढ़ने को मजबूर है कि हवा में वजन नहीं होता, अथवा यह कि देखते समय आँखों से किरणें निकलती हैं।

आज स्कूलों में भौतिक विज्ञान के छात्र को प्रारम्भ से ही यह बताया जाता है कि पुराने जमाने में अरस्तू जैसे दार्शनिक हवा में वजन नहीं मानते थे। पर अब अमुक प्रयोगों से इसमें वजन को सिद्ध किया जा सकता है। यह बताते हुए ऐसा कोई नहीं मानता कि इससे अरस्तू के सम्मान में जरा सी भी कोई क्षति पहुँचती है।

पर संस्कृत में दर्शन के पाठ्यक्रमों में इस प्रकार के तुलनात्मक ज्ञान को विकसित करने की व्यवस्था नहीं हो पाई है। दर्शन के जिन कुछ अप्रसिद्ध मतों में आधुनिक विज्ञान के समतुल्य बातें कही भी गई हैं, उन्हें भी प्रचलित पाठ्यक्रमों में स्थान नहीं मिल पाया है। जैसे सोना के तैजस न होने अथवा प्रचण्ड ताप में भाप बन सकने की वास्तविकता को नवीन न्याय में प्रकट किया गया है। पर हमें वही सोना के तैजसत्व को जटिल अनुमानों के साथ पढ़ाया जाता है, जैसा तर्कभाषा या न्यायसिद्धान्त मुक्तावली में लिखा है। इसी प्रकार यह हो सकता है कि न्याय के किसी मत में आँखों को प्रकाश का उत्सर्जक न मानते हुए उसे सूर्य से प्राप्त प्रकाश का संग्राहक माना गया हो। क्योंकि सुश्रुत में 'काचाक्ष' की चर्चा आई है। न्याय में भी वैद्यक में वर्णित 'काचकामला' नामक आँख के दोष का वर्णन हुआ है। इससे लगता है कि वैद्यक ग्रन्थों में आँखों में काच के समान अपवर्तक दृष्टिमण्डल (Lens) का अस्तित्व स्वीकार किया गया होगा। पर स्पष्ट प्रमाणों के अभाव में हम इस विषय में विस्तार से कुछ नहीं कह सकते।

इस परिस्थिति में दर्शन के छात्र को आँखों से किरणें निकलने के सिद्धान्त को आधार बना कर एक अत्यन्त जटिल प्रक्रिया के अन्तर्गत चाक्षुष प्रत्यक्ष को समझाया जाता है। पर प्राचीन दार्शनिकों द्वारा 'किरणों के संग्राहक होने' की मान्यता की सम्भावना को भी नहीं बताया जाता। हमें दर्शन–ग्रन्थों के अन्तर्गत दृष्टिमण्डल (Lens) द्वारा प्रकाश के अपवर्तन तथा दृष्टि–वितान (retina) में प्रतिबिम्ब–निर्माण आदि के विषय में कुछ भी अवगत नहीं कराया जाता। इस स्थिति में न्याय द्वारा भौतिक विज्ञान का अध्ययन करने वाले छात्र को अत्यन्त दुर्गम मार्ग से एक ऐसी दुनियाँ में पहुँचा दिया जाता है, जहाँ आँखों के इन अंगों तथा इनकी कार्य–पद्धति के विषय में कुछ नहीं जाना जा सकता।

भौतिक विज्ञान के पाठ्यक्रम की वर्तमान स्थिति

इसमें सन्देह नहीं कि भौतिक विज्ञान का आधुनिक पाठ्यक्रम अत्यन्त वैज्ञानिक तथा क्रमबद्ध है। इसमें विश्व की नवीनतम खोजों को भी विस्तार से समाहित किया जाता है। पर इसमें भारतीय विज्ञान की वास्तविक उपलब्धियों का भी अति संक्षेप से वर्णन किया जाता है। इस विषय में पाठ्यक्रम–निर्धारकों में अपेक्षित तत्परता दृष्टिगोचर नहीं होती। उदाहरण के लिये अंकगणित का छात्र यह स्पष्ट रीति से नहीं जान पाता कि अंकों के लेखन की पद्धति मूलतः भारत की ब्राह्मी लिपि से तथा उनके नाम आदि मूलतः संस्कृत से अरब तथा यूरोप के देशों में विकसित हुए हैं। इसके अभाव में छात्र ऐसे प्रश्नों के रोचक उत्तर नहीं दे सकता कि हिन्दी में 'लाख' तथा इंग्लिश में 'Lac' शब्द भी समान रूप से एक

विशाल संख्या के साथ–साथ 'राल' से बने रंग के लिये भी क्यों प्रयुक्त होते हैं। रेखागणित का छात्र यह नहीं बता पाता कि 'त्रिज्या' जैसे शब्द किससे विकसित है या इसका मौलिक अर्थ क्या है। अथवा यह शब्द radius अर्थ को किस प्रकार अभिव्यक्त कर पाता है। भौतिक विज्ञान का छात्र चुम्बक के लिये magnet शब्द तथा इसके रोचक इतिहास को तो बता सकता है। पर वह सामान्यतया यह नहीं जान पाता कि महाभारत में इसके लिये 'अयस्कान्त' अथवा वैशेषिक में 'मणि' शब्द का उल्लेख हुआ है। अथवा यह कि छठी शताब्दी में वराहमिहिर ने अयस्कान्त के विशाल गोले तथा चुम्बकीय शक्ति का निरूपण करते हुए यह सिद्ध किया था कि पृथिवी या अन्य ग्रह आकाश में निराधार अवस्थित हो सकते हैं।

इस विषय में उदाहरण बहुत हैं। इस दशा को बदलने के लिये यह समय की माँग है कि एक ओर भौतिक–विज्ञान के पाठ्यक्रमों में प्राचीन विज्ञान का सन्तुलित तथा प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया जाय तथा साथ ही दर्शन–ग्रन्थों को आधुनिक विज्ञान के साथ तुलना तथा नए तथ्यों के समावेश के साथ पढ़ाया जाय। इसके लिये प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक द्वारा 'भारतीय दर्शन तथा आधुनिक विज्ञान' नामक ग्रन्थ इस दिशा में किया गया एक विनम्र प्रयास है। इसकी कुछ प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रमुख विशेषताएँ

१. इसमें दर्शन के भौतिक सिद्धान्तों के विकास का कालक्रमानुसार निरूपण किया गया है। २. भाषा–विज्ञान के आधार पर शब्दों तथा सूक्तियों में छिपी मान्यताओं को खोजने का रोचक प्रयास किया गया है। ३. आस्तिक–नास्तिक दार्शनिकों तथा पाश्चात्य दार्शनिकों के साथ तुलना के द्वारा भौतिक सिद्धान्तों की परस्पर समानता, विषमता दिखाने के पश्चात् आधुनिक विज्ञान के आलोक में इसका निरूपण किया गया है। ४. ऐसे दर्शन–सिद्धान्तों का अलग से वर्णन किया गया है, जो इस समय विज्ञान से विपरीत होकर भी प्राचीन काल में विश्व में मान्यता प्राप्त कर चुके थे। ५. ऐसे अनेक वैदिक तथा दार्शनिक सिद्धान्तों का रेखांकन है, जो विज्ञान–सम्मत होने पर भी अल्प–प्रचारित होने के कारण पाठ्य–ग्रन्थों में स्थान नहीं पा सके। ६. विज्ञान से समतुल्य अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों की नवीन तथ्यों तथा तर्कों के आलोक में पुनः प्रतिष्ठा की गई है। ७. दर्शन की अनेक सैद्धान्तिक मान्यताओं का वैज्ञानिक व्यावहारिक उपयोग बताया गया है। ८. आधुनिक विज्ञान से अंशतः समतुल्य अथवा सर्वथा विपरीत दार्शनिक मान्यताओं का भी पूरी निष्पक्षता के साथ निरूपण किया गया है।

अन्त में अपनी बात

मैं सर्वप्रथम परमपिता परमेश्वर के प्रति विनयावनत हूँ, जिनकी असीम अनुकम्पा से यह ग्रन्थ पूर्णता की ओर अग्रसर है। मैं अपने पूज्य पिता स्व० **श्री कमला प्रसाद जी आर्य** तथा पाणिनि महाविद्यालय, सोनीपत में **पूज्य आचार्य विजयपाल जी विद्यावारिधि** के प्रति हार्दिक रूप से कृतज्ञ हूँ। जिन्होंने मुझे अनेक ग्रन्थ पढ़ाए। मैं मानता हूँ कि मेरे बचपन में वैज्ञानिक परिदृष्टि का बीजारोपण आप दोनों के द्वारा किया गया। मैं अपनी ममतामयी जननी **पूज्या हरदेवी जी आर्या** के वात्सल्य को कभी भूल नहीं सकता। मैं अपने पूज्य गुरुवर्य **पदवाक्यप्रमाणज्ञ पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु** के प्रति साष्टांग विनयावनत हूँ, जिनकी महती कृपा से मैं दो शब्द सीखने में समर्थ हो पाया हूँ। मुझे दर्शन शास्त्र के उद्‌भट विद्वान् **पं० हरिराम शुक्ल** तथा व्याकरण के मूर्धन्य विद्वान् **पं० राम प्रसाद त्रिपाठी** के चरणों में अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अतः उनके प्रति अपनी विनयाञ्जलि समर्पित करता हूँ। इस समय एक महती दुखद घटना को प्रकट करने के लिये शब्द नहीं मिल पा रहे हैं। हम अपनी बड़ी बहन जी **समादरणीया डा० प्रज्ञा देवी जी** के दिशा–निर्देशों से सदा सदा के लिये वञ्चित हो गए हैं! आप वाराणसी में पाणिनि कन्या महाविद्यालय की स्थापना तथा उसमें निरन्तर आचार्य पद को सुशोभित करते हुए असमयं में काल की ग्रास बनीं! इस घटना से उनकी बृहत् शिष्य–मण्डली के साथ हम सभी लोग मर्माहत हैं! सचमुच *अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्!!* उनकी अनुपस्थिति में उनकी अनन्य भक्त तथा सभी कार्यों में दक्ष मेरी विदुषी तपस्विनी छोटी बहिन **पं० मेधा देवी व्याकरणाचार्या** पूरे वैदुष्य तथा सफलता से पाणिनि कन्या महाविद्यालय का संचालन कर रही हैं। मैं ऐसी बहिन को पाकर अपने को सौभाग्यशाली समझता हूँ! इनके साथ मेरी प्रिय भागिनेयी **सुश्री नन्दिता देवी व्याकरणाचार्या** तथा **सुश्री सूर्या देवी व्याकरणाचार्या** विद्यालय के संचालन में कुशल सहयोग कर रही हैं। ज्येष्ठ पुत्री **सुक्षेमा** इस दिशा में चलने का प्रयास कर रही है।

परिवार का वर्णन अधूरा होगा, यदि मैं अपनी धर्मपत्नी **श्रीमती ऊषा रानी M.A. B.Ed.** का नाम न लूँ। मुझे यह मान लेना चाहिये कि इनमें ऐसे अनेक गुण हैं, जिनका मुझमें सर्वथा अभाव है। इन्होंने घर–परिवार की सभी समस्याएँ ओढ़ कर हमें दी है वह निश्चिन्तता, जिसकी ऐसे ग्रन्थ–लेखन के लिये नितान्त आवश्यकता होती है। वर्षों से ये सतना में रह कर सभी कार्य देख रही हैं तथा मैं यहाँ बलिया में एकान्त–साधना में तल्लीन हूँ!!

इस ग्रन्थ के लेखन एवं प्रकाशन में अनेक विद्वानों द्वारा उत्साह तथा आर्थिक

सहयोग प्राप्त हुआ है। वेदों के अनन्य भक्त, धर्मनिष्ठ माननीय श्री महेन्द्र कपूर मलाबार हिल, बम्बई ने इस ज्ञांन–यज्ञ के लिये दस सहस्र रुपए की पवित्र आहुति प्रदान की है। मैं इसके लिये उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

श्रीमान् माननीय आचार्य स्वतन्त्रदेव जी महाराज, इलाहाबाद मुझे ऐसे कार्यों के लिये निरन्तर अनेक प्रकार से प्रोत्साहित करते रहते हैं। मैं इसके लिये उनके प्रति हार्दिक धन्यवाद एवम् आभार प्रकट करता हूँ।

मैं उन सभी दार्शनिकों, विद्वानों के प्रति हार्दिक रूप से विनयावनत हूँ, जिनके महान् परिश्रम से दर्शन–शास्त्र का स्वरूप विकसित हुआ तथा जिनसे इस ग्रन्थ के लिये विषय–वस्तु प्राप्त हुई। आधुनिक वैज्ञानिक ग्रन्थों में प्रमुख रूप से London से प्रकाशित Harmsworth Popular science' नामक महाग्रन्थ से तथा Mir Publishers, Mosco से प्रकाशित एवं नोबेल पुरस्कार से सम्मानित महान् भौतिक वैज्ञानिक **L.D. Landau** द्वारा लिखित बहुमूल्य ग्रन्थ Physics for everyone से मुझे बहुत सहायता प्राप्त हुई है। अतः मैं इन विद्वानों के प्रति विशेष रूप से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

पुस्तक को शुद्ध बनाने के लिये सम्पूर्ण प्रयत्नों के पश्चात् भी मानव–सुलभ दोषों के लिये मैं विद्वानों से क्षमा–प्रार्थी हूँ।

—*लेखक*

विषय–सूची

प्रथम खण्ड : प्रकाश एवं दृष्टि–विज्ञान

द्वितीय खण्ड : ध्वनि एवं श्रवण–विज्ञान

तृतीय खण्ड : वायु एवं स्पर्श–विज्ञान

चतुर्थ खण्ड : जल एवं रसना–विज्ञान

पञ्चम खण्ड : पृथिवी एवं गन्ध–विज्ञान

१. दुनियाँ का सबसे पहला अचरज!

धरती और अन्तरिक्ष बनाने के पश्चात् प्रजापति ने कहा– स्वः और फैल गया पूरी दुनियाँ में सूर्य प्रकाश–

स: सुवरिति व्याहरत्। स दिवमसृजत्[१]– तैत्तिरीय ब्राह्मण २.२.४.३
पवित्र बाइबिल में भी लगभग इसी प्रकार कहा है–

And God said, Let there be light and there was light!

-Old Testament, Genesis 1.1.

प्रकाश की सर्व प्रथम उत्पत्ति की अनेक धर्मशास्त्रीय व्याख्याओं में से यह एक प्रमुख व्याख्या है। यह व्याख्या कहती है कि धरती आदि के निर्माण के पश्चात् प्रकाश बाद में आया। सामान्य मनुष्य की भी ऐसी ही परिकल्पना बनती है। हर व्यक्ति जानता है कि प्रकाश के लिए 'कुछ' करना पड़ता है। वह आगन्तुक है। उसके न होने पर अंधेरा सभी दिशाओं में अपने आप फैल जाता है। ऐसा लगने लगता है, मानों यही असीम, अनन्त हो, प्रकाश से बड़ी सचाई हो! प्रकाश से पहले भी यह हो तथा उसके बाद भी यही रहने वाला हो!!

अति प्राचीन काल में वेद में इस अंधेरे की पूर्ववर्तिता का बड़ा ही सजीव वर्णन प्राप्त होता है। एक मंत्रांश इस प्रकार है—

तम आसीत् तमसा गूढमग्रे– ऋग्वेद १०.१२९.३
अर्थात् सृष्टि से पहले अँधेरा था— वह अँधेरे से ही छिपा हुआ था। अर्थात् घनघोर अन्धाघुप्प अन्धकार था। इस तरह के अँधेरे के लिए इतनी बढ़िया अभिव्यक्ति शायद ही कभी हो पाई हो। इसे प्रकट करने के लिए सबसे पहले उस अलंकार का प्रयोग हुआ, जिसे काव्यशास्त्री विद्वान् 'अनन्वय अलंकार' का नाम

१–इसके समर्थन तथा व्याख्या में अन्य अनेक वचन हैं। जैसे–

(प्रजापतिः) स्वरित्येव सामवेदस्य रसमादत्त। सोऽसौ द्यौरभवत्। तस्य यो रसः प्राणेदत् स आदित्योऽभवत् –जै. उ. ब्रा. १.१.५

ततोऽसावादित्योऽसृज्यत (शतपथ ब्राह्मण ६.१.२.३.) अर्थात् प्रजापति के द्वारा पृथिवी अन्तरिक्ष, वायु के पश्चात् सूर्य बनाया गया।

'इन वचनों से स्पष्ट है कि पृथिवी के बाद आदित्य बना'– वेद विद्या निदर्शन पृष्ठ–१८८

देते हैं। इसका प्रयोग अनुपम को प्रकट करने के लिए–जब उसका अन्य कोई उपमान प्राप्त न हो सके, तब किया जाता है। जैसे राम रावण का युद्ध राम रावण के समान ही था (राम–रावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव)। यहाँ भी इसी प्रकार कहा है कि वह ऐसा अँधेरा था, जो कि अँधेरे से ही छिपा हुआ था। क्योंकि उसे छिपाने वाला अन्य कोई नहीं हो सकता।

हमें अपने सामान्य जीवन में इस तरह के घने अन्धकार से वास्ता नहीं पड़ता। क्योकि हम अन्धकार को भी 'देखते' हैं। जब तक हम किसी को देख सकें, तब तक हमें प्रकाश की रेखा ही अनुगृहीत करती है। घना अन्धकार तो तब है जब आँखों का अर्थ ही समाप्त हो जाय! इस तरह के अँधेरे का अनुभव करने के लिए हमें समुद्र की असीम गहराइयों में या ऐसे ही किसी स्थान में जाना होगा।

समुद्र में गोता लगाने वाले प्रसिद्ध अमेरिकी जीव वैज्ञानिक 'बीब' ने समुद्र में दिखने वाले अनेक रंगों का वर्णन करने के पश्चात् लिखा है–

'७५० मीटर की गहराई पर ऐसा अँधेरा था, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती । फिर भी १००० मीटर की गहराई पर वह काला से भी अधिक काला था। लगता था कि ऊपरी दुनियाँ में आने वाली सभी रातें इस अँधेरे के सामने झुटपुटी शाम जैसे लगेंगी। इसके बाद मैं कभी किसी चीज के प्रति 'काला' शब्द का प्रयोग पूरे विश्वास के साथ नहीं कर सका'।

उपरिलिखित मन्त्र में सूर्योत्पत्ति से पूर्व इसी प्रकार के अँधेरे की ओर संकेत किया गया है। इस सूर्योत्पत्ति के पश्चात् मनुष्य ने जब इसके आलोक को देखा तो इसे सबसे आश्चर्यपूर्ण माना। इतना विशाल ज्योतिर्मण्डल, इसका प्रतिदिन नियमित रूप से पूर्व दिशा में आगमन तथा पश्चिम मे अस्तंगमन— ये सभी कुछ आश्चर्य के विषय थे। अतः इसके प्रति आश्चर्य, प्रसन्नता तथा कृतज्ञता प्रकट करने के लिये अनेक शब्द तथा काव्य रचनाएं की जाने लगीं। जैसे, प्रभात में सूर्य की प्रथम किरण तथा इससे उत्पन्न क्षितिज में लालिमा को उषस् नाम दिया गया तथा इसका मानवीकरण करते हुए आलंकारिक निरूपण किया गया। ऋषिगण प्रत्येक प्रभात में भाव विभोर होकर इस वर्णन वाले मन्त्र का पाठ करते कभी थकते नहीं रहे कि *'अत्यन्त चमकीले अलंकारों से सुसज्जित सद्यःस्नाता रमणी की भाँति यह दिवस्पुत्री अन्धकार भगाने के लिए आ गयी।* अथवा ' अति

सुन्दरी रमणी की भाँति यह पैर वाले प्राणियों को चलाने तथा पक्ष वाले पक्षियों को वायु में उड़ने को प्रेरित करने के लिए उपस्थित हुई[१]।

यहां यह उल्लेख कम रोचक नहीं कि 'सुन्दरी' शब्द का पूर्वरूप 'सूनरी' का प्रयोग साहित्य में सबसे पहले प्रभात की इस प्रथम किरण के लिये तथा इसका उपमान बनने वाली रमणी के लिये आविष्कृत हुआ था। बाद में अन्यों के लिए इस 'सूनरी' शब्द से 'सुन्दरी' का विकास हुआ।

सूर्य–प्रकाश की प्रशंसा तथा आश्चर्यपरक वचनों की गिनती नहीं की जा सकती। ऋषियों ने हर दिन उसे देखा तथा उसे सदा नवीन, असाधारण पाया। उसका दर्शन कभी पुनरुक्त या repeat नहीं हुआ। हर बार ऐसा लगा कि इस बार वह देखा जो पहले कभी नहीं देखा। इसीलिये इसे सूर्यदेव कहा गया। इसकी अत्यन्त चमकदार प्रभा के लिए उत्तमोपमा का प्रयोग करते हुए कभी तो इसे देवताओं के चक्षुसदृश कहा गया[२]। कभी इसे अतिविचित्र, सर्वत्र परिव्याप्त, ज्योतियों में सर्वश्रेष्ठ परम ज्योति बताया[३]। कभी इसे मित्र, वरुण, अग्नि का चक्षु, देवताओं की विचित्र सेना बताया[४]।

इसके आधार पर अनेक गाथाएं भी विकसित हुईं। एक कल्पना के अनुसार दिन में सूर्यदेव अपने रथ पर चलते हैं। उन्हें ७ लगामों वाला एक घोड़ा खींचता है। इस भावना को प्रकट करने वाला एक प्रसिद्ध मन्त्र इस प्रकार है–

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।

—ऋग्वेद १.१६४.२

अर्थात् एक पहिये वाले सूर्य के रथ को सात प्रकार से/स्तुति किया जाने वाला एक घोड़ा खींचता है। उसके साथ ७ लगाम जुड़ती है।

यहाँ सूर्य की ७ किरणें ही उसकी ७ लगाम हैं। इस परिकल्पना ने अति प्राचीन काल से प्रत्येक युग में महती प्रसिद्धि प्राप्त की। महाभारत, पुराण तथा

---

१. एषा शुभ्रा न तन्वो विदानोर्ध्वेव स्नाती दृशये नो अस्थात्।
अप द्वेषो बाधमाना तमांस्युषा दिवो दुहिता ज्योतिषाऽऽगात्।।– ऋ. ५.८०.५
आ घा योषेव सूनर्युषा याति प्रभुञ्जती।
जरयन्ती वृजनं पद्वदीयत उत्पातयति पक्षिणः।।– ऋ. १.४८.५

२. तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्– यजुर्वेद ३६.२४

३. इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा।।– ऋग्वेद १.११३.१

४. चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।।–यजुर्वेद–७.४२

संस्कृत काव्यों में भी किरणों को लगाम मानते हुए अनेक आलंकारिक विवरण लिखे गये। अतः किरण आदि शब्दों का अर्थ ही लगाम हो गया। जैसा कि निरुक्तकार ने किरण अर्थ वाले ५ शब्दों को इस अर्थ वाला बताते हुए संकेत दिया है [१]। यहां लगाम अर्थ उत्तरवर्ती तथा लाक्षणिक है। इस अर्थ में रूढ़ होना ही इस परिकल्पना के पर्याप्त प्रचलन में प्रमाण है।

यह परिकल्पंना अन्य देशों में भी बहुत लोकप्रिय हुई। क्योंकि अवेस्ता में भी सूर्य या स्वर् से उत्पन्न 'ह्वरे' देवता को द्रुतगामी अश्वों वाला तथा अहुरमज्द का चक्षु बताया है। यूनान में प्रचलित ऐसी ही एक पुरा–कथा इस प्रकार है–

"मन्द वायु बहने लगी है। पूरब में प्रकाश बढ़ता जा रहा है। इस समय उषा की देवी 'एओस्' अपने स्वर्णिम हाथों से वह दरवाजा खोलती है, जहां से तेजस्वी सूर्य देवता अपने रथ पर निकलने वाला है। सुन्दर लाल कपड़े पहने हुए अपने गुलाबी पंखों पर ऊषा की देवी उज्ज्वल आकाश पर उड़ आती है। अपने सोने के कलश से वह पृथ्वी पर ओस गिराती है। हीरों से चमकते ओस कण–पेड़ पौधों पर सब ओर बिखर जाते है। धरती सूर्य देवता 'हीलियस' के उदय का प्रसन्नता के साथ स्वागत करती है। हेफेस्त देवता के बनाये सोने के रथ में पंखों वाले चार घोड़े लगे हैं। हीलियस देवता इसी रथ पर चढ़कर ओशियन के तट से आकाश को चलता है। वह ऊपर आकाश पर चलता चला जाता है तथा प्रकाश, उष्मा को धरती पर बिखेरता जाता है। अपनी यात्रा समाप्त करने के पश्चात् यह हीलियस देवता ओशियन के पवित्र जल पर उतरता है। यहाँ विश्राम करके अगले दिन पुनः पहले जैसा तेज लिये उदित होता है।"

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि इस गाथा में 'एओस्' नाम वैदिक 'उषस्' के समतुल्य है[२]। साथ ही सूर्यदेव का रथ, पंख वाले चार घोड़े इत्यादि की भारतीय पुरा–कथा के साथ बहुत समानता है। सूर्य के अपने महल में जाने की भी वेदमन्त्र से तुलना की जा सकती है, जहाँ अपने घर में विश्राम के पश्चात् पुनः उज्ज्वल रूप से उदित होने की प्रार्थना की गयी है [३] यहां निरुक्तकार के अनुसार

---

१. तेषामादितः साधारणानि पञ्चाश्वरश्मिभिः– निरुक्त २.१५.३

२. The name, meaning the 'shining One' is cognate to the Latin 'aurora' and the Greek.' Eos"

—A history of sanskrit lterature, A. macdonell, page 66

३. पुनरेहि वृषाकपे सविता कल्पयावहै। य एष स्वप्ननंशनोऽस्तमेषि पथा पुनर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः– ऋग्वेद– १०.८६.२१

'अस्तम्' का अर्थ 'घर' है [1]। अतः हिन्दी में प्रचलित प्रयोग 'सूर्य अस्त होता है' इसका मौलिक अर्थ 'सूर्य अपने घर जाता है' यही है। इन सब विवरणों से प्रकट है कि सूर्य के सम्बन्ध में ऐसी परिकल्पनाएं अतिप्राचीन काल से एशिया तथा यूरोप के सुदूर देशों में भी समान रूप से परिव्याप्त थीं।

इन्हीं परिकल्पनाओं को आधार बनाकर देश– विदेश में सूर्य के अनेक प्रकार के चित्र तथा मूर्तियाँ भी विकसित हुईं। जैसे उड़ीसा में पुरी के निकट कोणार्क के सूर्य–मन्दिर में एक विशाल सूर्य चक्र विद्यमान है। अन्य मन्दिरों में सूर्य के 'सप्ताश्व' या 'सप्तसप्ति' नाम को सार्थक करते हुए सात घोड़े भी अंकित किये गये हैं।

मनुष्य के ज्ञान में जैसे–जैसे वृद्धि होती रही है, वैसे–वैसे इस सूर्य प्रकाश के प्रति अचरज और कृतज्ञता भी बढ़ती रही है। आज हम प्रकाश और ऊष्मा के रूप में इसकी देन को अनेकानेक पदार्थों को उत्पन्न करने के लिये अत्यन्त बहुमूल्य मानते हैं। समूची मानव जाति तथा अन्य प्राणि–जगत् भी अपने भोजन के लिये सूर्य की कृपा पर निर्भर हैं। सभी वृक्ष सूर्य–प्रकाश की सहायता से अपने लिए भोजन बनाते हैं। यह अलग है कि मनुष्य उन पर अपना अधिकार जताते हुए उन्हें अपने लिये ग्रहण कर लेता है! **क्या यह मानव के अहंकार को ध्वंस करने के लिए काफी नहीं कि वह सूर्य की कृपा के बिना तथा वनस्पति की क्रिया के बिना स्वयं घास का एक तिनका भी नहीं बना सकता!!** वह अनुकरण या imitation बना सकता है, मूल खाद्य पदार्थ से सैकड़ों प्रकार के व्यंजन अथवा उपोत्पाद (by- product) तैयार कर सकता है। पर वनस्पति से प्राप्त मूल उत्पादन उसकी किसी प्रयोगशाला के बस की बात नहीं। दूध, मांस जैसी वस्तुएं भी अन्ततः वृक्ष से प्राप्त आहार तथा वे सूर्य कृपा से प्राप्त होते हैं।

रात्रि में ऊष्मा तथा प्रकाश प्राप्त करने के लिये एक सामान्य सा मिट्टी के तेल का दीपक अथवा मोमबत्ती करोड़ों वर्ष पहले की उस सूर्य–कृपा का परिणाम है जो अनेक प्राणि–शरीरों के निर्माण के लिए प्रसृत हुई थी। वे धीरे–धीरे दब गए तथा अनेक प्रकार की चट्टान अथवा जीवाश्मों में बदल गए। इनके बीच की जगह इनसे निकले तेल से भर गई। इसी प्रकार करोड़ों वर्ष पूर्व वनस्पतियाँ नीचे दबीं तथा दबाव के कारण कार्बन के रूप में बदलती गईं तथा अन्त में वह रूप धारण

---

१. निघण्टु ३.४

किया जिसे हम प्रचलित भाषा में कोयला कहते हैं।

सूर्य की गर्मी से वर्षा होने के तथ्य को हज़ारों वर्ष पूर्व भली–भाँति जान लिया गया था। महाकवि कालिदास ने अपनी आलंकारिक भाषा में यह भावना प्रकट की है कि सूर्य गर्मी में धरती को जलाता है तो कोई बात नही। क्योंकि सूर्य'देव' है और देवताओं का क्रोध भी वरदान होता है! (देवस्य क्रोधोऽपि वरेण तुल्यः) इसके ऐसे वरदान से ही अन्त में वर्षा होकर धरती में बीज उत्पन्न होने का सामर्थ्य प्राप्त होता है।[1]

क्या हम जल्दी सोच भी सकते हैं कि सूर्य प्रतिवर्ष दस हजार खरब टन पानी समुद्र से उड़ाकर ऊपर वायुमण्डल में भेज देता है! इससे वर्षा होती है, नदियां चलती हैं, जलाशय भरते हैं। इन्हीं जलाशयों का पानी तेज गति के साथ विशाल टरबाइनों में डाला जाता है, जिससे जनरेटर चलते हैं तथा उनसे जल–विद्युत् प्राप्त होती है। इस प्रकार हमारे घर में होने वाला विद्युत् का प्रकाश भी अन्ततः सूर्य की सक्रियता का ही परिणाम है।

इस प्रकार धरती में ऊष्मा और प्रकाश का एकमात्र स्रोत है—— सूर्य। उसकी ऊर्जा को हम विद्युत् ऊर्जा, यान्त्रिक ऊर्जा आदि में सुविधानुसार परिवर्तित कर लेते हैं। हमारे शरीर की प्रत्येक कोशिका सूर्य से सीधे जुड़ी हुई है। हमारे मस्तिष्क की कोशिका के प्रत्येक चिन्तन को अन्ततः सूर्य से विद्युत् प्राप्त हो रही है। इसलिये सही अर्थों में हम सूर्यपुत्र हैं–

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च–यजुर्वेद ७.४२

अर्थात् गतिशील प्राणी तथा निष्क्रिय जड़ पदार्थों का भी सूर्य आत्मा है।

सूर्य के इस अद्भुत प्रकाश का रहस्य क्या है? यह तथ्य तो बहुत पहले जान लिया गया था कि सूर्य की चमक सामान्य कोयले या लकड़ी की आग से उत्पन्न नहीं है। धरती के उच्चतम श्रेणी के कोयले की शुद्ध ऑक्सीजन से प्राप्त ज्वाला भी सूर्य की तीव्र सन्दीप्ति के सामने क्षुद्रतम है! वेद के शब्दों में यह धरती की अग्नि तो सूर्य का नन्हाँ शिशु है[2]! उसमें सूर्य का सामर्थ्य कहाँ हो सकता है।

---

१. कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति।
— रघुवंश ६.८०

२. दिवः शिशुं सहसः सूनुमग्निं यज्ञस्य केतुमरुषं यजध्यै।
—ऋग्वेद ६.४६.२

यदि सूर्य में धरती जैसे कोयले, पेट्रोल आदि का प्रयोग होता तो धरती से लाखों गुना विशाल सूर्य भी लाखों वर्ष पूर्व जल कर भस्म हो गया होता!

वस्तुतः सूर्य परमाणु–ऊर्जा से संचालित है। इसकी भयंकर ऊष्मा में हाइड्रोजन गैस के परमाणु विखण्डित होते हुए निरन्तर हीलियम में बदलते रहते हैं। आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार सूर्य के क्रोड का तापमान ३८० लाख डिग्री फारेनहाइट है। तुलना के लिये कह दें कि स्वस्थ मनुष्य अपना औसत तापमान ९८° F बनाए रखता है। इससे अधिक तापमान में उसे गर्मी लगने लगती है। पानी अपने सामान्य वायुदाब में २१२° F में उबलने लगता है, जिसे हमारी त्वचा सहन नहीं कर सकती। इसकी अपेक्षा सूर्य की ऊष्मा की क्या तुलना है!

विश्व की आधुनिकतम प्रयोगशालाओं में हाइड्रोजन बम के द्वारा इतनी भयंकर ऊष्मा को उत्पन्न किया जा सका है। पर वह सेकेण्ड के क्षुद्र अंश ,तक ही स्थिर रह पाती है। पर यही ऊष्मा सूर्य के कारखाने में करोड़ों वर्षों से निरन्तर प्राप्त की जा रही है! पहले कहा गया कि मानव का सबसे पहला अचरज सूर्य–प्रकाश था। वर्तमान युग में सूर्य के विषय में इतने अकल्पनीय तथ्यों के परिज्ञान के पश्चात् ऐसा लगता है कि मानव जाति का अन्तिम अचरज भी यही सूर्य–प्रकाश है!!

---

२. आँखों से प्रकाश या प्रकाश से आँखें!

अध्यात्म तथा भौतिक विज्ञान के प्राचीन तथा नवीन विद्वान् इस तथ्य पर एकमत हैं कि सूर्योत्पत्ति के पश्चात् विश्व में प्राणी का उद्भव हुआ। क्योंकि सूर्य की ऊष्मा तथा प्रकाश के बिना जीवन सम्भव नहीं है। अतः इस प्रकाश के अनन्तर इसकी सहायता से प्राणी में आँखे आई होंगी।

आँखों से प्रकाश– पुनरपि वेद के कुछ वचन अन्य परिप्रेक्ष्य में आँखों से सूर्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ–

चक्षोः सूर्यो अजायत– यजुर्वेद ३१.१२

अर्थात् चक्षु से सूर्य उत्पन्न हुआ। यहाँ पूर्वोक्त तर्क के कारण 'सामान्य प्राणी की आँखों से सूर्य' यह अर्थ नहीं माना जा सकता। अपितु पुरुष सूक्त के अन्तर्गत परिपठित होने के कारण पुरुषविशेष ईश्वर की आँखों से सूर्य के उद्भव मानने में कोई भी असंगति उत्पन्न नहीं होती। इस सूक्त के प्रारम्भ में ही आलंकारिक भाषा में हजार सिर, हजार आँखों वाले 'पुरुष' का वर्णन किया गया है। यह योग सूत्र के अनुसार सांसारिक क्लेशों से सर्वथा विरहित पुरुष–विशेष ईश्वर ही है [1]। इसके आगे अलंकार में उसकी व्यापकता बताते हुए कहा गया है कि मनुष्य इस भूमि में अपने उपकरणों से जितना भी सूक्ष्म से सूक्ष्म अथवा दूर से दूर देख पाता है, उस ईश्वर का अस्तित्व उससे भी दस अंगुल आगे बढ़कर है[2]!! अर्थात् वह मनुष्य के उपकरणों की सीमा से परे है तथा सर्वव्यापक है।

यहां इस प्रकार के सर्वव्यापक ईश्वर की आँखें कहना भी अलंकार है। तात्पर्यार्थ यह है कि ईश्वर की अनन्त आँखों की शक्ति से सूर्य उत्पन्न हुआ है। वेद की इस भावना का समर्थन वैदिक साहित्य में अनेक प्रकार से किया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के एक अतिसुन्दर श्लोक में कहा गया है कि ईश्वर की असीम तथा अनन्त शक्ति मामूली सूरज और चाँद के प्रकाश से परिचालित नहीं होती। अपितु इसके विपरीत सूर्य आदि स्वयं इसकी दीप्ति से प्रकाशित होते हैं।

---

१. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

– योगसूत्र १. २४

२. स भूमिं सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्।

– यजुर्वेद ३१. २

इस प्रकार ईश्वर की शक्ति की तुलना में सूरज, चाँद, तारों की शक्ति कुछ नहीं।[1]

इस प्रकार सिद्ध है कि साहित्य में जहां भी आँखों से सूर्य की बात कही गयी है, वहाँ सर्वत्र ईश्वर की दर्शन शक्ति से उत्पत्ति का आशय है। इसके विपरीत सामान्य प्राणी की आँखें तो सूर्य के सहयोग से उत्पन्न हुई हैं।

प्रकाश से आँखें-- आधुनिक विकासवादी विद्वान् इस सिद्धान्त को विस्तार से प्रतिपादित करते हैं। उनका कहना है कि सूर्य के समान धधकती धरती के ठण्डा होने के लाखों वर्ष पश्चात् जो सबसे सरल एक कोशीय 'अमीबा' (amoeba) जैसे प्राणी समुद्र में उत्पन्न हुए, उनमें आँखों सहित कोई संवेदनशील स्पष्ट इन्द्रिय नहीं थी। इस प्रकार के जीवन के कई स्तरों को पार करने के पश्चात् प्राणी में प्रकाश को देखने की अदम्य इच्छा तथा उसके प्रति निरन्तर प्रयत्न के कारण प्राणी की कोई झिल्ली पारदर्शी बन गयी तथा वह प्रतिबिम्ब को ग्रहण करके 'देखने' का काम करने लगी। तभी आँखों का सबसे पहला रूप विकसित हुआ।

पर कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार विकासवादियों की यह व्याख्या विरोध से परिपूर्ण है। क्योंकि प्रश्न है कि जब तक उस सरल प्राणी ने देखा ही नहीं तो उसे देखने के प्रति अदम्य इच्छा किस प्रकार जागृत हो गयी? विकासवादियों की यह व्याख्या पुराणों के द्वारा धरती की उत्पत्ति की उस व्याख्या के समतुल्य है जिसमें कहा गया है कि मधु और कैटभ नाम के दो राक्षस थे। वे आपस में लड़ने लगे। तब उनके शरीर से उनका मेद अथवा चर्बी नीचे गिरने लगी। वह चर्बी धीरे-धीरे पिण्ड के रूप में बदलती रही तथा यह अन्त में विशाल धरती बन गयी! इसीलिये धरती को 'मेदिनी' (= चर्बी वाली) कहा जाता है। पर यहाँ प्रश्न है कि जब धरती थी ही नहीं तो मधु और कैटभ किस पर खड़े होकर लड़े। इसी प्रकार यहां विकासवादियों से पूछना है कि जब उन्होंने देखा ही नहीं तो किस प्रकार वे देखने को 'चाहने' लगे।

पर वास्तव में विकासवादी विद्वान् पुराणों की व्याख्या से अधिक गम्भीर हैं। उनका कहना है कि उस सरल अन्धे प्राणी ने देखने की इच्छा नहीं, अपितु प्रकाश के प्रति अधिक संवेदनशीलता प्रदर्शित की। जैसे आज भी अमीबा से काफी विकसित प्राणी केंचुआ देखता नहीं, पर आलोक की ओर ऐसा संवेदन दिखाता है।

१: न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नायं भासः कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभान्ति सर्वं तया भासा सर्वमिदं विभाति।।
—श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.१४

यदि हम रात्रि में अपने बिल से आधा निकले हुए केंचुए पर टार्च का प्रकाश डाले तो वह तुरन्त अन्दर घुसने की कोशिश करता है। यहाँ हमने उस प्रकाश से उसमें ऊष्मा उत्पन्न नहीं की, फिर भी वह प्रकाश मात्र से ऐसी चेष्टा करता है। इससे प्रकट है कि वह प्रकाश को किसी न किसी रूप से ग्रहण अवश्य करता है। यह हो सकता है कि उसने प्रकृति की अनन्त विचित्रताओं तथा अनन्त काल के बीच इसे भली प्रकार जानना चाहा हो। कुछ भी हो, इसी प्रकार जानने की बार–बार इच्छा ने इससे भी विकसित प्राणी की किसी झिल्ली को पारदर्शी बनाया होगा। यह सम्भव है – क्योंकि इससे बड़े प्राणी 'जोंक' में हम अविकसित आँखें पाते हैं। इनके अतिनिम्न स्तर के होने के कारण पहले लोग सोचते थे कि इनमें आँखें होती ही नहीं। पर वस्तुतः इसके विभिन्न खण्डों की पृष्ठीय सतह पर नेत्र होते हैं।

इस विवेचन से सिद्ध है कि प्राणियों के पर्याप्त विकास के पश्चात् सूर्य–प्रकाश के सहयोग से प्राणी में आँखें उत्पन्न हुईं। करोड़ों वर्षों के इस विकास के क्रम में अन्त में 'मनुष्य' नामक यह जाति उत्पन्न हुई, जिसमें सभी प्रकार की इन्द्रियाँ वर्तमान हैं। पर हम यह नहीं मान सकते कि प्रकृति के कारखाने में विकास का कार्य पूर्ण हो गया है। हम यह भी नहीं कह सकते कि मनुष्य में प्रकृति के सभी प्रभावों का अनुभव करने वाली इन्द्रियाँ विकसित हो चुकी हैं। जैसे, हमारी कोई इन्द्रिय चुम्बक के प्रभाव के प्रति संवेदनशील नहीं हो पाती। जबकि सामान्य जड़ लोहा प्रभावित होता है। यदि हम अपने हथेली के नीचे चुम्बक रख लें तथा हथेली के ऊपर पिनें रखें तो वे हाथ में चिपकती चली जाती हैं। इससे सिद्ध है कि चुम्बक ने हथेली को पार करके पिनों को प्रभावित किया। पर इस प्रभाव का हमारी हथेली को कुछ पता नहीं चलता। हो सकता है, आगे चलकर हमारी अदम्य इच्छा से शरीर में चुम्बकेन्द्रिय विकसित हो सके! जो कि इसके प्रभाव की समीक्षा करके इसके आधार पर संकेतों को समझ सके। अभी तक हमारे जीवन के अधिकांश संकेत प्रकाश पर आधारित हैं! चुम्बक पर विकसित संकेत को शायद आगे का मानव सीख सकेगा!!

जैन दर्शन में इस विकासवाद की छाया– जैन दर्शन में अमनस्क जीवों के अन्तर्गत त्रस तथा स्थावर ये दो विभाजन किये गये हैं। इनमें त्रस जीवों में क्रमशः, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय जीव बताये गये हैं। वहाँ इनके क्रमशः विकसित होने की बात स्पष्टतः नहीं कही गयी है। पर इसका संकेत अवश्य प्राप्त

है, जो कि आधुनिक विकासवाद के समकक्ष है। द्वीन्द्रिय जीवों में स्पर्श तथा रसना इन्द्रिय वाले शंख, गण्डोलक, शुक्ति (सीपी) कृमि (कीट) आदि प्राणी बताए गए हैं[1]।

यहाँ कृमि शब्द बहुत व्यापक है। आधुनिक जन्तुविज्ञान में प्रोटोजोआ (protozoa), मेसोजोआ (mesozoa) के अन्तर्गत ऐसे कृमियों की हजारों जातियां बताई गयी हैं। इनमें अत्यन्त अविकसित दशा में केवल स्पर्श तथा रसना का सामर्थ्य पाया गया है, क्योंकि किसी बाधक दीवार आदि आने पर ये मुड़ जाते हैं तथा कोई अस्वास्थ्यकर एसिड आदि डालें तो उसे छोड़ देते हैं। मोलस्का (mollusca) नामक प्राणिसंघ के अन्तर्गत आने वाले सीप (unio) की भी ऐसी ही स्थिति है। पर इसी संघ वाले शंख अथवा घोंघा (pila) में अविकसित ज्ञानेन्द्रियां पाई गई हैं।

त्रीन्द्रिय प्राणियों के अन्तर्गत स्पर्श, रसना तथा घ्राण इन्द्रिय वाले पिपीलिका (चींटी) यूक (जोंक) जैसे प्राणी बताए गए हैं। आधुनिक विज्ञान में चींटी को 'आर्थोपोडा' (Arthropoda) के अन्तर्गत तथा जोंक को 'एनीलिडा'(Annelida) के अन्तर्गत माना गया है। इनमें ये तीनों इन्द्रियाँ विज्ञान में स्पष्टतः स्वीकार्य हैं। चींटियाँ एक दूसरे के पीछे कतार बनाकर चलती हैं। वे एक दूसरे की गन्ध को पहचानते हुए ऐसा करती हैं। क्योंकि यदि हम इन्हें हटाते हुए इनके नीचे की जमीन को थोड़ी दूर तक हाथ से रगड़ दें तो ये गन्ध न मिलने के कारण आगे उन चीटियों की लाइन तक नहीं पहुँच पातीं। इनकी गति इधर–उधर अव्यवस्थित हो जाती है। आधुनिक विज्ञान में इनकी दो छोटी आँखें पाई गई हैं। पर ये उतनी सबल नहीं कि वे दूर की लाइन को देख सकें। इसीलिये ये किसी बड़े कीड़े को दूर ले जाने के लिये केवल अपनी–२ तरफ खींचतीं हैं। वे दूसरी लाइन की चीटियों के कार्य को न देख पाने की दशा में परस्पर सहयोग नहीं कर पातीं। यद्यपि उनकी इच्छा सहयोग करने की ही होती है। इससे स्पष्ट है कि उनकी आँखें अत्यन्त अविकसित होती हैं तथा वे प्रमुखतः घ्राण से ही अपना कार्य करती हैं। इसी प्रकार जोंक के भी अनेक खण्डों के पृष्ठीय सतह पर अनेक अविकसित नेत्र पाए गए हैं।

---

१. इस प्रकार के विवरण 'आर्हत दर्शनम्' के अन्तर्गत सर्वदर्शनसंग्रह आदि अनेक जैन ग्रन्थों में प्राप्त हैं।

चतुरिन्द्रिय प्राणियों में उपर्युक्त इन्द्रियों के अलावा चक्षु वाले दंश, मशक (मच्छर) तथा भ्रमर (भौंरा) या मधुमक्खी की गणना की गई है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार इन्हें भी 'आर्थ्रोपोडा' (arthropoda) के अन्तर्गत परिगणित करते हुए इनमें अविकसित संयुक्त नेत्र (Compound eyes) बताए जाते हैं। इनमें बहुत से नलिकाकार नेत्राणु अवस्थित होते हैं। प्रत्येक नेत्राणु से कोई चित्र नहीं बनता, अपितु वह केवल प्रकाश को फोकस करता है। अनेक नेत्राणुओं की इस क्रिया से एक समष्टिक चित्र बनता है। इस प्रकार ये वस्तु का संघात चित्र 'देखते' हैं। मच्छर के संयुक्त नेत्र इसके सिर के आकार के अनुपात में काफी बड़े होते हैं। भौंरे में ये संयुक्त नेत्र इसके सिर के पृष्ठ पार्श्व में अवस्थित होते हैं।

इसके पश्चात् जैन दर्शन में पञ्चेन्द्रिय प्राणियों में उपर्युक्त इन्द्रियों के अलावा श्रोत्रेन्द्रिय वाले भी मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणी बताए गये हैं। आधुनिक विज्ञान भी इससे सहमत है। पर अनेक प्रयोगों से यह जाना गया है कि पशु, पक्षियों की आँखें मनुष्य की अपेक्षा हीन कोटि की हैं। क्योंकि वे सभी रंगों को नहीं जान पाते। उदाहरणार्थ भौंरे या मधुमक्खियाँ लाल प्रकाश के प्रति संवेदनशील नहीं होतीं। यदि हम उनके छत्ते पर अन्य रंग का प्रकाश छोड़ें तो वे विक्षुब्ध हो जाती हैं। पर यदि लाल प्रकाश डालें तो उनमें कोई विक्षोभ नहीं होता। इससे प्रकट है कि लाल प्रकाश उनके लिये 'अन्धकार' ही है। अतः इस प्रकाश के प्रयोग से हम आराम से उनकी क्रियाओं का अध्ययन कर सकते हैं। पर अन्य रंगों जैसे नीला पीला आदि रंगों में वे विभेद कर सकती हैं। यह प्रयोगों से सिद्ध किया जा चुका है।

स्तनधारी प्राणियों में मनुष्य, बन्दर जैसे कुछ प्राणियों को छोड़कर अधिकांश चौपाए जानवर रंगों में विभेद नहीं कर सकते। वे सभी रंगों को एक ही प्रकार का रंग मानते हैं। इस प्रकार वे रंग वाले विभिन्न आकार प्रकार वाले द्रव्यों में तो विभेद कर सकते हैं। पर एक ही प्रकार के द्रव्यों में केवल रंग के आधार पर विभेद की क्षमता नहीं रखते।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि आधुनिक विज्ञान के समान जैन दर्शन में भी इन्द्रियों के क्रमिक विकास का संकेत दिया गया है। यद्यपि इनके उदाहरणों में कुछ मतभेद है। इसके अनुसार आँखों का विकास बहुत बाद में चौथे स्तर पर प्रकाश की सहायता से सम्पन्न हुआ है। आधुनिक वैज्ञानिक इस स्तर पर भी विकास के कुछ उपविभेद बताते हैं। जैसे पहले संयुक्त नेत्र (Compound eyes)

विकसित हुए, उसके पश्चात् पूर्ण प्रतिबिम्ब लेने वाले एक नेत्र का विकास हुआ। इसी प्रकार जानवरों में पहले एक रंग पहचानने की क्षमता वाली आँखें बनी। इसके पश्चात् मनुष्य में सभी क्षमताओं वाली पूर्ण आँखों का विकास हो सका। यद्यपि हम अभी भी नहीं कह सकते कि मनुष्य में सभी क्षमताओं वाली आँखें विकसित हो चुकी हैं। क्योंकि ये आँखें ३८० से ७६० मिली माइक्रोन की लम्बान वाली प्रकाश–तरंगों के प्रति ही संवेदनशील हो पाती हैं। अन्य पराबैंगनी (Ultra-voilet) अथवा अवरक्त (Infra-red) किरणों के प्रति संवेदनशील न होने से हमारी आँखें उन्हें अभावरूप ही समझती हैं।

इस प्रकार भारतीय दर्शन में भी कहीं–२ प्रकाश की सहायता से आँखों के क्रमिक विकास की अस्पष्ट परिकल्पना का संकेत है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना अत्यन्त आवश्यक है कि इस विवेचन में प्रकाश को निमित्त कारण माना गया है। कोई वस्तु अपने कार्य अथवा परिणाम का अनिवार्य अंग न बनते हुए भी यदि उस कार्य को उत्पन्न करने में सहायता करे, तो वह निमित्त कारण होता है। वैज्ञानिक मानते हैं कि आँखों को उत्पन्न करने में प्रकाश ने निमित्त कारण बनते हुए सहायता की है।

अन्य भारतीय दार्शनिक आँखों को उत्पन्न करने में प्रकाश को उपादान कारण (Material cause) मानते हैं। यह दोनों में मूलभूत अन्तर है। इसे ध्यान में रखना बहुत आवश्यक है। इस प्रकाश के उपादान कारणता सिद्धान्त को अगले अध्याय में निरूपित किया जाएगा।

---

३. एक मनोरम परिकल्पना

उपनिषदों में सर्ग के महाभूतों की क्रमिक उत्पत्ति का बहुत सुन्दर रीति से निरूपण किया गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा है कि उस परम आत्मा से आकाश, उससे वायु, उससे अग्नि, उससे क्रमशः जल, पृथिवी, औषधि, अन्न, तथा उस अन्न से अन्त में पुरुष उत्पन्न हुआ है[1]।

वेदान्त दर्शन में कहा है कि इन आकाश आदि के सत्त्व गुण वाले अंश से क्रमशः अलग–२ ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न हुई हैं। इस प्रकार आकाश के सात्त्विक अंश से श्रोत्र, इस प्रकार के वायु से त्वक्, अग्नि से चक्षु, जल से रसना तथा पृथिवी से घ्राण इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई है।[2] इस प्रकार के तथ्यों के संकेत उपनिषदों से प्राप्त होते हैं। जैसे वहाँ एक स्थान पर कहा है कि आदित्य ही चक्षु बनकर अक्षि में अनुप्रविष्ट हुआ।[3] इससे प्रकट है कि सूर्य के तेज से चक्षु उत्पत्ति प्राप्त कर सकी है।

इस प्रकार की मान्यता के लिये युक्तियुक्त तर्क भी हैं। सभी इन्द्रियाँ जड़ हैं। वे चेतन पुरुष के अनुभव में सहायक होकर भी स्वयं चेतन नहीं हैं। अतः इन्हें जड़ महाभूतों से उत्पन्न मानना श्रेयस्कर है। साथ ही ये स्वच्छ एवं प्रकाशशील होते हुए बाहरी पदार्थों की ग्राहक हैं। अतः इन्हें प्रकाशशील विशेषता वाले सत्त्व गुण से उत्पन्न माना गया है।

इस विवरण से यह संकेत मिलता है कि जो इन्द्रिय जिस विशेष गुण का प्रत्यक्ष करने में साधन बनती है, वह विशेष गुण जिस महाभूत में सबसे पहले उत्पन्न हुआ है, उसी महाभूत से वह इन्द्रिय उत्पन्न होती है। जैसे सबसे पहले आकाश में शब्द गुण आया। अतः आकाश से शब्द को ग्रहण करने वाली श्रोत्रेन्द्रिय बनी। वायु में सबसे पहले स्पर्श गुण के उत्पन्न होने के कारण उस वायु

---

१. तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नम्, अन्नात् पुरुषः–तैत्तिरीय उपनिषद् २.१.१.

२. एतैश्च सत्त्वगुणोपेतैः पञ्चभूतैर्व्यस्तैः पृथक्–पृथक् क्रमेण श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणाख्यानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि जायन्ते–वेदान्त परिभाषा, विषय परिच्छेद पृ० ३१२

३. आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षीणि प्राविशत्– ऐतरेयोपनिषद् १.२.४

से त्वगिन्द्रिय बनी। अग्नि में सर्व प्रथम रूप उत्पन्न हुआ। उससे पूर्व के आकाश, वायु पदार्थों में रूप नहीं था। सबसे पहले यह गुण अग्नि में ही प्रकट हुआ है। अतः रूप ग्रहण करने का साधन चक्षु स्पष्टतः अग्नितत्त्व से निर्मित हुई है।

इन उदाहरणों में वायु, अग्नि इत्यादि प्रत्यक्ष के उपकार्य विषय अथवा अनुभव के साध्य, अनुभूयमान पदार्थ हैं तथा त्वक्, चक्षु इत्यादि इन्द्रियाँ विषय ग्रहण करने वाले उपकरण अथवा साधन हैं। यहाँ यह मान लिया गया है कि उपकरण तथा उपकार्य में अथवा साधन तथा साध्य के उपादानभूत तत्त्व में एकता अवश्य होनी चाहिये।

इस मान्यता का ही विस्तार तथा समर्थन करते हुए अनेक ग्रन्थों में अनेक प्रकार के वचन कहे गए हैं। जैसे सुश्रुत का एक सुन्दर श्लोक इस प्रकार है–

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थं हि स्वं स्वं गृह्णाति मानवः।
नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः।।

–सुश्रुत शा. अ. १

अर्थात् 'मनुष्य किसी विशेष इन्द्रिय से विशेष इन्द्रियार्थ का ही ग्रहण करता है। किसी भी इन्द्रिय से किसी भी विषय का नहीं। क्योंकि सभी इन्द्रियाँ अपने समान गुण वाले पदार्थ से निर्मित हुई हैं। इस प्रकार आँखों से रूप का ही प्रत्यक्ष क्यों होता है। अन्य रस इत्यादि का क्यों नहीं'–इस प्रश्न का उत्तर यह होगा–क्योंकि आँखें विश्व में सबसे पहले रूप को धारण करने वाले पदार्थ अग्नि तत्त्व से निर्मित हुई हैं। दर्शन शास्त्र के अनुसार कार्य में उपादान कारण के गुण अनुप्रविष्ट होते हैं। इस प्रकार अपने उपादान कारण अग्नि के मौलिक गुण रूप तथा उनकी 'ग्राहकता' धर्म आँखों में अनुप्रविष्ट होकर उन आँखों में ग्राहकता का सामर्थ्य प्रदान करें, यह समुचित ही है।

दर्शन शास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों में पद्धति की विविधता होते हुए भी यह परिकल्पना बहुत मनोरम तथा तर्क संगत प्रतीत हुई है।अतः प्रायः सभी ने इसे अपना लिया है। जैसे न्याय शास्त्र में आकाश से वायु, वायु से अग्नि इत्यादि सिद्धान्त को तो नहीं माना है। वहाँ तो अग्नि के नित्य परमाणु से स्थूल अग्नि की उत्पत्ति होती है। पर आकाश ही श्रोत्र, वायु से त्वक्, अग्नि या 'तेजस्' से चक्षु, जल से रसनेन्द्रिय की उत्पत्ति को वहाँ भी स्वीकार किया गया है। अतः यहाँ इस कल्पना का अवकाश है कि न्याय ने इस सिद्धान्त के लिये मूलतः उपनिषदों से

प्रेरणा प्राप्त की होगी। यद्यपि अपने विशिष्ट सिद्धान्त के कारण वहाँ प्रत्येक इन्द्रिय की उत्पत्ति के लिये अलग–२ अनुमान प्रस्तुत किये गए हैं।

जैसे आँखों को तैजस सिद्ध करने के लिये यह अनुमान प्रस्तुत किया गया है–जो वस्तु परकीय स्पर्श आदि का व्यंजक या प्रकाशक न हो, पर दूसरे के रूप का प्रकाशक हो वह अवश्य ही 'तैजस' अथवा तेजस् तत्व से निर्मित होता है–जैसे प्रदीप। आँखें भी किसी अन्य पदार्थ के स्पर्श को बताने में कोई सहयोग नहीं करतीं। पर अपने से दूसरे घट आदि का रूप बताने में अवश्य साधन बनती हैं–अतः वे अवश्य ही तैजस हैं[1]।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि तेजस् या अग्नि का तो एक विशेष प्रकार का रूप तथा ऊष्म स्पर्श होता है। पर आँखों में ऐसी विशेष ऊष्मा नहीं प्रतीत होती। आंखों का जलना उसका दोष है। शीतल आँखें ही अच्छी आँखों की पहचान है। ऐसी दशा में इन्हें तैजस किस प्रकार माना जावे। इसका उत्तर यह है कि इनका रूप तथा स्पर्श अनुद्भूत अथवा दबा हुआ है। जिस प्रकार किरणें प्रकाशशील होने से ऊष्म होती हैं। फिर भी चन्द्रमा की किरणें ऊष्म नहीं अपितु शीतल कही जाती हैं। इसका कारण यही कि चन्द्रकिरणों की ऊष्मा वातावरण की ओस से दबने के कारण प्रतीत नहीं होती। इसी प्रकार यहाँ भी आँखों के पानी के द्वारा आँखों की ऊष्मा दब जाती है तथा प्रतीत नहीं होती।

न्यायशास्त्र में आँखों को तैजस सिद्ध करने में प्रस्तुत अनुमान के साथ–साथ उपर्युक्त सुश्रुत में कहा हुआ तर्क भी समान रूप से मान्य है। 'कारणगुणाः कार्य–गुणमारभन्ते'–अर्थात् समवायिकारण के गुणों से कार्य में वे गुण उत्पन्न होते हैं–इस सिद्धान्त के अनुसार तेजस् के विशेषतः रूपवान् होने के कारण उससे ही चक्षु उत्पन्न होती है। इस तेजस् में रहने वाला रूप दृश्य और दर्शक दोनों होने से विशेष प्रकार का है। अतः इससे निर्मित होने से चक्षु में रूपग्राहकता का सामर्थ्य आ जाता है। यही कारण है कि चक्षु रूप का ही ग्राहक बन पाता है, अन्य किसी गुण का नहीं।

आधुनिक विज्ञान में इस परिकल्पना की समीक्षा–खेद है कि यह परिकल्पना अतिमनोहर होकर भी समीक्षायोग्य है। मूल प्रश्न यह है कि आँखों की संरचना तथा उसके व्यापार में तेजस् तथा उसकी ऊष्मा का योगदान है या नहीं।

---

१. चक्षुस्तैजसं परकीयस्पर्शाद्यव्यञ्जकत्वे सति परकीयरूपव्यञ्जकत्वात्, प्रदीपवत्।
–प्रत्यक्ष खण्ड, श्लोक ४२ पर मुक्तावली

इसका वैज्ञानिक उत्तर यह होगा कि शरीर के प्रत्येक अवयव तथा उसके कार्य में ऊष्मा का होना अत्यावश्यक है। रुधिर संचालन, तन्त्रिकाओं द्वारा सूचना सम्प्रेषण आदि में ऊष्मा ऊर्जा, विद्युत् ऊर्जा आदि निरन्तर कार्य कर रही है। अतः इस दृष्टि से तो शरीर के सभी अंगौं में समान रूप से तेजस् परिव्याप्त है।

पर जब अन्य अंगौं को छोड़कर आँखों को विशेष रूप से तैजस कहा जाता है तो यह विचारणीय हो जाता है। क्योंकि आँखों में अन्यों की अपेक्षा विशेष तेजस् परिज्ञात नहीं होता।

इसे तैजस सिद्ध करने के लिये ऊपर न्यायप्रोक्त जिस अनुमान का प्रयोग किया गया है, उस पर पहले विचार करते हैं। वहाँ कहा गया है कि जो दूसरे के स्पर्श का प्रकाशक न होते हुए दूसरे के रूप का प्रकाशक हो, वह अवश्य तैजस होता है। इस पर प्रश्न हो सकता है कि ऐसी दशा में पानी अथवा काँच तैजस क्यों न हो। क्योकि काँच आदि में सूर्य की किरणें प्रतिफलित होकर किसी अँधेरी वस्तु को प्रकाशित कर सकती हैं। यहाँ उसे प्रकाशित करने का साधन काँच भी है। इस प्रकार दूसरे के रूप का प्रकाशक होने से काँच तैजस क्यों न हो।[1] इसका उत्तर यह दिया जाता है कि जो साक्षात् रूप का प्रकाशक हो वही तैजस माना जावेगा। काँच में अपना कोई प्रकाशकत्व नहीं है। वह तो सूर्य–किरणों को अन्यत्र परावर्तित भर करता है। इस प्रकार सीधे अथवा स्वतः प्रकाशक न होने से काँच तैजस नहीं हो सकता।

ठीक यही तर्क आँखों के विषय में भी लागू है। आँखों में भी कोई अपना प्रकाशकत्व नहीं है। वह तो बाहर से आई हुई किरणों को अपवर्तित मात्र करती है। आँखों के मणिभीय दृष्टि मण्डल (लेंस) तथा जल यही कार्य करते हैं। यह लेंस बाहर से किरणों कें प्राप्त न होने पर वैसा ही प्रकाश विहीन है, जैसे काँच। अतः काँच के समान इसे भी तैजस नहीं माना जा सकता। न्याय के अनुसार ही अनुमान से प्राप्त निष्कर्ष यदि प्रत्यक्ष के विपरीत हो तो वह निष्कर्ष अमान्य हो जाता है। प्रत्यक्ष ही प्रबल माना जाता है।[2] यहाँ पर प्रत्यक्ष ही बाहर की किरणों को लेंस द्वारा अपवर्तित करते हुए देखा जाता है। पर आँखौं से किरणें निःसृत

---

१. न्यायशास्त्र में मणि, मरकत आदि को तैजस मानते हैं। पर काँच को वहाँ स्पष्टतः पार्थिव ही माना है। द्रष्टव्य–यथा पार्थिवस्याश्मनः काचादेश्च गन्धो नोपलभ्यते, स हि तेष्वभिभूयते। –वैशेषिक २.१.७.सूत्र पर विवृति–भाष्य।

२. यस्य साध्याभावः प्रमाणान्तरेण पक्षे निश्चितः स बाधितः। यथा वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वात्। –तर्क संग्रह, अनुमान खण्ड।

करते हुए नहीं देखा जाता। अतः आँखों को तैजस नहीं माना जा सकता।

इन तथ्यों के आलोक में यदि न्यायप्रोक्त अनुमान को न्याय की ही भाषा में बाधित करना चाहें तो वह इस प्रकार होगा–

चक्षु तैजस नहीं है–स्वकीय तेज से परकीय रूप का व्यंजक न होने के कारण। जो–२ वस्तु इस प्रकार है वह–२ तैजस नहीं है–जैसे दर्पण अथवा पानी[१]।

यहाँ यह प्रस्तुत हेतु प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध है। अतः ऊपर कहा गया न्यायप्रोक्त हेतु सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास से ग्रस्त है। इस प्रकार आँख में सविशेष तेज के अभाव होने के कारण सविशेष ऊष्मा की उपलब्धि नहीं होती, अनुद्भूत होने के कारण नहीं।

आँखों को तैजस मानने के समर्थन में सुश्रुत तथा न्याय शास्त्र में कही गई युक्ति भी विचारणीय है। उनका कहना है कि कोई भी उपकरण किसी विशेष गुण का ही व्यंजक इस लिये होता है, क्योंकि वह ठीक ऐसे ही पदार्थ से उत्पन्न होता है जो उस विशेषता वाला हो। इस प्रकार आँखों के रूपव्यंजक होने का कारण यही है कि वह रूप व्यंजक तेजस् से उत्पन्न है। अतः समवायिकारण के गुणों से कार्य में वे ही गुण आते हैं' इस नियम के अनुसार इस विशेषता वाले तेजस् से आँखों के उत्पन्न होने के कारण ही आँखें रूप की प्रकाशक बन पाती हैं।

इस पर वैज्ञानिक दृष्टि से यह कहना है कि आँख को रूप का प्रकाशक बनने के लिए रूप व्यंजक तेजस् से निर्मित होने की आवश्यकता नहीं है। अपितु उसे रूप के प्रति संवेदनशील अथवा ग्रहणशील होने की अपेक्षा है। विश्व के सभी प्रकाशक उपकरण इसी प्रकार के हैं। वे तेज से निर्मित न होकर भी तेज को ग्रहण करने का अच्छा सामर्थ्य रखते हैं। दर्पण या काँच आदि इसके उदाहरण हैं। ये अन्य स्थान से प्रकाश को ग्रहण करके असाक्षात् या परम्परागत रूप से प्रकाशक बनते हैं। आखों की स्थिति इनसे भिन्न नहीं है। विश्व में साक्षात् रूप–व्यंजक केवल सूर्य प्रकाश ही है। अन्य सभी उसके प्रकाश को ग्रहण करके अन्यत्र अन्य रूप में भेजने का ही कार्य करते हैं। इनकी प्रकाशकता इन कार्यों में ही निहित है। आँखें भी सूर्य से प्रकाश प्राप्त करके उसे अपवर्तित करके उसके चित्ररूप को मस्तिष्क तक भेजने का ही कार्य करती हैं। इसके लिये उनके तैजस

---

१. चक्षुर्नास्ति तैजसं, स्वकीय–तेजसा परकीयरूप–व्यंजकत्वाभावाद् दर्पणवत्। यद् यद् –वस्तु स्वकीयतेजसा परकीय–रूपं न व्यंजयति तत् तन्नास्ति तैजसं, यथा दर्पणम्!

होने की आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार जल को अन्यत्र भेजने वाली तथा जल को अनेक रूप देने वाली प्रणालिका स्वयं जलीय तत्त्व से निर्मित नहीं होती। उसी प्रकार चक्षुरूपी प्रणालिका प्रकाश को ग्रहण करके भी तैजस नहीं होती।

सबसे प्रमुख बात यह है कि आधुनिक वैज्ञानिक प्रत्यक्ष रीति से आँखों में सविशेष तेजस् का अभाव सिद्ध कर सकते हैं। अनुमान की अपेक्षा प्रत्यक्ष की प्रबलता को तो न्यायशास्त्र के विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। उनके अनुमान के द्वारा तो आग भी ठण्डी होती है। पर प्रत्यक्षतः ऊष्म उपलब्ध करके वे उसके गर्म होने का निश्चय कर पाते हैं!

विज्ञान के अनुसार किसी भी पदार्थ में सविशेष तेजस् होने पर उसके अणुओं में सविशेष प्रकम्पन तथा संघर्षण होता है। यह तथ्य इतना अटूट तथा अकाट्य है कि विश्व के किसी पदार्थ में इसका अपवाद नहीं मिल सकता। पानी में जैसे–२ ऊष्मा बढ़ती है, उनके अणुओं में वैसे–२ प्रकम्पन बढ़ता जाता है। यही स्थिति सर्वत्र है।

इस दशा में यदि आँखों में सविशेष तेज हो तो उसका सविशेष प्रकम्पन उपलब्ध होना चाहिये। पर प्रत्यक्षतः ऐसा नहीं देखा गया। अतः इस आँख को अन्य अंगों से अधिक तैजस मानना सम्भव नहीं है।

इस सम्पूर्ण विवेचन का तुलनात्मक संक्षेप इस प्रकार है–

दार्शनिक	वैज्ञानिक
१. आँखें तैजस हैं, यह अनुमान से सिद्ध है।	१. आँखों में सविशेष तेजस् का अभाव है, यह प्रत्यक्ष से सिद्ध है।
२. आँखों में सविशेष ऊष्म स्पर्श अनुद्भूत होने से अनुपलब्ध है।	२. आँखों में सविशेष ऊष्म स्पर्श का अभाव होने से वह अनुपलब्ध है।
३. जो वस्तु परकीय स्पर्शादि का अव्यंजक होकर परकीय रूप का व्यंजक हो, वह अवश्य तैजस होती है।	३. जो वस्तु स्वकीय तेज से परकीय रूप का व्यंजक न हो वह कभी तैजस नहीं होती।
४. आँखों के रूप–व्यंजक तेजस् से निर्मित होने के कारण ही आँखों में रूप की प्रकाशकता है।	४. आँखों के रूपव्यंजक तेजस् के प्रति संवेदनशील या ग्रहणशील होने के कारण उनमें रूप की प्रकाशकता है।

४. आँखों से किरणें निकलती हैं, बिल्ली की आँखों के समान!

–(न्याय शास्त्र)

दर्शन शास्त्र में आँखों से किरणें निकलने के सिद्धान्त का विस्तार से प्रतिपादन प्राप्त है। यह सिद्धान्त उस समय सुनिश्चित रूप धारण कर चुका था तथा इसे व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ था। क्योंकि यह मान्य है कि यूक्लिड के समय वहाँ के देशों में भी प्रकाश का स्रोत आँखों को ही माना जाता था।

सर्व प्रथम न्याय–सूत्र में ३.१.३२ से ४३ सूत्र तक चक्षुरश्मि अथवा नायन रश्मि की अनेक तर्कों द्वारा सिद्धि की गई है, इनमें एक सूत्र इस प्रकार है–

नक्तंचरनयन–रश्मि–दर्शनाच्च– न्याय सूत्र ३.१.४३

इसका अर्थ यह है कि रात्रि में विचरण करने वाले वृषदंश, बिल्ली आदि की आँखों की किरणें देखकर मनुष्य की आँखों में भी उन किरणों का अनुमान होता है। यहाँ अनुमान इस प्रकार है– हमारी आँखें रश्मि से परिपूर्ण हैं, आँखे होने से, बिल्ली की आँखों के समान [१]।

आँखों से निकलने वाली किरणों का बाहरी वस्तु के साथ संयोग होने पर चाक्षुष प्रत्यक्ष का प्रकार भी यहाँ बताया गया है। जैसे–

रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात् तद्ग्रहणम् –न्याय सूत्र ३.१.३२

अर्थात् 'कोई वस्तु बड़ी है तथा कोई उससे भी बड़ी है'– इसका बोध आँखों से निकलने वाली किरणों का उस बाहरी वस्तु के साथ संयोग के द्वारा होता है। इस संयोग सम्बन्ध के अस्तित्व की पहचान आवरण के द्वारा होती है। जिस प्रकार प्रदीप से निकलने वाली किरण दीवार के उस पार वस्तु से संयोग नहीं करती। इसी प्रकार आँखों से भी दीवार से आवृत वस्तु का अनुभव नहीं होता। इससे सिद्ध है कि प्रदीप किरणों के समान आँखों से भी किरणें निकलती हैं, जिनकी प्रकृति एक समान है।

इस प्रकार अन्य आकर ग्रन्थों में भी आँखों से निकलने वाली किरणों के द्वारा चाक्षुष प्रत्यक्ष की अनेक बार सिद्धि की गयी है। उदाहरणार्थ–

---

१. अस्मदादिचक्षुः रश्मिविशिष्टं चक्षुष्ट्वात् मार्जारचक्षुर्वत्– उक्त सूत्र पर प्रसन्नपदा।

रश्म्यर्थसन्निकर्षादनुद्भूतरूपस्पर्शा नायना रश्मयो दूरे गत्वा सन्तमर्थं गृह्णन्ति।
—पृ० ६१ साधर्म्यवैधर्म्यप्रकरण में न्यायकन्दली।

अर्थात् अनुद्भूत रूप तथा स्पर्श वाली आँखों की किरणें दूर जाकर उन रश्मि तथा बाह्य पदार्थ के संयोग से उस वर्तमान वस्तु का ग्रहण या चाक्षुष प्रत्यक्ष करती हैं।

अन्य दर्शनों में भी समान रूप से आँखों का किरणों के माध्यम से बाहर गमन स्वीकार किया है। उदाहरण के लिए वेदान्त परिभाषा में कहा है कि घ्राण, रसना तथा त्वगिन्द्रिय अपने–अपने स्थान में रहकर ही क्रमशः गन्ध, रस तथा स्पर्श का प्रत्यक्ष करती है। पर आँखें तथा श्रोत्र इन्द्रिय स्वयं विषयदेश में जाकर अपने अपने विषय का ग्रहण करती हैं[1]। यहाँ अनेक तर्कों के आधार पर बताया है कि आँखों की किरणों के समान श्रोत्र में परिसीमित आकाश में तैजस अंश की प्रधानता होने से वह भी बाहरी विषयदेश के पास जाकर शब्दग्रहण करता है!!

आधुनिक विज्ञान में आँखों से किरणें निकलने के सिद्धान्त की समीक्षा—— आधुनिक विज्ञान में यह सिद्धान्त सर्वथा अमान्य हो चुका है। यह सच है कि न्याय शास्त्र आदि के समय इसे विश्व के विभिन्न देशों में व्यापक समर्थन प्राप्त था। सम्भव है, न्याय के तर्कों ने ही उन्हें प्रभावित किया हो। पर वर्तमान युग में अनेक प्रत्यक्ष प्रयोगों के द्वारा इसे मान्यता प्रदान करना सम्भव नहीं है।

आँखों से किरणें निकलने की मान्यता में प्रमुखतः बिल्ली की आँखों के आधार पर अनुमान प्रस्तुत किया गया है। अतः पहले उसकी ही विवेचना करते हैं।

यह सच है कि बिल्ली की आँखें रात में खूब चमकती हैं। यदि इस समय इनकी आँखों में टार्च का प्रकाश फेंका जाय तो वे ऐसी प्रतीत होती है, जैसे चमकती लालटेन की लौ हो!! पर इसका कारण उनकी आँखों से किरणें निकलना नहीं है। अपितु आँखों में बाहर से आए प्रकाश के परावर्तन की अत्यधिक क्षमता रखना है। इनकी आँखों में मणिभीय पदार्थ (Crystalline substance) के जाल की एक परत बिछी रहती है। यह ऐसी लगती है जैसे– चाँदी के पालिश का कोट किया गया हो! स्पष्टतः ऐसे पदार्थों में कम प्रकाश को भी परावर्तित

---

१. तत्र घ्राणरसन–त्वगिन्द्रियाणि स्वस्थानस्थितान्येव गन्धरस–स्पर्शोपलम्भाञ्जनयन्ति। चक्षुःश्रोत्रे तु स्वत एव विषयदेशं गत्वा स्वस्वविषयं गृह्णीतः।
—वेदान्त परिभाषा, प्रत्यक्ष परिच्छेद पृ० १३१

करने की बहुत अच्छी क्षमता होती है। ठीक इसी कारण से मणि, मरकत आदि भी कम प्रकाश में भी अच्छा चमकते हैं। यद्यपि इस विशेषता के कारण दर्शनशास्त्र में इन्हें भी तैजस मान लिया गया है। पर वस्तुतः इनकी यह चमक अद्भुत अपवर्तन क्षमता का परिणाम है। आधुनिक विज्ञान में क्राउन शीशा का अपवर्तनांक १.५३ माना गया है। हीरे का अपवर्तनांक सबसे अधिक २.४१६ होता है। यही कारण है कि यह अल्पतम प्रकाश में भी खूब चमकता है।

इससे सिद्ध है कि विश्व में इस विशेषता वाली वस्तुएं कम प्रकाश में भी अच्छा चमकने का सामर्थ्य रखती हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि इनमें अपना कोई प्रकाश नही हैं। ये केवल बाहरी अल्पतम प्रकाश को प्रतिफलित भर करती हैं। अत एव हीरा जैसी चमकदार वस्तुएं भी अन्धाघुप्प अन्धकार में सर्वथा काली ही होती हैं।

ठीक इसी प्रकार बिल्ली की आँखें भी घनघोर अन्धकार में बिल्कुल काली होती हैं। इनकी चमक केवल तभी तक है, जब तक कहीं से कोई प्रकाश का लेश प्राप्त हो रहा हो। इस विशेषता के कारण वे सामान्य अँधेरे में भी अपने शिकार को देखकर उसे पकड़ने में अच्छी होशियारी दिखा पाती हैं। इस समय उनकी आँखें लाल रंग की चमकती है। इसका कारण उनकी आँखों में अधिकतम रुधिर-वाहिकाओं (Blood- vessels) का उपस्थित होना है। पर ये सभी विशेषताएं घने अँधेरे में कोई कार्य नहीं कर पाती। इससे सिद्ध है कि इनमें अपना प्रकाश का स्रोत वर्तमान नहीं होता।

विश्व में नक्तंचारी प्राणियों में केवल चमगादड़ ही ऐसा है जो घने अँधेरे में भी अपना काम कुशलता से सम्पादित करता है। यह देखा गया है कि रात में चारों ओर से सर्वथा बन्द घोर अँधेरे में उल्लू इत्यादि सभी नक्तंचारी अपने कार्य में असमर्थ हो जाते हैं। पर चमगादड़ उस समय भी पूरी कुशलता के साथ उड़ता रहता है, कभी दीवाल इत्यादि से नहीं टकराता। अँधेरी गुफाओं में भी वह सभी प्रकार की बाधाओं से बच निकलता है।

प्रारम्भ में इस समस्या ने जीव वैज्ञानिकों को काफी परेशानी में डाले रखा। बाद में प्रयोगों से यह ज्ञात हुआ कि उसका इन बाधाओं में भी कुशलता का रहस्य आँखों में नहीं, अपितु कानों में निहित है!! क्योंकि यह देखा गया कि उसकी अविकसित आँखों को निकाल देने पर भी वह कुशल बना रहता है। पर इसके कानों में मोम की डाट लगा देने पर यह बिल्कुल लाचार हो जाता है।

परीक्षणों से यह जाना जा चुका है कि यह पराश्रव्य ध्वनितरंगों का उत्सर्जन करता है। सामान्य मनुष्य प्रति सेकेण्ड २०,००० से कम आवृत्ति वाली ध्वनि तरंगों को ही सुन सकता है। इससे अधिक आवृत्ति वाली तरंगें उसकी कानों की दृष्टि से अस्तित्वविहीन हैं। पर यह चमगादड़ प्रति सेकेण्ड १,००,००० आवृत्ति वाली अनेक प्रकार की ध्वनितरंगें उत्पन्न कर सकता है! आधुनिक वैज्ञानिक समुद्र में पड़े हुए सामान या पनडुब्बी आदि खोजने के लिए ऐसी उच्च आवृत्ति उत्पन्न करने वाले उपकरण काम में लाते हैं। पर जहां उनके उपकरण सैकड़ों पौंड भारी होते हैं, वहां यह असाधारण विशेषता वाला पक्षी कुल मिलाकर भी आधे औंस से कम वजन ही रखता है!!

यह पक्षी इन ध्वनि तरंगों को दूर ठोस पदार्थों तक भेजता है तथा वहां से वापस आने वाली प्रतिध्वनि को सुनता है। इस प्रकार इस प्रतिध्वनि को वापस आने में लगने वाले समय के द्वारा दीवाल आदि ठोस पदार्थ की दूरी का अनुमान लगाता है। आज कल इसकी पराश्रव्य ध्वनि को निम्न आवृत्ति में रूपान्तरण करने के लिये उपकरण बन चुके हैं। तब इसकी टिक् टिक् ध्वनि को सहज ही अपने कानों से सुना जा सकता है! इस प्रकार स्पष्टतः यह पक्षी अँधेरे में आँखों से नहीं, अपितु कानों से अपना कार्य करता है।[1]

इस विस्तृत विवेचन से सिद्ध है कि विश्व में कोई भी प्राणी अपनी आँखों से किरणें नहीं निकालते हैं। वे बाहर से आई हुई किरणों को ही अधिक क्षमता से परावर्तित या अपवर्तित कर सकते हैं। केवल इस क्षमता के कारण केवल चमक के आधार पर आँखों को तैजस अथवा प्रकाश उत्सर्जन करने वाला नहीं माना जा सकता। केवल अधिक परावर्तन की क्षमता वाले दर्पण या पानी को तो कोई दार्शनिक भी तैजस नहीं मानते। ठीक यही स्थिति आँखों में भी लागू है। इस प्रकार उपर्युक्त दर्शन सूत्र में उदाहरण के रूप में प्रस्तुत नक्तंचारी प्राणियों के नायन रश्मि के असिद्ध होने पर मनुष्यों की चक्षूरश्मि भी सिद्ध नहीं की जा सकती।

---

१. प्रायं सभी नक्तंचारी प्राणियों की आँख की अपेक्षा कान अधिक संवेदनशील होते हैं—

Animals who are active at night possess very keen hearing. Vision is less significant for mammals than for birds- Zoology, page 215

चक्षुरिन्द्रिय के सही स्थान की गवेषणा के द्वारा भी इस तथ्य को समझने में सहायता प्राप्त होती है। दर्शनशास्त्र में माना गया है कि चक्षुरिन्द्रिय काले तारे के अग्रभाग में निवास करती है[1]। इस तारे को सामान्य आँखों से देखा जा सकता है। इसके पिंगल या कृष्णवर्ण का होने से इसे कृष्ण तारा (Pupil) कहा जाता है। इसके बीच में एक छिद्र होता है, जिसे 'कनीनक' कहते हैं। इससे ही प्रकाश की किरणें आँखों के अन्दर प्रविष्ट होती है। इसके ठीक पीछे उभरा हुआ दृष्टिमण्डल (lens) अवस्थित होता है, जो कि इस बाहर से आये हुए प्रकाश को अपवर्तित करता है। वैद्यक ग्रन्थों में इस लेंस को 'काच' कहा गया है, जिससे प्रकट है कि वैद्यक के विद्वान् इस लेंस को काँच के सदृश मानते हुए इसके अपवर्तन आदि कार्यों से सर्वथा परिचित थे।

इस काले तारे का कार्य बाहरी प्रकाश का अवशोषण करना है तथा कनीनक के माध्यम से प्रकाश की उचित मात्रा को लेंस तक भेजना है। इसके काले होने के कारण प्रकाश परावर्तित नहीं हो पाता, अपितु यह अवशोषित होकर अन्दर भेज दिया जाता है। कैमरे में डायाफ्राम (Diaphragm) के बीच में बने छेद के द्वारा आँखों के कनीनक जैसा कार्य लिया जाता है। विज्ञान के अनुसार प्रत्येक काली वस्तु प्रकाश का अवशोषण ही करती है। वह प्रकाश का उत्सर्जन अथवा परावर्तन नहीं करती। अतः यहां तारे का काला रंग होना अत्यन्त सार्थक उद्देश्य पूर्ण है।

इससे सिद्ध है कि दर्शनशात्र के अनुसार काले तारे के अग्रभाग में रहने वाली चक्षुरिन्द्रिय प्रकाश का उत्सर्जन नहीं कर सकती । वह केवल बाहरी प्रकाश के अवशोषण में ही सहायक हो सकती है।

आँखों से किरणें निकलने के सिद्धान्त की अन्य प्रकार से परीक्षा के लिये संक्षेप से विश्व में प्रचलित प्रकाश उत्सर्जन की विधियों पर विचार करते है। एक सामान्य नियम के अनुसार किसी भी पदार्थ के अणुओं में घर्षण बढ़ने पर ताप अथवा ऊष्मा ऊर्जा उत्पन्न होती है। इस ताप को आगे बढ़ाते रहने की दशा में उस वस्तु से दृश्य किरणें उत्सर्जित होने लगती हैं। जैसे लोहे को आग में डालने पर वह गर्म हो जाता है। इसका ताप ५२५° C से अधिक बढ़ाने पर उसमें से काफी मात्रा में लाल किरणें निकलती हैं, जिससे हमें वह लाल रंग का दिखाई देता है।

---

१. इन्द्रियं रूप-ग्राहकं चक्षुः कृष्णताराग्रवर्ति- तर्क संग्रह, तेजोनिरूपण।

कुण्डलीकृत तार में मुक्त इलेक्ट्रोन के घर्षण बढ़ने पर भी यही स्थिति होती है। सामान्य विद्युत् हीटर के मोटे तार में इस घर्षण से ऊष्मा तथा लाल किरणें निकलती हैं। पर बल्ब में प्रयुक्त टंगस्टन का तार २८००° C ताप पर श्वेत प्रकाश उत्सर्जित करने लगता है।

मनुष्य की आँखों में शरीर के अन्य अंगों के समान विद्युत् ऊर्जा है। वह इसकी सहायता से आँखौं के रेटिना पर बने प्रतिबिम्ब का संकेत मस्तिष्क तक पहुँचा पाता है। वहां इस ऊर्जा के सुचालक जल आदि की भी पर्याप्त उपस्थिति होती है। साथ ही आँखों में ताप अथवा ऊष्मा ऊर्जा भी रहती है। इस ऊर्जा की मात्रा सामान्यतः उतनी ही होती है, जितनी शरीर के अन्य अंगों में होती है। सामान्यतः मनुष्य शरीर का औसत तापमान ९८° F अथवा तदनुसार ३६.६६° C होता है। इस मामूली तापमान पर उपर्युक्त किसी विधि के अनुसार प्रकाश किरणों के उत्सर्जित होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

यहाँ दार्शनिकों का मानना है कि आँखों का ताप अन्य अंगों की अपेक्षा अधिक होता है। पर वह आँखों में उपस्थित अपेक्षाकृत ठण्डे जलीय अंश के कारण दबा रहता है। जिस प्रकार चन्द्र किरणें प्रकाश होने के कारण ऊष्म ही होती हैं। पर वातावरण के ओस इत्यादि के कारण वे शीतल प्रतीत होती हैं। ठीक इसी प्रकार आँखों का रूप और स्पर्श दोनों ही अपेक्षाकृत ठण्डे जल से अभिभूत अथंवा दबा हुआ रहता है।

पर यह भी ठीक नहीं प्रतीत होता। क्योंकि आँखों सहित शरीर के प्रत्येक भाग का ताप रक्त के द्वारा नियंत्रित होता है। हो सकता है, आँखों के आगे वाला भाग जल के वाष्पीकरण के द्वारा किञ्चित् ठण्डा हो। पर उसके अन्य भागों में रक्त से अधिक ताप नहीं रह सकता। इस प्रकार आँखों में ऊष्मा का इतना अधिक उछाल नहीं आ सकता कि वे प्रकाश उत्सर्जित करने लगे।

प्रकाश उत्सर्जन की एक अन्य अद्‌भुत व्यवस्था भी है जो कि जुगनू तथा कुछ समुद्री मछलियों इत्यादि में देखी गयी है। इनके प्रकाश में इतनी स्वल्प ऊष्मा होती है कि वैज्ञानिक उपकरणों से भी इन्हें नापना आसान नहीं होता। अतएव वैज्ञानिक इसे 'ठण्डा प्रकाश' कहते हैं!! इनमें यह प्रकाश विशिष्ट प्रकार के एंजाइमों के द्वारा उत्पन्न किया जाता है। पर आँखों में इस प्रकार के एंजाइम भी नहीं पाए गए हैं।

विश्व में अब तक इनके अलावा अन्य कोई प्रकाश उत्सर्जन की विधि नहीं जानी जा सकी है। आँखों के प्रायः सभी अंग बाहरी प्रकाश के अवशोषण, पारगमन, अपवर्तन आदि के लिये ही उपयोगी है। जैसे आँखों का काला तारा ; (Pupil) तथा कर्बुर–वृति अथवा Choroid झिल्ली प्रकाश का अवशोषण करती है तथा परावर्तन रोकती है। कैमरे में भी अन्दर की काली पुती दीवारें यही कार्य करती है। आँखों के जलीय द्रव (Aqueous humour) तथा सान्द्र द्रव (Vitreous humour) के माध्यम से प्रकाश पारगमन करते हुए दृष्टिवितान (Retina) तक पहुँचता है। दृष्टिमण्डल या काच (Lens) के द्वारा प्रकाश का अपवर्तन होता है।

इससे सिद्ध है कि आँखों से प्रकाश का उत्सर्जन नहीं, अपितु बाहरी प्रकाश के अपवर्तन आदि कार्य ही होते हैं।

---

५. एक मनोरम प्रश्नोत्तर

न्याय शास्त्र में आँखों से किरणें निकलने के सिद्धान्त के सन्दर्भ में एक मनोरञ्जक प्रश्नोत्तर प्राप्त होता है। जिसका यदि उचित समाधान होता तो प्रस्तुत सिद्धान्त की दिशा बदली जा सकती थी। पर ऐसा नहीं हो सका तथा एक अस्पष्ट समाधान के द्वारा इस सिद्धान्त को स्थिर बना दिया गया।

न्याय कन्दली के अनुसार यह प्रश्नोत्तर इस प्रकार है। प्रश्न है कि यदि आँखों से किरणें निकलकर बाह्य वस्तु के साथ संयुक्त होकर चाक्षुष प्रत्यक्ष को सिद्ध करती हैं, तो वृक्ष की शाखा तथा चन्द्रमा इन दोनों की युगपत् अथवा एक साथ उपलब्धि किस प्रकार सम्भव होती है।[1] क्योंकि आँखों की किरणों का शाखा की अपेक्षा चन्द्रमा तक जाने में कुछ अधिक समय अवश्य लगेगा। ऐसी दशा में शाखा दर्शन से कुछ समय पश्चात् चन्द्रमा दिखाई पड़ना चाहिये। फिर भी वह शाखा दर्शन के साथ ही किस प्रकार दिखाई पड़ता है।

इसका उत्तर यह दिया गया कि वास्तव में तो शाखा के पश्चात् ही चन्द्रमा दिखाई पड़ता है। पर यह कार्य इतनी तीव्रता से होता है कि हमें क्रमिकता का बोध न होकर युगपत् अर्थात् एक साथ प्रतीति होती है। जिस प्रकार यदि सौ कमल के पत्तों में सुई से छेद किया जाय तो स्पष्टतः गणित के तर्क के अनुसार एक के पश्चात् अन्य में क्रम से ही छेद बनेगा। पर तीव्रता के कारण हमें ऐसा लगता है कि सभी पत्तों में एक साथ छेद हो गया है। इसी प्रकार यहाँ भी शाखा–चन्द्र दर्शन क्रमिक होकर भी युगपत् प्रतीत होता है।[2]

न्याय शास्त्र में तीव्रता को प्रकट करने के लिये यह कमल के पत्ते का दृष्टान्त इतना प्रसिद्ध हुआ कि इसने बाद में न्याय का रूप ले लिया। तत्त्व चिन्तामणि प्रत्यक्ष खण्ड पर मथुरा नाथ टीका में इसे 'शतपत्र–भेद न्याय' बताते हुये निरूपित किया है।[3]

---

१. यद् गच्छति तत् सन्निहितव्यवहितार्थौ क्रमेण प्राप्नोति। तत्कथं शाखा–चन्द्रमसोस्तुल्यकालोपलब्धिः। न्यायकन्दली पृ०–६२

२. इन्द्रियवृत्तेराशुसञ्चारित्वात् पलाशशतव्यतिभेदवत् क्रमाग्रहणनिमित्तोऽयं भ्रमो, न तु वास्तवं यौगपद्यम्। —न्यायकन्दली पृ०–६२

३. उपर्युपरिस्थितशतसंख्यकपत्राणां सूच्या युगपद् भेद–भ्रमविषयाणामपि वस्तुत एकभेदानन्तरमपरभेदः– तत्त्वचिन्तामणि पर मथुरानाथटीका।

प्रस्तुत उदाहरण से प्रकट है कि बाह्य जगत् में तीव्र गति से काल के अतिस्वल्प अन्तर से घटित होने वाली दो घटनाएं प्रेक्षक को युगपत् प्रतीत होती हैं। आधुनिक विज्ञान के अनुसार मस्तिष्क में किसी भी दृश्य–पदार्थ का बिम्ब १/१६ सेकेण्ड तक बना रहता है। उसके पश्चात् दूसरा बिम्ब बनता है। अतः इससे कम समय में घटित होने वाली सभी क्रमिक घटनाएँ स्पष्टतः युगपत् ही प्रतीत होंगी। कमल–पत्र के दृष्टान्त में यदि १०० कमल में छेद करने में १ सेकेण्ड लगता है तो गणित के अनुसार १/१०० सेकेण्ड में एक पत्ते में छेद होगा। इतने कम समय में मस्तिष्क में नया बिम्ब नहीं बनता। अतः न्याय शास्त्र में इस प्रसंग में युगपत् प्रतीति की बात कहना सर्वथा सच है।

मुक्तावली की दिनकरी टीका में युगपत् प्रतीति का एक अन्य उदाहरण दिया गया है, जो इस प्रसंग में अधिक सटीक है। उनका कहना है कि प्रातः काल पूर्व दिशा में सूर्य निकलते ही उसकी किरणें भवन में आ गईं तथा हमें उपलब्ध हुईं, ऐसी प्रतीति होती है। क्योंकि प्रकाश के अतिलघु होने के कारण उसका महावेग अतितीव्र है, जिसे हम सोच भी नहीं सकते। पर तर्क से स्पष्ट है कि सूर्य निकलना तथा उसकी किरणों का भवन में आना–यह कार्य क्रमिक ही होता है।[1]

इस विवरण का आशय यह है कि सभी आवश्यक साधनों के उपस्थित होने पर ध्वनि या प्रकाश की उपलब्धि के समकाल ही उनके उत्पन्न होने की प्रतीति होती है। वे जिस क्षण उपलब्ध होते हैं, उसी क्षण वे अस्तित्व में आए–ऐसा प्रेक्षक अनुभव करता है। साथ ही 'यदि स्यादुपलभ्येत' इस प्रसिद्ध नियम[2] के अनुसार जब तक उनकी उपलब्धि नहीं होती, तब तक उनके अभाव पर विश्वास करता है। पर वस्तुतः प्रकाश की उपलब्धि से निमेष क्षण पूर्व ही सूर्योदय हो जाता है तथा वह पलक झपकते ही हमारे पास पहुँच जाता है।

---

१. तुल्यकाल–ग्रहणं चासिद्धमेव, तदभिमानस्य कालसन्निकर्षेणैवोपपत्तेः। अचिन्त्यो हि तेजसो लाघवातिशयेन वेगातिशयः, यत् प्राचीनाचल–चूडाविलम्बिन्येव भगवति मयूखमालिनि भवनोदरेष्वालोक इत्यभिमानो लोकानाम्–प्रत्यक्षखण्ड कारिका ४२ की मुक्तावली में दिनकरी टीका।

२. यह न्यायशास्त्र में अभाव को प्रत्यक्ष करने का एक प्रसिद्ध सिद्धान्त है। इसके अनुसार 'यदि होता तो उपलब्ध होता' इस तर्क के साथ आँखों से किसी वस्तु के अभाव का अनुभव करता है। यदि स्यादुपलभ्येतेत्येवं यत्र प्रसज्यते–द्रष्टव्य कारिकावली श्लोक ६२

आधुनिक विज्ञान के अनुसार समीक्षा—दिनकरी टीकाकार का कहना बिल्कुल सही है कि प्रकाश का वेग अचिन्त्य होता है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार प्रकाश का वेग ३,००,००० किलोमीटर प्रति सेकेण्ड होता है। विश्व में अन्य किसी का भी इस से अधिक वेग प्राप्त नहीं किया गया। किसी पिण्ड का इतना वेग सम्भव भी नही है। स्पष्टतः विशेष उपकरणों के बिना हमारा सामान्य मस्तिष्क इस वेग को सोच भी नहीं सकता। हमारे दैनिक जीवन में जिन पिण्डों के वेग से हमें वास्ता पड़ता है वे प्रकाश के वेग के सामने अतितुच्छ हैं। इस विश्व में पिण्डों के वेग में पृथ्वी के घूर्णन का वेग सर्वाधिक है। यह लगभग ३० किलोमीटर प्रति सेकेण्ड है। पर सोचिये, यह प्रकाश के वेग की अपेक्षा कितना मन्द है!!

सूर्य से निकलने वाली किरणें इसी महावेग से पृथ्वी सहित सभी ग्रहों की ओर भागती रहती हैं। पर सूर्य से धरती की दूरी भी तो अत्यधिक—लगभग १५ करोड़ किलोमीटर है।अतः प्रकाश के इस महावेग से चलने पर भी धरती तक पहुँचने में ८ मिनट से कुछ अधिक समय लगता है।

हम यह नहीं जानते कि सूर्य से पृथ्वी आदि ग्रहों की दूरी के सम्बन्ध में प्राचीन लोगों की क्या अवधारणा थी। पर यह लगभग तय है कि ऐसी कोई भी धारणा बहुत अस्पष्ट थी। कुछ विद्वान् तो यह मानते हैं कि उपनिषद् युग में धरती से सूर्य की अपेक्षा चन्द्रमा को अधिक दूर माना जाता था!![1]

---

१. महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने 'विश्व की रूपरेखा' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि 'उपनिषद् के ऋषि चन्द्रमा को सूर्य से भी दूर मानते थे।......................इस तरह के विचार को लुप्त करने के लिये गेलिलियो की पहली दूरबीन ही काफी थी'।

अपने इस विचार के समर्थन में उन्होंने उपनिषद् के जिस वाक्य का पता दिया है, उसका उद्धरण इस प्रकार है—

"कस्मिन्नु खलु आदित्यलोका ओताश्च प्रोताश्चेति—चन्द्र लोकेषु गार्गि!— बृहदारण्यक उपनिषद् ३.६.१.

अर्थात् आदित्यलोक किसमें ओत—प्रोत हैं? उत्तर—गार्गि! चन्द्रलोक में।

यहाँ उपनिषद् के उद्धरण के अनुसार अधिक व्यापक, अधिक दूर तथा अधिक सूक्ष्म वस्तु में कम व्यापक, कम दूर तथा कम सूक्ष्म वस्तु को ओत—प्रोत दिखाया गया है। इस स्थिति में चन्द्रमा में सूर्य को ओत—प्रोत कहना अत्यधिक प्रश्नास्पद तो है ही। क्योंकि वास्तविकता यही है कि सूर्य ही अधिक व्यापक है, वही अधिक दूर है तथा तप्त गैसीय पिण्ड का आकार रखनें के कारण सूर्य ही चन्द्रमा से अधिक सूक्ष्म भी है। पर इस उद्धरण के अनुसार तो चन्द्रमा में अधिक व्यापक आदि विशेषताएँ बताई गई प्रतीत होती हैं।

इस अस्पष्ट अवधारणा के चलते दिनकरी टीकाकार आदि ने यह मान लिया है कि सूर्य से चलने वाली किरणें पलक झपकते ही प्रेक्षक की आँखों तक पहुँच जाती है। पर जैसा कि ऊपर कहा गया है कि ये ८ मिनट पश्चात् ही हमारे पास तक पहुँच पाती हैं। इस प्रकार हम प्रातः काल क्षितिज से ऊपर आने वाले सूर्योदय को ८ मिनट पश्चात् उस रूप में देख पाते हैं।

इससे सिद्ध है कि सूर्योदय होते ही उसकी किरणों की उपलब्धि मानना ठीक नहीं है तथा पलक झपकते ही निमेष मात्र के अन्तराल में भी उसकी उपलब्धि मानना सही नहीं है। वास्तव में सूर्योदय का पता लगाने के लिये किरण रूपी दूत से बढ़िया कोई दूत हो नहीं सकता। अतः उसके पहुँचे बिना हम सूर्योदय को नहीं जान सकते। ऐसी दशा में उस देवदूत के पहुँचने के साथ ही हम सूर्यदेव का भान कर पाते हैं! प्रचलित मुर्गे की कहानी में वह व्यक्ति 'जब मुर्गा बोले तब सबेरा'—ऐसा अनुभव करता था। ऐसे किसी भी सदा अँधेरे कमरे में रहने वाले व्यक्ति को, जिसे अन्य उपाय से सबेरा ज्ञात न हो सके, ऐसा ही अनुभव होगा। पर हम अन्य उपाय से सबेरा होने को जान कर उससे विपरीत निष्कर्ष निकालते हैं। अर्थात् जब सबेरा हो उसके पश्चात् मुर्गा बोलता है, ऐसा समझते हैं। सूर्योदय के प्रसंग में भी किरणों के अलावा अन्य किसी भी उपाय से सूर्योदय को न जान पाने की स्थिति में उसी व्यक्ति की तरह 'जब किरणे आईं, तभी सूर्योदय' ऐसा हम सोचते है। पर यहाँ भी 'जब सूर्योदय हुआ उसके ८ मिनट पश्चात् किरणें आने पर हमें उपलब्धि होती है' इस प्रकार हमें समझना चाहिये।

आँखों से किरणें निकलने की दशा में भी यह मानना होगा कि वे प्रकाश के नियमों का परिपालन करेंगी। क्योंकि चाहे प्रदीप का मन्द प्रकाश हो, या सूर्य की किरण हो, उनका महावेग सदा ही उसी प्रकार रहता है।[1] अतः इस अध्याय के प्रारम्भ में कहे प्रश्न के सन्दर्भ में यदि यह मान लें कि आँखों से चन्द्र के लिये किरणें चलती हैं तो वहाँ तक पहुँचने में वे कम से कम १ $^{1}/_{3}$ सेकेण्ड का समय अवश्य लेंगी। क्योंकि धरती से चन्द्रमा की दूरी लगभग ३,८४,००० किलोमीटर है।

---

१. दर्शन शास्त्र में भी विशाल अग्निव्यूह हो या एक छोटी चिनगारी—इन दोनों को गुणों में एक समान माना है—

यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।

—मुण्डकोपनिषद् २.१.१.

अतः पूर्वोक्त प्रकाश वेग के अनुसार इतना समय लेना अनिवार्य है। इस प्रकार आँखों से किरणें निकलने की दशा में शाखा दर्शन से १ $^{1}/_{3}$ सेकेण्ड के पश्चात् चन्द्र दर्शन क्यों नहीं होता। उसका युगपत् या समकाल ही दर्शन किस प्रकार हो जाता है–यह प्रश्न बना ही रहता है।

इस विकट प्रश्न के समाधान के लिये आँखों से किरणें निकलने के सिद्धान्त को छोड़ना अवश्यंभावी है। तब यह स्पष्ट है कि चन्द्र से १ $^{1}/_{3}$ सेकेण्ड पहले चली हुई किरणों के माध्यम से इतने समय पूर्व अवस्थित चन्द्रमा का तथा वर्तमान कालिक शाखा का हम दर्शन करते हैं। पर अभ्यास वश शाखा के समान चन्द्रमा को भी 'वर्तमानकालिक चन्द्र' ऐसा समझ लेते हैं। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे ८ मिनट पूर्व उदित सूर्य को हम तत्काल उदित सूर्य समझते हैं।

आधुनिक खगोलविज्ञान के सन्दर्भ में दर्शन सिद्धान्त–इस विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में आखों से किरणें निकलने के सिद्धान्त का निषेध अनिवार्य हो गया है। इस विज्ञान में ऐसे ग्रहों की अवस्थिति या गति को बताना पड़ता है जिनकी दूरी को प्रकाश वर्ष में नापना सुविधाजनक समझा जाता है। एक प्रकाश वर्ष वाले तारे का अर्थ यह है कि प्रकाश अपने महावेग से एक वर्ष में जितनी दूरी तय करेगा उतनी दूर अवस्थित कोई तारा!

भारतीय ज्योतिष में भी इस प्रकार के तारों की अवस्थिति, उनके प्रभाव तथा उन्हें शब्द प्रदान आदि की आवश्यकता होती है। वहाँ विभिन्न समयों में आकाश में अनेक ग्रहों के योग की जानकारी दी जाती है। जैसे कहा जाता है कि अमुक विशेष समय में कन्या राशि में बृहस्पति तथा शनि एक दूसरे के समीप होगें। प्राचीन काल में महीनों के नाम एक बहुत अच्छी मान्यता के आधार पर रखे गए थे। जैसे चैत्र मास तब होता है जब उस महीने की पूर्णिमा का चाँद चित्रा नामक तारे के समीप हो[1]। ज्योतिष के विद्वानों ने सैकड़ों वर्षों के निरन्तर परिश्रम से प्रत्येक मास की पूर्णिमा में विशेष राशि के विशेष तारे की निश्चित अवस्थिति को जान लिया था। उसके आधार पर ही सब महीनों के नाम रखे गए थे।

पर खगोल के विद्वान् को इनकी सही अवस्थिति की जानकारी के लिये यह जानना आवश्यक होता है कि क्या वास्तव में इन ग्रहों का योग होता है या

---

१. चैत्री पौर्णमासी अस्मिन् चैत्रो मासः। साऽस्मिन् पौर्णमासीति संज्ञायाम्।
– अष्टाध्यायी ४.२.२१.

पूर्णचन्द्र सचमुच किसी विशेष तारे के समीप आ जाता है। यह निर्धारित कर लिया गया है कि इस पृथ्वी से बृहस्पति की दूरी लगभग ६३ करोड़ किलोमीटर है। ये दोनों अपने एक निश्चित वृत्तपथ पर चलते हुए सदा इतनी दूरी अवश्य बनाये रखते हैं। कन्या राशि पर कहा जाने वाला अत्यन्त चमकीला तारा 'चित्रा' (spica) तो हमसे बहुत दूर लगभग १५,४२,००० अरब किलोमीटर दूर है। वहाँ से धरती तक प्रकाश किरणें पहुँचने में लगभग १६० वर्ष लगते हैं। अतः इसकी दूरी १६० प्रकाश वर्ष है। यह वहीं एक छोटे से वृत्त में घूमता है।

इस दशा में ये एक दूसरे के समीप किस प्रकार हो सकते हैं। वास्तविकता यह है कि ये ग्रह, नक्षत्र आकाश में चलते हुए एक दूसरे की सीध पर आ जाते हैं। खुली आँखों से देखने पर वे समीप अवस्थित प्रतीत होते हैं। हमारी आँखें ४५० मीटर से अधिक दूरी की वस्तुओं में एक दूसरे के सापेक्ष दूरी का अन्दाज नहीं लगा पातीं। अतएव रेलगाड़ी से दूरस्थित वृक्षों की कतारें सपाट प्रतीत होती हैं। इसी कारण आकाश में भी ये तारे समान दूरी पर टिके मालुम होते हैं। चैत्र मास में पूर्णचन्द्र के समतुल्य दूरी पर इस चन्द्र के समीप चित्रां दिखाई देता है। पर सच यह है कि वह सदा ही लगभग उतनी ही दूरी बनाए रखता है। अतः प्रश्न उठता है कि इन ग्रह, नक्षत्रों को किसी विशेष दशा में चन्द्रमा के समीप कहना किस प्रकार सही हो सकता है।

भारतीय ज्योतिष के विद्वान् इसका समाधान 'दृष्टि' के द्वारा प्रस्तुत करते हैं। इसका उनके यहाँ बहुत महत्त्व है। उनका कहना है कि वे तारे आकाश में वास्तविक रूप से चाहे जितनी दूरी पर हों, पर उनका हम पर प्रभाव तभी होता है जब उनकी सम्मिलित किरणें हमारे पास पहुँचें तथा इस प्रकार वे तारे हमें एक साथ दिखाई दें। इस प्रकार इन सम्मिलित किरणों के फलाफल वर्णन के सन्दर्भ में 'दृष्टि' के आधार पर एक दूसरे के समीप कहना असंगत नही हैं। क्योंकि यहाँ ज्योतिषी लोग चन्द्र चित्रा की वास्तविक दूरी को नहीं, अपितु केवल दृष्टिगत दूरी को निरूपित करना चाहते हैं।

पर यथार्थ की विवेचना के लिए प्रतिबद्ध दर्शन–शास्त्र के विद्वान् इस प्रकार का समाधान देकर अपना काम नहीं चला सकते। वहाँ वे यह नहीं कह

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकते कि हमारी आंखों की किरणें पलक झपकते हीं[1] शाखा के साथ–२ चित्रा नक्षत्र पर जाकर उसका दर्शन कर लेती हैं। ऐसा कहकर वे किसी विशेष समय में चित्रा की सही–२ अवस्थिति को निरूपित नहीं कर सकते। अतः चित्रा से चली हुई प्रकाश किरण की गति तथा दूरी के आधार पर ही उसकी अवस्थिति तय करनी होगी। तभी राकेट प्रक्षेपण के द्वारा उस सही स्थान पर पहुँचना सम्भव हो सकता है। इस प्रकार सिद्ध है कि आँखों से किरणें निकलने का सिद्धान्त अब कदापि कार्यशील नहीं हो सकता।

१• यह केवल संयोग ही नहीं है कि प्राचीन काल में समय की सबसे छोटी इकाई को आँखों के पलक झपकने के आधार पर तय किया गया था। उनके अनुसार इस विश्व में सबसे कम समय में पलक झपकने का कार्य सम्पन्न होता है। इसीलिए इसी अर्थ में 'निमेष' को सबसे छोटी इकाई माना है। अग्नि पुराण का एक श्लोक इस प्रकार है–

अक्षिपक्ष्मपरिज्ञेयो निमेषः परिकीर्तितः।
द्वौ निमेषौ त्रुटिर्नाम द्वे त्रुटी तु लवः स्मृतः।।

अर्थात् आँखों के झपकने का समय एक निमेष होता है। दो निमेष मिलकर त्रुटि होते हैं तथा दो त्रुटि को मिलाकर 'लव' बनता है।

यह देखना रुचिकर है कि समय की आधुनिक सूक्ष्मतम नाप की तुलना में यह कितनां स्थूल उपभेद है। समय की परिशुद्ध माप में यह पाया गया है कि सेकेण्ड के ७५–९० सहस्रांश में पलक गिरती है, १३०–१७० सहस्रांश तक वह वहीं विराम करती है तथा लगभग १७० सहस्रांश में वह ऊपर उठती है। अर्थात् लगभग २/५ सेकण्ड अर्थात् सेकेण्ड के ४०० सहस्रांश में यह पूरा कार्य होता है।

आधुनिक युग में सेकेण्ड के सहस्रवें भाग में होने वाले कार्य को स्पष्टतः जाना जा सकता है। इस सूक्ष्म काल में ध्वनि ३३ सें०मी०, सूर्य के परिभ्रमण में पृथिवी ३० मी० तथा प्रकाश ३०० कि०मी० चल लेता है!!

६आँखों से सम्बन्धित सिद्धान्तों पर भाषा का प्रभाव

इस विश्व में प्राणी के उद्भव से लेकर अब तक प्रकाश से बढ़िया संकेतक प्राप्त नहीं हो सका है। अतः उसका तथा उसे ग्रहण करने वाली आँखों के विषय में अनेक मान्यताएँ विकसित हुईं। इनका प्रभाव भाषा के शब्दों पर पड़ा। साथ ही यह कहना भी सच है कि भाषा के अनेक प्रयोगों का प्रभाव उनसे सम्बन्धित सिद्धान्तों पर भी पड़ा है। इस प्रकार यह प्रभाव अन्योन्य है तथा दोनों को अलग–अलग स्थानों पर ढूँढ़ा जा सकता है।

प्राचीन काल में आँखों से उसकी दृष्टि–क्षमता को अलग महत्त्व प्रदान करने के लिये उसे अलग नाम दिया गया तथा उसे अन्य से भिन्न बताया गया। इस प्रकार वैदिक युग में 'अक्षि' का अर्थ उस दर्शनेन्द्रिय का निवास स्थान है तथा चक्षु का मौलिक अर्थ दर्शनेन्द्रिय है। न्याय शास्त्र में भी यह माना है कि पुतली के अन्दर काले तारे के अग्रभाग में निवास करने वाली दर्शनेन्द्रिय है, जिसे किसी भी उपाय से देखा नहीं जा सकता। जो भी कुछ देखा जाता है वह काव्य तथा दर्शन शास्त्र के शब्दों में नयनपात्र[1] या अक्षिपात्र है, जिसमें दर्शनेन्द्रिय रहती है।

अथर्ववेद के एक अति सुन्दर मन्त्र में जीवन के सौ वर्षों तक मुख में वाणी, नासिका में प्राण तथा अक्षि में चक्षु बने रहने की प्रार्थना की गई है।[2] यहाँ आँखों के तारे में दृष्टिक्षम इन्द्रिय बने रहने का ही आशय है।

बाद में चलकर, ऐसा लगता है कि अक्षि और चक्षु के अर्थ में घालमेल हो गया। इसीलिए संस्कृत के 'अक्षि' शब्द से ही हिन्दी में दर्शनेन्द्रिय अर्थ वाला आँख शब्द विकसित हुआ। साथ ही संस्कृत में भी एक दूसरे अर्थ में एक दूसरे शब्द का प्रयोग होने लगा। दर्शनशास्त्र में ज्ञानेन्द्रिय से उत्पन्न साक्षात् अनुभव के लिये एक बढ़िया पारिभाषिक शब्द 'प्रत्यक्ष' है। इसमें 'अक्ष' शब्द का प्रयोग है जो कि मूलतः वैदिक काल से जुए के पासे अथवा रथ की पहिये की धुरी का वाचक है।

---

१ नयन पात्रपेयं वपुः–अविमारकम्। दर्शन के एक अति सुन्दर रूपक में विद्वान् को अक्षिपात्र के सदृश बताया है– अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वान्–योगसूत्र २.१५. पर व्यास भाष्य।

२. वाङ्म असन्नसोः प्राणः, चक्षुरक्ष्णोः, श्रोत्रं कर्णयोः। अपलिता केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम् —— अथर्ववेद १९.६०.१

पर यहाँ इस शब्द में अक्ष शब्द को सामान्य इन्द्रिय वाचक मान लिया गया, जो कि ऊपर कहे इन्द्रियनिवास अर्थ से विपरीत है।

दर्शनेन्द्रिय अर्थ वाला वैदिक 'चक्षु' शब्द भी अपने अन्दर कई प्रकार की मान्यताओं को समेटे हुए प्रतीत होता है। यह शब्द चक्ष् धातु से विकसित है, जिसका संस्कृत में अर्थ बोलना है, देखना नहीं। इससे बनने वाले 'आचष्टे' का अर्थ 'बोलता है', यह होता है। साथ ही इसी चक्ष् धातु से हिन्दी में चखना क्रिया विकसित हुई है। इससे लगता है कि इस धातु का स्वाद लेना अर्थ भी था। इसी धातु से निर्मित 'विचक्षण' शब्द का अर्थ 'सभी अनुभवों में कुशल व्यक्ति' यह होता है।

इस प्रकार 'सभी प्रकार के अनुभव ग्रहण करने अर्थ वाली चक्ष् धातु से चक्षु बनाया गया है, जो कि सार गर्भित है। क्योंकि यह माना जाता है कि आँखें सबसे प्रमुख तथा सबसे निश्चयात्मक अनुभव ग्रहण करती हैं। जो बात मुख से नहीं कह पाते उसे आँखों से कह देना सर्वविदित है। रूप को 'मधुर' बताया जाता है, जो कि मूलतः स्वाद से ग्रहण करने योग्य 'मधु' से निर्मित है।

आँखों को अतिशय महत्त्व प्रदान करने का भाषा में एक अन्य प्रमाण भी है। संस्कृत, हिन्दी तथा इंग्लिश में भी आँख तथा श्रवण से विहीन के लिये शब्द मौजूद हैं। पर अन्य अनुभव उतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। अतः सूँघना आदि शक्ति से विहीन के लिये कोई शब्द नहीं है।[1] आँखों से विहीन के लिये भी जो 'अन्ध' शब्द प्रसिद्ध है, वह मूलतः वस्तुनिष्ठ है। इससे यह भावना प्रकट होती है कि बाहरी जगत् का व्यापक अँधेरा तथा चक्षुविहीनता में कोई अन्तर नहीं है।

आँखों से किरणें निकलने के सिद्धान्त को सुस्थापित करने में भी भाषा की पर्याप्त भूमिका रही प्रतीत होती है। क्योंकि भाषा में 'मेरी आँखें इस चित्र से जुड़ गईं', आँखें इस चित्र से हटती ही नहीं, ऐसा प्रयोग होता है। साथ ही किसी के अन्धत्व प्राप्त होने पर 'इसके आँखों की रोशनी चली गई' ऐसा कहते हैं। इन

---

१. मनुष्य की दुनिया में गन्ध बहुत मामूली भूमिका अदा करती है। इसका एक प्रमाण यह तथ्य है कि हमारी भाषा में अन्धापन और बहरापन के अनुरूप कोई ऐसा सामान्य शब्द नहीं जो सूँघने के अभाव को प्रकट करता हो।

— प्राणि शरीर का क्रियाविज्ञान, नट्श्मिट, नील्सन पृ.१०६

प्रयोगों से वक्ता यह कहना चाहता है कि आँखें उसकी किरणों के माध्यम से चित्र से संयुक्त हुई हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार की सामान्य सार्वजनीन भावना का प्रभाव इस सि्द्धान्त पर अवश्य पड़ा होगा।

कभी–कभी हम देखते हैं कि भाषा में व्याकरण के नियम को सुसंगत बनाने के लिये भी इस प्रकार के सिद्धान्त का सहारा लिया जाता था। जैसे संस्कृत व्याकरण में माना गया है कि धातु के फल और व्यापार यें दो अर्थ होते हैं। इनमें से व्यापार का आश्रय कर्ता तथा फल का आश्रय कर्म होता है। जैसे– 'देवदत्त लकड़ी को काटता है'– यहाँ काटना क्रिया का जो फल अर्थात् 'दो टुकड़े हो जाना' यह लकड़ी में आधारित होता है। अतएव लकड़ी की कर्म संज्ञा हो जाती है।

संस्कृत व्याकरण का यह सार्वत्रिक नियम 'देवदत्त घड़े को जानता है, घड़े को देखता है' – इस तरह के उदाहरणों में संगत नहीं हो पाता। क्योंकि जानने या देखने क्रिया का फल घट में निवास करता हो, अथवा यों कहें कि देखना क्रिया के किसी फल को आधारित बनाते हुए घट में कोई विशिष्टता उत्पन्न होती हो, ऐसा नहीं है। ऐसी दशा में इस प्रकार के वाक्यों में घट की कर्म संज्ञा तथा द्वितीया विभक्ति किस प्रकार हो, यह गम्भीर प्रश्न वैयाकरणों के समक्ष उपस्थित होता है।

वैयाकरणों ने इसका अनेक प्रकार का समाधान देने का प्रयास किया है। अन्त में, इस द्वितीया विभक्ति की उपपत्ति के लिये वेदान्त में मानी गई 'देखने' की प्रक्रिया को स्वीकार कर लिया है। उसके अनुसार देखने की दशा में तैजस अन्तःकरण तथा आँखों से निकली किरणें उस बाह्य वस्तु को सभी ओर से घेर कर उसके ही आकार का बन जाती हैं। इस प्रकार उस घड़े के सभी ओर रहने वाले तमस् अथवा आवरण का विनाश हो जाता है। इस दशा में घड़े में सत्त्व गुण अथवा प्रकाशकता के आ जाने के कारण उस घड़े का आँखों से प्रत्यक्ष हो जाता है।

वैयाकरणों का कहना है कि इस प्रक्रिया के अनुसार देखने क्रिया से उत्पन्न आवरण भङ्ग रुप फल घट में निवास करता है। अतः फल का आधार होने से घट की कर्म संज्ञा हो जाती है।[1] यहाँ वेदान्त की 'देखने' की यह प्रक्रिया

---

१. 'जानाति' इत्यत्र आवरणभंगरूपधात्वर्थफलाश्रयत्वात्–वैयाकरण भूषणसार सुबर्थ निर्णय पृ.१७४। यहाँ 'जानाति' से 'पश्यति' का उपलक्षण होने के कारण देखने में भी यही प्रक्रिया मान्य है।

कुछ ऐसी है मानों घट पर पड़ी हुई सूर्य की चमकीली किरणों से घट का आवरण भंग न होता हो। पर आँखों से निकली हुई सर्वथा कल्पित अदृश्य किरणों से उसका आवरण भंग हो जाता हो! यह विवरण कुछ वैसा ही है जैसा महाकवि कालिदास ने लिखा है कि किसी व्यक्ति के सामने विशाल डील डौल वाला हाथी अपनी बड़ी–२ घण्टियों को बजाते हुए सामने से निकल गया, तब उसे पता न चला। बाद में उसके पैरों के निशान देखकर वह समझ पाया कि ओ! यहाँ से हाथी गया था!![1]

भाषा के प्रयोग अथवा व्याकरण की निष्पत्ति के लिये भौतिकी के सिद्धान्त नहीं बदलते। पर यहाँ वैयाकरणों ने द्वितीया विभक्ति की निष्पत्ति के लिये अन्य सिद्धान्त अपना कर[2] ऐसा ध्वनित किया है मानों देखने की प्रक्रिया द्वितीया विभक्ति की सुविधानुसार अपना कार्य करती हो!!

प्रकाश तथा अन्धकार विषयक अनेक प्रयोगों के द्वारा अनेक प्रकार की मान्यताएँ परिचालित होती रही हैं। संस्कृत के एक प्रसिद्ध वाक्य 'तमोऽपहः सूर्यः' के द्वारा सूर्य के प्रकाश को अन्धकार का विनाशक कहा जाता है[3]। महाकवि कालिदास ने एक अति सुन्दर उक्ति में कहा है कि छोटे लोग भी बड़ों का सहारा पाकर बड़ा कार्य कर लेते हैं। अन्यथा सूर्य का 'अरुण' नामक सारथि हजारों किरणों वाले सूर्य का सहारा पाए बिना किस प्रकार भूमण्डल के अन्धकार का विनाश कर पाता[4]!!

---

१. राजा दुष्यन्त सामने आई हुई शकुन्तला को पहचान न सके। बाद में उसकी अँगूठी देखकर उन्हें उसकी याद आई। इस विचित्रता पर महाकवि कालिदास ने यह हाथी का उदाहरण दिया है। श्लोक इस प्रकार है–

> यथा गजो नेति समक्षरूपे तस्मिन्नपक्रामति संशयः स्यात्।
> पदानि दृष्ट्वा तु भवेत् प्रतीतिस्तथाविधो मे मनसो विकारः।।

— अभिज्ञान शाकुन्तलम् ७॰३१

२. वैयाकरणभूषणसार धात्वर्थनिर्णय पृ० ७५ में दर्शनस्य घटावृत्तित्वात्' कह कर दर्शन के फल को घट में न रहना स्वीकार किया है। पर आगे सुबर्थनिर्णय में घट की द्वितीया विभक्ति करने के लिये वेदान्त सिद्धान्त को अपनाते हुए इसके फल को घट में रहना स्वीकार कर लिया है।

३. तमांसि अपहन्ति इति तमोऽपहः सूर्यः – अपे क्लेशतमसोः। –अष्टाध्यायी ३.२.५०

४. किं वाऽभविष्यदरुणस्तमसां विभेत्ता तं चेत् सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत्।।

—अभिज्ञान– शाकुन्तलम् ७.४

इस प्रकार के प्रयोगों से यह धारणा बनती है कि सूर्य–प्रकाश के आगमन से अन्धकार का विनाश होता है। अथवा प्रकाश का उदय कारण तथा अन्धकार का विनाश कार्य है। पर यह मान्यता ठीक नहीं। क्योंकि प्रकाश का उदय तथा अन्धकार का विनाश – ये एक ही बाहरी घटना की दो व्याख्याएँ हैं। जिस प्रकार शोर की उत्पत्ति तथा शान्ति का विनाश ये दोनों तात्त्विक दृष्टि से दो घटनाएँ नहीं हैं। अपितु एक ही घटना की व्याख्या की दो पद्धतियाँ हैं।

ध्यान रहे हम इस विवेचन से इन प्रयोगों को अशुद्ध नहीं बता रहे हैं। अपितु इनके आधार पर जो कार्य कारण की अवधारणा बनती है, उसका ही तात्त्विक दृष्टि से प्रतिषेध कर रहे हैं। अन्यथा हमें आचार्य नागार्जुन के दुर्धर्ष तर्कों का पुनः सामना करना पड़ेगा। उनका कहना है कि उदित होने वाले प्रदीप के द्वारा अन्धकार का विनाश किस प्रकार हो सकता है? क्योंकि इस प्रदीप से अन्धकार की भेंट ही कहाँ हो पाती है। जैसा कि इस सुन्दर उक्ति में कहा है–

सामानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयोः कुतः? – शिशुपालवधम्।

पर प्रदीप को अन्धकार के विनाश का कारण मानने पर तो एक क्षण के लिये इनका सामानाधिकरण्य अथवा साथ रहना मानना पड़ेगा। इससे बचने के लिये यदि यह मानें कि प्रदीप अन्धकार से भेंट किये बिना ही उसका विनाश कर डालता है, तब तो वह पूरे भूमण्डल के अन्धकार से भेंट किये बिना ही उस समूचे अन्धकार का विनाश क्यों नहीं कर सकता[1]!!

कहना न होगा कि इस प्रकार के तर्कों ने उस समय के दर्शन–जगत् में हलचल मचा दी थी। इससे हम यह जानते हैं कि इन प्रयोगों को आधार बना कर बाहरी घटनाओं की तदनुरूप व्याख्या कभी समीचीन नहीं हो सकती। दर्शनशास्त्र में जब भी कभी ऐसा प्रयत्न हुआ, तभी वहाँ गम्भीर प्रश्न उठते रहे हैं।

---

१. कथमुत्पद्यमानेम प्रदीपेन तमो हतम्। नोत्पद्यमानो हि तमः प्रदीपः प्राप्नुते यदा। अप्राप्यैव प्रदीपेन यदि वा निहतं तमः। इहस्थः सर्वलोकस्थं स तमो निहनिष्यति।

– मध्यमकशास्त्र ७.१०–११

७. आँखों से बाहरी वस्तु का दर्शन किस प्रकार होता है

दर्शनशास्त्र के विद्वानों ने आँखों से बाह्य वस्तु के प्रत्यक्ष के सन्दर्भ में अनेक सुनिश्चित सिद्धान्त स्थिर किये हैं। इनमें सभी ज्ञानेन्द्रियों में समान रूप से लागू होने वाला एक सार्वत्रिक सिद्धान्त यह है कि ये बाह्य वस्तु से सम्बन्धित होकर ही प्रत्यक्ष कराने में समर्थ होती है।[१] आँखों के विषय में भी यह सिद्धान्त सच है। क्योंकि इसके भी बहिरिन्द्रिय होने से इसमें भी ज्ञानेन्द्रिय के सभी सार्वत्रिक नियम लागू हैं।[२] आँखों का बाहरी द्रव्य के साथ सम्बन्ध आँखों से निकली किरणों के माध्यम से होता है, जिसे पिछले अध्यायों में निरूपित किया गया है।

पर विस्मयपूर्ण यह है कि आँखों के विषय में आस्तिक दार्शनिकों द्वारा एकमत से समर्थित इस सिद्धान्त को बौद्ध विद्वान् स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार आँखें वस्तु के साथ सम्बद्ध हुए बिना ही वस्तु का प्रत्यक्ष कराती हैं। क्योंकि आँखों से नियम पूर्वक दूरस्थ असम्बद्ध वस्तु का ही दर्शन होता है। पर सम्बद्ध वस्तु आँखों के अञ्जन का कभी दर्शन नहीं होता।[३] यदि आँखों से संयुक्त वस्तु ही दिखाई पड़ती तो अञ्जन अवश्य ही दिखाई देता, पर बाहरी वस्तु नहीं दिखाई देती।

इससे सिद्ध है कि आँखों से असम्बद्ध वस्तु ही दिखाई देती है। जिस प्रकार चुम्बक लोहे से सम्बद्ध हुए बिना ही दूर स्थित लोहे को खींच लेता है, उसी प्रकार आँखें भी दूरस्थ वस्तु को खींच लेती हैं। जिस प्रकार चुम्बक बहुत दूर में स्थित अथवा बहुत व्यवहित लोहे को नहीं खींच सकता, उसी प्रकार आँखें भी बहुत दूर के अथवा आवृत पदार्थों को नहीं देख सकतीं।[४]

---

१. इन्द्रियाणि वस्तु प्राप्य प्रकाशकारीणि, ज्ञानकारणत्वादालोकवत्।
— तर्क भाषा, अभाव निरूपण

२. चक्षुःश्रोत्रे वस्तु प्राप्य प्रकाशकारिणी, बहिरिन्द्रियत्वात् त्वगादिवत्।
— तर्क भाषा, अभाव निरूपण

३. चक्षुःश्रोत्रमनोऽप्राप्तविषयम् — तथा हि दूराद् रूपं पश्यति, अक्षिस्थमञ्जनं न पश्यति
— अभिधर्म कोश १॰४३

४. यद्यप्राप्तविषयं चक्षुः, कस्मान्न सर्वमप्राप्तं पश्यति, दूरं तिरस्कृतं च।
कथं तावदयस्कान्तो न सर्वमप्राप्तमयः कर्षति। प्राप्तविषयत्वेऽपि चैतत् समानम्।
— अभिधर्म कोश १.४३ पर स्वोपज्ञ भाष्य।

इस प्रकार बौद्ध मत में आँखों से वस्तु दर्शन में कोई अदृश्य चुम्बकीय कारण हो सकता है, जिसकी वे व्यांख्या नहीं कर सकते। चुम्बक से लोहे को खींचने की व्याख्या आस्तिक दार्शनिकों के लिये भी असम्भव थी। इसीलिये कणाद ने इसका अदृष्ट कारण मान लिया था। इसकी व्याख्या को असम्भव बनाने में सबसे प्रचलित तथा मान्यता प्राप्त अवधारणा यह थी कि कोई पिण्ड किसी अन्य पिण्ड को छुए बिना उसे प्रभावित नहीं कर सकता। इसीलिए हजारों वर्षों तक विद्वानों के मन में यह सन्देह बना ही रहा कि क्या सूर्य करोड़ों मील दूर से पृथिवी को या अन्य ग्रहों को खींच सकता है। जब सबसे पहले न्यूटन ने आकर्षण नियम को प्रतिपादित किया तो विदेश के विद्वानों को भी इसे मानने में बहुत कठिनाई हुई। उस समय के प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् 'जॉन लॉक' मानते थे कि कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ से टकराए बिना उसमें गति या कोई प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकता। अतः उन्होने एक पत्र में लिखा कि 'मेरी समझ में नहीं आता कि किस तरह कोई पदार्थ सम्पर्क में आए बिना अन्य को प्रभावित कर सकता है।' पर लॉक ने न्यूटन के प्रयोगों के आधार पर अन्ततः यह माना कि वह प्रभावित तो करता ही है। उस समय बौद्धों ने कारण के अव्याख्येय होने पर भी चुम्बक के उदाहरण से यह मान लिया कि आँखें वस्तु के सम्पर्क में आए बिना ही उसे 'देख' लेती हैं।

पर आस्तिक दार्शनिकों ने आँखों के साथ वस्तु के सम्पर्क का सबसे बढ़िया माध्यम किरणों को माना तथा उनके आधार पर संयोग आदि सन्निकर्ष के द्वारा चाक्षुष प्रत्यक्ष की व्याख्या की। इसके सहित सभी प्रत्यक्षों की व्याख्या के लिए न्याय का एक प्रसिद्ध सूत्र इस प्रकार है—

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।

— न्याय सूत्र १.१.४

अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय तथा पदार्थ के साथ संयोग आदि सन्निकर्ष के द्वारा उत्पन्न अव्यपदेश्य, व्यभिचार से रहित तथा निश्चयात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष कहाता है।

चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रसंग में चक्षुरिन्द्रिय का पदार्थ के साथ आँखों से निकली हुई किरणों के माध्यम से सन्निकर्ष होता है। वास्तव में वे किरणें आँखों से पृथक् या भिन्न नहीं हैं। अपितु आँखों का ही भाग हैं। वे किरणें तैजस होने से अपना विस्तृत स्वरूप बना लेती हैं। इस प्रकार द्रष्टा की आँखें उतनी व्यापक हैं, जितनी

दूर दृश्य वस्तु है। इन व्यापक आँखों तथा द्रव्य का संयोग होने पर उस द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है।

न्यायशास्त्र में वस्तु के स्वरूप की अपनी विशिष्ट परिकल्पना के अनुसार उनके प्रत्यक्ष का क्रम भी उसी दृष्टि से निर्धारित किया गया है। उदाहरणार्थ न्याय में मान्य है कि घट द्रव्य है तथा उसके साथ अन्य द्रव्य का संयोग सम्बन्ध ही हो सकता है। घट में समवाय सम्बन्ध से रूप गुण तथा उस रूप में भी समवाय सम्बन्ध से रूपत्व जाति निवास करती है। अतः घट द्रव्य के प्रत्यक्ष में चक्षुकिरण का घट के साथ संयोग सम्बन्ध होता है। घटरूप गुण के प्रत्यक्ष में संयुक्त समवाय सम्बन्ध है। क्योंकि संयुक्त घट में रूप गुण का समवाय है। रूपत्व के प्रत्यक्ष में संयुक्त–समवेत समवाय सम्बन्ध होता है। क्योंकि उस संयुक्त समवेत रूप में रूपत्व नामक जाति समवाय सम्बन्ध से रहती है।

न्याय के अनुसार यह चक्षु इन्द्रिय पुतली के अन्दर काले तारे के अग्र भाग में निवास करती है।[1] यह अन्य सभी इन्द्रियों के समान अदृश्य होती है।[2] अतः इसे किसी भी उपाय से देखा नहीं जा सकता। यह तेज से विनिर्मित होती है। अतः यहीं किरणें उत्पन्न होती हैं तथा यहीं से बाह्य द्रव्य से संयुक्त होने के लिए प्रसृत होती हैं।

सांख्य शास्त्र में भी इन विशेषताओं वाली चक्षु इन्द्रिय को स्वीकार किया गया है। पर वहाँ इस इन्द्रिय से अधिक इसकी प्रणालिका अर्थात् छिद्र को महत्त्व दिया गया प्रतीत होता है।[3] काले तारे के अग्र भाग में एक छिद्र होता है जिसे कनीनिका कहते हैं। इसी रास्ते से चक्षु से किरणें निकल कर बाहर जाकर द्रव्य से संयुक्त होती हैं। किसी भी कार्य में नाली का अपना महत्त्व होता है। कुँए से खेत की ओर जाने वाली नाली पानी को इधर उधर नहीं बहने देती तथा इस प्रकार अधिकतम पानी के उपयोग में सहायक होती हैं। ठीक इसी प्रकार आँखों की यह प्रणालिका आँखों की किरणों को तनिक भी व्यर्थ न होने देते हुए बाह्य वस्तु तक भेजने में सहायक होती है।

---

१. रूपोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं चक्षुः कृष्णताराग्रवर्ति — तर्कभाषा प्रमेयनिरूपण पृ.१६७
२. शरीरसंयुक्तं ज्ञानकारणमतीन्द्रियम्. इन्द्रियम् — तर्कभाषा प्रमेयनिरूपण पृ.१६४
३. सांख्य में प्रत्यक्ष के लक्षण में इन्द्रिय को 'इन्द्रियप्रणालिका' कहते हुए इसे प्रणालिका के सदृश बताया है।

आधुनिक विज्ञान में आँखों से बाह्य द्रव्य के प्रत्यक्ष का प्रकार– आधुनिक विज्ञान में आँखों से किसी पिण्ड के प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में पहले सूर्य या प्रदीप की किरणें उस पिण्ड पर पड़ती हैं। पिण्डों की अपनी–२ प्रकृति के अनुसार कुछ रंगों या तरंगलम्बानों वाली किरणें अवशोषित कर ली जाती हैं तथा अन्य किरणें उस पिण्ड के प्रत्येक भाग से परावर्तित कर दी जाती हैं। वे परावर्तित किरणें आँखों के काले तारे में पहुँचती हैं। वहाँ चारों ओर की किरणें अवशोषित होकर एक छोटे से छिद्र कनीनिका के द्वारा ठीक पीछे दृष्टिमण्डल या लेंस में पहुँचाई जाती हैं। वहाँ पर इन प्रकाश किरणों का अपवर्तन होता है। जैसा कि किसी काँच में देखा जा सकता है। यह अपवर्तित प्रकाश तनुजल के बीच में से चल कर काली लिपी पुती दीवार–दृष्टिवितान या रेटिना में उस वस्तु का उल्टा प्रतिबिम्ब बनाता है। इसकी सूचना दृष्टि तन्त्रिकाओं (Optic nerve) के माध्यम से मस्तिष्क को दी जाती है। मस्तिष्क उसे सीधा करके जिस रूप में ग्रहण करता है, उसे ही 'देखने का बोध' कहते हैं।

इस विवरण से यह प्रकट होता है कि आँखों का उस वस्तु के साथ सीधे कोई सन्निकर्ष नहीं होता। अपितु वस्तु पर पड़ने के पश्चात् वहाँ से परावर्तित किरण का ही आँखों के साथ सम्बन्ध होता है। इन्द्रियाँ वस्तु से सम्बन्धित होकर ही वस्तु का प्रत्यक्ष कराती हैं, यह दार्शनिक सिद्धान्त विज्ञान की दृष्टि से भी सामान्यतया सच तो है। पर आँखों से प्रत्यक्ष के सन्दर्भ में आँखों का वस्तु के साथ किरणों के माध्यम से परम्परा से सम्पर्क मानना चाहिये, साक्षात् नहीं।
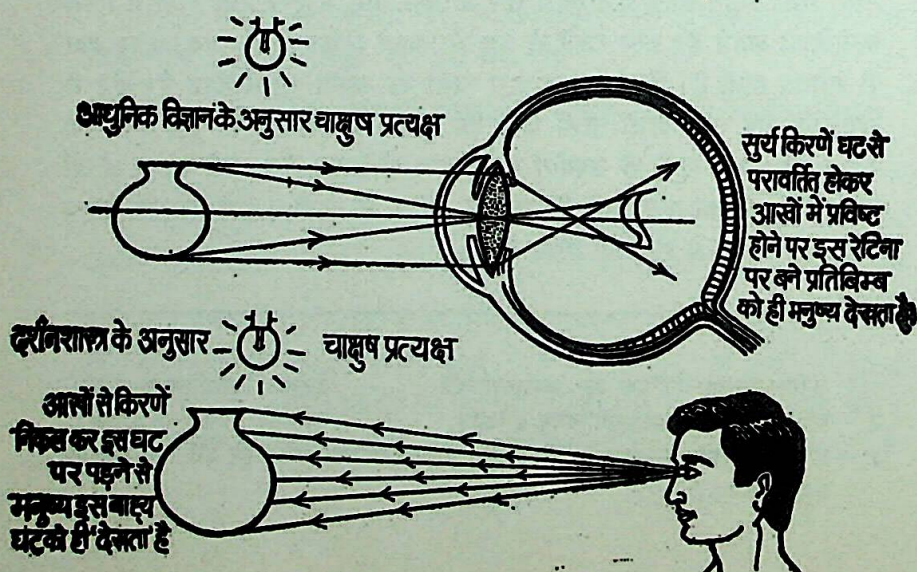
इस दशा में सभी इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाली सामान्य प्रत्यक्ष की प्रक्रिया के लिये जो न्याय सूत्र पहले उद्धृत किया है, उसे चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रसंग में इस प्रकार परिष्कृत रूप से पढ़ा जाना चाहिये–

चक्षुरिन्द्रियार्थपातिसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं चाक्षुषं प्रत्यक्षम्।

अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय का पदार्थ में परिपतित तथा वहाँ से परावर्तित किरणों के साथ संयोग सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को चाक्षुष प्रत्यक्ष कहते हैं।

न्याय में विभिन्न प्रकार के पदार्थों के प्रत्यक्ष के लिए जो अनेक प्रकार के सन्निकर्ष बताए गए हैं, यदि उन पदार्थों को उसी प्रकार मानें तो उन सन्निकर्षों का इस प्रकार परिष्कार करना होगा–

१. द्रव्य प्रत्यक्ष के लिये–

संयोग सन्निकर्ष के स्थान पर संयुक्त संयोगसन्निकर्ष।

२. रूप प्रत्यक्ष के लिये–

संयुक्त समवाय सन्निकर्ष के स्थान पर संयुक्त संयुक्त–समवाय–सन्निकर्ष।

३. रूपत्व प्रत्यक्ष के लिये–

संयुक्त समवेत समवाय सन्निकर्ष के स्थान पर संयुक्त–संयुक्त–समवेत–समवाय–सन्निकर्ष।

यहाँ परिष्कृत संयुक्त–संयोग–सन्निकर्ष की व्याख्या यह होगी– आँखों से संयुक्त–परावर्तित सूर्य किरण, उसका संयोग सन्निकर्ष–वस्तु के साथ। इसी प्रकार अगले सन्निकर्ष का अर्थ होगा– आँखों से संयुक्त–परावर्तित किरण, उनसे संयुक्त–बाह्य वस्तु, उसका रूप के साथ समवाय सन्निकर्ष इत्यादि।

न्याय तथा भौतिक विज्ञान में मौलिक अन्तर–वास्तव में न्याय शास्त्र का सम्पूर्ण प्रयत्न हमारी अनुभूति के समतुल्य भौतिक नियमों की व्याख्या करना प्रतीत होता है। पर हमें यह कभी न भूलना चाहिये कि विश्व में भौतिक विज्ञान के सिद्धान्त हमारी इच्छा से नियन्त्रित नहीं होते। वास्तव में वे अपने ढंग से ही कार्य करते हैं। उनकी व्याख्या हम अपनी सुविधा के अनुसार कर लेते हैं। बौद्ध दार्शनिकों ने इस तथ्य को भली प्रकार समझा था। उनका कहना था कि–

यदीदं स्वयमर्थानां रोचते तत्र के वयम्!

– प्रमाणवार्तिक, प्रत्यक्षपरिच्छेद श्लोक २१०

अर्थात् यदि भौतिक पदार्थों को इस प्रकार ही चलना पसन्द है तो हम उनकी अपनी इच्छा के अनुसार चलाने वाली व्याख्या करने वाले कौन होते हैं!

वैज्ञानिक भी मानते हैं कि भौतिक विज्ञान के नियम आत्मसापेक्ष या हमारी इच्छा के समतुल्य नहीं हो सकते। न्याय तथा भौतिक विज्ञान का यह विभेद निम्न उदाहरणों में प्रकट है–

१. प्रस्तुत दृष्टिविज्ञान के प्रसंग में न्याय शास्त्र का भरपूर प्रयत्न यह है कि हमारी अनुभूति के अनुसार इसकी व्याख्या हो सके। किसी सुन्दर चित्र को देखकर हमें यह लगता है कि 'हमारी आँखें इससे जुड़ गईं, अब वे उससे हटती नही'। इसे सही सिद्‌ध करते हुए न्याय का कहना है कि यहाँ आँखों से निकली किरणों का बाह्‌य चित्र के साथ संयोग सम्बन्ध हुआ है। वे किरणें वस्तुतः आँखों का ही भाग है – आँखें ही हैं। अतः सच है कि आँखें चित्र के साथ जुड़ गई हैं।

पर वैज्ञानिक कहता है कि आँखें कभी बाह्‌य चित्र के साथ नहीं जुड़तीं। विश्व में अभी तक ऐसा कोई उपाय विकसित नहीं हुआ जिससे दूर बैठे पुरुष की आँखें चित्र के साथ संयुक्त हो सकें। वास्तव में जो भी कुछ जुड़ता है, वह है– चित्र से परावर्तित होकर आँखों तक पहुँचने वाली तथा इस प्रकार उसकी सूचना देने वाली किरणें। इस प्रकार मनुष्य की आँखों को सदा चित्र की बजाय किरणें ही हाथ लगती हैं ! वह उन किरणों से बने चित्र को अपनी आँखों में रख कर उन आँखों को बाहरी चित्र से जुड़ा पाता है !! यह गलती जीवन भर प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा दुहराई जाती है।

आधुनिक युग के महान् दार्शनिक वैज्ञानिक बर्ट्रेंड रसेल का कहना है कि यह स्थिति लगभग वैसी ही है, जैसे किसी ने दीवाल पर कोई गेंद फेंकी हो तथा वह उछल कर मेरे हाथ में आ गई हो। उस गेंद को हाथ में लेकर मैं यह समझूं कि ओ! यह दीवाल मेरे हाथ से जुड़ गई[१]!! इस उदाहरण में गेंद उन किरणों का प्रतिरूप है। उस गेंद का दीवाल से उछल कर मेरे पास आना, उन किरणों का परावर्तन होकर मेरे पास आने के समान है तथा उस दीवाल का मेरे हाथ से जुड़ना प्रतीत होना मेरी आँखों से बाहरी चित्र के जुड़ने के प्रतीत होने के समकक्ष है।

---

१. यह कहना कि आप जोंस को देख रहे हैं, यह इस कथन की अपेक्षा अधिक सही नहीं होगा कि – यदि फुलवाड़ी की चारदीवारी से उछल कर गेंद सिर पर लगने पर आप कहें – दीवार मेरे सिर से टकरा गई!! दोनों बातें सचमुच एक दूसरे के अनुरूप हैं!!

– वैज्ञानिक परिदृष्टि पृ.६२

२. इसी प्रकार हम स्पष्ट अनुभव करते हैं कि हम बाहर वर्तमान चित्र–बिम्ब को ही अपनी आँखों से देखते हैं। न्यायशास्त्र इसे भी अपनी पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार सही ठहराता है। पर यहाँ वैज्ञानिक कहते हैं कि यहाँ आँखों का किरणों के साथ संयोग से रेटिना पर बनने वाले प्रतिबिम्ब को ही मस्तिष्क दृष्टि तन्त्रिका (Optic nurve) द्वारा भेजी गई सूचना के आधार पर 'देखता' है। वह इस प्रतिबिम्ब को उलट कर इसे बाहरी बिम्ब समझता है। हम जीवन भर इन बाहरी वस्तुओं के प्रतिबिम्ब को ही देखते हैं। अतः हमारे लिये दुनियां का बाहरी बिम्ब उस प्रकार है जैसा हमारी आँखों पर पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब हमें संसूचित करता है। इस दशा में कुछ बौद्ध दार्शनिक बाह्यार्थानुमेयवाद सिद्धान्त के अनुसार बाहरी दुनियाँ को अनुमेय बताना पसन्द करते हैं। उनके अनुसार हम नहीं जानते कि बाहरी दुनियाँ कैसी है। हम तो वही जानते हैं जो प्रतिबिम्ब के द्वारा अनुमान करते हुए समझ पाते हैं।

आस्तिक दर्शन के भी कुछ सम्प्रदाय इस अवधारणा के समीप पहुँच गए प्रतीत होते हैं। जैसे सांख्य में कहा है कि इन्द्रिय प्रणालिका द्वारा बाह्य वस्तु को ग्रहण करने के पश्चात् चित्त में तथा बुद्धि में तद्विषयक उसी आकार की वृत्ति बनती है। यही प्रत्यक्ष प्रमाण है[1]। इसके पश्चात् पुरुष इस बुद्धिवृत्ति में बने आकार का ही बोध करता है[2]। इस विवरण से स्पष्ट है कि पुरुष को बाहरी वस्तु

---

१. इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तदविषया सामान्य–विशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारण–प्रधाना चित्तवृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्।
– योगदर्शन १.७ पर व्यास भाष्य।

२. फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः। – यो.सू.१.७ पर व्यास भाष्य।
इसी प्रकार – संवेदिन्या बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः। – योगवार्तिक।

का सीधा बोध नहीं होता। उसे तो वह बोध होता है, जैसा उसकी बुद्धि वृत्ति का आकार बनता है। यह कथन वैज्ञानिकों के प्रतिबिम्ब के बोध के कुछ समतुल्य है।

पर न्याय शास्त्र के विद्वान् 'मैं साक्षात् इस बाहरी चित्र को देखता हूँ' इस सर्वजन–संवेद्य दुनियावी बोध को सर्वथा यथार्थ ठहराने के लिये तदनुरूप सिद्धान्त स्थिर करते हैं। उनके 'यथार्थवाद' के विशिष्ट सिद्धान्त के अनुसार ऐसा ही सम्भव है।

आधुनिक विज्ञान में आँखों की कार्यविधि के अनुसार इस बोध के सूक्ष्मतः अयथार्थ होने पर भी इसे दोषावह नहीं माना जाता। क्योंकि इसे ही बाहरी वस्तु–बिम्ब मानते हुए किसी भी वस्तु का प्रयोगशाला में परीक्षण करने से कोई गलत निष्कर्ष प्राप्त नहीं होते। अतः यह बोध सहनीय है। वेदान्त में भी ऐसे बोधों को 'संवादिभ्रम' कहते हुए दोषावह नहीं माना है[1]। वास्तव में ऐसा बोध भ्रान्ति की ओर न ले जाने के कारण तथा बाहरी दुनिया से परिचित कराने के कारण सुखप्रद भी है।

पर इस बोध को सर्वथा यथार्थ बनाने के लिये आँखों से प्रत्यक्ष का तथ्यपरक विश्लेषण करते समय यदि कोई कहे कि रेटिना में प्रतिबिम्ब नहीं बनता, मस्तिष्क इस प्रतिबिम्ब का नहीं, अपितु बाहरी वस्तु का सीधे ही अनुभव कर लेता है – क्योंकि ऐसी ही हमें अनुभूति होती है – तो इसे वैज्ञानिक कभी स्वीकार नहीं कर सकते।

यहाँ यह उल्लेख रुचिकर है कि हमारा मस्तिष्क क्यों रेटिनां पर बने प्रतिबिम्ब को बाहरी वस्तुबिम्ब समझ कर ग्रहण करता है। मस्तिष्क अपने स्वभाववश प्रथमतः तथा एकान्ततः एक ही उपाय से देखी गई वस्तु को बाहरी

---

१. वेदान्त में भामतीकार ने माना है कि अन्य वस्तुओं में अन्य धर्म का आरोप करके भी, यदि वह संवादिक्रिया कर सके तो वह दोषावह नहीं है। जैसे 'अर्थबोधकत्व धर्म' सीधे शब्द में नहीं, अपितु उस शब्द से बनाई गई चित्तवृत्ति में निवास करता है, फिर भी लोग 'नाग' शब्द से ही हाथी अर्थ तथा 'नग' शब्द से ही वृक्ष अर्थ का बोध करते हुए भ्रान्त नहीं समझे जाते। पाठ इस प्रकार है–

न हि लौकिका नाग इति वा नग इति वा पदात् कुञ्जरं वा तरुं वा प्रतिपद्यमाना भवन्ति भ्रान्ताः!!

– ब्रह्मसूत्र १.१.१ पर भामती।

बिम्ब मानता है। एक उपाय से ग्रहण करने के पश्चात् अन्य दर्पण आदि उपायों से देखने पर उसे प्रतिबिम्ब समझता है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक नटश्मिट नील्सन लिखते हैं– *"हालांकि भौतिक तथा रासायनिक परिवर्तन आँखों में होते हैं। हम अपने प्रत्यक्ष ज्ञान को बाहर, प्रकाश के उद्गम स्थल की ओर विस्थापित कर देते हैं, और इस प्रकार दूरस्थ पदार्थों का दर्शन करते हैं"*[1] । यह विस्थापन भी उसके स्वभाववश है। यह बिम्ब–बोध बाहरी बिम्ब के सर्वथा अनुरूप भी है। क्योंकि मस्तिष्क का 'दृष्टिक्षेत्र' रेटिना के प्रतिबिम्ब का पुनः प्रतिबिम्ब बना कर उसका उल्टापन दूर कर लेता है। हम जानते हैं कि रेटिना में वस्तु का उल्टा प्रतिबिम्ब बनता है। कैमरा के द्वारा भी पहले Negative film ही बनती है। पर उस negative film का negative बनाकर उसे positive में बदल दिया जाता है। इसी प्रकार यहाँ भी मस्तिष्क प्रतिबिम्ब का प्रतिबिम्ब बनाकर अन्ततः बिम्ब ही देखता है। इसीलिए सांख्यशास्त्र में भी इस प्रकार के प्रतिबिम्ब बोध को ही बाहरी वस्तु का यथार्थ प्रत्यक्ष बताया है। सामान्य कार्य व्यवहार में इसे प्रतिबिम्ब का प्रतिबिम्ब न समझ कर सीधे बाहरी बिम्ब बोध मानने से कोई भ्रान्ति या बाधा नहीं पहुँचती[2]। अतः सिद्ध है कि यह प्रतीति दोषावह नहीं है।

न्याय शास्त्र के सिद्धान्त की समीक्षा–पर न्यायशास्त्र में 'मैं साक्षात् इस बाहरी चित्र–बिम्ब को देख रहा.हूँ' इस प्रकार के अनुभवों को सर्वथा यथार्थ सिद्ध करने की तत्परता में सिद्धान्त ही अयथार्थता की सीमा में पहुँच गए प्रतीत होते हैं। यहाँ आँखों से निकली हुई किरणों से 'प्रत्यक्ष' के सिद्धान्त की समीक्षा करते हैं। न्यायशास्त्र में इस विषय में दो मत हैं। कुछ का कहना है कि आँखों से किरणें निकल कर वस्तु पर पड़ते ही उस वस्तुदेश में ही वस्तु का प्रत्यक्ष होता

---

१. प्राणि शरीर का किया विज्ञान पृ. १००

२. ऐसे चिन्तन के कारण ही भौतिक वैज्ञानिक बौद्ध विज्ञानवाद को स्वीकार नहीं कर सकते। कोई भी प्रतिबिम्ब अन्य वस्तु द्वारा छोड़े गए प्रभाव की प्रतिक्रिया है। अतः हम प्रतिबिम्ब को देखकर उस अन्य बाहरी वस्तु बिम्ब के अस्तित्व से इन्कार नहीं कर सकते। यहाँ प्रतिबिम्ब का यह विवेचन द्रष्टव्य है – 'एक भौतिक वस्तु पर दूसरी भौतिक वस्तु के प्रभाव के कारण पहली वस्तु में परिवर्तन आते हैं, जो दूसरी वस्तु की कुछ विशेषताओं की पुनः प्रस्तुति करते हैं'। (द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद की सरल रूपरेखा पृ. १३४)। वास्तव में यही प्रतिबिम्ब है तथा यह बिम्ब के सुनिश्चित अस्तित्व पर अवलम्बित है।

है। पर कुछ का मानना यह है कि आँखों से वे किरणें वस्तु पर पड़कर पुनः उसके चित्र को लेकर वापस लौटती हैं, तब अक्षिगोलकदेश में वस्तु का प्रत्यक्ष होता है[1]।

इन दोनों दशाओं में गम्भीर प्रश्न वर्तमान हैं। पहले मत में प्रश्न यह है कि आँखों से किरणें बाहर पहुँच गईं। इस प्रक्रिया से कोई भी सूचना वापस मस्तिष्क तक तो आई नहीं। पुनः मस्तिष्क ने उसका अनुभव कैसे किया। मस्तिष्क के दृष्टि क्षेत्र ने किस प्रकार अपना कार्य सम्पादित किया। दूसरे मत में भी प्रश्न यह है कि आँखों की किरणें वापस लौटते समय उसके चित्र को किस प्रकार लाती हैं तथा वे किस प्रकार मस्तिष्क को सन्देश भेजती हैं। आधुनिक विद्वानों ने भी दोनों मतों में ऐसे अनेक गम्भीर प्रश्न उपस्थापित किये हैं[2]।

हम यह नहीं जानते कि दर्शनशास्त्र के विद्वान् आँखों के विभिन्न अंगों की कार्यशैली की किस प्रकार व्याख्या करते हैं। क्योंकि इनका निरूपण इन ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। सुश्रुत में सम्भवतः Lens का प्रतिरूप 'काच' शब्द का प्रयोग किया गया है तथा इसके अपारदर्शक होने पर lenticular cataract दोष के लिये 'काचीय लिंगनाश' नाम दिया गया है। दर्शनशास्त्र में भी काच–कामला आदि दोषों की चर्चा की गई है। पर अन्य कोई विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं होता। अतः यह मानना बहुत कठिन है कि दर्शनशास्त्र की उक्त व्याख्या से आँखों के इन अंगों की कार्यशैली के साथ कोई सामञ्जस्य बिठा पाना सम्भव है। उदाहरण के लिये हम नहीं बता सकते कि आँखों से किरणें निकलने की स्थिति में दृष्टिमण्डल (Lens) से अपवर्तन तथा दृष्टिवितान (retina) में प्रतिबिम्ब बनने की व्याख्या किस प्रकार सम्भव हो सकती है।

---

१. तस्मात् स्पर्शरसगन्धवद्रूपशब्दयोरपि इन्द्रियसन्निकर्षो गोलकस्थ एव स्वीकार्यः।
— तर्कसंग्रह न्यायबोधिनी पदकृत्य व्याख्या टिप्पणी पृ.४७

२. मन तो हृदय में ही बैठा रहता है, फिर बाहर वस्तु प्रदेश में ज्ञान होगा कैसे? कई ग्रन्थकारों ने इसके समाधान के लिये माना है कि मन व अन्तःकरण भी चक्षु के साथ बाहर चला जाता है। पर यह भी उपहासास्पद कल्पना है। मन यदि बाहर चला जाय तो क्षण के शतांश भर भी शरीर धारण नहीं कर सकता। शरीर उसी क्षण या लव में गिर जायगा। कई ग्रन्थकार कह देते हैं कि चक्षु बाहर जाकर रूप को मन के पास पकड़ लाती है। किन्तु आँख में केवल देखने की शक्ति है, पकड़ लाने की कोई शक्ति उसमें नहीं है। इसलिए यह कल्पना भी पूरी नहीं उतरती।

— वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, म.म. गिरधर शर्मा चतुर्वेदी पृ.२६

आधुनिक युग में आँखों के इन अंगों की सूक्ष्म से सूक्ष्म कार्य–पद्धति को प्रत्यक्षतः तथा सर्वथा यथार्थतः जान लिया गया है। इस प्रकार इनके दोषों के उपचार की भी व्यवस्था की गई है। इस दशा में दर्शनशास्त्र को अब यह तय करना है कि 'मैं बाहरी चित्र–बिम्ब को देखता हूँ' इस प्रकार के प्रयोगों को सर्वथा यथार्थ सिद्ध करने के लियें दर्शनशास्त्र के उन्हीं प्राचीन सिद्धान्त को मान्यता दी जावे या आँखों के सही उपचार के लिये उनकी प्रत्यक्ष देखी गई कार्यपद्धति को स्वीकार किया जावे।

संक्षेपतः आँखों से देखने की प्रकिया में दार्शनिक तथा वैज्ञानिक में मतभेद इस प्रकार हैं–

	दार्शनिक		वैज्ञानिक
१.	आँखों से किरणें निकलती हैं।	१.	आँखों से कोई किरणें नहीं निकलती।
२.	आँखें वस्तु के साथ संयुक्त होकर प्रत्यक्ष कराती हैं।	२.	आँखें वस्तु से परावर्तित किरणों के साथ संयुक्त होकर प्रत्यक्ष कराती हैं।
३.	काले तारे के अग्रभाग में वर्तमान चक्षु इन्द्रिय से ही किरणों का उद्भव होता है।	३.	काले तारे के अग्रभाग के काले होने के कारण वहाँ बाहर से आई हुई किरणों का अवशोषण होता है।
४.	काले तारे के कनीनिका नामक छिद्र से किरणें बाहर निकलती हैं।	४.	काले तारे के कनीनिका नामक छिद्र से बाहरी किरणें अन्द्रर प्रवेश करती हैं।
५.	चाक्षुष प्रत्यक्ष के समय आँखों से सीधे बाहरी वस्तुबिम्ब को देखा जाता है।	५.	चाक्षुष प्रत्यक्ष के समय बाहरी वस्तु का रेटिना पर बने प्रतिबिम्ब को देखा जाता है। मस्तिष्क अपने 'दृष्टिक्षेत्र' में उस प्रतिबिम्ब का प्रतिबिम्ब बनाकर उसे बाहरी वस्तुबिम्ब समझता है।

---

८. आँखें और कैमरा

मानव अपने उद्‌भव काल से ही अनुकरणशील प्राणी रहा है। उसने अपने चारों ओर विश्व के जिन दृश्यों को उपलब्ध किया, उन्होंने उसे गहराई तक प्रभावित किया। उसने भौतिक पदार्थों के अनुरूप अपने अनेक कार्य सम्पादित करने की चेष्टा की। दूसरी ओर उसने उन दृश्यों को काफी समय तक संजो लेने की स्वाभाविक इच्छा से उनका अनुकरण करते हुए उनके विविध प्रकार के प्रतिरूप बनाने का उपक्रम किया। प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू का मानना है कि यह विश्व उस ईश्वर के गुणों और धर्मों का अनुकरण है तथा मनुष्य की काव्य रचना उस विश्व का अनुकरण है। इस प्रकार कविता अनुकरण का अनुकरण है!!– *The world is imitation of God. Poetry is imitation of world. Thus poetry is imitation of imitation!!* यहाँ कविता अन्य सभी कलाओं का उपलक्षण है। अतः चित्र–कला, अनेक उपकरणों के निर्माण की कला का विकास भी विश्व के अनेक प्राकृतिक पदार्थों का अनुकरण है।

शब्द बताता है कि वायुयान का विकास पक्षी के समान उड़ने की इच्छा तथा उसके समान उपकरण बनाने की चाहत का परिणाम है। क्योंकि 'विमान' शब्द का मौलिक़ अर्थ 'पक्षी के समान आकार' यही है। (वि = पक्षी + मान = तदनुकूल आकार)। विदेशों में इसका निर्माण करते समय आगे की ओर नोक वाला आकार बनाने की प्रेरणा पानी की धारा से प्राप्त हुई। यह देखा गया कि पानी बहते समय इस प्रकार का आकार धारण करता है जिसमें घर्षण बल का प्रतिरोध कम से कम हो। इसे streamline नाम दिया गया तथा इसी आकार का निर्मित करने का कारण air craft को भी गौण रूप से इस नाम से पुकारा जाता है।

विश्व के विचित्र पदार्थों तथा प्राणियों को सुरक्षित करने की इच्छा से उनका अनुकरण करते हुए अनेक प्रकार की रेखाएँ खींची जाने लगीं, जिन्हें रेखाचित्र नाम दिया गया। विश्व की प्राचीनतम सिन्धु सभ्यता में अनेक ऐसे रेखाचित्र प्राप्त किये गए हैं। यह क्रम हजारों वर्षों तक खूब विकसित हुआ तथा सुन्दर से सुन्दर रेखाचित्र बनाए जाने लगे।

१८वीं शताब्दी में फ्रांस में यह अनुभव किया गया कि चित्रकार से चित्र बनवाना बहुत मंहगा पड़ता है। अतः वहाँ चित्र निर्माण की एक नई पद्धति विकसित की गई। इसमें प्रकाश के सामने किसी व्यक्ति को बिठाकर उसके दूसरी ओर पड़ने वाली छाया का अंकन करके उसका चित्र बनाया जाता था। इसे 'सिलुएट चित्र' कहा जाने लगा। इसका नामकरंण बहुत रोचक है। उस समय फ्रांस के वित्त मंत्री 'एथेन दे सिलुएट' थे। वे देश की प्रगति के लिये मितव्ययिता का उपदेश देते थे। वे चित्रकारों से चित्र प्राप्त करने में धन बर्बाद करने की अपेक्षा इन सस्ते चित्रों को रखने का सुझाव देते थे। इससे धीरे–२ इन चित्रों का नाम ही 'सिलुएट चित्र' पड़ गया।

बाद में भारत में भी चित्र बनाने की यह विधि विकसित हुई। इसमें छाया को कैद करने के कारण इसे 'छाया–चित्र' नाम दिया गया। यह शब्द विशेषतः इस विधि वाले चित्र के लिये ही विकसित हुआ। क्योंकि इससे पूर्व संस्कृत में यह शब्द प्रचलित नहीं था।

इसके पश्चात् आँखों के संवेदी अंगों तथा इनकी कार्यविधि के गहन अध्ययन के पश्चात् इसके अनुकरण पर चित्र बनाने की इच्छा जागृत हुई। यह देखा गया कि आँखों में प्रायः सभी अंग बाहरी प्रकाश का परावर्तन रोकने, उसका अवशोषण करने, उसे नियन्त्रित करने, उसे अपवर्तित करके प्रतिबिम्ब निर्मित करने का कार्य सम्पादित करते हैं। इन सबका अनुकरण करते हुए प्रतिबिम्ब या चित्र बनाने के लिये जिस उपकरण का विकास हुआ, उसे ही आजकल कैमरा (Camera) कह कर पुकारते हैं।

यह ध्यान देने योग्य है कि फोटोग्राफी की यह नवीन पद्धति पुराने छायाचित्र की विधि से बिल्कुल विपरीत है। पुराने चित्रों में किसी पदार्थ की छाया का ही चित्र बनाया जाता था। पर इस नवीन पंद्धति में बाहरी प्रकाश को अपवर्तित करके उस प्रकाश का ही प्रतिबिम्ब अथवा चित्र प्राप्त किया जाता है। फिर भी 'चीजें आगे बढ़ जाती हैं, शब्द पीछे छूट जाते हैं' इस मुहावरे के अनुसार आज इन चित्रों के लिये भी संस्कृत में 'छायाचित्र' शब्द का ही प्रचलन है! सच पूछा जाय तो अब ये आलोक–चित्र हैं, छायाचित्र नहीं!!

ऊपर कहा गया कि आँखों के अनुकरण पर कैमरा का विकास हुआ। सचमुच यह कैमरा मनुष्य निर्मित आँखें ही हैं! इसके प्रायः सभी उपकरण आँखों के अंगों से तुल्यता रखते हैं। यहाँ पर ऐसे केवल कुछ अंगों का वर्णन किया जावेगा–

१. **कृष्ण तारा तथा कनीनक (Pupil)**– यह स्वच्छ मण्डल के पीछे की ओर अवस्थित गोलाकार कला है। न्यायशास्त्र के अनुसार इसके ही अग्र भाग में चक्षु इन्द्रिय निवास करती है। इसके कृष्ण वर्ण के होने के कारण बाहर से आने वाली किरणें जो नेत्रगोलक में प्रवेश करती हैं, वे परावर्तित नहीं होने पातीं। अथवा यों कहें कि इस तारा के द्वारा बाहर से आई समस्त प्रकाश ऊर्जा के अवशोषित करने के गुण के कारण ही यह काला दिखता है। इसके काले रंग के होने या प्रतीत होने का यही रहस्य है। विज्ञान के अनुसार कोई भी वस्तु प्रकाश के अवशोषण का गुण रखने पर काली दिखती है। इस काले तारे के बीच में एक छिद्र होता है, जिसे कनीनक कहते हैं। इससे प्रकाश किरणें अन्दर लेंस में प्रविष्ट होती हैं। यह कनीनक आवश्यकतानुसार संकोचन तथा विस्फारण करता है। जब प्रकाश तीव्र होता है तो यह संकुचित हो जाता है। इससे अधिक प्रकाश अन्दर नहीं जा पाता। पर मन्द प्रकाश में यह फैल कर या विस्फारित होकर अधिक प्रकाश को अन्दर जाने देता है। इससे क्षीण प्रकाश में भी देखने में सहायता मिलती है। हम कभी तेज प्रकाश में रह कर अचानक अंधेरे में आ जावें तो उस समय कुछ नहीं दिखाई पड़ता। पर थोड़ी देर बाद कुछ दिखाई देने लगता है। उसका कारण यही है कि हमारी कनीनिका प्रकाश में संकुचित रहती है तथा वह अँधेरे में धीरे–२ फैल पाती है।

कैमरे में भी लेंस के ठीक आगे डायाफ्राम (Diaphragm) नामक वृत्ताकार पर्दा लगा होता है। इसके बीच में भी बाहरी प्रकाश को आने देने के लिये एक छिद्र होता है। इस छिद्र को आवश्यकतानुसार बड़ा या छोटा करके प्रकाश की मात्रा को अधिक या कम किया जा सकता है।

२. **दृष्टिमण्डल (lens)**– कृष्ण तारामण्डल के ठीक पीछे यह उभयोन्नतोदर, पारदर्शक अंग रहता है। इसके बीच वाला भाग उन्नत होने के कारण ही आँखों का मध्य भाग कुछ आगे निकला प्रतीत होता है। इसके पीछे सान्द्रजल रहता है। इस लेंस में ही बाहर से आई हुई किरणों का वक्रीभवन होकर अपवर्तन होता है तथा उसका प्रतिबिम्ब पीछे अवस्थित दृष्टिवितान पर बनता है।

कैमरा में भी इसी प्रकार के अनेक उभयोत्तल लेंस लगे होते हैं। जो फोटो प्लेट में उल्टा, छोटा तथा वास्तविक प्रतिबिम्ब बनाते हैं।

आँखों तथा कैमरा में लगे लेंसों का यह कार्य विशुद्ध भौतिक वैज्ञानिक नियमों के आधार पर होता है। आजकल उत्तल, अवतल आदि अनेक प्रकार के

लेंस बनाए जाते हैं। उत्तल लेंस बीच में मोटे तथा किनारे पर पतले होते हैं तथा अवतल लेंस इसके विपरीत होते हैं। आँख तथा कैमरे के लिये उभयोत्तल अर्थात् दोनों ओर बीच में मोटे लेंस उपयोगी होते हैं। इस प्रकार के लेंसों से जब प्रकाश किरणें गुजरती हैं तो मार्ग में उनका पथ विचलित हो जाता है। इस प्रकार वक्रीभवन होकर पीछे की ओर उनसे प्रतिबिम्ब बनता है।

३. **दृष्टिवितान (retina)**– यहीं पर लेंस से अपवर्तित प्रकाश के द्वारा वस्तु का उल्टा, वास्तविक और छोटा प्रतिबिम्ब बनता है। कैमरे में भी यह कार्य photographic plate के द्वारा सम्पन्न किया जाता है। इसमें कुछ रासायनिक पदार्थ लिपे होते हैं। इन पर जब अपवर्तित प्रकाश पड़ता है तो रासायनिक क्रिया से स्थायी फोटो तैयार होती है। जबकि आँखों के रेटिना में बनी फोटो स्थायी नहीं होती।

यही इस रेटिना तथा कैमरा की प्लेट में अन्तर है। आँखों के रेटिना में बना प्रतिबिम्ब १/१६ सेकेण्ड तक ही बना रहता है। उसके पश्चात् वह अन्य प्रतिबिम्ब को प्राप्त करने के लिये स्वतः पोंछ लिया जाता है। इसी विशेषता के कारण हम आँखों से हर समय नए–२ दृश्य देखते रहते हैं। जबकि कैमरे की प्लेट पर स्थायी फ़ोटो बनती है तथा हमें अलग–२ फोटो के लिये अलग–२ प्लेट का उपयोग करना पड़ता है।

आँखों तथा कैमरे के कार्य की अन्तिम चरितार्थता–इस प्रकार आँखों तथा कैमरे का अन्तिम कार्य केवल बाहरी वस्तु का प्रतिबिम्ब बनाना है। इसके पश्चात् उसे पहचानना, उसका नाम बताना उसे समूह रूप में जानना, उसके कार्य को समझना यह सब कार्य मस्तिष्क का है। इसमें आँखों की कोई सहभागिता नहीं है। इस प्रकार विज्ञान में 'देखना' तथा 'उसे समझना' सर्वथा भिन्न क्रियाएँ हैं।

इसके लिये एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। माना कि किसी विस्तृत युद्धभूमि में युद्ध हो रहा है। इसमें प्रत्येक सैनिक अपना–२ कार्य कर रहे हैं। पर वे अपनी ओर से पूरी रेजिमेण्ट की सामूहिक स्थिति के परिज्ञान जैसा कार्य नहीं करते। उन सभी सैनिकों के प्रत्येक दृश्य की सामूहिक फोटो वहाँ लगे बड़े–२ कैमरों के द्वारा उतारी जाती है। पुनः वे चित्र विद्युत्तरंगों में बदल कर दूर बैठे कमाण्डर के पास पहुँचाए जाते हैं। वहाँ वह सबको एक साथ देख कर सामूहिक स्थिति का परिज्ञान तथा विश्लेषण करके तदनुरूप आदेश उन सैनिकों के पास भेजता हैं।

यहाँ सैनिक कैमरे की फोटो के लिये दृश्य उपस्थित करते हैं। इसके पश्चात् इस दृश्य को भेजने, सामूहिक आदेश देने आदि कार्यों में उनकी कोई सहभागिता या कारणता नहीं है। दर्शन के अनुसार कोई भी कारणता केवल कार्य से पूर्वभाव मात्र से नहीं होती। अपितु उसमें सहयोग प्रदान करने से होती है[१]। ठीक इसी प्रकार आँखें रेटिना में प्रतिबिम्ब बिन्दुओं को बनाती हुई 'दृश्य' उपस्थित करती हैं, पर उन्हें विद्युत् तरंगों के रूप में भेजने, मस्तिष्क द्वारा विश्लेषण करने तथा सामूहिक चित्र बनाने आदि कार्यों में उनकी कोई सहभागिता नहीं हैं।

आधुनिक वैज्ञानिक इस तथ्य का बहुत अच्छी प्रकार समर्थन करते हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक काण्ट का कहना है– *"हमारी इन्द्रियाँ भ्रान्त होती हैं या धोखा देती हैं, इसलिये नहीं कि वे सही प्रकार निर्णय नहीं कर पातीं, बल्कि इसलिये कि वे निर्णय करती ही नहीं!!"*[२] सचमुच आजकल जो अनेक प्रकार के चाक्षुष भ्रम दिखाए जाते हैं, उनकी इस तथ्य से ही भली प्रकार व्याख्या हो पाती है। इस प्रकार किसी वस्तु का रंग, उन रंगों वाले बिन्दु, वे बिन्दु किस ओर कहाँ तक फैले हैं– यह बताना आँख का कार्य है। पर बिन्दुओं के द्वारा रेखा, उनकी लम्बाई, चौड़ाई, घनापन, विरलपन तथा इन सबके आधार पर सम्पूर्ण वस्तुद्रव्य, उसका कार्य, उसका नाम– यह सब समझना तथा बताना मस्तिष्क का कार्य है। इनमें से किसी कार्य में आँखों का कोई व्यापार नहीं है। इस प्रकार आँखें बिन्दु बताती हैं, मस्तिष्क चित्र बताता है[३]। सुदूर आकाश में आँखें अलग–२ काले धब्बे बताती हैं, मस्तिष्क उन्हें पक्षियों की पंक्ति बताता है।

सांख्य शास्त्र के विद्वान् उपर्युक्त तथ्य का समर्थन करते प्रतीत होते हैं। वहाँ एक उदाहरण दिया है कि यदि घने जंगल में रात के अंधेरे में कोई जा रहा

---

१. न्यायशास्त्र में कहा है कि किसी कार्य के पूर्ववर्ती का नियत पूर्ववर्ती अथवा वह पूर्ववर्ती जिसने उस कार्य में सहायता न की हो, वह उस कार्य का कारण नहीं, अपितु चतुर्थ, पञ्चमं अन्यथा सिद्ध है। –द्रष्टव्य मुक्तावली श्लोक २०

पाश्चात्य दार्शनिक भी कहते हैं कि सोमवार मंगलवार का कारण नहीं माना जा सकता। क्योंकि वह नियत पूर्ववर्ती तो है, पर उसके निर्माण में सहायक नहीं है।

२. Our senses deceive us, not because they do not judge correctly, but because they do not judge at all - Critique of pure reason, page 239.

३. विज्ञान की यह व्याख्या न्याय की अवधारणा के विपरीत है। क्योंकि न्याय के अनुसार सम्पूर्ण चित्र बाह्य द्रव्य है तथा उसका आँखों से प्रत्यक्ष होता है।

हो। इस समय आकाश में बिजली चमके तथा उसे धनुष बाण वाला लुटेरा दिखाई दे। तो वह मनुष्य तुरन्त वहाँ से भाग जाता है। यहाँ इस समय उसकी आँखों ने केवल आलोचन अर्थात् अविविक्त निर्विकल्पक आकार तथा रंग को प्रकट किया है। मन संकल्प करता है, अर्थात् यह बताता है कि इस प्रकार के रंग तथा आकार वाला मनुष्य होता है, इसका नाम 'लुटेरा' होता है, यह मनुष्य को हानि पहुँचाता है। अहंकार यह बताता है कि वह 'मेरे' समीप आ रहा है। बुद्धि यह आदेश देती है कि यहाँ से भाग चलें[1]। इस प्रकार यहाँ सबके अलग–२ कार्य बताये गये हैं। बौद्ध दार्शनिक तो इस तथ्य को बहुत ही स्पष्ट रीति से मानते तथा प्रदर्शित करते हैं। उनका एक अर्थपूर्ण वचन इस प्रकार है–

चक्षुर्विज्ञानं नीलं जानाति, नो तु नीलम्

– तत्त्व संग्रह पंजिका पृ० १६

अर्थात् चक्षु केवल अपरिभाष्य नील बिन्दु को जानता है। यह नील नाम वाला है, इसका अमुक कार्य है, इत्यादि नहीं जानता।

स्पष्टतः कैमरा में भी ऐसा ही होता है। अतः सिद्ध है कि आँखों तथा कैमरा में बहुत अच्छी समानता है।

---

१. यदा मन्दालोके प्रथमं तावद् वस्तुमात्रं सम्मुग्धमालोचयति। अथ प्रणिहितमनाः "कर्णान्ताकृष्टसशरशिञ्जितमण्डलीकृतकोदण्डः प्रचण्डतरः पाटच्चरोऽयम्" इति निश्चिनोति, अथ च 'मां प्रत्येति' इत्यभिमन्यते। अथाध्यवस्यति – 'अपसरामीतः स्थानात्'।

– सांख्यकारिका ३० पर तत्त्व कौमुदी।

६.आँखों से प्रतिबिम्ब का दर्शन किस प्रकार होता है

दर्शनशास्त्र में प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष–दर्शनशास्त्र में आँखों से प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष के विषय में विस्तार से विवेचन उपलब्ध होता है। संक्षेपतः इसकी प्रक्रिया यह है कि दर्पण में अपने मुख के प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष के लिये आँखों से किरणें निकल कर दर्पण जैसी स्वच्छ वस्तु पर पड़ती हैं। वे वहाँ से परावृत्त होकर या वापस लौट कर अपने ही मुख से संयुक्त होती हैं। इसी से मुख का प्रत्यक्ष हो जाता है। जिस प्रकार आँखों की किरणों के घट पर पड़ने से घट देश में ही उसका प्रत्यक्ष होता है। ठीक इसी प्रकार आँखों की परावृत्त किरणों के मुख पर पड़ने से वहीं उसका प्रत्यक्ष होता है।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि इस प्रक्रिया से मुख देश में हमारे ग्रीवास्थ अथवा हमारे गर्दन के ऊपर वर्तमान मुख का ही प्रत्यक्ष होता है, दर्पण में स्थित मुख का नहीं। न्याय शास्त्र में इस प्रतिबिम्ब की प्रक्रिया बताते हुए[1] इस तथ्य को बड़े ही स्पष्ट शब्दों में लिखा है। न्यायवात्स्यायन भाष्य के प्रस्तुत वचन पर प्रसन्नपदा टीका का एक अंश इस प्रकार है–

"आदर्शोपरि प्रतिघातेन परावृत्तो नयनरश्मिर्ग्रीवास्थमेव स्वमुखं गृह्णाति, तदेव प्रतिबिम्ब–ग्रहणमित्युच्यते"।

अर्थात् आँखों से निकली हुई किरण शीशे पर पड़कर वहाँ से टकरा कर, वापस लौट कर ग्रीवास्थ मुख का ही ग्रहण कराती हैं। इसे ही प्रतिबिम्ब ग्रहण कहते हैं।

इस प्रकार की मान्यता का कारण यह है कि दर्पण में मुख निर्माण की किसी भी सामग्री का अभाव होने से वहाँ कोई भी मुख अस्तित्वशाली नहीं हो सकता। अतः स्पष्टतः उस समय वस्तुतः ग्रीवास्थ मुख का ही बोध होता है। फिर भी आँखों की किरणों के दर्पण से वापस लौटने के कारण " मैं दर्पण में स्थित मुख का दर्शन कर रहा हूँ" इस प्रकार भ्रम होता है। क्योंकि आँखों की किरणें निकल कर जहाँ से संयुक्त होकर वापस लौटती हैं, वहीं पर वस्तु की प्रतीति

---

१. यथाऽऽदर्शप्रतिहतस्य परावृत्तस्य नयनरश्मेः स्वेन मुखेन सन्निकर्षे सति स्वमुखोपलम्भनं प्रतिबिम्ब–ग्रहणाख्यम् आदर्शरूपानुग्रहात् तन्निमित्तं भवति।

– न्याय सूत्र ३.१.४६ पर वात्स्यायन भाष्य।

कराती हैं। पर यहाँ यह प्रतीति तात्त्विक नहीं है। अतः दर्पण में वर्तमान प्रतिबिम्ब तथा उसे बिम्ब से भिन्न समझना यह सब अलीक ही है[1]।

दर्शनशास्त्र में प्रतिबिम्ब की अलीकता– आस्तिक, नास्तिक सभी दर्शन सम्प्रदाय इसकी अलीकता के विषय में एकमत हैं। वे विभिन्न तर्कों तथा अनेक प्रकार के उदाहरणों से इस तथ्य को परिपुष्ट करते हैं।

जैसे वेदान्त में कहा है कि जिस वस्तु के कार्य, गुण–धर्म सदा किसी अन्य के अधीन हों, वह स्वयं परमार्थतः असत् ही होता है। जैसे पानी पर पड़ा हुआ सूर्य का प्रतिबिम्ब पानी कम होने पर छोटा हो जाता है, बढ़ने पर बड़ा हो जाता है तथा हिलने पर हिलने लगता है। इस प्रकार यह प्रतिबिम्ब पानी के धर्म के अधीन होने के कारण स्वतः असत् ही है[2]।

बौद्ध दर्शन में भी कहा है कि जिस पदार्थ की सत्ता अन्य पदार्थ के अधीन हो, वह अलीक होता है। जैसे मुख का प्रतिबिम्ब केवल बिम्ब के रहने पर ही अस्तित्वशाली होता है, अन्य दशा में कदापि नहीं। इससे सिद्ध है कि वह प्रतिबिम्ब अलीक ही है[3]।

आधुनिक विज्ञान में प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष– आधुनिक विज्ञान में आखों से दर्पण में मुख–प्रतिबिम्ब का प्रत्यक्ष करते समय पहले सूर्य किरणें मेरे मुख पर पड़ती हैं। वहाँ से कुछ किरणें परावृत्त होकर सामने रखे दर्पण पर पड़ती हैं। दर्पण प्रायः इन सभी किरणों का परावर्तन करके आँखों की ओर भेज देता है। दर्पण की यही विशेषता है। यदि दर्पण भी घट के समान मुख से परावृत्त सभी किरणों को अवशोषित कर लेता तो उससे भी कुछ न दिखाई देता। पर दर्पण स्वच्छ होने से तथा किसी भी प्रकार खुरदुरा न होने से सब किरणों को परावर्तित करने लगता

---

१. बिम्ब एव प्रतिबिम्बः। केवलं तत्रोपाधिसन्निधानेन अन्यत्वं दर्पणाद्यन्तर्गतत्वं च भासते। न तु बिम्बात् प्रतिबिम्बस्य पृथगस्तित्वम्।

— ब्रह्मसूत्र पर विवरणकार।

२. जलगतं हि सूर्यप्रतिबिम्बं जलवृद्धौ वर्धते, जलह्रासे ह्रसति...... इत्येवं जलधर्मानुयायि भवति। न तु परमार्थतः सूर्यस्य तथात्वमस्ति।

— ब्रह्मसूत्र ३.२.२० पर शांकर भाष्य

३. यदन्यसन्निधानेन दृष्टं न तदभावतः।
प्रतिबिम्बसमे तस्मिन् वस्तुनि सत्यता कथम्।।

— बोधिचर्यावतार ६.१४५

है। विज्ञान के अनुसार कोई भी ठोस पिण्ड अधिकतम घिसे जाने पर चिकना होकर दर्पण का गुण प्राप्त करने लगता है।

इस विशेषता वाले दर्पण के द्वारा मुख को रूपायित करने वाली किरणों के परावर्तन के कारण दर्पण में मुख–प्रतिबिम्ब दीखने लगता है। जिस विशेषता वाली किरण जहाँ से चल कर आती है, वहीं पर उस विशेषता वाली वस्तु का बोध होता है। यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि किसी दृश्य बिन्दु से कम से कम दो किरणें चल कर हमारी आँख पर पड़ें तभी वह बिन्दु दिखाई देता है। वैसे व्यवहारतः अनेकों किरणें एक ही बिन्दु से चलती हैं। साथ ही यह भी एक तथ्य है कि किरणें जहाँ से परावर्तित होकर चलती हैं, वहाँ से diverge होती हुई या फैलती हुई चलती हैं। अब दर्पण से प्रतिबिम्ब के सन्दर्भ में माना कि मुख–बिम्ब के एक बिन्दु से कम से कम दो किरणें चलीं। वे दर्पण में पहुँच कर कुछ फैलीं। वे फैली हुई किरणें आँखों में पहुँच कर बिन्दु को नहीं दिखा सकतीं। अतः द्रष्टा दर्पण में आभासी रूप से उन किरणों को दर्पण से उतना पीछे उतनी दूर पर converge करता अथवा संकुचित करता है, जितनी दूर बिम्ब से दर्पण है। अतः किरणों के पीछे से आता प्रतीत होने के कारण वह वस्तु दर्पण में पीछे की ओर से आती दिखाई पड़ती है। इसीलिये सड़क पर किसी बड़े शीशे के सामने खड़े हों तो हमारे पीछे से आता हुआ रिक्शा उस शीशा में उसके काफी पीछे से अर्थात् हमारे मुख के आगे से आता हुआ प्रतीत होता है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार प्रतिबिम्ब का प्रत्यक्ष
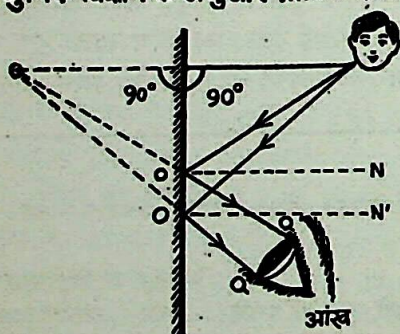
सूर्यकिरणें पहले चेहरे पर पड़कर वहाँ से परावर्तित होकर दर्पण पर वहां से समूची परावर्तित होकर चक्षु में प्रविष्ट होने की दशा में मनुष्य वास्तविक किरणों के द्वारा बने मुखानुरूप मुखचित्रको सत्य ही दर्पण में देखता है।

दर्शन शास्त्र के अनुसार प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष
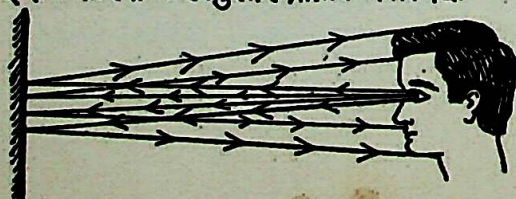
आँखों से किरणें निकलकर दर्पण पर तथा वहाँ से परावर्तित होकर समूचे मुख को घेर लेने की दशा मे अपने मुख को देखता है। दर्पण में बने किसी मुख चित्र को देखता है, यह समझना भ्रान्ति है।

इस प्रतिबिम्ब को आधुनिक विज्ञान में भी अलीक स्वीकार किया जाता है। क्योंकि दर्पण में हमारा वास्तविक मुख अवस्थित नहीं है। केवल उस रूप में भ्रान्त प्रतीति होती है। इसके लिए वैज्ञानिक भी बौद्ध तथा वेदान्त के दार्शनिकों के समान तर्क देते हुए अनेक नए उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

जैसे वैज्ञानिकों का कहना है कि प्रतिबिम्ब उस बिम्ब के अनुग्रह या कृपा पर अस्तित्वशाली होता है। बिम्ब के न होने पर वह अपना अस्तित्व बनाये नहीं रख सकता। अतः अन्य की सत्ता के अधीन होने से वह स्वयं अलीक ही है।

इसी प्रकार प्रतिबिम्ब शब्द स्पर्श तथा वस्तुबिम्ब के अनुरूप अर्थक्रिया करने में भी समर्थ नहीं होता। हम जानते हैं कि किसी छोटे कमरे के दोनों ओर की दीवालों पर बड़े–२ शीशे लगा देने पर दोनों ओर किसी बिम्ब के सैकड़ों प्रतिबिम्ब बनते हैं[1]। वहाँ जितनी दूर हमारी नजर जा सकती है, उतनी दूर तक एक के बाद एक उसी तरह की दशा वाले प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में यदि कोई मनुष्य अपनी टोपी उतार कर नीचे फेंक दे तो वे सैकड़ों प्रतिबिम्ब भी ठीक उसी प्रकार अपनी–२ टोपी फेंक देते हैं। पर बिम्ब की टोपी को हम छू सकते हैं, उसके गिरने पर आवाज हो सकती है। उसके गिराने पर हमें कुछ बल भी लगाना पड़ता है। पर प्रतिबिम्ब के सन्दर्भ में ऐसा कुछ नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि यह प्रतिबिम्ब वास्तविक नहीं, अपितु अलीक ही है। बिम्ब को सभी दिशाओं से देखा जा सकता है। पर प्रतिबिम्ब को केवल शीशे के आगे वाले भाग से ही देख सकते हैं। इससे भी इसकी अलीकता प्रकट होती है।

दर्शन तथा विज्ञान में मौलिक मतभेद– दर्शन के अनुसार आँखों से किरणें निकल कर दर्पण पर पड़ती हैं। वैज्ञानिकों के अनुसार मुख से परावृत्त किरणें दर्पण पर परिपतित होती हैं। इसका विस्तृत विवेचन पहले ही हो चुका है।

---

१. उपनिषदों में इस उदाहरण को जलचन्द्र–न्याय से प्रकट किया जाता है। उनका कहना है कि एक ही सूर्य के अनेक छोटे बड़े तालाबों में एक साथ अनेक स्थानों में अनेक प्रकार के प्रतिबिम्ब बनते हैं। फिर भी वह सूर्य बिम्ब एक ही रहता है। अतः प्रतिबिम्ब अलीक है। वचन इस प्रकार है–

> एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
> एकधा बहुधा चैव दृश्यते चलचन्द्रवत्।।

– ब्रह्मबिन्दूपनिषद् ३.११

दर्शन के अनुसार दर्पण से परावर्तित किरणें मुख से संयुक्त होकर मुख देश में ही ग्रीवांस्थ मुख का ही प्रत्यक्ष कराती हैं। विज्ञान के अनुसार यह मान्यता अलौकिक है। क्योंकि जब तक कोई विशिष्ट किरण आँखों के अन्दर जाकर दृष्टितन्त्रिका के माध्यम से मस्तिष्क तक न पहुँचे, तब तक उसका कदापि प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। मुखदेश में ही प्रत्यक्ष मानने पर यह प्रश्न भी होगा कि यदि किरणें ग्रीवास्थ मुख का प्रत्यक्ष कराती हैं तो दर्पणस्थ मुख के प्रत्यक्ष की प्रतीति किस प्रकार होती है। इस पर दार्शनिक कहेंगे कि वे किरणें जहाँ से आती हैं, वहाँ पर प्रत्यक्ष भासित होता है। पर प्रश्न यह है कि आँखों से निकल कर दर्पण पर परिपतित होने वाली किरणें मुख चित्र की विशेषता वाली तो हैं नहीं, पुनः दर्पण में प्रत्यक्ष भासित होगा कैसे? जिस दर्पण में मुख चित्र की विशेषता वाली किरणें नहीं हैं, वहाँ प्रतिबिम्ब का प्रत्यक्ष भासित होता है तथा जिस मुख देश में किरणें संयुक्त हैं, वहाँ बिम्ब का ही नहीं, अपितु प्रतिबिम्ब का भी प्रत्यक्ष भासित नहीं होता– इस विचित्रता का क्या कारण होना चाहिये। वस्तुतः दर्शन में इसका कोई स्पष्ट कारण उपलब्ध नहीं होता।

वास्तविकता यह है कि विज्ञान के अनुसार किरणें मुख से परावर्तित होती हैं। अतः मुख की विशेषता को लेकर दर्पण पर परिपतित होती हैं। इसलिये दर्पण देश में मुख प्रतिबिम्ब की उपलब्धि होती है।

प्रतिबिम्बों की अलीकता के विषय में भी दर्शन तथा विज्ञान में एक मौलिक मतभेद है। दार्शनिक कहते हैं कि दर्पण देश में मुख प्रतिबिम्ब की या मुख के प्रतिबिम्ब चित्र जैसी कोई भी प्रतीति अलीक होने से भ्रम है। क्योंकि वहाँ किसी भी प्रकार की मुख निर्माण सामग्री मौजूद नहीं है। अतः दर्पण देश में वस्तुतः मुखाकृति जैसी कोई भी प्रतीति सर्वथा भ्रान्त है।

यहाँ वैज्ञानिक कहते हैं कि दर्पण देश में मुखबिम्ब अथवा ग्रीवास्थ मुख तो निश्चित रूप से नहीं है। उस मुखबिम्ब की प्रतीति अलीक है। पर वास्तविक किरणों द्वारा निर्मित स्पर्श, शब्द के अयोग्य प्रतिबिम्ब चित्र तो है ही। उस चित्र को कदापि अलीक नहीं कहा जा सकता[1]। कोई भी चित्र, बिम्ब के स्पर्श, शब्द के

---

१. प्रतिबिम्ब काल्पनिक नहीं होते। जब आप किसी प्रतिबिम्ब को देखते हैं तो पूर्णतः वास्तविक प्रकाश तरंगें आपकी आँखों तक पहुँचती हैं। ......: एक प्रतिबिम्ब और एक वास्तविक चीज में शुद्ध प्रकाशकीय भेद होता है।

— आपेक्षिकता की मूल संकल्पनाएँ, बर्ट्रेंड रसेल, पृ० ११६

अयोग्य होकर भी वास्तविक रंगों से निर्मित होने के कारण चित्रत्वेन तो यथार्थ ही होता है। इसी प्रकार यहाँ भी प्रतिबिम्ब यथार्थ है, काल्पनिक नहीं। केवल इसे बिम्बरूप से समझना अलीक है।

इस प्रकार के तथ्यों का निश्चय करने में हमारे मस्तिष्क द्वारा दैनन्दिन कार्यों की एक विशेष प्रकार की व्याख्या से बाधा पहुँचती है। मस्तिष्क का स्वभाव ऐसा है कि कोई भी बाहरी वस्तु जिस रूप में हमें प्रभावित करती है, हम उसे उसी स्वरूप का मान लेते हैं। हमारे मस्तिष्क के लिये उसके वास्तविक स्वरूप को जानने का अन्य कोई उपाय भी नहीं है। अतः उस बाहरी वस्तु ने जिस प्रकार का संवेदन हमें प्रदान किया, हमारे लिये वही उसका वास्तविक स्वरूप है। पर वही बाहरी वस्तु अन्य बाहरी वस्तु को जिस प्रकार प्रभावित करती है, हम उसे उस स्वरूप वाला मानने के लिये तैयार नहीं होते। अपितु वह प्रभावित वस्तु बाद में हमें जिस प्रकार प्रभावित करती है, उसी स्वरूप वाला हम मानते हैं। प्रत्येक वस्तु को आत्मकेन्द्रित होकर समझने की भावना तथा प्रत्येक बाहरी वस्तु की व्याख्या के समय अनजाने ही इस भावना को वस्तु में आरोपित करने की अदम्य वासना के कारण ही ऐसा होता है।

प्रस्तुत प्रसंग में किसी फूल को देखते समय उस फूल से परावर्तित किरणें हमारी आँखों से संयुक्त होकर हमारे रेटिना में उस फूल का प्रतिबिम्ब बनाती हैं– यह वास्तविकता है। यहाँ किरणों ने हमारे अन्दर फूल के रूप में प्रभाव उत्पन्न किया है। अतः हम उन्हें किरणें नहीं, अपितु साक्षात् फूल ही मान लेते हैं। अपनी आँखों को किरणों से संयुक्त नहीं, उसके द्वारा बनाए गए फूल के प्रतिबिम्ब से भी नहीं, अपितु साक्षात् बाहरी फूल से सम्बद्ध मान लेते हैं!! घट प्रत्यक्ष के सन्दर्भ में हम आँखों को किरणों के स्थान पर कठोर पिण्ड से संयुक्त मानते हैं!

पर वही सूर्य किरणें फूल से परावर्तित होकर जब दर्पण में उसका प्रतिबिम्ब बनाती हैं तो हम उसे फूल का वास्तविक प्रतिबिम्ब चित्र मानने के लिये भी तैयार नहीं होते। यहाँ किरणों के प्रभाव से निर्मित फूल का प्रतिबिम्ब शब्दस्पर्शायोग्य होने से हमारे अन्दर फूल बिम्ब की अर्थक्रियाकारिता का प्रभाव उत्पन्न नहीं करता, अतः हम इस बाहरी प्रतिबिम्ब को तथा इसे प्रभावित करने वाली किरणों को भी काल्पनिक तथा अवास्तविक करार देते हैं। इस लौकिक अनुभव के कारण ही दार्शनिकों ने भी प्रतिबिम्ब चित्र को अलीक माना है।

पर वास्तविकता यह है कि दोनों ही दशाओं में प्रतिबिम्ब बनाने की भौतिक कार्यविधि सर्वथा एक समान है। अतः मानना होगा कि बिम्ब घट का प्रत्यक्ष करतें समय वस्तुतः अमूर्त किरणें आँखों से संयुक्त होती हैं, कठोर पिण्ड रूपी घट नहीं। साथ ही इस समय वे आँखों में घट का वास्तविक प्रतिबिम्ब चित्र बनाकर उसे संसूचित करती हैं। ठीक इसी प्रकार घट प्रतिबिम्ब के प्रत्यक्ष के समय यही वास्तविक किरणें दर्पण से संयुक्त होती हैं तथा वे दर्पण में इसका वास्तविक प्रतिबिम्ब चित्र बनाकर इसे संसूचित करती हैं। इस प्रकार दर्पण में फूल को देखते समय हमें प्रतिबिम्ब के प्रतिबिम्ब के प्रतिबिम्ब का बोध होता है!! फूल का पहला प्रतिबिम्ब दर्पण में उसका प्रतिबिम्ब आँखों के रेटिना पर तथा उसका भी प्रतिबिम्ब मस्तिष्क पर पड़ने से हमें जो अनुभूति होती है, उसे ही हम 'देखना' कहते हैं।

इस विवेचना के अनुसार प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष के विषय में दार्शनिक तथा वैज्ञानिक में मतभेद इस प्रकार हैं–

दार्शनिक	वैज्ञानिक
१. आँखों से किरणें निकल कर पहले दर्पण पर तथा वहाँ से परावृत्त होकर मुख से संयुक्त होती हैं।	१. प्रदीप से किरणें निकल कर पहले मुख पर तथा वहाँ से परावृत्त होकर दर्पण पर तथा वहाँ से भी परावृत्त होकर आँखों के अन्दर प्रवेश करती हैं।
२. उन किरणों के मुख से संयुक्त होने पर मुखदेश में ही वस्तुतः ग्रीवास्थ मुख का ही प्रत्यक्ष होता है।	२. उन किरणों के दर्पण से संयुक्त होने पर दर्पण में निर्मित वस्तुतः मुख प्रतिबिम्ब चित्र का ही प्रत्यक्ष होता है।
३. दर्पण में बिम्ब से किसी अन्य प्रतिबिम्ब की प्रतीति सर्वथा भ्रान्त ही है।	३. दर्पण में बिम्ब से किसी अन्य प्रतिबिम्ब चित्र की प्रतीति सर्वथा सच है।
४. दर्पण में किसी भी मुख निर्माण सामग्री से निर्मित मुख न होने के कारण कोई भी मुख सर्वथा असत् है।	४. दर्पण में मुखाणुओं की सामग्री से निर्मित स्पर्शयोग्य मुख सर्वथा असत् है। पर मुख के अनुरूप किरण–संघात से निर्मित मुख–चित्र सर्वथा सत् है।।

१०. प्रकाश का परावर्तन तथा प्रभा

दर्शनशास्त्र में प्रकाश का परावर्तन–भारतीय दर्शन में इसके परावर्तन का सिद्धान्त सर्वथा परिज्ञात रहा है। वहाँ अनेक प्रसंगों में इसकी चर्चा की गई है। जैसे मुक्तावली–दिनकरी की टिप्पणी में आसमान की नीलिमा की प्रतीति का कारण बताते हुए कहा है कि आँखों से निकली किरणें सामने से आती हुई प्रबल सूर्यकिरणों द्वारा परिवृत्त होती हैं अर्थात् वापस लौटा दी जाती हैं[1]। यहाँ पर किरणों के परिवर्तन की बात कही गई है।

परावर्तन का स्पष्ट उल्लेख प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष के निरूपण के अवसर पर न्याय वात्स्यायन भाष्य में प्राप्त होता है[2]। पिछले प्रतिबिम्ब–प्रत्यक्ष से सम्बन्धित परिच्छेद में इसके अर्थ का उल्लेख हो चुका है। यहाँ आँखों से निकली किरणों की दर्पण से परावर्तन की स्पष्ट चर्चा है।

आधुनिक विज्ञान में इसका परावर्तन–आधुनिक विज्ञान में प्रकाश की अनेक प्रकार की गतियों के अन्तर्गत इसके परावर्तन को बड़े विस्तार से समझाया जाता है। उनके अनुसार जब प्रकाश किरणें एक माध्यम सं दूसरे माध्यम के तल पर आपतित होती है, तो कुछ किरणें पहले माध्यम में ही लौट आती हैं। ये किरणें किसी कड़े धरातल पर आपतित होने पर रबड़ की गेंद की भांति उछलती हैं। इनके आपतन कोण के ठीक बराबर परावर्तन कोण बनता है।

ये किरणें किसी बाहरी स्थान से परावर्तित होकर कमरे में प्रवेश करके वहाँ की दीवालों से पुनः परावर्तित होकर किसी कमरे को प्रकाशित कर सकती हैं। पुनः हमारी आँखों में प्रविष्ट होकर उद्दीपक बन कर कमरे के प्रकाशित होने की प्रतीति करा सकती हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि प्रकाश के सीधी दिशा मे चलने के कारण कोई भी सूर्य–किरण सीधे कमरे के अन्दर प्रविष्ट नहीं होती।

---

१. एवञ्च यदा चक्षूरश्मयो दूरमुन्मुखायाताः अधोमुखैः प्रबलैः सूर्यरश्मिभिः परिवर्त्यन्ते, तदा स्वकीयगोलकमेव पश्यन्तस्तद्गतमेव नीलरूपं बाह्यत्वेन जानन्ति। ततश्च गगनं नीलमिति प्रतीतिर्जायते।

—मुक्तावली श्लोक ३ पर दिनकरी टिप्पणी

२. यथाऽऽदर्शप्रतिहतस्य परावृत्तस्य नयनरश्मेः स्वेन मुखेन सन्निकर्षे सति। स्वमुखोपलम्भनं प्रतिबिम्बग्रहणाख्यम् आदर्शरूपानुग्रहात्तन्निमित्तं भवति।

.–न्यायसूत्र ३.१.४६ पर वात्स्यायन भाष्य।

अपितु वह बाहर धूप वाले स्थान से परावर्तित होकर ही कमरे में आती है। इस प्रकार कमरे के अन्दर आने वाला सम्पूर्ण प्रकाश परावर्तन के सिद्धान्त के द्वारा ही कमरे तक पहुँच पाता है।

परावर्तन का अन्य उदाहरण– इस परावर्तन का एक बहुत अच्छा उदाहरण प्रातः तथा सायंकालीन प्रकाश है। हम जानते हैं कि प्रातः काल सूर्य के क्षितिज पर आने से पूर्व ही धरती पर प्रकाश फैल जाता है। इस समय सूर्य की किरणें सीधे हमारे पास तक नहीं पहुँचती। फिर भी परावर्तन के सिद्धान्त के द्वारा हमें प्रकाश उपलब्ध होता है। इस समय सूर्य–किरणें किसी ऊँचे पर्वत शिखर पर या आसमान में फैली हुई धूल पर परिपतित होकर, पुनः वहाँ से परावर्तित होकर हमारे पास तक पहुँचती हैं। इसलिये जिस सायंकाल को हम लोग 'गोधूलि वेला' कहते हैं, वह वास्तव में गोधूलि से परावर्तित प्रकाश की वेला है! इस समय सूर्य छिपने के पश्चात् धीरे–२ काली रात होने का यही रहस्य है।

इस परावर्तन के सिद्धान्त के कारण ही जहाँ पर वायु तथा गोधूलि नहीं है, वहाँ इस प्रकार सायंकाल नहीं होता। हम जानते हैं कि चन्द्रमा में वायु तथा आसमान में धूल आदि कुछ नहीं है। अतः वहाँ सूर्योदय होने पर अचानक प्रकाश तथा छिपने पर अचानक अंधेरा होता है। जैसे किसी अंधेरे कमरे में बिजली का बल्ब जलाने पर वहाँ अचानक प्रकाश फैल जाता है, वैसी ही स्थिति चन्द्रतल की भी है। इस प्रकार यह सिद्धान्त अनेक जगह क्रियाशील होता है।

प्रभा भी परावर्तन का उदाहरण–दर्शनशास्त्र में प्रभा के विषय में पर्याप्त विचार उपलब्ध होता है। वहाँ इसे तेजस् तत्त्व के उस उपभेद के अन्तर्गत रखा गया है जिसका रूप उद्‌भूत या प्रकट पर स्पर्श अभिभूत या दबा हुआ रहता है। यह मान्य है कि तेजस् में रूप तथा स्पर्श दोनों गुण नित्य सम्बन्ध के द्वारा निवास करते हैं। फिर भी वे कहीं–२ छिपे होने से उपलब्ध नहीं होते। प्रभा वह वस्तु है जिसके प्रकाश का रूप प्रकट है, पर स्पर्श दबा हुआ है। परन्तु प्रदीप से निकलने वाला प्रकाश प्रदीप के निकट रूप तथा स्पर्श दोनों उपलब्ध कराता है। अतः उसके प्रकाश के ये दोनों गुण उद्‌भूत हैं।

दर्शनशास्त्र के विद्वान् बताते हैं कि आँखों के ऊपर आसमान में भी यही प्रभा उपलब्ध होती है। तभी हम लोग 'ऊपर स्थान में पक्षी है' ऐसा कहते हैं[1]।

---

१. 'उपरि देशे विहंगम' इत्यत्र प्रभामण्डलस्यैवोपरिदेशतया तत्प्रत्यक्षं विनोपरि देशे विहंगम इति प्रत्यक्षानुपपत्तेः। –मुक्तावली श्लोक ५६ पर दिनकरी टीका।

यहाँ 'ऊपर स्थान' प्रभा ही होती है। पक्षी को इस प्रभा से ऊपर बताना ही यहाँ अभिप्रेत होता है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार यह प्रभामण्डल भी प्रकाश के परावर्तन का अच्छा उदाहरण है। क्योंकि यहाँ प्रदीप से प्रकाश की किरणें चारों ओर निकल कर वहाँ वर्तमान धूल के कणों से परावर्तित होकर हमारी आँखों में प्रविष्ट होती हैं। यहाँ हम यह नहीं मान सकते कि प्रदीप से निकली किरणें प्रभामण्डल से मुड़कर हमारे पास आती हैं। क्योंकि प्रकाश सीधी दिशा में गति करता है। अतः ये किरणें दीवाल में गेंद के समान धूलकण से परावर्तित होकर हमें प्रभा की प्रतीति कराती हैं। इस परावर्तन से ही इनकी दिशा बदल जाती है।

इस प्रकार प्रभा की उपलब्धि की प्रक्रिया ठीक उसी प्रकार है, जैसे घट की उपलब्धि होती है। दोनों जगह प्रकाश परावर्तित होकर उन–२ वस्तुओं की विशेषताओं को लेकर हमारे पास पहुँचता है।

यहाँ दार्शनिकों के अनुसार प्रेक्षक के सामने घट रहने पर उसकी आँखों के द्वारा घट देखा जाता है तथा प्रभामण्डल सामने होने पर उसका प्रकाश देखा जाता है। पर आधुनिक विज्ञान के अनुसार कोई भी प्रकाश सर्वथा अदृश्य होता है। हम आसमान से सीधी दिशा में दौड़ती हुई किरण को नहीं देख सकते। अपितु इन किरणों का वस्तु पर पड़े प्रभाव को ही हम परावर्तित या उत्सर्जित किरण के माध्यम से रेटिना पर वस्तु–प्रतिबिम्ब के रूप में 'देख' पाते हैं। अतः प्रभा के उदाहरण में भी प्रदीप से निकली सीधी किरणें नहीं, अपितु परावर्तित किरणों द्वारा प्रकाशित धूल ही देखी जा सकती है। इस प्रकार सिद्ध है कि प्रकाशित घट तथा प्रभा दोनों में स्थिति बिल्कुल एक समान है। दोनों में प्रकाशित वस्तु ही उपलब्ध होती है।

ये किरणें हमारे दर्शन का विषय न होकर भी वस्तु को दृश्य बनाने का सबसे अच्छा साधन हैं। स्वयं दृश्य न होकर भी दर्शन का साधन हो, यह तथ्य अचरजभरा लग सकता है। पर यही वास्तविकता है। न्याय में भी आँखों को दृश्य न मानकर दर्शन का साधन माना गया है। इस प्रकार ये किरणें जिस प्रभावित वस्तु से परावर्तित या उत्सर्जित होकर हमारे पास पहुँचती हैं, उसके ठीक सामने हम वस्तु को समझ लेते हैं। यदि वस्तु से परावर्तित होने वाली किरण की दिशा बदल दी जाय, अथवा यों कहें कि शीशा आदि के द्वारा परावर्तन का परावर्तन कर

दिया जाय तो हम उस ओट में रखी वस्तु को भी देख लेते हैं। पर उसे अपने स्थान पर नहीं, अपितु उसे शीशे पर आपतित किरण के ठीक पीछे समझते हैं। इस प्रकार स्पष्टतः किरणरूपी देवदूत ही हमें वस्तुओं का दर्शन कराता है।

इसका एक बढ़िया उदाहरण आधुनिक परिदर्शी अथवा periscope है। इसकी सहायता से खाई में बैठे सैनिक युद्ध के मैदान का दृश्य देख सकते हैं। दीवार के बाहर खड़े खेलप्रेमी अन्दर मैदान में हो रहे मैच को देखने का आनन्द उठा सकते हैं। आजकल पनडुब्बी में बैठे सैनिक के द्वारा समुद्र की सतह की वस्तुओं को देखने के लिये इसका खूब उपयोग होता है।

इस परिदर्शी में एक नली ऊपर तथा नीचे दो बार समकोण पर मुड़ी होती है। इसके ऊपरी तथा निचले सिरे पर ४५° का कोण बनाते हुए एक दूसरे के समानान्तर दो दर्पण लगे होते हैं। नली का निचला छेद दर्शक की ओर तथा ऊपरी छेद वस्तु के ऊपर लगा होता है। यहाँ वस्तु से परावर्तित किरणें ऊपरी नली के दर्पण पर आपतित होती हैं। वहाँ से परावर्तित होकर नीचे वाले दर्पण पर आपतित होकर तत्पश्चात् वहाँ से भी परावर्तित होकर प्रेक्षक की आँखों में पहुँच कर उस वस्तु का दर्शन कराती हैं।

इस विवरण से प्रकट है कि पीछे ओट में रखी वस्तु या सामने रखे घट अथवा प्रभा इत्यादि के प्रत्यक्ष में सर्वत्र प्रकाश के परावर्तन का सिद्धान्त ही क्रियाशील होता है।

---

११. प्रकाश का विचलन तथा मरुमरीचिका

यों तो प्रकाश किरणें सदा सीधी रेखा में चलती हैं, पर जब वे सघन से विरल अथवा विरल से सघन माध्यम में प्रवेश करती हैं तो वे अपने मार्ग से कुछ विचलित हो जाती है, तथा दूसरे माध्यम में किसी अन्य दिशा में सीधी रेखा में चलने लगती हैं। इस दशा को वैज्ञानिक भाषा में 'प्रकाश का विचलन' अथवा 'वक्रीभवन' कहा जाता है।

भारतीय दर्शन शास्त्र में इस विचलन को मरुमरीचिका के उदाहरण के अन्तर्गत समझाया जाता है। इसका शाब्दिक अर्थ –रेगिस्तान में पड़ने वाली किरणें' हैं। यह प्राचीन काल से ही जान लिया गया था कि गर्मी में रेगिस्तान की चमकदार किरणें पानी का आभास देती हैं। यह प्रवाद है कि इस समय प्यास से बेहाल जानवर आगे पानी की नदी समझते हुए उस ओर भागते रहते हैं। पर अन्त में पानी न पाकर भयंकर प्यास से अपना दम तोड़ देते हैं। इस स्थिति के कारण इसे 'मृगतृष्णा' नाम दिया गया है। असम्भव वस्तु की अभिलाषा के लिये इस शब्द का मुहावरे के रूप में प्रयोग का भी खूब प्रचलन रहा है। महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् में राजा दुष्यन्त ने कहा है कि साक्षात् आई हुई शकुन्तला को छोड़कर इस चित्र में अंकित प्रिया से प्रीति लगाते हुए मेरी दशा उसी प्रकार है, जैसे कोई प्रभूत जल वाली नदी को छोड़कर 'मृगतृष्णिका' में मन लगाया करे!![1]

न्यायशास्त्र में इस मरुमरीचिका के कारण का विस्तृत निरूपण प्राप्त होता है। वहाँ का एक वचन इस प्रकार है—

ग्रीष्मे मरीचयो भौमेनोष्मणा संसृष्टा स्पन्दमाना दूरस्थस्य चक्षुषा सन्निकृष्यन्ते। तत्रेन्द्रियार्थसन्निकर्षादुदकमिति ज्ञानमुत्पद्यते।

—न्याय वात्स्यायन भाष्य १.१.४

अर्थात् 'ग्रीष्म काल में सूर्य किरणें ऊष्म धरती से संयुक्त होकर वहाँ से स्पन्दित या विचलित होकर दूर बैठे मनुष्य की आँखों से सम्बद्ध होती है। इस

---

१. साक्षात् प्रियामुपगतामपहाय पूर्वं चित्रार्पितां पुनरिमां बहु मन्यमानः।
स्रोतोवहां पथि निकामजलामतीत्य जातः सखे प्रणयवान् मृगतृष्णिकायाम्।

—अभिज्ञानशाकुन्तलम् ६.१६

दशा में इन्द्रियार्थ—सन्निकर्ष के द्वारा बाहर जल का आभास होता है'। यहाँ 'स्पन्दमाना' शब्द के द्वारा प्रकाश के विचलन की ओर संकेत किया गया है।

आधुनिक विज्ञान में इसे विस्तार के साथ समझाया जाता है। उसके अनुसार यह प्रकाश के अपवर्तन के समय विचलन तथा उसके पश्चात् पूर्ण परावर्तन का उदाहरण है। यह माना गया है कि प्रकाश किरण विरल से सघन माध्यम में घुसते हुए अभिलम्ब की ओर कुछ झुकती हैं तथा सघन से विरल माध्यम में प्रवेश करते समय अभिलम्ब से कुछ दूर हटते हुए विचलन का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। इनमें प्रथम परिस्थिति के कारण पानी में डूबा सिक्का तथा बर्तन की पेंदी कुछ उठी हुई प्रतीत होती है तथा द्वितीय परिस्थिति में विरल वायु में उड़ती चिड़िया वास्तविक से अधिक ऊँचाई पर प्रतीत होती है।

मरुमरीचिका की दशा में धरती के सम्पर्क में स्थित वायु की निचली परत गर्म होकर विरल अथवा हल्की होती है तथा ऊपरी परत अपेक्षाकृत ठण्डी होने से सघन होती है। यह स्थिति मैदानी भागों से एकदम विपरीत है। मैदान में ऊष्मा के संवहन के नियम के अनुसार धरती के सम्पर्क में आने वाली उष्म विरल वायु हल्की होने से ऊपर चली जाती है तथा ऊपरी सघन वायु उसका स्थान ले लेती है। अतः मैदान में धरती के सम्पर्क में सघन वायु बनी रहती है। पर रेगिस्तान में अतितीव्र गर्मी के कारण विरल वायु के ऊपर जाने से पहले ही नई विरल वायु तैयार हो जाती है। इस प्रकार वहाँ धरती के सम्पर्क में विरल वायु वर्तमान होती है।

इस दशा में रेगिस्तान के किसी वृक्ष से परावर्तित होकर नीचे आने वाली किरण सघन से विरल माध्यम में प्रवेश करती है। इस समय वह पूर्वोक्त नियम के अनुसार अभिलम्ब से दूर हटने अथवा विचलित होने लगती है। इस विचलन की दशा में वे अभिलम्ब से ९०° का अपवर्तन कोण बनाने लगती हैं। इसे ही क्रान्तिक बिन्दु अथवा Critical point कहा जाता है। अब यदि भयंकर गर्मी में किरणों का इस क्रान्तिक बिन्दु से भी अधिक विचलन होने लगे तो ये किरणें धरती को नहीं छूतीं अपितु पूर्ण परावर्तन के नियमों का पालन करते हुए आसमान की ओर उन्मुख होती हैं। इस परावर्तन के समय विरल से सघन माध्यम में जाने के कारण अभिलम्ब की ओर झुकते हुए द्रष्टा की आँखों तक जा पहुँचती हैं। इस प्रकार वृक्ष से धरती की ओर चली हुई किरणें धरती को स्पर्श न करते हुए भी द्रष्टा की आंखों में पहुंचकर वृक्ष का आभास कराती हैं। क्योंकि वे किरणें धरती की ओर से

आ रही होती हैं, अतः द्रष्टा धरती में वृक्ष का प्रतिबिम्ब बना समझता है। हम जानते हैं कि किरणें जहाँ से जिस वस्तु का चित्र लेकर हमारे पास पहुँचती हैं, हम वहीं उस वस्तु को अवस्थित मानते हैं। यहां वृक्ष का चित्र लाने वाली किरणों के धरती से आने के कारण हम वहीं वृक्ष मान लेते हैं। साथ ही पूर्ण परावर्तन के कारण हम धरती को या उसके रंग को नहीं देख पाते। कोई भी वस्तु जब अन्य रंगों वाली किरणों को अवशोषित करती हुई किसी विशेष रंग वाली किरण को ही परावर्तित करती हैं, तब उस विशेष रंग वाली वस्तु की प्रतीति होती है। पर सम्पूर्ण परावर्तन की दशा में वह वस्तु शीशे या पानी के समान चमकदार दिखती है। यहां भी इस प्रकार के परावर्तन होने से द्रष्टा वहां चमकीला पानी समझ लेता है। इस प्रकार पानी तथा वृक्ष का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ने के कारण अपने सम्मुख नदी समझ लेना अस्वाभाविक नहीं है।

आधुनिक विज्ञान में इस प्रक्रिया को एक चित्र द्वारा समझाया जाता है, जो इस प्रकार हैः-

यहाँ सूर्य किरणें पहले वृक्ष पर अर्थात् 'क' में परिपतित होती हैं। वहाँ से परावर्तित होकर विरल वायु अर्थात् 'ख' पर पहुँचती हैं। यहाँ प्रवेश के समय विचलित होकर अभिलम्ब से दूर हटते हुए धरती को स्पर्श न करते हुए आसमान की ओर उन्मुख होती हैं। तब पूर्ण परावर्तित होकर द्रष्टा की आँखों अर्थात् 'ग' देश तक जा पहुँचती हैं। इन किरणों को वह धरती से आता हुआ समझ कर नीचे 'क' में वृक्ष के प्रतिबिम्ब का आभास करता है।
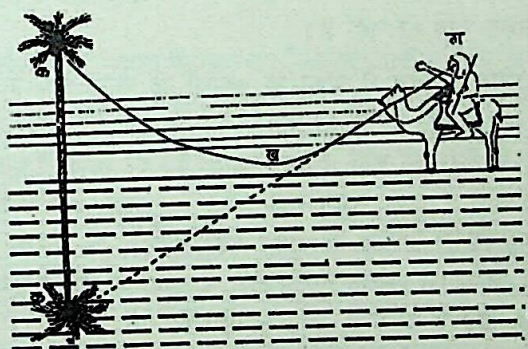
इन सब विवरणों से प्रकट है कि न्याय शास्त्र में प्रोक्त प्रकाश के विचलन का सिद्धान्त सर्वथा सत्य है।

---

१२. प्रकाश द्रव्य है या ऊर्जा

प्रकाश के सम्बन्ध में यह मतभेद विभिन्न दर्शन–सम्प्रदायों के बीच नहीं है, अपितु प्राचीन दर्शन तथा आधुनिक विज्ञान के मध्य उपलब्ध होता है। दर्शन में इसे द्रव्य माना जाता है, जबकि विज्ञान इसे ऊर्जा के अन्तर्गत मानने के पक्षपाती है। दर्शन द्वारा प्रस्तुत पदार्थों के विभाजन के अनुसार यह 'तेजस्' नामक द्रव्य का ही उपभेद है। यह लघुतम कणों से निर्मित होता है। इन कणों में ऊष्मा, रूप आदि गुण तथा क्रिया अनिवार्य सम्बन्ध से निवास करते हैं।

यद्यपि कुछ प्रभाकर मीमांसक आदि शक्ति या ऊर्जा को मानने के पक्षपाती हैं। पर वे प्रकाश, अग्नि आदि को यथावत् द्रव्य मानते हुए उससे अतिरिक्त शक्ति नामक पदार्थ की कल्पना करते हैं। प्रकाश स्वयं द्रव्य न होकर ऊर्जा स्वरूप हो– यह परिकल्पना वहाँ भी नहीं है।

आधुनिक विज्ञान में विश्व के पदार्थों के स्थूल रूप से द्रव्य (Matter) तथा ऊर्जा (energy) नामक दो विभाजन प्राप्त होते हैं। इनमें से द्रव्य वह है जो स्थान घेरता है, जिसका कोई द्रव्यमान होता है। पर ऊर्जा में इसके ठीक विपरीत लक्षण प्राप्त होते हैं। वह स्थान नहीं घेरती। उसका कोई द्रव्यमान नहीं होता। साथ ही वह किसी इन्द्रिय से दृश्य नहीं होता। पर उसके प्रभाव से उसके अस्तित्व को जाना जा सकता है। प्रकाश में ऊर्जा के लक्षण प्राप्त होने के कारण वह ऊर्जा के रूप में मान्य है, द्रव्य के रूप में नहीं।

यहाँ दोनों मतों के विवेचन के क्रम में पहले दर्शन शास्त्र की मान्यता का विस्तृत निरूपण करते हैं:–

१. प्रकाश द्रव्य है (दर्शनशास्त्र)– प्रकाश में द्रव्य के सभी लक्षण परिघटित होते हैं। द्रव्य वह है जिसमें गुण तथा क्रिया समवेत हो। साथ ही गुण और क्रिया भी वही है जो द्रव्य में अनिवार्य रूप से निवास करे। दुनिया में सर्वत्र ऐसा ही देखा जाता है। हम किसी भी गुण या क्रिया को किसी द्रव्य में– चाहे वह छोटा हो या बड़ा– उसमे वर्तमान पाते हैं। हम यह सोच भी नहीं सकते कि कोई वस्तु द्रव्य न हो यहाँ तक कि कण भी न हो, पर वह चल रही हो। चलने क्रिया के वर्णन के साथ ही वस्तु द्रव्य का प्रश्न उठता ही है। उसके बिना किसी वाक्य का प्रयोग असम्भव तथा अधूरा है।

इस दशा में प्रकाश के चलने के निरूपण के क्रम में भी उसके आधार द्रव्य की परिकल्पना करनी होगी। प्रकाश के चलने को तो वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। वे उसके वेग का परिकलन भी करते हैं। वह अतिविस्तृत आकाश में अतिभीषण वेग से अतिस्वल्पकाल में अतिदूर पहुँच जाता है। इस महावेग से चलन का आश्रय कोई कण अवश्य है– यही प्रकाश द्रव्य है।

सूर्य प्रकाश से या अग्नि से पानी को गर्म करते समय भी किरण या आग में से तेज के अणु–द्रव्य निकल कर पानी में प्रविष्ट हो जाते हैं। यहाँ भी ऊष्मा के आधार के रूप में किरण–द्रव्य या अग्नि द्रव्य की परिकल्पना आवश्यक है। क्योंकि ऊष्मा गुण है। वह किसी द्रव्य में ही निवास कर सकता है। यह गुण सदा तेजोद्रव्य में ही रहता है अन्य किसी में नहीं। अतः पानी को ऊष्म गुण वाला कहना औपाधिक होने से तात्त्विक नहीं है। वास्तव में यहाँ ऊष्म गुण वाले तेजोद्रव्य पानी से संयुक्त हुए हैं[1]। अतः तेजस् में रहने वाली ऊष्मा को हम पानी में समझ लेते हैं।

ऊष्मा के किसी कण–द्रव्य में रहने का सिद्धान्त प्राचीन काल में अन्य देशों में भी समान रूप से प्रचलित था। वहाँ 'ऊष्मजन सिद्धान्त' के अन्तर्गत अतिसूक्ष्म, प्रतिकर्षक तेजःकणरूप तरल 'ऊष्मजन' या 'ऊश्जन' द्रव्य में ऊष्मा का निवास मान्य था। जिस प्रकार दाल में अधिकाधिक नमक डालने पर वह अधिकाधिक नमकीन होती जाती है। इसी प्रकार पानी आदि में अधिकाधिक उष्मजन द्रव्य–कण के प्रक्षेप से वह गर्म होता चला जाता है। इस गर्म पानी में पानी के अणुओं से अधिक संख्या में ऊष्मजन द्रव्य–कणों का प्रक्षेप होता है।

प्राचीन भौतिक विज्ञान में भी उक्त घटनाओं की व्याख्या के लिये 'ईथर' नामक द्रव्य का अस्तित्व मान्य था। क्योंकि प्रकाश तरंगों के प्रसरण के लिये माध्यम का होना अनिवार्य था। डोरी में या पानी आदि में बनने वाली तरंगों में कोई न कोई माध्यम अवश्य होते हैं। ध्वनि तरंगों के प्रसार के लिये भी वायु आदि का माध्यम स्पष्टतः जाना जा चुका था। ऐसी दशा में यह सोचा भी नहीं जा सकता था कि कोई प्रकाश किसी कण–द्रव्य को माध्यम बनाए बिना तरंग गति करेगा। अतः मान्य था कि प्रकाश सदा वायु में ध्वनि के समान ईथर के माध्यम

---

१. तेजःसंयोगाज्जले उष्णप्रतीतिरौपाधिकी स्फुटैव, तत्र पाकासम्भवात्।
–प्रत्यक्षखण्ड कारिका ३६ में मुक्तावली

से तरंगित होता है। इस मान्यता के अनुसार सर्वव्यापी ईथर प्रकम्पन क्रमशः प्रकाश तरंगों के रूप में हमारे पास पहुँचता है। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे किसी तालाब के बीच के पानी से उठी तरंगें किनारे हमारे पास पहुँचती हैं, स्वयं बीच का पानी नहीं।

प्रकाश 'ऊर्जा' नामक अतिरिक्त विभाजन के अन्तर्गत मान्य नहीं (दर्शन शास्त्र)– न्याय दर्शन में पदार्थों के द्रव्य, गुण आदि जो विभाजन किये गए हैं, उनसे अतिरिक्त प्रकाश ऊर्जा आदि को स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि वह जो भी कुछ है, वह विभिन्न द्रव्य, गुण आदि के अन्तर्गत समाहित हो जाता है। अतः प्रकाश कणरूप द्रव्य है, उसके शुक्ल रूप, उष्म स्पर्श आदि गुण हैं। यहाँ दार्शनिक लोग वैज्ञानिकों का यह कथन नहीं मान सकते कि प्रकाश, ध्वनि आदि ऊर्जा रूप होते हुए किसी ज्ञानेन्द्रिय से ग्रहण नहीं किये जाते। यदि ऐसा हो तब तो इनके अस्तित्व पर ही प्रश्न चिह्न लग जावेगा। अतः दर्शन में मान्य है कि प्रकाश कण–द्रव्य का रूप गुण आँखों से तथा इसके ऊष्मा गुण को त्वचा से सहज ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है।

विज्ञान में यह भी मान्य है कि विभिन्न ऊर्जाओं के द्वारा ही 'कार्य' सम्पन्न होता है। अथवा यों कहें कि ऊर्जा का हस्तान्तरण ही कार्य है। उनका यह भी कहना है कि स्थिर वस्तु में कार्य करने की क्षमता होती है। जैसे चाभी लगी हुई घड़ी की कमानी में सुइयाँ चलाने की क्षमता होने से उसमें ऊर्जा है। गतिशील वस्तु में यह सामर्थ्य अधिक होता है। जैसे चलती हुई बन्दूक की गोली में लक्ष्यवेधन का अधिक सामर्थ्य होने से उसमें ऊर्जा अधिक होती है।

दर्शनशास्त्र के अनुसार ये सभी कार्य द्रव्य में वर्तमान विभिन्न गुणों के द्वारा सम्पन्न होते हैं। लकड़ी या पेट्रोल के बिना जले कोई 'कार्य' नहीं होता। उनमें तेजस् के प्रविष्ट होने पर उसमें वर्तमान ऊष्मा गुण के द्वारा उनमें क्रिया तथा उससे 'वेग' नामक गुण के उत्पन्न होने से अधिक कार्य होते हैं। अनेक प्रकार की क्रियाओं से उत्पन्न 'संयोग' 'विभाग' आदि गुणों के द्वारा भी अनेक कार्य तथा रूपान्तरण सम्पन्न होते हैं। गतिशील बाण आदि में मनुष्य के हाथों में स्थित ऊष्मा से क्रिया, इससे वेग गुण तथा इससे पुनः तीव्र क्रिया आदि क्रम क्रम से उत्पन्न होते रहते हैं। इस वेग नामक गुण से ही क्रिया में तीव्रता आ जाती है। इससे उत्पन्न रूपान्तरण नामक बिशिष्ट कार्य में ऊष्मा, वेग गुण तथा तीव्र क्रिया का ही क्रमशः योगदान है।

इसके पश्चात् विज्ञान के अनुसार इन मान्यताओं की विवेचना प्रस्तुत करते हैं:-

१. **प्रकाश द्रव्य नहीं है (आधुनिक विज्ञान)**– आधुनिक विज्ञान में प्रकाश के तेजोद्रव्यकण सिद्धान्त को, विदेशों में प्रचलित ऊष्मजन सिद्धान्त को तथा विज्ञान में ही पूर्व प्रचलित ईथर के सिद्धान्त को भी अस्वीकार किया जा चुका है। क्योंकि द्रव्य के बहुत स्पष्ट तथा सही लक्षणों के निर्धारण में सफलता प्राप्त की जा सकी है। यहाँ द्रव्य को समझने के लिये इनका संक्षिप्त निरूपण किया जावेगा:-

द्रव्य की पहचान

द्रव्य अपरिवर्तनीय द्रव्यमान रखता है– यह द्रव्यमान किसी भी द्रव्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अपरिवर्तनीय गुण है। किसी भी द्रव्य को चाहे जितना काटा पीटा जाए, अथवा उसे घोला जाय तो भी द्रव्यमान बदलता नहीं है। पानी में चीनी को मिलाने पर उसके घोल का द्रव्यमान पानी के द्रव्यमान से बढ़कर उन दोनों के योग के ठीक बराबर होता है। इस समय चीनी का प्रत्यक्ष विलुप्त हो जाता है। इसके आयतन में भी बहुत कम वृद्धि होती है। क्योंकि चीनी के अणु पानी के अणुओं के बीच शून्य स्थान में चले जाते हैं। इसीलिये उपनिषद् में आरुणि ने श्वेतकेतु को समझाते हुए कहा है कि यदि पानी में नमक घोल दिया जाय तो हम उसे ढूँढ़ कर भी नहीं पा सकते[1]। केवल रसना से ही जान सकते हैं। यह वैज्ञानिक विवरण पानी की अपेक्षा घोल के द्रव्यमान के विभेद के द्वारा इसके अस्तित्व को बताता है। उपनिषद् का आशय भी इसके प्रत्यक्ष न होने पर भी इसे सत् सिद्ध करना ही है।

इसी प्रकार कोयले को जलाने पर जो दग्ध अपशिष्ट पदार्थ बचता है, उसे पूरी परिशुद्धता के साथ तौलने पर उसका द्रव्यमान ठीक उतना प्राप्त होता है, जितना उस कोयले का तथा उसको जलाने में प्रयुक्त ऑक्सीजन के द्रव्यमान के योग का होता है[2]।

किसी द्रव्य के रासायनिक रूपान्तरण करने पर अथवा उसमें विद्युत् अथवा ऊष्मा आदि गुणों के समावेश करने पर भी उस द्रव्य के द्रव्यमान में कोई

---

१. लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपासीदथा इति स हि तथा चकार। तं होवाच यद्दोषा लवणमुदकेऽवाधा अङ्ग तदाहरेति तद्धावमृश्य न विवेद। – छान्दोग्य उपनिषद् ६.१३.१

२. सरल भौतिकी गति ऊष्मा– ल० लन्दाऊ पृ० १८२.

परिवर्तन नहीं आता। आज ऑक्सीजन के कणों के अणु आदि के द्रव्यमान को भी स्पष्टतः जाना जा सकता है। पर किसी द्रव्य में ऐसे किसी भी गुण–धर्म के परिवर्तन से द्रव्यमान में कोई परिवर्तन नहीं देखा गया है। विज्ञान में इसे ही संहति संरक्षण नियम कहते हैं[1]।

अब यदि प्रकाश तेजोद्रव्य–कणों से निर्मित हो तो पानी में इनके प्रविष्ट होने पर अथवा लोहे को गर्म करने पर अग्नि से निकले तेजःकणों के लोहे में घुसने से इनके द्रव्यमान में अवश्य परिवर्तन होना चाहिये। पर जैसा कि ऊपर कहा गया, किसी भी पिण्ड को ऊष्मा परिपूर्ण करने पर भी तथा इस प्रकार उसका पूर्ण रूपान्तरण करने पर भी उसके द्रव्यमान में कोई परिवर्तन नहीं आता। इससे सिद्ध है कि प्रकाश तेजोद्रव्यकण रूप नहीं है।

द्रव्य घनत्व, सप्रतिघता तथा सम्पीडकता धर्मों को रखता है– प्रत्येक छोटे से छोटे द्रव्य कण में भी घनत्व होता है। वह जगह घेरता है तथा इस प्रकार अपने स्थान में अन्य किसी भी द्रव्यकण को आने का प्रतिषेध करता है। बौद्ध दर्शन में 'सप्रतिघता' नाम से द्रव्य के इस धर्म को स्वीकार किया गया है[2]। यह सर्वथा वैज्ञानिक अवधारणा के अनुकूल है। साथ ही कोई भी द्रव्यकण सम्पीडक होते हुए अन्य कण को दबाता भी है।

पर प्रकाश कणों का किसी भी उपाय से घनत्व आदि संवृतियों को नहीं जाना जा सका है। स्मरणीय है कि इन्हीं कारणों से पहले सर्व मान्य ईथर को अमान्य करना पड़ा है [3]। अतः इसी प्रकार प्रकाश–कणों को भी स्वीकार करना सम्भव नहीं है।

---

१. द्रव्यमान पिण्ड का सबसे महत्त्वपूर्ण अचर गुण है। पिण्डों के अधिकांश गुण 'मनुष्या के हाथ' में है। उदाहरण के लिये नरम लोहे को कठोरीकरण के द्वारा कठोर और भंगुर बनाया जा सकता है। गंदले घोल को पराश्रव्य तरंगों द्वारा साफ किया जा सकता है। बाह्य प्रभावों से पिण्ड के यान्त्रिक, विद्युत् और ऊष्मा गुण बदले जा सकते है। लेकिन किसी भी तरह के बाह्य प्रभाव से पिण्ड का द्रव्यमान बदलना सम्भव नहीं है, अगर पिण्ड में कोई और पदार्थ न मिलाया जाय, या उसमें से कोई कण न निकाला जाय।

— सरल भौतिकी गति और उष्मा–ल लन्दाऊ, पृ० १८

२. सप्रतिघा दश रूपिणः। प्रतिघो नाम प्रतिघातः– स्वदेशे परस्योत्पत्ति–प्रतिबन्धः। यत्रैकं सप्रतिघं तत्र द्वितीयस्योत्पत्तिर्न भवति। —अभिधर्मकोश १.२९.

3. Yet all the attempts to learn something of the density and pressure of eather came to nought- What is the theory of relativity- Page-27

२. **प्रकाश अनेक ऊर्जाओं में से एक है (आधुनिक विज्ञान)**— आधुनिक विज्ञान में ध्वनि, ऊष्मा, प्रकाश आदि विभिन्न ऊर्जाओं के अन्तर्गत मान्य हैं। क्योंकि ये कोई द्रव्यमान नहीं रखते, कोई स्थान नहीं घेरते। ज्ञानेन्द्रियों से इनकी उपलब्धि नहीं होती। केवल इनके प्रभाव के द्वारा हम इन्हें जान पाते हैं।

जिस प्रकार गतिज ऊर्जा स्वयं गति नहीं, अपितु इस ऊर्जा का प्रभाव है। इस गतिरूपी प्रभाव को देखकर हम इस ऊर्जा को जान पाते है। यद्यपि यह ज्ञानेन्द्रिय से दृश्य नहीं हैं। इसी प्रकार ऊष्मा ऊर्जा द्वारा उत्पन्न किये गये प्रभाव से वस्तु में ऊष्मा के अस्तित्व का बोध होता है। यह प्रभाव द्रव्य के तीव्र प्रकम्पन आदि क्रिया से भिन्न नहीं है। ठोस पिण्ड के अणु अपनी मध्यमान स्थिति के दोनों ओर सरल आवर्त गति करते हैं। इस ठोस पिण्ड को गर्म करने पर इसके अणुओं के कम्पनों का आयाम बढ़ जाने से इसका कुछ प्रसार हो जाता है। द्रव को गर्म करने पर इनके अणुओं की गतिज ऊर्जा बढ़ती जाती है तथा ये अपने एक निश्चित आयतन के अन्तर्गत तीव्र से तीव्रतर गति से इधर–उधर भागते रहते हैं। गैस के अणु अपने आयतन को भी खोकर तीव्रता से अनियमित तथा यदृच्छ गति करते हैं।

इस प्रकार का कोई तीव्र प्रकम्पनशील पिण्ड जब हमारे हाथ के सम्पर्क में आता है तो वह हाथ के अणुओं को भी उसी प्रकार तीव्रता से प्रकम्पित करता है। इस हाथ के अणुओं के प्रकम्पन को ही हमारा मस्तिष्क 'ऊष्मा' के रूप में अनुभव करता है। इस प्रकार यहां तीव्रतर प्रकम्पन ही ऊष्मा है तथा उसे उत्पन्न करने वाली ऊष्मा ऊर्जा है।

इसी प्रकार प्रकाश स्वयं किसी ऊष्मा नामक अतिरिक्त गुण को रखने वाला नहीं, अपितु उसका वस्तुओं पर पड़ने वाला प्रभाव, जो कि अणुओं के तीव्र प्रकम्पन के रूप में वर्तमान होता है, वह तथा इसके द्वारा अन्ततः त्वचा पर पड़ने वाला प्रभाव ही ऊष्म है। इसी प्रकार प्रकाश स्वयं रूप या रूपवान् नहीं, अर्थात् यह अपने से अतिरिक्त किसी रूप नामक गुण को अपने में रखने वाला नही, अपितु इस की तरंगलम्बानों के द्वारा वस्तु पर तथा इसके द्वारा आँखों पर पड़ने वाला प्रभाव ही रूप है। कोई वस्तु जिस प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करती है, यह बिल्कुल आवश्यक नहीं कि वह स्वयं उसी प्रकार की हो। फिर भी यदि कोई ओषधि शरीर में गर्म प्रभाव उत्पन्न करती हो तो उस ओषधि को ही 'गर्म दवा' बताने का हमारा स्वभाव है। जब कोई फर कोट बाहर की ठण्ड रोक कर केवल

हमारे अन्दर की गर्मी के प्रभाव को उद्भासित मात्र करता है, तो हम उस कोट को ही गर्म कहते हैं। हमारा मस्तिष्क सदा स्वयं पर पड़ने वाले प्रभाव के अनुरूप ही उस वस्तु की व्याख्या करता हैं तथा बाहरी प्रभावित होने वाली वस्तु में ही तदनुरूप गुणों को आरोपित करता है, चाहे उस प्रभाव को किसी अन्य ने क्यों न उत्पन्न किया हो।

पर विशुद्ध वस्तुनिष्ठ विचार करने पर हमें मान लेना चाहिए कि प्रकाश ऊर्जा स्वरूप होकर स्वयं ऊष्म नहीं है। यह ऊर्जा अपने परिसंचरण के माध्यम में ऊष्म प्रभाव उत्पन्न करती है। यदि स्वयं प्रकाश ही ऊष्म होता तब तो पृथिवी के ऊपर माध्यम–विहीन निर्वात आकाश में महान् उष्णता होती। क्योंकि वहां प्रचण्ड सूर्य–किरणें निर्बाध रूप से निरन्तर दौड़ती रहती हैं। पर हम जानते हैं कि वहां जबर्दस्त ठण्ड होती है [1]। ये किरणें केवल तभी वातावरण को गर्म करती हैं, जब धरती या वायु के सम्पर्क में आकर ये इन्हें प्रभावित करती हैं।

यहां यह उल्लेख कम रोचक नहीं कि मध्यकाल में लोगों ने प्रकाश को ही ऊष्म मानते हुए ऊपर आसमान में जबर्दस्त गर्मी की परिकल्पना की थी तथा विमान से ऊपर उड़ते हुए इस भयंकर गर्मी से बचने के लिए उपाय सुझाए थे[2]।

ऊपर के विवरण के अनुसार प्रकाश स्वयं रूप भी नहीं है। यदि ऐसा होता तब तो निर्वात आकाश बिल्कुल चमकीला दिखाई देता। पर हम जानते हैं कि धरती के वायुमण्डल से ऊपर आकाश सर्वथा काला दिखता है। हम मस्तिष्क की व्याख्या के अनुरूप प्रकाश को दृश्य तथा रूपवान् मानते हैं, जो कि तात्त्विक नहीं हैं।

---

१. निर्वात में सदा एक सी ठण्ड होती है। वहां अच्छी तरह गर्म कपड़े पहनने होगें। निर्वात में सदा वैसा ही लगता है जैसे –कड़ाके की सर्दी में अलाव के सामने।

– आओं दूरबीन देखें, पावेल क्लुशात्सेव पृष्ठ–१६

२. नाशयित्वा विमानस्थयन्तॄणामुष्मभाजिनाम्।
मुखशैत्याह्लादहर्षप्रदानार्थं यथाविधि।
विमानस्यांगयन्त्रेषु पुष्पिणीयन्त्रमुच्यते – बृहद् विमानशास्त्र १.६१

अर्थात् " विमान में बैठने वाले गर्मी को प्राप्त करने वाले चालकों की गर्मी का नाश करते हुए मुख की शीतलता, प्रसन्नता आदि प्रदान करने के लिये पुष्पिणी यन्त्र का विकास करे"।

विमान का निरूपण करने वाले इस ग्रन्थ में अन्तरिक्ष में भ्रमण की वास्तविक समस्याओं–जैसे वायु की कमी या भारहीनता आदि से निपटने के कोई उपाय नहीं बताए हैं। पर गर्मी से छुटकारा पाने जैसी अलीक समस्याओं के लिए पुष्पिणी यन्त्र आदि बनाने का सुझाव दिया है!!

प्रकाश का उच्च स्वरूप तथा वेदान्त

अभी तक प्रकाश के तेजो–द्रव्य–कण स्वरूप या ऊर्जा स्वरूप होने के समर्थन या विरोध में जो कुछ कहा गया है, वह न्याय परिभाषित अणु–परमाणु तथा आधुनिक विज्ञान के अविभाजित परमाणु के स्तर तक सर्वथा सच है। न्याय के अनुसार पृथिवी आदि द्रव्यों के परमाणुओं में उन–२ के विशेष गुण नित्य सम्बन्ध से निवास करते हैं। ये किसी पदार्थ के वे छोटे से छोटे कण हैं, जिनका आगे विभाजन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार ये अतिलघु, नित्य तथा अविभाज्य माने गये हैं।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी किसी यौगिक या तत्त्व के अणु में उस–२ के गुण वर्तमान रहते हैं। जैसे चीनी का अणु चीनी का तथा हाइड्रोजन का अणु भी हाइड्रोजन का गुण रखता हैं। इनके परमाणुओं में भी उन–२ तत्त्वों के गुणों की वर्तमानता रहती है। पर वह परमाणु कभी भी स्वतन्त्र रूप से नहीं रह सकता। वह सदा समान या असमान परमाणुओं के साथ मिलकर अर्थात् अणुरूप में ही सदा अवस्थित रहता है। जैसे हाइड्रोजन के दो परमाणु मिलकर स्वतन्त्र स्थिति योग्य एक अणु बनाते हैं। इन परमाणुओं की लघुता सचमुच विस्मयजनक है। एक अनुमान के अनुसार लगभग ५ लाख परमाणुओं को एक के ऊपर एक रखने पर इस कागज की मुटाई बन पावेगी!! [१]

इस प्रकार के अणु–परमाणु तथा इनसे बनने वाले पिण्डों में तथा किसी माध्यम में क्रियाशील ऊर्जा के मध्य बहुत अच्छा विभेद स्थापित किया जा सकता है। इस परिच्छेद में इससे पहले ऐसे द्रव्य तथा इस प्रकार की ऊर्जा को परिभाषित करते हुए इनमें परस्पर वैभिन्न्य प्रकट किया गया है।

पर परमाणु विभाजन के पश्चात् हम ऐसे संसार में प्रविष्ट होते हैं, जहां पर ये द्रव्य, ऊर्जा, कण–तरंग के विभेद को खोते प्रतीत होते हैं[२]। यहां पर किसी एक

---

१. सरल माध्यमिक भौतिकी, अशोक कुमार अग्रवाल भाग–२ पृ० ४६३

2. In going from macroscopic to microscopic objects, we inevitably observe qualitative changes and reveal new properties alien to macroscopic bodies. Microparticles thus display a qualitatively distinctive feature namely an organic combination of the corpuscular properties and wave properties.- Introduction to solid state electronics.

-P.S. Ivanov, page 124

गुण धर्म को आधार मानकर इन्हें किसी एक स्वरूप वाला निरूपित करना असम्भव हो जाता है।

इसी प्रकार प्रकाश ऊर्जा, ऊष्मा ऊर्जा भी विलक्षण तथा विरोधी विशेषता वाली प्रतीत होती हैं। क्योंकि ये ध्वनि ऊर्जा आदि के समान माध्यम में ही नही, अपितु निर्वात में बिना माध्यम के भी तरंग–गति करती हैं। इसके व्यतिकरण (Interference), ध्रुवण (Polarisation) आदि कार्यों की व्याख्या के लिए इसकी तरंग–गति को मानना आवश्यक होता है। पर साथ ही प्रकाश विद्युत् प्रभाव (Photo-electric effect) को समझने के लिए इसे कणिका रूप में भी मानना पड़ता है। इस प्रभाव के अन्तर्गत यह देखा गया है कि किसी जस्ते की ऋण प्लेट पर परा बैंगनी प्रकाश डालने से उसमें से एलेक्ट्रोन बाहर निकलने लगते हैं। यह कार्य प्रकाश ऊर्जा के कण अथवा फोटोन (Photon) के द्वारा सम्पन्न माना जाता है। इस समय प्लेट के एलेक्ट्रोन प्रकाश के फोटोन से उसी प्रकार टकराते हैं जैसे दो कठोर गोले टकराते हैं [१]। इस प्रक्रिया में यह फोटोन कण के समान भी कार्य करता प्रतीत होता है। इसी प्रकार एलेक्ट्रोन द्रव्यमान रखने से द्रव्य है। पर यही अपनी तरंग–गति के द्वारा ऊर्जा के गुण भी धारण करता है।

पहले इसी परिच्छेद में द्रव्य को परिभाषित करते हुए नोबेल पुरस्कार प्राप्त महान् वैज्ञानिक ल० लन्दाऊ को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि प्रकाश या ऊष्मा से उसका द्रव्यमान नहीं बदलता। पर उच्चतर विज्ञान में सापेक्षता सिद्धान्त की व्याख्या करते समय इन्हीं वैज्ञानिक के द्वारा यह पाया गया कि ऊष्मा से उसमें नगण्य परिवर्तन होता है। गर्म पिण्ड का द्रव्यमान ठण्डे पिण्ड की अपेक्षा कुछ अधिक होता है[२]। यद्यपि यह वृद्धि अत्यल्प होती है क्योंकि यह ऊर्जा में वृद्धि को प्रकाश वेग के वर्ग से भाग देने पर प्राप्त होती है [३]। इसी प्रकार इस महान्

---

१. सरल माध्यमिक भौतिकी — अशोक कुमार अग्रवाल भाग २ पृ०–४१६

2- All forces applied to the body, any increment of body energy, increases its mass. This is exactly, why a body has greater mass when heated, why spring has greater mass when it is compressed.-What is the theory of relativity,- L. Landau, Page 57

३. आपेक्षिकता की मूल संकल्पनाएं —बर्ट्रेंड रसेल, पृ० ८६

सिद्धान्त के अन्तर्गत यह देखा गया कि किसी कण का वेग प्रकाश वेग के आस–पास तक बढ़ाने पर उसका द्रव्यमान बढ़ता जाता है। इस वेग की तुलना में दैनिक जीवन में प्रयुक्त वेग इतना तुच्छ है कि इसमें द्रव्यमान–परिवर्तन की आसानी से उपेक्षा कर दी जाती है[1]।

इसी प्रकार पहले यह कहा गया कि किसी वस्तु को जलाने पर अपशिष्ट पदार्थ का द्रव्यमान ठीक उतना ही होता है। पर इन्हीं महान् वैज्ञानिक ल० लन्दाऊ ने उच्चतर विज्ञान में सापेक्षता की व्याख्या के अन्तर्गत यह लिखा है कि "एक बन्द भट्ठी में एक टन कोयला जलाकर दहन उत्पाद को ठण्डा करने पर उसका द्रव्यमान मूल कोयला और ऑक्सीजन के कुल द्रव्यमान से एक ग्राम का १/३००० अंश कम होगा। यह लुप्त द्रव्यमान दहन से विगलित ताप के रूप में निकल जाता है[2]। इसी प्रकार "चार हाइड्रोजन परमाणु मिलकर एक हीलियम परमाणु का द्रव्यमान हाइड्रोजन परमाणु के द्रव्यमान के चार गुने से कम होता है[3]।" यह विलीन द्रव्यमान ऊर्जा के रूप में बदलकर इन्हें बद्ध करने के काम में आता है। इससे प्रकट है कि विभाजित परमाणु में तथा प्रकाश के लगभग वेग वाले कण आदि की स्थिति में संहति संरक्षण नियम उतना प्रभावी नहीं है तथा इस स्तर पर द्रव्य कण तथा तरंग ऊर्जा के लक्षण एक दूसरे में प्रकट होने लगते हैं।

इन सभी परिस्थितियों की विस्तृत व्याख्या से यह पाया गया कि द्रव्य तथा ऊर्जा में कोई मौलिक विरोध नहीं है। अपितु ये ही वस्तु के अलग–२ पक्ष हैं। महान् वैज्ञानिक आइंस्टाइन ने अपने प्रसिद्ध सूत्र $E=mc^2$ के द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि ऊर्जा तथा मापा गया द्रव्यमान समरूप होते हैं। अतएव सूर्य प्रति सेकेण्ड जितना द्रव्यमान वास्तव में प्रकाश ऊर्जा के रूप में परिवर्तित करता है, उतने द्रव्यमान की उसमें कमी होती रहती है[4]। इससे सिद्ध होता है कि विश्व में प्रकाश ऊर्जा तथा द्रव्य–कण मौलिक या तात्त्विक रूप से भिन्न नहीं हैं।

---

१. सापेक्षिकता सिद्धान्त क्या है– पृ० ८५   २. वही, पृ० ८६

३. आपेक्षिकता की मूल संकल्पनाएँ, पृ० ८९

४. (सूर्य में) लगभग ६ अरब टन हाइड्रोजन प्रति सेकेण्ड काम आती है। पर उसका लगभग सारा ही भार हीलियम के रूप में पुनः प्रकट हो जाता है। लगभग पचास लाख टन द्रव्य प्रति सेकेण्ड विकिरण में नष्ट हो जाता हैं। यह द्रव्य विकिरण में परिवर्तित होकर अन्तरिक्ष में बिखर जाता है। पर सूर्य की संहति इतनी विशाल है कि पृथ्वी के जन्म से अब तक उसमें केवल डेढ़ प्रतिशत की कमी आयी है।

—तारे मनुष्य और परमाणु, हींज हैबर पृ० ५६

प्रकाश के इस उच्च स्वरूप में पहुँचने पर हम वेदान्त सिद्धान्त के समकक्ष पहुँच जाते हैं। जहाँ पर सभी पदार्थ अपने तात्त्विक विरोध को खोते प्रतीत होते हैं। हम अपने सामान्य लौकिक व्यवहार में परिभाषा, वर्गीकरण आदि उपायों से किसी वस्तु को अन्यों से भिन्न करते हुए समझने की चेष्टा करते हैं। पर जैसे–२ हम गहराई से सोचते हैं, ये सब विभेद बालू की भीत की तरह ढहते प्रतीत होते हैं–

यथा यथाऽर्थाः चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा।

–लकांवतार सूत्र।

ज्यों–२ हम वस्तु का स्पष्ट से स्पष्ट स्वरूप को खोजते हैं, वह वस्तु वैसे–२ अपने स्वरूप को छोड़ती चली जाती हैं।

हम प्रकाश के भी किसी एक स्वरूप को सत् तथा अन्य स्वरूप को असत् नहीं बता पाते। वेदान्त में इन्हीं कारणों से वस्तु की सत्ता तथ असत्ता का, उसकी अन्य से भिन्नता तथा अभिन्नता आदि का एक साथ प्रतिषेध किया है। क्योंकि कोई भी निरूपण अपने आप में अधूरा है। उसे किसी एक विशेष स्वरूप का बताना उसके अपने ही स्वरूप का प्रतिषेध करना है। इसलिये प्रकाश जो है, ठीक वही है! इसे पूरी तरह जानंना ठीक वही बन जाना है!! ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति!!

---
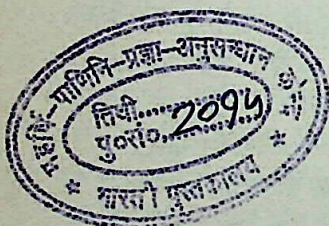
१३. रूप तथा ऊष्मा

सामान्य भाषा में हम जिसके लिए 'रंग' का प्रयोग करते हैं, उसे ही दर्शन शास्त्र में 'रूप' कहा जाता है। दर्शन में लाल, नीला आदि विभिन्न रूप के उपभेद हैं। सामान्यतः रूप का अर्थ अच्छा रंग होता है। 'रूपवती कन्या' का अर्थ सुन्दर लड़की होता है। सुन्दर चमकदार रंग के कारण ही चाँदी को 'रूप्य' कहा गया है। आज कल भारतीय मुद्रा के लिए 'रुपया' शब्द रूप्य या रूप्यक से उत्पन्न हुआ है। यह शब्द ही बताता है कि इस देश में पहले चाँदी की मुद्रा प्रचलित थी।

दर्शनशास्त्र में रूप रंग—न्याय शास्त्र के अनुसार यह रूप पृथिवी, जल, तेज, में 'समवाय' अर्थात नित्य—सम्बन्ध से निवास करता है। किसी भी द्रव्य में उद्‌भूत रूप रहे बिना हम उसे देख ही नहीं सकते। अतः इसे चाक्षुष प्रत्यक्ष का सहकारि —कारण माना गया है। वायु, आकाश आदि में कोई रूप निवास नहीं करता। इसीलिये हम इन्हें नहीं देख पाते।

बौद्ध दर्शन में यह रूप तथा इसके उपभेद यथावत् मान्य हैं। पर उनके मत में रूप वाली कोई द्रव्य प्रकार की वस्तु अतिरिक्त रूप से मान्य नहीं है। अंतः नील, पीत आदि रूप तथा लम्बाई, चौड़ाई आदि संस्थान यही मिलकर पृथिवी शब्द से कहे जाते हैं [१]।

न्याय मत के अनुसार तेजस् नामक द्रव्य में भास्वर शुक्ल रूप तथा ऊष्ण स्पर्श नामक गुण निवास करता है। यह मध्याह्न में सूर्य किरणों को देखने तथा उसके स्पर्श से प्रत्यक्ष सिद्ध है। उपनिषदों में माना है कि अग्नि में लोहित रूप रहता है[२]। पर न्याय के अनुसार सभी प्रकार के तेजो द्रव्य में भास्वर शुक्ल ही गुण रहता है। अग्नि में रक्त रूप की प्रतीति उसमें पृथिवी कणों के मिश्रण के द्वारा उसके मूल रूप के दब जाने के कारण है [३]।

---

१. पृथिवी वर्णसंस्थानमुच्यते लोकसंज्ञया।
तथाहि—पृथिवीं दर्शयन्तो वर्णं संस्थानं च दर्शयन्ति। —अभिधर्मकोशम् १.१३

२. यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपम्। —छान्दोग्य उपनिषद् ६.४.१

३. वैश्वानरे मरकतकिरणादौ च पार्थिवरूपेणाभिभवात् शुक्लरूपाग्रहः।
— प्रत्यक्षखण्ड— ४१ वें श्लोक पर मुक्तावली।

वैदिक युग में यह तथ्य जान लिया गया था कि सूर्य प्रकाश मूलतः ७ प्रकार के रंगों से निर्मित है। एक वेद मन्त्र के अनुसार सूर्य में ७ प्रकार की किरणों का संकेत दिया गया है। मन्त्र इस प्रकार है–

सप्त ऋषयः प्रतिहिता शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्"

–यजुर्वेद ३४.३५

इसका निरुक्त सम्मत अर्थ यह है कि सूर्य में ७ प्रकार की किरणें हैं। वे न कम न अधिक होते हुए अर्थात् इस निश्चित संख्या में रहते हुए शीघ्रता से प्रमाद से विरहित होते हुए संवत्सर की रक्षा करती हैं[1]।

न्याय में माना है कि जल में अभास्वर शुक्ल रूप रहता है। पृथिवी में सभी सातों रूप निवास करते हैं। यह व्याप्यवृत्ति गुण है। अतः धरती का कोई ऐसा पिण्ड नहीं, जिसमें इनमें से कोई रंग न रहता हो। रंग बदल सकता है, पर इसका अभाव नहीं हो सकता। अतः पृथिवी भी रूपवती सिद्ध होती है।

आधुनिक विज्ञान में रंग–आधुनिक विज्ञान में भी प्रकाश के ७ रंग स्वीकार्य हैं। यद्यपि इनके उपभेद दर्शनशास्त्र में वर्णित उपभेदों से कुछ भिन्न प्रकार के है। विज्ञान के अनुसार प्रकाश में बैंगनी (Violet) जामुनी (Indigo), नीला (Blue), हरा (Green), पीला (Yellow), नारंगी (Orange) तथा लाल (Red) रंग होते हैं। आज कल इसे प्रिज्म (Prism) के द्वारा बड़ी आसानी से जाना जाता है। यह क्राउन (Crown) या फ्लिंट (Flint) कांच का बना हुआ दो समतल अपवर्तक फलकों के बीच घिरा हुआ पारदर्शी माध्यम होता है। सामान्यतः यह समबाहु त्रिभुज आकार का बनाया जाता है। अर्थात् इसका प्रत्येक कोण ६०° का होता है।

यदि किसी अँधेरे कमरे में किसी सूक्ष्म छिद्र से प्राप्त होने वाले सूर्य–प्रकाश को प्रिज्म में से होकर गुजारा जाय तो वह प्रकाश ऊपर लिखे गये क्रम से ७ रंगों में बंट जाता है। इससे सिद्ध होता है कि यह प्रकाश ७ रंगों से मिलकर बना है। इन रंगों का सम्मिलित रूप ही श्वेत प्रकाश है।

१.सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे रश्मयः आदित्ये सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादं संवत्सरमप्रमाद्यन्तः ।

– निरुक्त १२.३७

यह श्वेत प्रकाश जब किसी अपारदर्शी वस्तु पर आपतित होता है तो वह वस्तु अपने मौलिक धर्म या सामर्थ्य के अनुसार कुछ रंग की किरणों को अवशोषित करते हुए अन्य रंगों की किरणों को परावर्तित कर देती हैं। इस प्रकार जो परावर्तित किंरणों का रंग हमारी आँखों पर जैसा प्रभाव डालता है, हम उसी रंग वाली वस्तु को समझते हैं। उदाहरण के लिंए हरी पत्ती अन्य सभी रंगों की किरणों को अवशोषित करती है। केवल हरी किरणों को परावर्तित करती है। इसी प्रकार गुलाब का फूल अपने अवशोषक रंजक तत्त्वों के कारण हरे रंग को अवशोषित करके नीला तथा बैगनी रंग की किरणों को परावर्तित करता है। इन रंगों का सम्मिलित बोध गुलाबी रंग के रूप में होता है। इस फूल के द्वारा जितना अधिक हरा रंग अवशोषित होता है, उतना ही गाढ़ा गुलाबी रंग दिखाई देता है।

जो वस्तुएं सातों रंगों की किरणों को परावर्तित कर देती हैं, वे सफेद दीखती हैं तथा जो किसी भी रंग की किरण को परावर्तित न करते हुए सबको अवशोषित कर लेती है, वह काली दिखाई देती है।

जिन द्रव्य–कणों के अतिलघु होने के कारण वहाँ से प्रकाश का परावर्तन नहीं हो पाता, वे दृश्य नहीं होती। वायु के प्रत्यक्ष न हो पाने का यही कारण है। प्रकाश–किरंणें वायु–कणों के पार चली जाती हैं, वहाँ से परावर्तित नहीं हो पातीं।

विज्ञान के अनुसार प्रकाश में रूप तथा ऊष्मा नहीं है—अभी उपर्युक्त वर्णन में 'प्रकाश के रंग' इस प्रकार के गौण प्रयोग किये गए हैं। विज्ञान में इस प्रकार के गौण या लाक्षणिक प्रयोग किये जाते रहते हैं। पर वहाँ सिद्धान्ततः प्रकाश के ऊर्जा स्वरूप होने के कारण उसमें कोई रूप या ऊष्मा नामक कोई अतिरिक्त गुण स्वीकार्य नहीं है। इसके किसी वस्तु से टकराने पर अवश्य तथा अनिवार्य रूप से उस वस्तु में ये दोनों प्रकार के प्रभाव उत्पन्न होते हैं। इसकी विभिन्न तरंग लम्बानें वस्तु में अनेक प्रकार के रंग की संवेदना उत्पन्न कराने में सक्षम हैं। इसलिये विभिन्न लम्बानों वाली किरणों को विभिन्न रंगों की किरणें कह दिया जाता है।

अन्तरिक्ष में प्रकाश ऊर्जा के साथ ऊष्मा ऊर्जा वाली किरणें भी संचरण करती हैं। ये निर्वात में भी बिना किसी माध्यम के विकिरण (Radiation) के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर अति तीव्र गति से दौड़ती हैं। प्रकाश किरणों की अपेक्षा ऊष्मा तरंगों का तरंग दैर्घ्य भिन्न प्रकार का होता है। इनका

तरंग–दैर्घ्य अधिक होने से इन्हें अवरक्त किरणें (Infra-red rays) भी कहा जाता है। इनके विद्युत् तथा चुम्बकीय ऊर्जा के रूप में निरन्तर परिवर्तित होते हुए संचरण करने के कारण इन्हें विद्युच्चुम्बकीय तरंगें भी कहा जाता है। प्रकाश के समान ये किरणें वस्तु पर परिपतित होकर उसमें अनिवार्यतः ऊष्मा को उत्पन्न करने का सामर्थ्य रखती हैं। अतः इन्हें ही ऊष्म कह दिया जाता है।

विज्ञान के अनुसार रंग वस्तु का मौलिक गुण नहीं है—इसी प्रकार विज्ञान की सम्मति में किसी वस्तु में हरा, पीला आदि रंग सादातिक रूप से निवास नहीं करते। अपितु केवल प्रकाश की उपस्थिति में उसकी विभिन्न तरंगलम्बानों के प्रभाव या प्रतिक्रिया द्वारा उस समय उस वस्तु में उपस्थित होते हैं। भारतीय दर्शन के अनुसार विज्ञान की यह अवधारणा अद्‌भुत तथा अनूठी है। क्योंकि सभी दर्शन इससे विपरीत मत रखते हैं। भारतीय दर्शन में इस बारे में मतभेद तो है कि रूप रंग किसी द्रव्य में निवास करता है या नहीं। पर सभी इस विषय में एकमत हैं कोई वस्तु जहाँ पर दीखती है, वहीं उसका रूप भी सदा निवास करता है। न्याय के विद्वान् पृथिवी आदि द्रव्यों में समवाय अर्थात् नित्य सम्बन्ध से सर्वत्र व्याप्यवृत्ति से रूप का निवास मानते हैं। अतः वे यह सोच भी नहीं सकते कि वस्तु में मूलतः रूप का अस्तित्व न हो।

पर आधुनिक विज्ञान में प्रयोगों के आधार पर ऐसा ही माना जाता है। यदि किसी हरी पत्ती के सामने प्रिज्म द्वारा सूर्य के श्वेत प्रकाश का स्पेक्ट्रम बनावें तो यह पत्ती केवल हरे प्रकाश के सामने ही हरी दिखाई देती है। अन्य सभी रंगों के प्रकाश के सामने काली दीखती है। इसका कारण केवल यही हो सकता है कि यह पत्ती अन्य रंगों के प्रकाश में हरे रंग को नहीं भेजती। अब यदि हरा रंग इस पत्ती का अपना मौलिक गुण होता तब तो सभीं रंगों वाले प्रकाश द्वारा वह हरा रंग भेजती। पर ऐसा न होने से यह सिद्‌ध होता है कि पत्ती के पास अपना हरा रंग नहीं है। जब उसे किरणों का हरा वर्ण प्राप्त होता है, तब वह उसे केवल परावर्तित भर कर देती है।

इसीलिये कम प्रकाश में हर वस्तु काली या भूरी दीखती है। इस समय लाल झण्डा तथा हरा पत्ता एक ही जैसे रंग का दिखाई देता है। क्योंकि कम प्रकाश के कारण वह वस्तु इतनी अधिक मात्रा में किसी भी रंग वाली किरणों को परावर्तित नहीं कर पाती जो आँखों में प्रभाव उत्पन्न कर सकें। प्रयोगों द्वारा इसे स्पष्ट सिद्‌ध किया जा सकता है।यदि वस्तुओं पर पहले क्षीण श्वेत प्रकाश डाला

जाय तथा धीरे–२ उसे बढ़ाया जाय तो सबसे पहले सब वस्तुओं में भूरा रंग परिव्याप्त दिखाई देता है। प्रकाश की एक नियत सीमा के पश्चात् ही आँखों को रंगों की अनुभूति मिलनी प्रारम्भ होती है।

आँखों के द्वारा वर्णसंवेदन के लिये प्रकाश की अधिकतम सीमा भी है। क्योंकि काफी तीव्र प्रकाश में भी आँखें रंग विभेदन में असमर्थ होती हैं। इस समय लगभग सभी रंगों की किरणें आँखों तक पहुँचती हैं। अतः इस प्रकाश में सभी रंगीन वस्तुएँ समान रूप से श्वेत दिखाई देती हैं।

विज्ञान की उपर्युक्त अवधारणा को सही परिप्रेक्ष्य में समझ लेना आवश्यक है। यह वस्तुओं में केवल रूप रंग की मौलिकता का ही प्रतिषेध करता है। पर उन वस्तुओं में वह मौलिक गुण धर्म तो है ही, जिनके द्वारा वे किसी विशेष रंग की किरणों को ही अवशोषित करती तथा अन्य को परावर्तित करती हैं। इस प्रकार विविध वस्तुएँ अपनी–२ विशेषता के अनुसार अनेकानेक प्रकार से अवशोषण आदि का कार्य करती हैं। तभी वे वस्तुएँ अनेक रंगों वाली विचित्र प्रतीत होती हैं।अतः अलग–२ प्रकार से अवशोषण या परावर्तन करना, यह वस्तुओं की अपनी अलग–२ विशेषता या मौलिक धर्म (Fundamental Porperty)है।

अब यदि इसी मौलिक विशेषता को हम गौण रूप से रंग नाम दे दें तो विज्ञान को प्रयोग में कोई आपत्ति नहीं। आखिर वैज्ञानिक भी तो हरी पत्ती, लाल कपड़ा जैसे प्रयोग करते हैं। ये सभी भाषा के गौण या औपचारिक प्रयोग हैं, जिनसे वस्तु के व्यापार को समझने में कोई दोष नहीं आता। अतः प्रयोग तो मान्य है। पर इन प्रयोगों को आधार बनाकर सिद्धान्ततः वस्तु में नित्य सम्बन्ध के साथ रूप को प्रतिष्ठित करने को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

विज्ञान की रूप ग्रहण की पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार अन्य उपायों से भी वस्तु में मूलतः रंग के निवास का प्रतिषेध किया जा सकता है। ऊपर कहा गया कि वस्तु से परावर्तित रंग वाली किरण को वह वस्तु अपने पास नहीं रखती। इस दशा में जो वस्तु जिस गुण को अपने पास रखती ही नहीं, उसे उस गुण वाला किस प्रकार माना जावे। यदि कोई व्यक्ति न्यायालय में प्रतिज्ञापूर्वक यह कहे कि जो वस्तु मै अपने पास रखता हूँ, वह मेरी नहीं। पर जिसे सदा अपने पास से दूर फेंके रखता हूँ वही मेरी है। तो ऐसे कथन पर कोई न्यायाधीश किस प्रकार विश्वास कर लेगा!! फिर भी प्रस्तुत प्रसंग में हरे रंग को सदा दूर फेंकने वाली

पत्ती को सब लोग हरी ही कहते हैं। यहाँ वे पत्ती की हरे रंग की परावर्तन क्षमता को बताना चाहते हैं। इस तरह के प्रयोगों से कार्य में कोई भ्रान्ति पैदा न होने से इनमें कोई दोष नहीं है। पर सिद्धान्त रूप से इस प्रकार मान लेना उचित नहीं है।

इंग्लैण्ड के प्रख्यात भौतिक वैज्ञानिक 'टिण्डल' महोदय ने इस वैज्ञानिक सिद्धान्त को इस प्रकार कहा है कि *"पिण्ड नकारात्मक रूप से रंग ग्रहण करते हैं। रंगीन दिखना किरणों के आत्मसात् करण का परिणाम नहीं, अपितु बहिष्करण का परिणाम है"।*

वस्तु में मौलिक रूप से रंग तथा ऊष्मा समझने का कारण—इस वैज्ञानिक सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में यह विचित्र लगता है कि हम वस्तु द्वारा अपने पास रखे गए रंग द्वारा नहीं अपितु फेंक दिये गए रंग द्वारा उस वस्तु को विशेषित करना अच्छा समझते हैं। यहाँ पर यह प्रश्न बना ही रहता है कि हम क्यों पिण्ड द्वारा परित्यक्त या बहिष्कृत रंग को ही उस पिण्ड का अपना गुण समझते हैं। वास्तव में सामान्य जीवन में इस प्रकार के अवबोध का कारण हमारे मस्तिष्क की एक विशेष प्रकार की व्याख्या—पद्धति है। हमारा मस्तिष्क सदा आत्मकेन्द्रित होकर बाहरी पदार्थों की व्याख्या करता है। इस पद्धति को हम निम्न उपवर्गों के अन्तर्गत प्रकट कर सकते हैं।

१. कोई बाहरी वस्तु हमें जिस प्रकार प्रभावित करती है, उसे हम ठीक उसी प्रकार का समझ लेते हैं। यदि अन्यथा जानने का कोई अन्य उपाय उपलब्ध न हो।

२. कोई बाहरी वस्तु अन्य वस्तु को प्रभावित करने के पश्चात् हमें जिस प्रकार प्रभावित करती है, हम उस प्रभाव को प्रभावित करने वाली तथा प्रभावित होने वाली दोनों प्रकार की वस्तुओं में मौलिक रूप से प्रतिष्ठापित कर देते हैं।

३. पर यदि कोई बाहरी वस्तु अन्य वस्तु को ही प्रभावित करे, हमें नहीं तो हम उस उत्पन्न प्रभाव को प्रभावित करने वाली वस्तु में मौलिक रूप से प्रतिष्ठापित नहीं करते। यदि वह बाहरी वस्तु कभी अन्य वस्तु को तथा कभी हमें भी प्रभावित करें तो भी हम कार्य—कारण को सही रूप में देख लेने के पश्चात् वैसी प्रतिष्ठापना नहीं करते।

प्रस्तुत प्रसंग में इसकी व्याख्या इस प्रकार है–

१. सूर्य प्रकाश हमें ऊष्मा तथा रूप की दृष्टि से प्रभावित करता है। अतः हम प्रकाश में ही ऊष्मा तथा रूप को आरोपित कर देते है। पर जैसा कि ऊपर लिखा गया, प्रकाश वस्तु पर परिपतित होकर ऊष्मा और रूप का प्रभाव उत्पन्न करता है, वह स्वयं तत्स्वरूप नहीं। बाहरी दुनियाँ में यह बिल्कुल भी आवश्यक नहीं कि कार्य के अनुरूप कारण भी हो।

२. जब सूर्य प्रकाश अवशोषित तथा परावर्तित होते हुए पत्ती आदि को रंग के रूप में प्रभावित करने के पश्चात् हमारी आँखों को भी उसी रंग के रूप में प्रभावित करता है तब उस रंग को हम प्रकाश में तथा उस पत्ती में मौलिक रूप से आरोपित कर देते हैं।

३. पर यही सूर्य–प्रकाश जब मोमबत्ती को पिघलाने के रूप में प्रभावित करता है, तब हम इस द्रवत्व को प्रकाश में आरोपित नहीं करते। क्योंकि इस प्रभाव के अनुरूप हमारा मस्तिष्क प्रभावित नहीं होता है [1]। साथ ही यदि कोई चाकू हमारे शरीर में, पीड़ा के रूप में प्रभाव उत्पन्न करता है, तो भी हम इस चाकू में इस धर्म का आरोप नहीं करते। क्योंकि हम अन्य उदाहरणों में स्वयं प्रभावित हुए बिना चाकू के प्रभाव को देख चुके होते हैं।

अन्य प्रसंगों में भी जहाँ हम कार्य– कारण को भली प्रकार जान पाने में समर्थ होते हैं, वहाँ इस प्रकार के आरोप नहीं करते। उदाहरण के लिये कल्पना करें कि कोई बालक गेंद को तीव्र वेग से दीवाल पर फेंकता है। इससे दीवाल के घर्षित भाग पर तथा गेंद में भी कुछ गर्मी पैदा हो जाती है। यहाँ विज्ञान के अनुसार गतिज ऊर्जा ऊष्मा ऊर्जा में परिणत हो जाती है। दीवाल तथा गेंद की गर्मी का प्रभाव हमारे हाथ में भी तदनुरूप उत्पन्न होता है। हम इस घटना से गेंद में सदा उतनी गर्मी वाले किसी मौलिक गुण को दीवाल के गर्म होने का कारण

---

१. तृतीयक गुणों को हम वस्तुओं के भीतर स्थापित न करके उन्हें मात्र शक्ति रूप ही स्वीकार करते हैं, क्योंकि इन वस्तुओं और तृतीयक गुणों के बीच जो हेतु फल सम्बन्ध है, उनकी हमें पूर्ण जानकारी होती है। उदाहरण के लिये जब अग्नि मोम को द्रवित कर देती है, द्रवत्व गुण की स्थापना अग्नि के भीतर नहीं की जाती, पर वही गर्मी जब हमारे भीतर गर्मी या द्युति उत्पन्न करती है, अग्नि में हम चट इन गुणों की स्थापना कर देते हैं।

–आधुनिक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास में जॉन लॉक का अनुवाद पृ०–२३३

नहीं मानते। हम उसमें ऐसे किसी सादातिक गुण की प्रतिष्ठापना भी नहीं करते हैं। क्योंकि हम अन्य दशा में इसे ठण्डा देख चुके होते हैं। हम यहाँ 'टक्कर' नामक किसी अतिरिक्त तत्त्व को भी नहीं मानते, अपितु इसे केवल घटना मात्र मानते है।

पर सूर्य–प्रकाश के सन्दर्भ में हमारी स्थापना भिन्न प्रकार की होती है, यद्यपि स्थिति एक समान ही है। यहाँ प्रकाश के फोटान किसी पिण्ड पर परिपतित होते हैं। वे उस पदार्थ के अणुओं में जबर्दस्त विक्षोभ तथा प्रकम्पन उत्पन्न करते हैं। ये हमारे हाथ में भी ऐसा ही प्रकम्पन उत्पन्न करते हैं। हमारा मस्तिष्क इस विक्षोभ की ऊष्मा के रूप में व्याख्या करता है। यहाँ हम प्रस्तुत प्रथम नियम के अनुसार इस प्रकाश को ही ऊष्म मान लेते हैं। क्योंकि जिस प्रकार दीवाल के साथ टक्कर से भिन्न परिस्थिति में हम गेंद को जान पाने में समर्थ हैं, वैसी स्थिति सूर्य प्रकाश के साथ नहीं है। प्रकाश को हम केवल तभी जान पाते हैं, जब वह हमसे टकरावे। अन्य कोई उपाय हमारे पास नहीं है। इस टक्कर की स्थिति में वह अनिवार्यतः हम पर ऊष्म प्रभाव उत्पन्न करता है। अतः अन्वय– व्यतिरेक के अभाव में कार्य–कारण को न जान पाने की स्थिति में हम प्रथम नियम से इसे ही ऊष्म मान लेते हैं। पर गेंद वाले ऊपर के उदाहरण के अनुसार यह सर्वथा अनावश्यक है कि प्रकाश स्वयं ऊष्म होकर हमारे हाथ में ऊष्मा उत्पन्न करे।

इसी प्रकार किसी पटाखे के जमीन पर टकराने से प्रकाश उत्पन्न होने की स्थिति में हम पटाखे में 'प्रकाश' नामक किसी मौलिक गुण की प्रतिष्ठापना नहीं करते। पर यह प्रकाश स्वयं पिण्ड में परिपतित होकर पिण्ड की सतह के स्वतन्त्र इलेक्ट्रोनों की गतिज ऊर्जा बढ़ाकर उन्हें परिप्लवित करते हुए तथा विशेष प्रकार की तरंग लम्बानों को परावर्तित करते हुए जो रूप, रंग की संवेदना आँखों में उत्पन्न करता है, उसे हम प्रकाश में प्रतिष्ठापित करते हैं। क्योंकि हम इससे भिन्न परिस्थिति में प्रकाश को नहीं जान सकते।

अग्नि में भी प्रकाश के साथ–साथ ऊष्मा ऊर्जा के फलस्वरूप पिण्ड के अणुओं में तीव्र प्रकम्पन होता है। इनका आपसी संसंजक बल क्षीण होने लगता है। तब इनके अणु कठोर पिण्ड से अलग होकर उड़ने लगते हैं। साथ ही ये लाल तरंग लम्बानों वाली किरणें भी उत्सर्जित करते हैं। इन्हें ही हम 'आग' की लौ' कहते हैं। ये अणु हमारे हाथ के सम्पर्क में आने पर उस पर भी वैसा प्रकम्पन उत्पन्न करते हैं, जिसे हम ऊष्ण नाम देते हैं। यहाँ क्योंकि हम इस प्रकम्पन के प्रभाव को उष्णता के रूप में जान पाते हैं। अतः प्रथम नियम के अनुसार इस

प्रभाव या संवेदना को अणु—प्रकम्पनशील अग्नि में आरोपित कर देते हैं। पर वस्तुतः उष्णता इस प्रकम्पन का प्रभाव अथवा फल है, स्वयं अग्नि इस प्रकम्पन से भिन्न उष्णता नामक किसी अतिरिक्त धर्म कों धारण नही करती। यह प्रकम्पन से उत्पन्न उष्णता की संवेदना चाकू से उत्पन्न पीड़ा की संवेदना के ठीक समतुल्य है। पर यह कितना विचित्र है कि हम पीडा को आत्मा में प्रतिष्ठापित करने पर भी उष्णता को अतिरिक्त गुण के रूप में सदा बाहरी वस्तु पर ही आरोपित करने के लिये प्रतिबद्ध रहते है!! स्पष्टतः इसका कारण प्रथम नियम ही है। दर्शनशास्त्र के सिद्धान्त भी उष्ण गुण को समवाय सम्बन्ध से अग्नि में प्रतिष्ठित करने जैसे अनेक उपायों द्वारा इस प्रकार की विचित्र सामाजिक अनुभूतियों को सर्वथा सही सिद्ध करने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं। इस प्रयत्न में उनके सामने सदा अनेक प्रकार के गम्भीर प्रश्न उठते रहे है[1]।

इस प्रकार सिद्ध है कि अग्नि तथा प्रकाश में रूप तथा ऊष्मा का अवबोध कार्य—कारण सम्बन्ध को अथवा हेतु—फल सम्बन्ध को भली प्रकार न

---

१. आज से लगभग पौने दो हजार वर्ष पूर्व महान् दार्शनिक आचार्य नागार्जुन ने भी दर्शनशास्त्र की मान्यताओं पर गम्भीर प्रश्न खड़े करते हुए आग के जलने का प्रतिषेध किया था। यह प्रतिषेध उपरिलिखित वैज्ञानिक कारणों पर आधारित नहीं, अपितु द्रव्यगुण की प्रचलित दार्शनिक अवधारणाओं के खण्डन पर अवलम्बित था। जैसे दार्शनिकों के अनुसार लकड़ी में रहने वाली अग्नि या तेज अलग द्रव्य है। उसमें उष्णता गुण तथा जलना क्रिया आदि अलग से अवस्थित रहते हैं। इस पर नागार्जुन का कहना है कि जलना क्रिया का कार्य भस्म करना या विनाश करना है। अब यदि आग ही जलती हो या आग में जलना क्रिया अवस्थित हो तब तो वह तुरन्त ही नष्ट होने या बुझने लगेगी। पर हम देखते हैं कि आग अपने 'जलने' की दशा में चाहे सभी वस्तुओं को विनष्ट करती हो, पर वह स्वयं परिपुष्ट होती है। वह स्वयं निरन्तर ऑक्सीजन खींचती हुई परिपुष्ट होने का प्रयास भी करती हैं। अतः जलने के प्रचलित अर्थ के अनुसार यह आग का जलना नहीं हो सकता। उनका एक श्लोक इस प्रकार है—

यदि स्वात्मानमयं त्वद् वचनेन प्रकाशयत्यग्निः।
परमिव न त्वात्मानं परिधक्ष्यत्यपि हुताशः।

— विग्रह व्यावर्तिनी श्लोक ३६

अर्थात् यदि तुम्हारे कथनानुसार आग जलती है, तब तो यह आग अन्यों के समान स्वयं को भी जला डालेगी!!

कहना न होगा कि न्याय—परिकल्पित द्रव्य—गुण कर्म के ताने बाने के अन्तर्गत ये प्रश्न अजर अमर हैं। पर उपर्युक्त वैज्ञानिक क्रम से इनका समाधान किया जा सकता है।

समझ पाने के कारण है। इन सम्बन्धों पर भली प्रकार विचार करने वाले प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक जॉन लॉक ऐसा ही विचार रखते हैं[1]। विज्ञान तथा दर्शन शास्त्र के महान् विद्वान् बर्ट्रेंड रसेल का भी यह मानना है कि विज्ञान के अनुरूप दर्शन की यह नवीन व्याख्या सर्वथा तर्कसंगत है[2]।

दर्शनशास्त्र में रूप का विभाजन

बौद्ध दर्शन में रूप के वर्ण तथा संस्थान अर्थात् आकार —इस प्रकार के दो विभाजन किये गये हैं इनमें से वर्ण के नील, पीत, लोहित तथा अवदात ये ४ मुख्य विभेद किये गये हैं। पुनः इन विभेदों के अभ्र, धूम आदि अनेक उपविभाजन किये गये हैं [3]।

आस्तिक दर्शनों में रूप के सात प्रमुख विभेद बताए गए हैं। इस विभेद की संख्या का आधार इस परिच्छेद के प्रारम्भ में उल्लिखित वेदमन्त्र है। इन विभेदों के नाम शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश तथा चित्र हैं [4]। इनका क्रमबद्ध वर्णन इस प्रकार है:—

---

१. यद्यपि साड़ी में रंग नहीं है, चीनी में मिठास नहीं है, आग में उष्णता नहीं है। तो भी लोग क्यों इन गुणों को क्रमशः उन वस्तुओं में स्थापित कर देते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देतें हुए लॉक कहते हैं कि इन उपगुणों को इनके असंवेद्य कारण मूल गुण किस प्रकार उत्पन्न करते हैं, इसका हमें ज्ञान नहीं होता। यदि मूल गुणों और उपगुणों के बीच जो हेतु—फल सम्बन्ध है, इसका हमें यथेष्ट ज्ञान होता तो इन गुणों की स्थापना हम बाह्य वस्तु में कभी न करते। इसका एक मात्र कारण हमारा अज्ञान ही है।

—आधुनिक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास में लॉक का अनुवाद पृष्ठ—२३२

२. कुछ ऐसे नियम थे जो दार्शनिक प्रवृत्ति के लोगों के लिए अटपटे लगते थे, पर भौतिकीविदों के लिये मान्य थे। क्योंकि वे व्यावहारिक रूप में कार्यकारी थे। लॉक ने द्वितीयक गुणों—रंग, शोर, स्वाद, गन्ध आदि को व्यक्तिनिष्ठ माना और प्राथमिक गुणों—आकार, स्थिति और रूप को वस्तुओं का वास्तविक गुण माना था। भौतिकी विद् नियम ऐसे ही हैं, जैसे इस मत के अनुसार होने चाहिये।

—आपेक्षिकता की मूल संकल्पनाएं, बर्ट्रेंड रसेल पृ० १६

३. रूपं द्विधा—वर्णः संस्थानं च। तत्र वर्णश्चतुर्विधो नीलादिः। तद्भेदा अन्ये। संस्थानमष्टविधं दीर्घादि विसातान्तम्। —अभिधर्मकोश १.१० तथा उस पर स्वोपज्ञ भाष्य।

४. रूपं शुक्लनीलपीतरक्तहरितकपिशचित्रभेदात् सप्तविधम्—तर्क संग्रह, रूपनिरूपण।

शुक्ल रूप– यह शब्द सफेद रंग के लिए प्रयुक्त होता है। वैदिक युग में इसके स्थान पर 'शुक्र' शब्द का प्रयोग होता था। उस समय इसका चमकदार सफेद अथवा 'भास्वर शुक्ल' यह अर्थ था। वेद में इस अर्थ में इसका अनेक बार प्रयोग प्राप्त है। वहाँ सूर्य को बिजली के समान शुक्र तथा अर्चि अर्थात् आग की लौ को भी इसी प्रकार शुक्र कहा गया है[1]। निरुक्तकार ने इस तथ्य का समर्थन करते हुए 'शुक्र' शब्द को जलने अर्थ वाली 'शुच' धातु से सिद्ध किया है [2]।

बाद में चल कर 'शुक्र' के स्थान पर 'शुक्ल' का प्रयोग होने लगा। संस्कृत में रेफ तथा लकार अक्षरों का व्यत्यय अनेक बार देखा गया है। अतः ऐसे शब्दों को परस्पर अभिन्न माना गया है। इस शुक्ल शब्द का अर्थ भी विस्तृत हुआ तथा यह चमकदार तथा बिना चमकदार दोनों प्रकार के सफेद रंगों के लिए प्रयुक्त होने लगा।

'शुक्ल' शब्द के इस अर्थविस्तार के कारण न्यायशास्त्र में तेज के रूप–वर्णन के प्रसंग में 'शुक्ल' को विशेषीकृत करने के लिए 'भास्वर' अलग से विशेषण प्रदान किया है। इस प्रकार वहाँ तेज का भास्वर शुक्ल रूप बताया है[3]। जब कि वेद में इसे 'शुक्र' कह कर ही यह अर्थ प्रकट कर दिया जाता था। इस प्रकार परवर्ती युग में शुक्र या शुक्ल शब्द का किंचित् अर्थ परिवंर्तन होने पर भी न्याय शास्त्र में वेद की मान्यता के अनुरूप अग्नि का चमकदार सफेद रंग स्वीकार किया गया है। न्याय के अनुसार अग्नि का यही मौलिक या वास्तविक रंग है, लाल रंग नहीं। वहां पृथिवी के अनेक कणों के मिलने के कारण इस मौलिक रंग की प्रतीति नहीं हो पाती [4]। पर उपनिषद् में अग्नि के लाल रंग को ही वास्तविक

---

१. बृहन्त इद् भानवो भाऋजीकमग्निं सचन्त विद्युतो न शुक्राः। —ऋग्वेद ३.१.१४

तथा– यदी विशो मानुषीर्देवयन्तीः प्रयस्वतीरीडते शुक्रमर्चिः। —ऋग्वेद ३.६.३

२. शुक्रं शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः– निरुक्त ८.१२ । इस प्रकार 'शोक' शब्द का मूल अर्थ अग्नि अथवा 'जलना' है। बाद में चलकर इसे दुखमूलक मानते हुए यह शब्द दुख अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।

३. ऊष्णः स्पर्शः तेजसस्तु स्याद्रूपं शुक्लभास्वरम्–कारिकावली प्रत्यक्ष खण्ड–श्लोक–४१

४. वैश्वानरे मरकतकिरणादौ च पार्थिवरूपेणाभिभवाच्छुक्लरूपाग्रहः।

—उक्त श्लोक पर मुक्तावली।

बताया गया है [१]।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार इन दोनों मान्यताओं में कोई भी वितथ या विरोधी नहीं है। अग्नि के विविध ताप अथवा ऊष्मा की दशा में उसमें से विभिन्न आयाम वाली तथा इस प्रकार विभिन्न रंगों वाली किरणें उत्सर्जित होती हैं। यह माना गया है कि किसी लोहे की गेंद को गर्म करने पर ५२५° C से कम ताप की दशा में निकलने वाली किरणें हमें दिखाई नहीं देती। इससे अधिक ताप में लाल रंग की किरणें निकलती हैं। ६००° C पर गहरी लाल, ११०० ° C पर नारंगी (Orange) १२००°C पर पीली किरणें उत्सर्जित होती हैं। इसके पश्चात् १६००°C या उससे अधिक ताप की दशा में श्वेत तप्त किरणें निकलने से यह गेंद भास्वर शुक्ल या चमकदार सफेद दिखाई देता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अग्नि का विभिन्न रंग दिखना उसके विभिन्न प्रकार के ताप का परिणाम है। इसीलिये आज कल बड़ी–२ धमन भट्ठियों में काम करने वाले लोग आग के रंग को देखकर उसके ताप को पहचान लेते हैं।

समान ताप की दशा में एक ही प्रकार की किरणें उत्सर्जित करने वाली वस्तु भी किरणों के रास्ते में विभिन्न अवरोधों की दशा में विविध रंगों वाली दिखाई पड़ सकती है। जैसे सूर्यबिम्ब प्रातः तथा सायंकाल में लाल, पर मध्याह्न में चमकदार सफेद दीखता है। यद्यपि सूर्य में सदा एक ही ताप तथा रंगों वाली किरणें उत्सर्जित होती हैं।

पर प्रातः काल ये किरणें वायु तथा धूल के कणों वाले अपेक्षाकृत दीर्घ मार्ग से गुजरती हुई हमारे पास पहुँचती हैं। इस दशा में बैंगनी तथा नीले रंग वाली किरणों का इन कणों के मध्य प्रकीर्णन हो जाता है, अथवा ये इन कणों में छितरा जाती हैं। केवल दीर्घ तरंग लम्बानों वाली लाल किरणें सीधे हमारी आँखों तक पहुँचती हैं इसलिये इस समय सूर्य लाल दीखता है, पर मध्याह्न में इन कणों वाले अपेक्षाकृत न्यून अवरोध के बीच से गुजरती हुई लगभग सभी किरणें हमारी आँखों तक पहुँच कर श्वेत सूर्य का बोध कराती हैं।

---

१. यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपम् —छान्दोग्य उपनिषद् ६.४.१

संस्कृत में रेफ तथा लकार में अभेद मानने के कारण यहाँ रोहित का अर्थ लोहित अर्थात् लाल रंग है।

इस विवरण से प्रकट है कि अग्नि का लोहित या भास्वर शुक्ल–इन दोनों रंगों की प्रतीति यथार्थ है, अवास्तविक नहीं। एक ही अग्नि विभिन्न दशाओं में विविध रंगों वाली दीख सकती हैं।

नील रूप– सामान्यतया यह शब्द 'नीला रंग' अर्थ में प्रयुक्त होता है। दर्शनशास्त्र में इसके ही अन्तर्गत काला रंग भी सम्मिलित है। इसीलिये कृष्ण रूप की अलग से गणना नहीं की गई हैं। यह माना गया है कि नीला रंग ही गाढ़ा होकर काला हो जाता है। अतः काले मेघ या काली गाय के लिये क्रमशः 'नीलमेघ' या 'नीली धेनु' का प्रयोग होता है[१]।

इस नील शब्द का इतिहास रोचक है। मूलतः यह पानी अर्थ वाले 'नीर' शब्द से विकसित हुआ है। इसका प्रयोग मुख्यतः यमुना के नीले जल के लिये होता था। बाद में चलकर पूर्वोक्त रेफ तथा लकार में अभेद के नियम के अनुसार इसे 'नील' कहा जाने लगा तथा अर्थ–विस्तार के नियम के अनुसार यमुना जैसे 'नीले रंग' के लिये इसका प्रयोग होने लगा।

धरती पर खड़े होकर ऊपर आसमान नीला दिखाई देता है। प्राचीन काल से ही विशाल नीले कटोरे जैसा आसमान लोगों को लुभाता रहा है। संस्कृत में 'अहो नीलं नभः' जैसे अतिप्रचलित मुहावरों के द्वारा इस अचरज को प्रकट किया जाता रहा है। पर दर्शनशास्त्र में इस प्रकार की प्रतीति को भ्रान्त बताया गया है[२]। क्योंकि आकाश रूपवान् नहीं होता।

फिर भी यह प्रश्न बना ही रहता है कि आसमान में किस वस्तु की नीलिमा दिखाई पड़ती है। उस समय इस प्रश्न के बहुत दिलचस्प समाधान खोज निकाले गये थे। कुछ लोगों का मानना था कि ऊपर पड़ती हुई धरती की छाया ही नीले आसमान का बोध कराती हैं [२]। अन्य मत के अनुसार यह माना गया था कि सुमेरु पर्वत के दक्षिण में इन्द्रनील मणि का एक बहुत विशाल पर्वत है। इससे निकलने वाली नीले रंग की प्रभा समूचे आसमान में फैलकर 'नीला आसमान' की प्रतीति

---

१. नील शब्द से ओषधि या प्राणी अभिधेय होने पर ङीष् प्रत्यय होता है–नीलादोषधौ प्राणिनि च।

—अष्टाध्यायी ४.१.४२ पर वार्तिक

२. अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति।

—ब्रह्म सूत्र १.१.१. पर शांकर भाष्य

कराती है [1]।

आधुनिक विज्ञान में इसकी नीलिमा का स्पष्ट तथा सही कारण जाना जा चुका है। इसके अनुसार वास्तव में यह सूर्य का ही रंग है। सूर्य से सीधी दिशा में आती हुई किरणें धरती के वायुमण्डल से गुजरते समय कुछ मुड़ती हैं तथा वायुगत धूलिकणों में छितरा जाती हैं। इसे ही प्रकीर्णन कहते हैं। यह प्रकीर्णन नीले रंग की किरणों में सर्वाधिक तथा लाल रंग की किरणों में सबसे कम होता है। एक अनुमान के अनुसार लाल किरणों की अपेक्षा नीली किरणों का छितराना १६गुना अधिक होता है। परिणामतः नीले रंग की किरणें पहले धूलिकणों में तथा वहां से परावर्तित होकर हमारी आँखों के पास आने से हमें वायुगत रजोमण्डल वाला आसमान नीला प्रतीत होता है। पर पृथ्वी के वायुमण्डल के ऊपर जाने पर प्रकीर्णन न होने की स्थिति में आसमान काला दीखता है।

पीत रूप– इसे पीला रंग कहा जाता है। हल्दी का ऐसा ही रंग है। शरीर में खून की कमी होने पर पित्त की पीतिमा सें 'पीलिया' रोग का होना माना जाता है। पित्त के समान पीली होने के कारण ही 'पीतल' धातु को संस्कृत में 'पित्तल' कहा जाता है।

रक्त रूप– यह लाल रंग है। खून के भी लाल रंग का होने के कारण इसे 'रक्त' नाम दिया गया है। इस प्रकार उस समय खून लाल रंग की सबसे बढ़िया पहचान थी। संस्कृत में 'महावर' नामक रंग को 'आलक्तक' नाम दिया गया है। क्योंकि वह 'रक्त' अर्थात् लाल रंग के समान है। रेफ तथा लकार में अभेद होने से इसी रंग को सूचित किया गया है।

हरित रूप– वृक्ष, पत्ता इत्यादि का यह हरा रंग कहा जाता है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार स्त्रीलिंग हरी वस्तु के लिए 'हरिणी' शब्द का भी प्रयोग होता है [2]।

कपिश रूप– यह भूरे रंग का वाचक है। कपि अर्थात् बन्दर के रंग के सदृश होने से इसे यह नाम दिया गया है।

---

१. कथं तर्हि नीलं नभ इति प्रतीतिरिति चेन्न– सुमरोर्दक्षिणम् आक्रम्य स्थितस्य इन्द्रनीलमयशिखरस्य प्रभाम् आलोकयता तथाभिमानात्।

— वैशेषिकोपस्कार २.१.५

२. वर्णादनुदात्तात् तोपधात् तो नः

— पाणिनीय अष्टाध्यायी ४.१.१३९

चित्र रूप– यह अनेक रंगों का समाहार अर्थात् चितकबरा रंग है। यह उपर्युक्त रंगों से भिन्न नहीं है। फिर भी न्याय की अपनी विशेष पद्धति के कारण इसे अलग मानना पड़ा है। इस पद्धति पर विवाद उठाते हुए इस रंग को अतिरिक्त रूप मानने के प्रति सन्देह भी उठाया जाता रहा है [1]।

दर्शन तथा विज्ञान में मौलिक रंग

दर्शन शास्त्र में वे मौलिक रंग हैं, जिनका पूर्वोक्त रूप के उपविभाजन में समावेश किया गया है। अतः हल्का पीला या गाढ़ा पीला जैसे रंग पीत रूप से भिन्न नहीं है। दर्शन की दृष्टि में नीला तथा काला मूलतः भिन्न न होने से रूप के उपभेद में कृष्ण का अलग वर्णन नही है। इसी प्रकार बैगनी रंग भी नील रूप के अन्तर्गत समाविष्ट है। बादामी, गेरू रंग आदि भी मूलतः इन ७ रंगों से भिन्न नहीं हैं।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार शुक्ल तथा कृष्ण मौलिक रूप नहीं हैं। अपितु सभी वर्णों का समाहार ही श्वेत है। जब कोई वस्तु सभी वर्ण वाली किरणों को परावर्तित कर देती है तब वह श्वेत दिखती है। इसके विपरीत जब कोई वस्तु सभी वर्णों को अवशोषित कर लेती है तब वह कृष्ण प्रतीत होती है।

इसी प्रकार पीला रंग भी मौलिक नहीं, अपितु यह लाल तथा हरे वर्ण को मिलाने से प्राप्त किया जा सकता है। यह स्पष्ट सिद्ध है। क्योंकि स्पेक्ट्रोमीटर का प्रयोग करने पर हम इसे पुनः लाल तथा हरे वर्ण में विभक्त पाते हैं।

आज कल हरा, नीला, तथा लाल इन ३ को ही मौलिक रंग माना जाता है। इन तीनों रंगों को विभिन्न अनुपात में मिलाने से अनेकानेक प्रकार के रंग प्राप्त किये जा सकते हैं। पर इन तीनों रंगों को अन्य किसी रंग को मिलाने से प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतः इन्हें ही मौलिक रंग माना गया है।

आधुनिक युग में अनेक प्रकार की रंग–बिरंगी वस्तुओं का निर्माण इन रंगों को मिलाकर अनेकानेक प्रकार के रंग बनाने की कला का परिणाम है।

---

१. द्रष्टव्य– मुक्तावली गुण प्रकरण तथा उस पर दिनकरी टीका।

१४. अँधेरा क्या है

दर्शनशास्त्र में अन्धकार के विषय में व्यापक विचार–विमर्श उपलब्ध होता है। अनेक दर्शन–सम्प्रदायों के विविध ग्रन्थों में इससे सम्बन्धित मत–मतान्तरों के समर्थन तथा विरोध के लिये प्रकाश की विवेचना से भी अधिक पृष्ठों का उपयोग किया गया है। अनेक काव्य शास्त्रियों ने भी इन मतों को आधार बनाते हुए अनेक रोचक रचनाएं की हैं।

मीमांसकों के मत में अन्धकार–इस विषय में एक प्रमुख मत मीमांसकों का है। ये अन्धकार को नौ द्रव्यों से भिन्न दसवें द्रव्य के रूप में स्वीकार करते हैं। क्योंकि इनके मतानुसार इसमें द्रव्य की ऐसी विलक्षण विशेषताएं हैं, जो कि नौ द्रव्यों में नहीं पायी जातीं। इसमें 'कृष्ण रूप' नामक गुण रहता है, पर साथ ही इसमें कोई गन्ध गुण नहीं रहता। इसीलिये पृथिवी में इसका समावेश नहीं हो सकता। इसका यह कृष्ण रूप जल तथा तेज में पाए जाने वाले रूप से भी सर्वथा भिन्न है। इसलिये इसे जल या तेज भी नहीं कह सकते। इनके अलावा अन्य किसी द्रव्य में इसके समावेश का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि पृथिवी, जल, तेज को छोड़कर अन्य कोई भी द्रव्य रूपवान् नहीं होता।

इसकी विलक्षणता को अन्य प्रकार से भी स्थापित किया जा सकता है। यह रूप वाला होकर भी स्पर्श वाला नहीं होता। अन्य सभी पृथिवी जल, तेज जैसे रूप वाले द्रव्य अवश्य ही स्पर्श वाले होते हैं। वायु जैसे द्रव्य स्पर्श गुण को रखते हुए रूपवान् नहीं होते। आकाश आदि अन्य द्रव्य स्पर्श न रखते हुए रूप भी नहीं रखते। इस प्रकार 'स्पर्श वाला न होकर भी रूप वाला होना' यह इसकी विलक्षण विशेषता है, जो अन्य किसी द्रव्य में नहीं पाई जाती। अतएव यही इसका लक्षण भी है [१]।

इस अन्धकार में परत्व, अपरत्व आदि भी अनेक गुण पाए जाते हैं। साथ ही इसमें क्रिया भी रहती है। यह 'छाया चलती है', छाया दौड़ती है, इत्यादि अनेक प्रयोगों से प्रकट होता है। इस प्रकार विलक्षण गुण, क्रियावान् होने से यह अतिरिक्त द्रव्य है। जैसा कि निम्न श्लोक में कहा है–

---

१. अस्पर्शवत्त्वे सति रूपवत् तमः।

तमः खलु चलं नीलं परापर–विभागवत्।

प्रसिद्धधर्मवैधर्म्यान्नवभ्यो भेत्तुमर्हति।।– लीलावती

अर्थात् अन्धकार क्रिया वाला तथा कृष्ण गुण, पर अपर विभाग गुणों वाला भी है। यह अन्य द्रव्यों के गुणों से विलक्षण धर्म रखने के कारण नौ द्रव्यों से सर्वथा भिन्न है।

इस मत को आधार बनाकर बहुत सुन्दर रचनाएं की जाती रही हैं। प्रगाढ अन्धकार का एक सजीव वर्णन इस प्रकार है---

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।

असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता।।

अर्थात् यह अन्धेरा मानों अँगों में कालिमा लीप रहा है, अथवा मानों आसमान काजल बरसा रहा है! जिस प्रकार दुर्जन पुरुष की सेवा निष्फल होती है, उसी प्रकार आँखों का अस्तित्व ही व्यर्थ हो गया!!

न्याय मत के अनुसार अन्धकार– न्याय शास्त्र में उपर्युक्त स्थापनाओं का खण्डन करते हुए अलग ही सिद्धान्त स्थापित किया गया है। न्याय का प्रायः विरोध करने वाले वेदान्त ने भी इस सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की है। इस स्थिति पर चुटकी लेते हुए श्री हर्ष ने कणाद द्वारा अन्धकार के सही निरूपण कर पाने का एक अलग ही कारण बताया है। उनका कहना है कि कणाद का एक नाम 'उलूक' भी है, इसीलिये इनके वैशेषिक दर्शन को 'औलूक्य दर्शन' भी कहते हैं। यह सर्वथा स्वाभाविक है कि उल्लू अन्धेरे का सबसे बढ़िया निरूपण कर सके!![1]

न्याय–मत के अनुसार अन्धकार के अतिरिक्त–द्रव्य के होने का कोई प्रसंग ही नहीं उठता, क्योंकि यह द्रव्य ही नहीं है। इसमें द्रव्य की परिभाषा घटित नहीं होती। इसमें गुण तथा क्रियावान् होने वाले जो भी द्रव्य के लक्षण घटित होते हुए प्रतीत होते हैं, वे सभी भ्रान्तिमूलक हैं!

---

१. ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां वैशेषिकं चारु मतं मतं मे।
'औलूक्यमाहुः खलु दर्शनं तत् क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय!!

– नैषधीयचरितम् २२.३५

जैसे– मीमांसकों का कहना है कि अन्धकार में कृष्ण रूप रहता है। यह आँखों से प्रत्यक्ष ही दिखाई पड़ता है। न्याय मत में यह भ्रान्ति उसी प्रकार है जैसे– 'नीला आकाश' की भ्रान्त प्रतीति होती है। आकाश में कोई गुण नहीं है। फिर भी लोग उसे नीला कहते हैं , इसी प्रकार अन्धकार में किसी गुण के न रहने पर भी लोग गलती से उसे काला कहते हैं [१]। 'नीला आसमान' इस प्रकार की प्रतीति में आँखों से किरणें निकलते समय नयनगोलक की नीलिमा बाहर जाती है तथा यह बाहरी वस्तु को उस रंग से परिव्याप्त करके वैसा बोध कराती है। इस प्रकार आसमान में वास्तविक नीलिमा नहीं, अपितु नयनगोलक की आरोपित नीलिमा है[२]। इसी प्रकार अन्धकार का प्रत्यक्ष करते समय भी इसी नयन–गोलक की कालिमा निकल कर वैसा भ्रान्त बोध कराती है। पर वस्तुतः इस अन्धकार में कोई रूप नहीं है।

मीमांसक लोग अन्धकार में रूप के अस्तित्व को प्रत्यक्ष सिद्ध मानते हुए इसके अस्पर्शवत्त्व को ऐसी विलक्षण विशेषता मानते हैं, जो कि किसी ६ द्रव्यों में नहीं पाई जाती। अतः उनके मत में अन्धकार सबसे भिन्न दसवाँ द्रव्य है। पर न्याय के विद्वान् अस्पर्शवत्त्व की रूपवत्त्वाभाव के साथ व्याप्ति दिखाते हुए अनुमान से भी अन्धकार की रूपवत्ता का प्रतिषेध करते हैं। उनके अनुसार जो वस्तु रूप वाली होती है, वह अवश्य ही स्पर्श वाली होती है। अब यदि अन्धकार रूप वाला होता तो अवश्य ही स्पर्श वाला भी होता। पर ऐसा न होने से वह रूप वाला भी सिद्ध नहीं होता।

पर कवियों के वर्णन मीमांसक–सम्मत अन्धकार का ही समर्थन करते हैं। एक मनोहारी श्लोक में एक अलौकिक उपाय से इसे सिद्ध किया गया है। कवि का मानना है कि न्याय वर्णित पूर्वोक्त व्याप्ति के रहते मीमांसकों पर यह प्रश्न उठता ही है कि यदि अन्धकार रूप वाला है तो स्पर्श वाला क्यों नहीं होता। इस प्रश्न को समाप्त करते हुए कवि की चन्द्रमुखी, दीर्घकेशी नायिका ने अपने घने, काले केश रूपी 'अन्धकार' को धारण करते हुए यह सिद्ध कर दिया है कि वह स्पर्श वाला भी होता है। क्योंकि उसका यह अलौकिक 'अन्धकार' रूपवान् होने

१. यथा नीलं नभ इत्यत्र नीलत्वाभाववति नभसि नीलत्व–प्रकारकं ज्ञानं भ्रमः तथा नीलं तमः इत्यत्र नीलत्वाभाववति तमसि नीलत्वप्रकारकं ज्ञानं भ्रमः।
—मुक्तावली किरणावली पृ० ३८

२. दिवा चोर्ध्वं नयनगोलकस्यैव नीलिमावभासः—न्यायकन्दली पृ० २४

के साथ मृदु स्पर्शयोग्य भी है ! इस प्रकार उसने अपने केशों के बहाने इस स्पर्शक्षम अन्धकार को धारण करते हुए इसे रूपवान् सिद्‌ध करने में सफलता पाई है[१]!!

यह तो हुई आलंकारिक बात! पर वस्तुतः यह अन्धकार स्पर्श वाला न होने से रूप वाला भी नहीं है। इसमें रूप की प्रतीति भ्रान्त है।

इसी प्रकार 'छाया चलती है' जैसे प्रयोगों को आधार बना कर अन्धेरे में क्रिया की प्रतीति करना भी भ्रम ही है। क्योंकि ऐसे सभी उदाहरणों में वस्तुतः आलोक के अपसरण अथवा प्रकाश के हटने की क्रिया होती है। इस क्रिया को छाया में आरोपित करके 'छाया चलती है' यह प्रयोग करते हैं[२]। लोक में अन्य वस्तु के गुण तथा क्रिया को अन्य समीपवर्ती वस्तु में आरोपित करने की चाल है। इसी प्रकार इस आरोप से यहाँ भी भ्रान्त बोध होता है।

इस प्रकार सिद्ध है कि तात्त्विक दृष्टि से गुण, क्रिया वाला न होने से यह अन्धेरा द्रव्य नहीं है। अपितु तेजोऽभाव रूप है। क्योंकि तेज के न रहने पर ही इसकी अनिवार्यतः उपलब्धि होती है। तेज के रहने पर कदापि नहीं। न्याय शास्त्र में 'अभाव' भी सातवें पदार्थ के अन्तर्गत मान्य है। इसी पदार्थ के अन्तर्गत यह अन्धकार सम्मिलित हो सकता है। अभाव रूप होने के कारण इसमें गुण, क्रिया, जाति आदि कुछ नहीं रह सकते।

इस अन्धकार को भाव पदार्थ मानने पर अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ भी हैं, क्योंकि तब तो इसके अनन्तानन्त अणु, परमाणु मानने होगें। क्योंकि कोई भी परत्व, अपरत्व गुण वाली मध्यम परिमाण की वस्तु अपने अणुओं से ही निर्मित होती है। इन अणुओं के स्वरूप तथा कार्य-प्रकार आदि की भी स्पष्ट व्याख्या करनी होगी। इससे अत्यन्त गौरव होगा[३]। इस प्रकार इसके अणुओं की व्याख्या न कर पाने की स्थिति में इसे अभाव रूप मानना ही श्रेयस्कर है।

---

१. तमो द्रव्यं नैल्यात् घटवदिति माने समुचिते। यदीदं रूपं स्यात् कथमिव न हि स्पार्शनगुणः।
इतीमं सत्तर्कं शिथिलयितुमन्तर्व्यवसिता। तमोवृन्दं धत्ते कचभरमिषादिन्दुवदना।।

२. कर्मवत्ता-प्रतीतिरप्यालोकोपसरणौपाधिकी भ्रान्तिरेव।
—मुक्तावली श्लोक २ पर

३. तमसोऽतिरिक्तद्रव्यत्वे अनन्तावयवादिकल्पना-गौरवं च स्यात्।
—मुक्तावली श्लोक-२ पर।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार अन्धकार– आधुनिक विज्ञान में भी अन्धकार को अतिरिक्त द्रव्य के रूप में नहीं माना गया है। इस विषय में वे न्याय की अवधारणा के समीप हैं। क्योंकि वे मानते हैं कि किसी भी द्रव्य के अणु, परमाणु तथा उनमें अनिवार्यतः पाए जाने वाले द्रव्यमान, सम्पीडकता, सप्रतिघता आदि धर्मों की व्याख्या के बिना किसी द्रव्य को स्वीकार नहीं किया जा सकता। अन्धकार में भी ऐसे किसी धर्म के न होने से वह अतिरिक्त द्रव्य नहीं है।

इस परिस्थिति में न्यायशास्त्र द्वारा अन्धकार का लक्षण–'तेज या प्रकाश का अभाव ही अन्धकार है'– यह प्रारम्भिक तौर पर सही है। क्योंकि प्रकाश के न होने पर ही हम अन्धेरे को उपलब्ध करते हैं। पर यह 'अभाव' कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं। क्योंकि इस दशा में तो हम दसवें अतिरिक्त द्रव्य को स्वीकार न करके सातवें अनिरूपित अतिरिक्त द्रव्य को स्वीकार करने के भागी बनते हैं। इस प्रकार एक कठिनाई को छोड़कर दूसरी में फँस जाते हैं!![1]

इसलिये मानना होगा कि अभाव अतिरिक्त नहीं, अपितु अन्य भाव पदार्थ है। घट का अभाव भूतल इत्यादि स्वरूप है। वह उनसे सर्वथा अभिन्न है। उनसे जरा भी अतिरिक्त नहीं। वेदान्त जैसे प्रौढ़ दर्शनों में भी अभाव को भावान्तर ही स्वीकार किया जाता है[2]। इस प्रकार 'तेजोऽभाव अन्धकार होता है, इस लक्षण के अनुसार तेज या प्रकाश के सर्वथा हटा देने पर पृथिवी, जल, इत्यादि की जो दशा हो, उसे ही अन्धकार कहा जावेगा।

पर हमें अपने सामान्य दैनिक जीवन में जिस प्रकार के अन्धकार से वास्ता पड़ता है, वह उक्त लक्षण में प्रोक्त घनघोर अन्धकार नहीं है। क्योंकि हम अन्धकार को भी 'देखते' हैं। न्याय में भी प्रतिदिन के अनुभव में आने वाले सामान्य अन्धकार से आशय प्रतीत होता है। क्योंकि उसमें छाया को भी अन्धकार कहा है तथा ऐसे अन्धकारों को देखने में आलोक–निरपेक्ष चक्षु को कारण बताया है[3]। छाया के प्रत्यक्ष में पूर्णालोक निरपेक्ष चक्षु कारण बन ही नहीं सकता। अतः वहां दीप्तालोक–निरपेक्ष या न्यूनालोक–सापेक्ष चक्षु को ही कारण माना जा सकता है।

---

१. दर्शनशास्त्र में ऐसी परिस्थितियों के लिये 'एकमनुसन्धित्सतोऽपरं प्रच्यवते, जैसे न्याय बताए गए हैं।

२. भावान्तरमभावोऽन्यो न कश्चिदनिरूपणात् –ब्र० सू० शांकर भाष्य १.१.१. पर भामती।

३. तत्प्रत्यक्षे चालोकनिरपेक्षं चक्षुः कारणम् – प्रत्यक्षखण्ड श्लोक–३ पर मुक्तावली।

विज्ञान के अनुसार मनुष्य या नक्तंचारी प्राणी के द्वारा धुँधला से धुँधला भी 'दीखना' अल्प से अल्पतम मात्रा वाले प्रकाश की कृपा का ही परिणाम है[1]। अतः इस प्रकार का अन्धकार वास्तव में सापेक्ष अन्धकार है। ऐसे अन्धकार के लिये 'सापेक्षतः दीप्त प्रकाश का अभाव, अथवा 'सापेक्षतः न्यून प्रकाश का भाव' ये लक्षण उचित हैं। एक ही प्रकार के अन्धकार के लिये ये दोनों भावाभावपरक लक्षण एक साथ सही हैं। जैसे हम एक ही रेखा को 'सापेक्षतः दीर्घ रेखा का अभाव' तथा 'सापेक्षतः ह्रस्व रेखा का भाव' इन दोनों पद्धतियों से एक साथ प्रकट कर सकते हैं।

हमारे दैनिक जीवन के लिये अन्धकार की यही सापेक्षता–मूलक परिभाषा उचित है। क्योंकि हम एक निम्नतम सीमा के पश्चात् अन्धकार को तथा एक उच्चतम सीमा के पश्चात् प्रकाश को भी नहीं 'देख' सकते।

सैकड़ों मीटर की समुद्र की गहराइयों के अतिघनघोर अन्धकार के लिये 'पूर्ण तेजोऽभाव' यह परिभाषा दी जा सकती हैं। वहां पर न तो समुद्र के जलादि से भिन्न कोई अन्धकार नामक पदार्थ है, न ही उसके देखने या निरूपण करने का कोई अर्थ है। वहां तो चर्म तथा चक्षु में कोई भिन्नता ही नहीं रह जाती। इस प्रकार जिस तरह हाथ के चर्म के द्वारा हम अन्धकार जैसी किसी वस्तु को सिद्ध नहीं कर सकते, उसी प्रकार आँखों से भी नहीं कर सकते। उस समय तो हम केवल मस्तिष्क से प्रकाश की कल्पना करते हुए उससे विपरीत स्थिति का अवबोध करते हैं। जिस प्रकार 'शोर का अभाव' कोई अतिरिक्त वस्तु नहीं, इसे दार्शनिक भी मानते हैं। फिर भी हम उसे अलग से 'शान्ति' नाम दे देते हैं। ध्वनि–प्रदूषित व्यक्ति इससे आह्लाद भी प्राप्त कर सकते हैं। फिर भी वे इससे किसी 'शान्ति' को अतिरिक्त बाह्य पदार्थ नहीं मान सकते। इसी प्रकार यहां भी 'अन्धकार' जैसा कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं। उसकी प्रत्येक परिकल्पना मानस प्रकाश के वैपरीत्य की परिकल्पना है। इस घनघोर अन्धकार में सदा रहने वाला कोई प्राणी ऐसी किसी परिकल्पना का अथवा सामान्य जल आदि से किसी अतिरिक्त अन्धकार का अवबोध नहीं कर सकता।

---

१. पर जैन दार्शनिक इस वैज्ञानिक अवधारणा से सर्वथा विपरीत मत रखते हुए मानते है कि घटादि को आलोक के बिना न देख पाने पर भी यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक वस्तु के लिये आलोक की अपेक्षा हो। क्योंकि पदार्थों के विचित्र स्वभाव के कारण उल्लू आदि प्राणियों के द्वारा आलोक के बिना अन्धकार देखा जाता है–

उलूकादीनामालोकमन्तरेणापि तत्प्रतिभासात्। यैस्त्वस्मदादिभिरन्यच्चाक्षुषं घटादिकमालोकं विना नोपलभ्यते तैरपि तिमिरमालोकयिष्यते–स्याद्वादमञ्जरी श्लोक ५ पर अन्ययोगव्यवच्छेद टीका।

अन्धकार में रूपवत्ता— न्याय शास्त्र के अनुसार इस अन्धकार में रूपवत्ता का अवबोध भ्रम है। उनका आशय यह है कि अन्धकार में प्रतीत होने वाली कालिमा उस वस्तु में तो मौलिक रूप से नहीं रहती। अतः मानना होगा कि नयनगोलक की कालिमा ही उस वस्तु पर परिपतित होकर काली पत्ती या काले अन्धकार का बोध कराती है। इस प्रकार मूलतः अन्यत्र स्थित कालिमा को अन्य वस्तु में आरोपित करने से अन्धकार में रूप की प्रतीति भ्रान्त है।

वैज्ञानिकों का कहना है कि इस प्रकार के सापेक्ष अन्धकार में उस पत्ती की दृश्यता वहां उपस्थित क्षीण प्रकाश के रूपवान् होने के कारण है। यहाँ पत्ती के काले रूप की उपलब्धि नयनगोलक की कालिमा के कारण नहीं। क्योंकि आँखों से कोई किरणें नहीं निकलतीं। अपितु यह इस पत्ती के अपने मौलिक रूप के कारण है। विज्ञान के अनुसार विश्व की सभी वस्तुएँ मौलिक रूप से काली होती हैं। केवल प्रकाश के प्रभाव से उस समय के लिये उस रंग वाली दीखतीं है। पत्ती का हरा रंग केवल परिस्थितिवश है। यह केवल श्वेत प्रकाश की उपस्थिति में ही उपलब्ध है। अन्यथा मौलिक रूप से यह काली है। आसमान में भी धूलि कणों की मौलिक कालिमा है। यहाँ कालिमा धूलि—कणों की है तथा दृश्यता क्षीण—प्रकाश की है। इसी घुली मिली प्रतीति को हम दैनिक जीवन में अन्धकार नाम देते हैं। यहां उपलब्ध क्षीण प्रकाश अवश्य ही रूपवान् है। पर इसमें धूलि कणों की कालिमा का आरोप करके क्षीण प्रकाश रूप अन्धकार को कृष्ण बताना भ्रम है।

इस विवेचन के अनुसार विभिन्न मतों का संक्षेप इस प्रकार है— मीमांसक लोग अन्धकार को अतिरिक्त बताते हुए उसमें ही कालिमा मानते हैं। न्याय के विद्वान् आँखों की कालिमा को तेजोऽभावरूपी अन्धकार में आरोपित मानते हुए इसमें कालिमा को अवास्तविक बताते है। वैज्ञानिकों के अनुसार वस्तु की मौलिक कालिमा को सापेक्ष क्षीण प्रकाश रूपी अन्धकार में आरोपित करना अवास्तविक है। सामान्य लोक व्यवहार में वस्तु की मौलिक कालिमा तथा क्षीण प्रकाश की दृश्यता को एक दूसरे पर आरोपित करते हुए सम्मिलित प्रतीति को 'अन्धकार' नाम दिया जाता है।

छाया में क्रिया— विज्ञान में छाया के चलने की प्रतीति अवास्तविक नहीं है। यहां न्याय के अनुसार आलोक का अपसरण अर्थात् हटना होता है। इसे ही छाया में आरोपित करके भ्रमवश 'छाया का चलना' कहा जाता है।

पर विज्ञान में छाया के सापेक्ष क्षीण प्रकाश सिद्ध होने की स्थिति में प्रकाश का हटना तथा छाया का आना यह एक ही बाह्य घटना की दो व्याख्याएं हैं। जिस प्रकार घड़े का फूटना तथा कपाल का उत्पन्न होना– यह बिल्कुल एक ही बाह्य घटना है। फिर भी हम इन्हें अलग–अलग प्रकार के वाक्यों से निरूपित करते हैं[1]। इस निरूपण से यह भ्रम होता है कि ये दो प्रकार की घटनाएँ हैं। पर तात्त्विक रूप से घटना की एकता की दशा में इन दोनों वाक्यों से प्रकट क्रियाएं वस्तुतः एक ही क्रिया सिद्ध होती हैं। इस प्रकार यदि एक क्रिया 'सत्' है तो दूसरी भ्रान्त नहीं हो सकती। इसे भ्रान्त कहना ठीक वैसा ही है जैसे कोई सिक्के के 'चित' पक्ष को सत्य तथा 'पट' पक्ष को भ्रान्त बतावें!

विज्ञान के अनुसार आलोकित पिण्ड में प्रकाश के परावर्तन से उसकी हमें उपलब्धि होती है। किसी रुकावट के द्वारा छाया में पिण्ड के अवस्थित होने पर प्रकाश के परावर्तन के परावर्तन के पश्चात् उसकी हमें उपलब्धि होती है। यहां इस नई दशा का उत्पन्न होना तथा पिछली दशा का विनष्ट होना ठीक एक ही घटना है। एक ही प्रकार की क्रिया के अन्य–२ स्थानों में अनुवृत्ति को ही 'चलना' कहते हैं। यहां यदि एक क्रिया 'चलना' है तो दूसरी भी उससे अभिन्न होने से 'चलना' है।

पर दार्शनिक कहते हैं कि छाया तो तेज का अभाव है। अभाव चलेगा कैसे? वैज्ञानिक कहते हैं कि यहां छाया से तात्पर्य 'सापेक्ष दीप्त प्रकाश का अभाव' है। दैनिक जीवन में सदा ऐसा ही अन्धकार उपलब्ध होता है। इस प्रकार छाया में दीप्त प्रकाश का अभाव है तथा वहीं एक साथ एक ही समय में क्षीण प्रकाश का भाव भी है। इसमें कोई विरोध नहीं है। छोटी रेखा में दीर्घ रेखा का अभाव तथा ह्रस्व रेखा का भाव इन दोनों तथ्यों में विरोध कहाँ है। इस प्रकार क्षीण प्रकाश के भावरूपी छाया के अन्य–२ स्थानों में 'पहुँचना' रूपी चलने को किस प्रकार भ्रान्त बताया जा सकता है। इससे सिद्ध है कि जिस प्रकार दीप्त प्रकाश

---

१. जैन दर्शन की एक सुन्दर कहानी में बताया है कि किसी राजा की पुत्री के पास एक सोने का घड़ा था। राजकुमार ने उसे तुड़वाकर उसका मुकुट बनवा दिया। यहाँ राजपुत्री को घड़े के विनाश से शोक हुआ। राजकुमार को मुकुट की उत्पत्ति से प्रसन्नता हुई। यहाँ अलग–अलग मनोदशाओं के होने से दो रूपों मे प्रतीत होने वाली घटनाएं वस्तुतः एक साथ एक ही स्थान पर निष्पन्न हुई है। द्रष्टव्य–

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्। शोकप्रमादमाध्यस्थं जनो याति सहेतुकम्।

—आप्तमीमांसा ५.६

के भावरूपी आलोक का अन्य–२ स्थानों में अपसरण रूपी चलना भ्रान्त नहीं है, उसी प्रकार उससे अभिन्न छाया का चलना भी भ्रान्त नहीं है।

यहां दार्शनिक तथा वैज्ञानिकों में संक्षिप्त मतविभेद का निरूपण इस प्रकार है—

दार्शनिक	वैज्ञानिक
१. नैयायिक—आवश्यक तेजस् का अभाव ही अन्धकार है।	१. 'सापेक्ष दीप्त प्रकाश का अभाव अथवा सापेक्ष न्यून प्रकाश का भाव' इन दोनों लक्षणों को एक साथ रखने वाला दैनिक जीवन में उपलब्ध अन्धकार है।
२. मीमांसक—अन्धकार स्पर्श वाला न होते हुए रूप वाला अतिरिक्त द्रव्य है।	२. अन्धकार रूप आदि गुणों वाला कोई अतिरिक्त द्रव्य नही है।
३. नैयायिक—अन्धकार के भावरूप होने पर उसके अणु आदि का निरूपण करना होगा, जो कि सम्भव नहीं है। अतः अन्धकार अभाव रूप हैं।	३. अन्धकार को 'सापेक्ष न्यून प्रकाश का भाव' मानने पर प्रकाश के निरूपण के साथ इसका भी निरूपण सम्भव है। अतः अन्धकार को सापेक्ष भावरूप मानने में कोई दोष नहीं हैं।
४. नैयायिक—'अन्धकार में कालिमा का दिखना' यह प्रतीति भ्रान्त हैं। क्योंकि यहाँ आँखों की कालिमा को तेजोऽभाव रूप अन्धकार में आरोपित किया जाता है।	४. 'अन्धकार में कालिमा का दिखना' यह प्रतीति इस अर्थ में अवास्तविक है कि यहाँ वस्तु की मौलिक कालिमा तथा क्षीण प्रकाश की दृश्यता को एक दूसरे पर आरोपित कर दिया जाता है।
५. नैयायिक—'छाया चलती है' यह प्रतीति भ्रम है। केवल 'आलोक हटता है' यही सच हैं।	५. यहाँ दीप्त प्रकाश हटता है तथा क्षीण प्रकाश रूपी अन्धकार क्रम से अन्य–२ स्थानों में पहुँचता हैं। ये एक ही घटना की दो व्याख्याएं हैं। अतः इन दोनों में 'चलना' की प्रतीति एक साथ सर्वथा सच है।

द्वितीय खण्ड

ध्वनि एवं श्रवण-विज्ञान

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिः, आसंसारं न दीप्यते।।

—काव्यादर्श १. ४

यह समूचा तीनों लोक घने अँधेरे में डूबा रहता, अगर 'शब्द' नामक ज्योति पूरी दुनियाँ में प्रदीप्त न रहती !!

१. दुनियाँ की दूसरी सबसे बड़ी ज्योति!

बृहदाएण्यक उपनिषद् में एक स्थान पर राजा जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि यह मनुष्य अपने कार्य–कलाप के लिये किस ज्योति को रखता है–

किंज्योतिरयं पुरुषः (बृ०उ०.३.४.३.२.)

इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा कि सम्राट् ! यह सूर्य की ज्योति ही है। इस के सहारे ही मनुष्य अवस्थिति प्राप्त करता है। अपने विभिन्न कार्यों के लिये दूर–दूर तक जाता है तथा वहाँ से लौट भी आता है–

आदित्यज्योतिः सम्राडिति होवाच। आदित्येनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते, कर्म कुरुते, विपर्येति। –(बृ०उ०.३.४.३.२)

पर इस पर भी प्रश्न है कि सूर्य के डूब जाने पर यह मनुष्य किसका सहारा लेता है। अमावास्या में चन्द्रमा के भी उदित न होने पर घनी काली रात में, अपने पास कोई अग्नि या प्रदीप आदि के न रहने की स्थिति में यह मनुष्य किस ज्योति से संचालित होता है। इसके उत्तर में कहा है कि इस दशा में तो वाणी ही सबसे बड़ी ज्योति है। इसके सहारे मनुष्य अपना सब काम कर सकता है–

वागेवास्य ज्योतिर्भवति। वाचैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते, पल्ययते। कर्म कुरुते, विपर्येति। –(बृ०उ०.३.४.३.५)

यहाँ प्रकाश के समान संकेतक होने के कारण वाणी को भी ज्योति कहा गया है। यह संकेतक प्रकाश से भी अधिक व्यापक है। प्रकाश सूरज, चाँद इत्यादि के सहारे रहता है। पर यह ध्वनि नामक संकेतक तो प्रकाश रहने पर भी तथा अन्धाघुप्प अंधेरे में भी हमारे हाथ में रहता है तथा ताली बजाते ही संकेत देने की क्षमता रखता है। पाणिनि ने ऐसे अंधेरे रास्तों के लिये एक अलग ही नाम दिया है, जहाँ हाथ की ताली बजाकर काम चलाया जाता हो[1]। संस्कृत में अंधेरे के लिये एक रोचक शब्द है– 'ध्वान्त'। यह मूलतः उसी 'ध्वन्' धातु या root से विकसित है, जिससे ध्वनि शब्द निर्मित हुआ है। इस धातु की एकता से यह संकेत मिलता है कि अंधेरे में ध्वनि का ही साथ होता है। प्रकाश रूपी ज्योति के न रहने पर दूसरी सबसे बड़ी ज्योति का साथ स्वाभाविक ही है!!

---

१. पाणयो ध्मायन्ते यत्र ते पाणिन्धमाः पन्थानः। 'उग्रम्पश्येरन्धमपाणिन्धमाश्च'।
– अष्टाध्यायी सूत्र ३.२.३७

इस विश्व में मानव के उद्भव काल से प्रकाश के पश्चात् ध्वनि नामक संकेतक ने ही इसे सर्वाधिक प्रभावित किया है। इससे वह भय, विषाद, आश्चर्य, प्रसन्नता आदि सब कुछ प्राप्त करता रहा है। जंगल में सिंह–गर्जन तथा वर्षा में मेघ–गर्जन भय के विषय रहे हैं। महावेगशाली तूफान की आवाज से भी सभी मनुष्यों को वैसा ही डर लगता है, जैसा कि बिजली की चमक तथा बादल के गरजने से लगता है[1]। इसके लिये मान्यताएँ विकसित हुईं कि इन्द्र अपने हाथ में भयंकर वज्र रखता है। इसीलिये वह 'वज्री' है। इसका निर्घोष ही मेघ की आवाज है। कभी वह सात रंगों की आभा बिखेरता है। यही इसका धनुष है। इसीलिये इसे इन्द्र–धनुष कहते हैं। इसकी भयानक टंकार से यह निर्घोष उत्पन्न होता है।

प्रकृति की अन्य अनेक ध्वनियाँ मनुष्य में सुख एवं आनन्द का संचार करती रही हैं। पत्तों की सरसराहट, समीर की सनसनाहट तथा नदियों का नद नद या कल् कल् – ये सभी आवाजें मनुष्य के प्रत्येक तार को झंकृत करने का उपाय ही तो रही हैं। अत एव पहाड़ों में बहने वाले पानी के गरजने की आवाज के द्वारा यह जलधारा सही अर्थों में 'नदी' बन गई[2] तथा तालाब के पानी के उछलने की आवाज आह्लाद का पर्याय बन गई[3]!!

मनुष्य द्वारा पशु, पक्षियों को पालतू बनाने के पश्चात् इनकी आवाजें भी मनुष्य के सामान्य जीवन का अंग बन गईं। मुर्गे की आवाज प्रातःकाल की सूचना देने लगी। पाणिनि जैसे विद्वानों की मनीषा इसमें ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत मात्राओं को खोजने लगी! इसी प्रकार गायों के रम्भाने की आवाज बछड़ों को दूध पिलाने के लिये बुलाने के समय की पहचान देने लगी।

बाद में चलकर पशु–पक्षियों की ये आवाजें अलग–२ विशिष्ट कार्यों की सूचना देने के लिये प्रयुक्त होने लगीं। इस प्रकार प्रातःकाल कौए की आवाज विरहिणी, एकवेणीधरा, प्रोषितपतिका के लिये प्रिय के आगमन का शुभ संकेत बनी तो कोयल की कूक 'पुष्पधन्वा' के बाणों से पीड़ित युवाओं के लिये वसन्त की

---

१. भयन्ते विश्वा भुवना मरुद्भ्यो राजान इव त्वेषसन्दृशो नरः। — ऋग्वेद १.८५.८
२. निरुक्तकार यास्क ने कहा है कि नदी के गरजने की आवाज के कारण ही इसका यह नाम पड़ा है– नद्यः कस्मान्नदना इमा भवन्ति शब्दवत्यः। — निरुक्त २.२४.
३. प्रसन्नता अर्थ में ह्लाद् धातु का तथा 'प्रह्लत्तिः' आदि में ह्लद् का प्रयोग भी होता है। तालाब अर्थ वाला 'ह्रद' शब्द इसी धातु से निष्पन्न है। क्योंकि संस्कृत में रेफ तथा लकार में अभेद होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रसन्नताप्रद होने के कारण ही इसका यह नाम पड़ा है।

पहचान बनी। ऋग्वेद में इस तरह की बढ़िया सूचना प्रदान करने वाले मंगलकारी शकुन या शकुन्त पक्षियों के घर पर आने की चाहना प्रकट की गई है[1]। इसीलिये मूलतः पक्षी अर्थ वाला 'शकुन' शब्द तथा इससे विकसित 'सगुन' शब्द भी आगे चलकर शुभ–सूचना या सौभाग्य आदि अर्थो में प्रयुक्त होने लगा।

मनुष्य ने स्वयं भी अनेक प्रकार की ध्वनियों को उत्पन्न करके अपने शोक और प्रसाद के भावों को प्रकट करने का उपक्रम किया। प्रारम्भ से ही अनेक प्रकार के वाद्य मानव के इन भावों की सबसे बढ़िया अभिव्यक्ति बन सके हैं। इन वाद्यों की आवाज प्राकृतिक या मानवनिर्मित आवाज के अनुकरण पर निर्मित हुईं। इस प्रकार निर्झर अर्थात् सोता की आवाज पर झर्झर बना[2] तथा गगरा या घड़े की आवाज पर गर्गर नामक वाद्य विकसित हुआ[3]। आज कौन जानता है कि इस प्रकार के वाद्यों के बीच मनुष्य के कितने शोक और प्रसाद के स्वर समीकृत हुए हैं!!

पर इस ध्वनि के इतिहास में क्रान्ति तब आई, जब मनुष्य के मुख से निकले अक्षर तथा कुछ निश्चित आनुपूर्वी वाले अक्षर–समूह किसी विशेष पदार्थ का प्रतीक बनने लगे। यों तो पशु–पक्षियों की आवाजें भी प्रतीक होती हैं, जैसा कि ऊपर दिखाया गया है। पर स्पष्ट तथा सुनिश्चित प्रतीकों की संरचना मानव–ध्वनियों द्वारा ही सम्भव हो पाई है। अतः तब इन आवाजों के अनुकरण पर निर्मित मानव–ध्वनियों ने भाषा का रूप ले लिया। इस प्रकार लाखों वर्षों तक कौए ने जो काँ–काँ आवाज की, वह ध्वनि ही थी। पर मनुष्य ने जब इस आवाज के अनुकरण पर इसे 'काक' नाम दिया, तब यह भाषा बन गई! आज से पौने तीन हजार साल पहले निरुक्तकार यास्क ने भी इस कौऐ की आवाज के अनुकरण पर ही 'काक' शब्द को निर्मित माना है[4]। इस प्रकार कोयल की कू कू आवाज ध्वनि ही रह गई, पर इसके अनुकरण पर संस्कृत में कोकिल तथा इंग्लिश में Cuckoo जैसी आवाज भाषा का अंग बन गई। आधुनिक भाषा विज्ञान में भाषा की परिभाषा में यह बताया जाता है कि वह प्रतीकात्मक ध्वनि जो मानव समाज के द्वारा

---

१. अवक्रन्द दक्षिणतो गृहाणां सुमंगलो भद्रवादी शकुन्ते। — ऋग्वेद २.४२.३

२. पाणिनि ने झर्झर बजाने वाले को झार्झरिक कहा है– मड्डुक–झर्झरादणन्यतरस्याम्। — अष्टाध्यायी ४.४.५६

३. अव स्वराति गर्गरो गोधा परि सनिष्णवत्। — ऋग्वेद ८.६९.९

४. काक इति शब्दानुकृतिः। — निरुक्त ३.१८.४

परस्पर व्यवहार के लिये प्रयुक्त होती हो, वह 'भाषा' है[1]।

हम नहीं जानते कि ध्वनि से भाषा बनने का इतिहास कितना पुराना है तथा इसका विकास किस प्रकार हुआ। हम विश्व के प्राचीनतम इतिहास को भाषा के द्वारा जान पाते हैं। पर खुद भाषा के इतिहास को कैसे जानें? उपनिषद् के एक भावपूर्ण श्लोक में कहा है कि ब्रह्म वह है जो वाणी द्वारा नहीं कहा जा सकता, अपितु स्वयं वाणी ही जिसके द्वारा कुछ कह पाती है[2]। इसी प्रकार यहाँ भी कहना होगा कि भाषा वह है जो स्वयं वाणी द्वारा नहीं कही जा सकती, पर जो विश्व की घटना के लिये वाणी प्रदान करती है। सचमुच जो भाषा विश्व की हर गतिविधि को प्रकट कर सकती है, वह स्वयं अपने उद्भव को किस प्रकार प्रकाशित करे! इसीलिये अभी भी भाषा की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में एक–मत नहीं है।

स्थिति कुछ भी हो, पर यह तय है कि मानव के यात्रा–पथ पर भाषा नामक् संकेतक की प्राप्ति एक बहुत बड़ी उपलब्धि रही है। यह जहाँ एक ओर मानव के अमूर्त विचारों तथा सन्देशों को वर्तमान में एक दूसरे तक पहुँचाने का उपाय बनी तो दूसरी ओर इन्हें भविष्य के लिये भावी पीढ़ियों तक पहुँचाने का माध्यम भी बनी। इस प्रकार मानव की उन्नति का बहुत बड़ा श्रेय भाषा को ही है। आज विश्व में मानवेतर प्राणियों द्वारा उन्नति न कर पाने का कारण उनका हीन मस्तिष्क तो है ही, साथ ही यह भी है कि वे अपने जीवन भर के अनुभव को अन्य पीढ़ी में सम्प्रेषित नहीं कर सकते। भाषा नामक संकेतक के अभाव में हर प्राणी की हर पीढ़ी अपनी यात्रा वहीं से शुरू करती है, जहाँ से लाखों वर्ष पूर्व के प्राणी ने प्रारम्भ की थी। पर मनुष्य इस संकेतक की बदौलत लाखों वर्षों में अर्जित ज्ञान को कुछ ही वर्षों में अपने में समाहित करके उन्नति के नए आयाम विकसित करने लगता है। इस दृष्टि से तो यह ध्वनि सचमुच परम ज्योति है, अथवा महावैयाकरण भर्तृहरि के शब्दों में 'पुण्यतम ज्योति' है[3]। उनके अनुसार इस वाणी के न रहने पर तो प्रकाश के भी प्रकाशकत्व का कोई अर्थ नहीं। क्योंकि यह वर्तमान तथा प्राचीन– सभी यादों को संजो कर प्रकाशित रखने वाली है[4]।

---

1. **A language is a system of arbitrary vocal symbols by means of which a social group co-operates. - Outlines of linguistic analysis, Page 5**
२. यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
   तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते — केनोपनिषद् १.४
३. यत्तत् पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः — वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड,श्लोक १२
४. न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी — वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड,श्लोक १२४

वाणी की इस ज्योतिष्कता को अतिप्राचीन काल से भली प्रकार समझ लिया गया था। बाइबिल की एक कहानी में लिखा है कि एक बार मनुष्यों ने ऐसी ऊँची मीनार बनाना प्रारम्भ किया जिसका शिखर स्वर्ग से छूता हो। यहोवा ने देखा कि वे इस कार्य में एक होकर जुटे हैं तथा उन सबकी भाषा भी एक ही है। तब उसने समझ लिया कि उनके इस संकल्पित उद्योग में कुछ भी असम्भावित नहीं है। अतः उसने तय किया कि इनकी भाषा में गड़बड़ी डाल दें, ताकि वे इस उद्देश्य को पूरा न कर सकें। तब यहोवा ने उनकी भाषा अलग–२ कर दी। इस पर उन मनुष्यों ने उस महान् कार्य का परित्याग कर दिया[1]। इस कहानी के द्वारा यह माना गया कि भाषा में एकता के द्वारा परस्पर संवाद स्थापित होने की दशा में बड़े से बड़े कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं।

भारत में इस ध्वनि अथवा भाषा को जितना महत्त्व दिया गया, उतना विश्व में अन्यत्र कहीं नहीं प्राप्त होता। उपनिषदों में सृष्टि का जो सबसे पहला विभाजन उपलब्ध होता है, उसमें 'नाम' के अन्तर्गत केवल ध्वनि या भाषा को अलग किया गया तथा 'रूप' के अन्तर्गत समाहित की गई पूरी दुनियाँ[२]!! इसी प्रकार दर्शन में भी विश्व की सभी वस्तुओं को 'पद' से भिन्न 'पदार्थ' में समाविष्ट किया। विश्व के इतिहास में यह देखकर अचरज होता है कि जब हजारों वर्षों तक विश्व के लोग इस 'रूप' या 'पदार्थ' की सुरक्षा में जुटे रहे, तब भारतीय मनीषा केवल 'नाम' या पद के संजोने में ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाती रही। विश्व के प्रायः सभी महान् 'आश्चर्य' राजाओं की मम्मी (mummy) के रूप में उनका चेहरा सुरक्षित रखने अथवा विभिन्न मूर्तियों के रूप में उनकी यादगारी बनाए रखने के लिये उत्कृष्टतम प्रयत्न के उदाहरण हैं। मिस्र का प्रसिद्ध पिरामिड आज से कम से कम ५ हजार वर्ष पूर्व बादशाह चिआप्स द्वारा उनकी कब्र तथा चेहरा को सुरक्षित रखने के लिये बनवाया गया था। इसे पूरा करने के लिये एक एक लाख लोगों की तीन टोलियाँ लगाई गई थीं। पिरामिड के एक शिलालेख के अनुसार प्रतिदिन इतने मजदूरों के लिये केवल रोटी और प्याज पर एक हजार छः सौ दीरम (चाँदी का सिक्का) खर्च

1. And they said, Go to, let us build us a city and a tower, whose top may reach unto heaven. (11.4) And the lord said, Behold, the people is one, and they have all one language; and this they begin to do: and now nothing will be restrained from them, which they have imagined to do (11.6). Go to, let us go down, and there confound their language, that they may not understand one another's speech (11.7). So the lord scattered them abroad from thence upon the face of all the earth: and they left off to build the city. - Holy Bible, Genesis 11.8

२. अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि – छान्दोग्य ६.३.२

हो जाता था। इस प्रकार ४८१ फुट ऊँचा विशाल पिरामिड बन कर तैयार हुआ था। एक अनुमान के अनुसार आज इतने बड़े पिरामिड को बनवाने के लिये 'आधुनिक मशीनों के बावजूद एक हजार लोगों को पूरे सौ साल तक काम करना पड़ेगा!!

इसी प्रकार ओलम्पियां में जियस की मूर्ति, टर्की में राजा मोसोलस की समाधि, रोड्स में अपोलो (Apollo) या सूर्यदेव की विशाल मूर्ति इत्यादि सभी 'आश्चर्य' मनुष्यों के चेहरे की सुरक्षा के लिये किये गए प्रयत्न हैं।

पर भारत में क्या हुआ? यह देख कर अचरज होता है कि भारत में सम्राट् अशोक से पूर्व के अभिलेख या स्थायी मूर्ति आदि सामान्यतः उपलब्ध नहीं होते। केवल साहित्य में इनके छिटफुट संकेत प्राप्त होते हैं[१]। इसका कारण केवल यही कि भारत में 'रूप' या पदार्थ नहीं, अपितु 'नाम' या पद की सुरक्षा को ही उचित तथा सार्थक माना गया। यहाँ ऋषि, मुनियों ने भली प्रकार जाना कि अनन्त प्रयत्न करने पर भी भौतिक वस्तुओं तथा मनुष्य शरीर को स्थिर नहीं रखा जा सकता। जो भी कुछ स्थिर रह सकता है, वह है उसके विचार, उसके चिन्तन, जिससे आगे के लोगों को प्रकाश तथा मार्गदर्शन प्राप्त हो सकता है। इसलिये यहाँ के लोगों ने इन अमूर्त विचारों की एक बढ़िया वाहिका तैयार की –ज्योतिर्मयी वाणी ! उसे सजाया, सँवारा और पूरे प्रयत्न से उसकी सुरक्षा में जुट गए। उन्होंने जाना कि जैसे 'मनोरथ' शब्द के अनुसार मन् का रथ इच्छा है, वैसे ही विचारों का रथ वाणी है तथा वाङ्मय वाणी का बना हुआ वह विशाल सौध अथवा महल है, जिसमें सम्पूर्ण चिन्तन भाषा का आकार धारण करके स्थिर स्थान पाता है। आज से पौने तीन हजार वर्ष पूर्व निरुक्तकार यास्क ने इस प्रकार के अनूठे महल के बहुमूल्य खजाने को 'शेवधि' बताया था तथा इसकी हर कीमत पर सुरक्षा के प्रयत्न करने को कहा था[२]। भारत में इस अद्भुत 'वाणी–महल' की सुरक्षा केवल बोल कर तथा सुन कर की गई। इसलिये इसे श्रुति नाम दिया गया।

---

१. जीविकार्थे चापण्ये–अष्टाध्यायी सूत्र ५.३.९९ में महावैयाकरण पाणिनि ने संकेत दिया है कि देवताओं की छोटी२ मूर्तियों की पूजा अथवा उनकी बिक्री से जीविका कमाई जाती थी। इस सूत्र में पतञ्जलि ने सूचना दी है कि उनके समय सोने के लोभी मौर्य राजाओं के द्वारा बड़े२ उत्सवों तथा मेलों में इन मूर्तियों की पूजा तथा बिक्री दोनों कराई जाती है। द्रष्टव्य– 'मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः' उक्त सूत्र पर महाभाष्य।

२. विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि– निरुक्त। अर्थात् एक बार विद्या ब्राह्मणों के पास पहुँची तथा उनसे कहा कि मेरी सुरक्षा करो, मैं तुम्हारा ख़ंजाना हूँ।

इस प्रकार भारत में इस 'नाम' की जैसी सुरक्षा हुई, वैसी शेष विश्व में कहीं नहीं देखी गई। सचमुच, इस देश के इतिहास का महान् 'आश्चर्य' कोई पिरामिड नहीं, कोई झूलते हुए बगीचे नहीं, अपितु यह कि यहाँ के ऋषियों ने बिना कागज, कलम आदि आधुनिक उपकरणों की सहायता के विश्व के पुस्तकालय को प्राचीनतम तथा विशालतम साहित्य प्रदान किया है!! विद्वानों के बीच अब यह निर्विवाद है कि विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद है। हमारे पास इसका कोई हिसाब नहीं कि इसकी सुरक्षा के बीच सिन्धु तथा सरस्वती का कितना पानी बहा है। पर इसमें सन्देह नहीं कि इसमें करोड़ों लोगों की लाखों पीढ़ियाँ बीती हैं। प्रसिद्ध विद्वान् मैक्समूलर ने कहा है कि १०,५८० मंत्रों का यह विशाल वेद केवल स्मरण के आधार पर सुरक्षित रहा है। इस विषय में यदि किसी को जरा सा भी सन्देह हो तो वे आज भी भारत में रहने वाले श्रोत्रिय वेदपाठियों से मिल कर दूर कर सकते हैं। अगर आज ऋग्वेद के सभी ग्रन्थ या हस्तलेख विलुप्त हो जावें तो भी इन वेदपाठियों के द्वारा समूचा वेद जैसा का तैसा प्राप्त किया जा सकता है[1]।

भारत के अन्य सम्प्रदायों में भी वाणी के प्रति इस प्रकार का अद्भुत लगाव देखने को मिलता है। क्योंकि उन्होंने वाणी से अपार ऊर्जा प्राप्त करना तथा उससे लोगों को सम्मोहित करने की कला सीख ली थी। गौतम बुद्ध के निर्वाण प्राप्त करते समय उनके प्रिय शिष्य आनन्द ने विलाप करते हुए पूछा था कि अब हमारा गुरु कौन होगा। गौतम बुद्ध ने अपनी मूर्ति के निर्माण का प्रतिषेध किया तथा आदेश दिया कि अब हमारे उपदेश ही तुम्हारे गुरु होंगे। तब उनके शिष्यों ने अनेक संगीति (सभा) करके इन उपदेशों का पिटक (पिटारा) बनाया तथा इन्हें देश–विदेश में पहुँचाया। कहना न होगा कि जब चीन के लोग ईंट, पत्थरों से विश्व की सबसे बड़ी १५०० मील लम्बी विशाल दीवार बनाकर मंगोल लुटेरों के प्रवेश को रोकने का उद्योग कर रहे थे, तब बुद्ध के प्रेम की यह वाणी हिमालय जैसे शिखर से भी न रुकती हुई उनके पास पहुँच रही थी!!

यह चिन्तन का विषय हो सकता है कि भारत में वाणी के प्रति इस अद्भुत लगन का रहस्य क्या है? किसने दी इतनी निष्ठा, कहाँ से आया इतना धीरज कि

1. How were these poems composed.... and how, after having been composed, were they handed down from 1500 B.C. to 1500 A.C. .. *Entirely by memory*... And yet is a fact that can easily be ascertained by anybody who doubts it- at the present moment, if every MS. of the R.V. were lost, we should be able to recover the whole of it- from the memory of the 'Shrotriyas' of India.

-Max Muller; India : What can it teach us, Page 181

असंख्य लोग इस वाणी के प्रति सम्मोहित होकर पूरी जिन्दगी बिता दें! वाणी में कैसे भरी गई इतनी ऊर्जा, कि वह हिमालय जैसे शिखरों को पार कर जाय!! सचमुच, दर्शन के विविध सम्प्रदायों द्वारा प्रवर्तित ध्वनि के विभिन्न सिद्धान्तों में इनका रहस्य छिपा प्रतीत होता है। इन सिद्धान्तों ने लोगों में अद्भुत निष्ठा तथा लगन की भावना भर दी। साथ ही यह भी सच है कि इस भावना से ही इन सिद्धान्तों की सुस्थापना हो पाई। इस प्रकार यह प्रभाव अन्योन्य है। जैसे मीमांसकों ने माना कि शब्द नित्य है। सामान्य उच्चारण के द्वारा वह नित्य वेद-वाणी अभिव्यक्त होती है तथा उस उच्चारण के विलुप्त होते ही छिप जाती है। वेदान्त ने भी माना कि सृष्टि के आविर्भाव से लेकर प्रलय पर्यन्त वेदवाणी नित्य रूप से वर्तमान रहती है। अब यदि समस्त भौतिक नश्वर वस्तुओं के बीच वेद-वाणी नित्य है तो उसे प्रकाशित या अभिव्यक्त बनाए रखने के लिये सदा वेद- ध्वनि का प्रबन्ध क्यों न किया जाय। इस प्रकार के अटूट विश्वास से ही वेद-ध्वनि को सदा प्रवर्तित रखना सम्भव हो पाया है।

अगले परिच्छेदों में विज्ञान की पद्धति से ध्वनि के विविध सिद्धान्तों की विवेचना की गई है। इस क्रम में कुछ मान्यताएँ विज्ञान के समतुल्य तथा कुछ इनसे विपरीत भी हो सकती हैं। पर इनसे इनका महत्त्व जरा भी कम नहीं होता। क्योंकि विज्ञान अपनी सीमाओं के अन्तर्गत ही पदार्थों के गुण धर्म की समीक्षा करता है। विज्ञान केवल यह कह सकता है कि उसके उपकरणों से सामान्य ध्वनि से भिन्न कोई मीमांसाप्रोक्त नित्य शब्द उपलब्ध नहीं होता। अब यदि कोई अन्य उपाय से इसकी उपलब्धि करता है, तो इसके लिये उसे छूट है। विज्ञान अपने उपकरणों से यह भी तो नहीं जान सकता कि शब्द के साथ मनुष्य की आत्मिक अद्भुत निष्ठा का क्या सहसम्बन्ध है।

इन सभी सीमाओं को ध्यान में रखते हुए तथा दर्शन – सिद्धान्तों को पूरी बहुमूल्यता प्रदान करते हुए अगले परिच्छेदों का उपक्रम किया गया है।।

---

२. शब्द सभी महाभूतों में निवास करता है।

– वेदान्त

वेदान्त शास्त्र में आकाश आदि महाभूत तथा उनके शब्द आदि गुणों की उत्पत्ति को श्रुति प्रमाण के आधार पर बड़े ही मनोहारी क्रम से निरूपित किया जाता है। उनके अनुसार ईश्वर के ईक्षण तथा संकल्प से सर्वप्रथम सबसे सूक्ष्म आकाश उत्पन्न होता है। उससे स्थूल से स्थूलतर – क्रमशः वायु, उससे अग्नि, उससे जल तथा उससे भी सबसे स्थूल पृथिवी उत्पन्न होती है। इनमें सर्व–प्रथम उत्पन्न आकाश में केवल एक शब्द गुण : वायु में दो – शब्द, स्पर्श : अग्नि में तीन– शब्द, स्पर्श, रूप : जल में चार– शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा पृथिवी में सर्वाधिक पाँच – शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध गुण निवास करते हैं[1]।

इस विवरण से स्पष्ट है कि जो एक मात्र शब्द गुण सबसे पहले उत्पन्न होता है, वह पाँचों महाभूतों में निवास करता है। उसके बाद उत्पन्न होने वाला स्पर्श केवल चार में, पश्चात् उत्पन्न रूप केवल तीन में, पश्चात् उत्पन्न रस केवल दो में तथा सबसे अन्त में उत्पन्न होने वाला गन्ध गुण केवल पृथिवी नामक महाभूत में निवास करता है।

न्याय शास्त्र के अनुसार वायु आदि में स्पर्श आदि गुण ऊपर कहे अनुसार यथावत् मान्य हैं। पर शब्द केवल आकाश में ही रहता है। अन्य किसी महाभूत में नहीं। पर वेदान्त के अनुसार शब्द आकाश के अलावा अन्य सभी महाभूतों में उपलब्ध होने से सर्वत्र वर्तमान होता है। जैसे वायु में बी–सी, अग्नि में भुग् भुग् जल में बुल् बुल् तथा पृथिवी में कडकडा आवाज होती हैं[2]। इस प्रतीति का कभी बाध नहीं होता। अतः इसे भ्रम भी नहीं कहा जा सकता है[3]।

---

१. तत्राकाशस्य शब्दो गुणः, वायोस्तु शब्दस्पर्शौ, तेजसस्तु शब्दस्पर्शरूपाणि, अपां तु शब्दस्पर्शरूपरसाः, पृथिव्यास्तु शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः।
– वेदान्तपरिभाषा, विषय–परिच्छेद, पृ० ३१०

२. प्रतिध्वनिर्वियच्छब्दो वायौ बीसीति शब्दनम्।
अनुष्णाशीतसंस्पर्शो, वह्नौ भुगु भुगु ध्वनिः।। – पञ्चदशी २.३

३. न च शब्दस्याकाशमात्रगुणत्वम्। वाय्वादावपि तदुपलम्भात्। न चासौ भ्रमः, बाधकाभावात्।
– वेदान्तपरिभाषा, विषय–परिच्छेद पृ. ३१२

इस प्रकार वेदान्त मत में घण्टा में उत्पन्न शब्द घण्टा में ही निवास करता है। श्रोत्रेन्द्रिय से प्रत्यक्ष के समय यह शब्द कानों तक नहीं जाता। अपितु श्रोत्रेन्द्रिय ही घण्टा में अवस्थित शब्द के पास जाकर इस शब्द का प्रत्यक्ष करती है। जिस प्रकार आँखों से प्रत्यक्ष के समय आँखों से निकली किरणें विषय देश तक जाती हैं। उसी प्रकार सुनते समय भी परिच्छिन्न श्रोत्रेन्द्रिय घण्टा – शब्द तक पहुँच जाती है। पंचीकरण के पश्चात् श्रोत्रेन्द्रिय के आकाश में तैजस अंश की प्रधानता होती है। अतः वह उसके बल से घण्टा–देश में, जहाँ तेजोंऽश कम है, वहाँ पहुँच जाता है। तैजस अन्तःकरण भी निकल कर विषय–देश में तदाकार वृत्ति बना लेता है। इस प्रकार भेरी–देश में ही शब्द का प्रत्यक्ष होने से 'मैंने भेरी–शब्द को सुना' यह सही प्रतीति होती है[1]।

ये ककार आदि अक्षर सृष्टि के प्रारम्भ से प्रलय पर्यन्त आकाश में नित्य रूप से वर्तमान रहते हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि वेदान्त में आकाश की भी उत्पत्ति होती है तथा प्रलय में उसका विनाश होता है। अतः उस समय उसका विनाश होने पर अक्षरों का भी विनाश हो जाता है। पर समूचे सृष्टि काल में वे नित्य एक रस बने रहते हैं। मनुष्य द्वारा ककार आदि अक्षर के उच्चारण से वह नित्य अक्षर अभिव्यक्त होता है तथा उस ध्वनि के विलुप्त होते ही वह छिप जाता है[2]। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे टार्च के प्रकाश से पिण्ड प्रकाशित होता तथा प्रकाश के अभाव में छिपता है।

इसी प्रकार वेद भी सम्पूर्ण सृष्टि में एकरस नित्य बना रहता है। अतएव इसे नित्य कहा गया है[3]। क्योंकि यह सामान्य ध्वनि के समान क्षणिक नहीं है। इसीलिये 'सभी एक ही वेद को पढ़ते हैं' यह सही प्रतीति होती है। पर प्रलय के अन्त में आकाश के भी नष्ट होने पर वेद भी नष्ट हो जाता है। इस प्रकार अन्य सभी पदार्थों की अपेक्षा अधिक स्थायी होने से वह नित्य है। पर अन्ततः वह भी

---

१. चक्षुःश्रोत्रे तु स्वत एव विषय–देशं गत्वा स्वस्वविषयं गृह्णीतः।श्रोत्रस्यापि चक्षुरादिवत् परिच्छिन्नतया भेर्यादिदेशगमनसम्भवात्। अत एवानुभवो 'भेरी–शब्दो मया श्रुत' इति।
– वेदान्त परिभाषा, प्रत्यक्षपरिच्छेद पृ. १३१

२. गकारादिवर्णानामपि न क्षणिकत्वम्। ......अनुच्चारणदशायां वर्णानामनभिव्यक्तिस्तदुच्चारण–रूपव्यंजकाभावान्न विरुध्यते। – वेदान्तपरिभाषा, आगमपरिच्छेद पृ. २४१

३. अत एव च नित्यत्वम्। – ब्रह्म–सूत्र १.३.२६

अनित्य है। इसकी उत्पत्ति आदि होना श्रुति से प्रमाणित है[1]।

शब्द पाँचों तन्मात्राओं में निवास करता है (सांख्य)– सांख्य शास्त्र के अनुसार शब्दतन्मात्र से आकाश की उत्पत्ति होती है। अतः आकाश में स्पष्टतः शब्द–गुण रहता है। साथ ही स्पर्शतन्मात्र से दो गुणों वाली वायु, रूपतन्मात्र से तीन गुणों वाला तेज, रसतन्मात्र से चार गुणों वाला जल तथा गन्धतन्मात्र से पाँच गुणों वाली पृथिवी उत्पन्न होती है[2]। इस पद्धति से भी आकाश आदि में वे ही गुण रहते हैं, जो वेदान्त में बताए जाते हैं। इस प्रकार सांख्य में भी शब्द नामक गुण सभी महाभूतों में निवास करता है।

इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए न्याय वात्स्यायन भाष्य में शब्द के सम्बन्ध में सांख्य सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की गई है कि उनके मत में शब्द गुण गन्ध आदि धर्मों के साथ २ एक ही द्रव्य में निवास करता है। अर्थात् जैसे पृथिवी में गन्ध रहता है, ठीक उसी अधिकरण में गन्ध के साथ २ शब्द भी रहता है। इससे स्पष्ट है कि यहाँ भी घण्टा–देश में ही शब्द का भी निवास मान्य है। साथ ही यहाँ भी वेदान्त सिद्धान्त के समान इसे अभिव्यंग्य बताया गया है[3]।

पर कानों से शब्द के प्रत्यक्ष के विषय में यहाँ वेदान्त से मतभेद है। सांख्य सिद्धान्त में यह प्रत्यक्ष उसी प्रकार होता है, जैसे नाक से फूल की गन्ध का प्रत्यक्ष होता है। हम जानते हैं कि इस समय फूल के गन्ध वाले अनेक सूक्ष्म अणु वहाँ से उड़ कर नाक तक पहुँचते हैं। ठीक इसी प्रकार घण्टा के अणुओं में गन्ध के साथ २ शब्द नामक गुण उत्पन्न होकर वे अणु उड़ कर कान तक पहुँचते हैं। तभी कान से उसके शब्द का ग्रहण होता है[4]। जिस प्रकार चिनगारी में तैज के अणु किसी विशेष रूप को लेकर उड़ते हैं। कुछ देर में उनका वह रूप अनुद्भूत हो जाता है। इसी प्रकार घण्टा से उड़े हुए अणुओं का शब्द गुण भी अगले क्षण तिरोभूत हो जाता है। तभी घण्टा की आवाज सुनाई पड़ना बन्द हो जाता है।

---

१. अस्माकं तु मते वेदो न नित्य उत्पत्तिमत्त्वात्। उत्पत्तिमत्त्वं च 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदः (बृ.३.२.४.१०) इत्यादिश्रुतेः। – वेदान्तपरिभाषा, आगमपरिच्छेद पृ.२३६

२. द्रष्टव्य– तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः।
– सांख्यकारिका श्लोक ३८ तथा तत्त्वकौमुदी आदि।

३. गन्धादि–सहवृत्तिर्द्रव्येषु सन्निविष्टो गन्धादिवदवस्थितोऽभिव्यक्तिधर्मक इत्यपरे।
– न्यायसूत्र २.२.१३ पर वात्स्यायन भाष्य।

४. न च घण्टादिपदार्थस्थस्य शब्दस्य सन्तानासम्भवेन ग्रहणासम्भवः, दूरस्थपुष्पनिष्ठगन्धस्येव ग्रहणसम्भवात्। –न्यायसूत्र २.२.३८ पर प्रसन्नपदा टीका।

शब्द, शब्द–परमाणु में रहता है (शिक्षाशास्त्र)– कुछ शिक्षाशास्त्र के विद्वान् इस सांख्य–सिद्धान्त का आश्रय लेते हुए मानते हैं कि शब्द –परमाणु ही स्थूल शब्द में परिणत हो जाता है। उनके मतानुसार सांख्य के शब्दतन्मात्र का आशय शब्द–परमाणु ही है[1]। सांख्य में शब्दतन्मात्र से आकाश का आविर्भाव माना है। उसका तात्पर्य यही कि शब्द के परमाणु से स्थूल, श्रवणयोग्य शब्दकण आविर्भूत होते हैं। जिस प्रकार स्पर्शतन्मात्र से स्थूल स्पर्शयोग्य वायु आविर्भूत होती है। ठीक ऐसी ही स्थिति शब्द के सन्दर्भ में भी है।

इस प्रकार बोलते समय अन्दर से निकलने वाली प्राणवायु तालु आदि के अभिघात के माध्यम से इन शब्द–कणों को इकट्ठा कर लेती है। तभी उस शब्द का प्रत्यक्ष होने लगता है। यह ठीक वैसे ही है जैसे चारों ओर बहती हवा धुआँ को या बादल को इकट्ठा कर लेती है, तभी वे बादल दीखने लगते हैं तथा बरसने लगते हैं। ठीक इसी प्रकार प्राणवायु के द्वारा इन शब्दकणों को इकट्ठा करने पर ये सुनाई पड़ने लगते हैं[2]।

शब्द चार पुद्गलों में निवास करता है (जैन दर्शन)– इस दर्शन के अनुसार शब्द 'पुद्गल' नामक द्रव्य का पर्याय अथवा अवस्था–विशेष होता है। स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण अथवा रूप इन गुणों वाले पदार्थों को पुद्गल कहा जाता है। इस प्रकार वायु, जल, पृथिवीं, अग्नि ये पुद्गल हैं। इनमें जो अतिसूक्ष्म हैं, जिनका प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता, उन्हें अणु तथा स्थूल वायु आदि को स्कन्ध कहा जाता है[3]।

शब्द इन्हीं पुद्गलों का पर्याय है, क्योंकि वह रूप आदि के समान इन्द्रियों का विषय है। जो२ इन्द्रियों के विषय हैं, वे अवश्य ही पौद्गलिक होते हैं[4]। पर्याय विविध अवस्थाओं को कहते हैं। ये अवस्थाएं उत्पन्न और नष्ट होती रहती हैं।

---

१. सांख्यशास्त्रे ये तन्मात्रपदेनोच्यन्ते तेऽत्र पञ्च परमाणु–पदेनाभिप्रेताः।
—वाक्यपदीय श्लोक १११ पर अम्बाकर्त्री।

२. स्वशक्तौ व्यज्यमानायां प्रयत्नेन समीरिताः।
अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्याः परमाणवः। — वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड श्लोक १११
तद्यथा–धूमावयवा वायुना प्रेर्य संहतिमुपनीयन्ते तथा प्राणवातेन शब्दावयवा ध्वनिपरमाणवः सम्प्रेर्यमाणा स्थानेष्वभिघातेन घनीक्रियन्ते – श्लोक ११५ पर अम्बाकर्त्री व्याख्या पृ. १६१। श्लोक ११६ तथा उसकी टीका भी द्रष्टव्य।

३. स्पर्शरसगन्धिवर्णवन्तः पुद्गलाः। (तत्वार्थाधिगम सूत्र ५/२४)। ते च द्विविधा अणवः स्कन्धाश्च। भोक्तुमशक्या अणवः। द्वयणुकादयः स्कन्धाः। (सर्वदर्शन–संग्रह, आर्हत–दर्शनम् पृ०१५३)

४. पौद्गलिकः शब्दः, इन्द्रियार्थत्वात्–रूपादिवत्।स्याद्वादमञ्जरी पृ० १२६ श्लोक १४ पर अन्ययोग–व्यवच्छेद टीका।

जिस प्रकार कुम्हार के द्वारा मिट्टी अनेक पर्यायों को धारण करती है। इसी प्रकार वायु, जल आदि भी शब्द नामक विशेष अवस्था को धारण करते हैं तथा वह अवस्था अगले क्षण विलुप्त भी हो जाती है।

पुद्गल में सदा किसी न किसी रूप में बने रहने वाले गुण हैं तथा उत्पन्न नष्ट होने वाले पर्याय हैं। इस प्रकार वायु, जल आदि में स्पर्श, रस आदि गुण हैं तथा उनमें ही अवस्थित शब्द–पर्याय भी हैं। यह पर्याय जब तक रहता है तब तक उन गुणों के साथ उनके ही आधार में निवास करता है। इसं प्रकार तेज चलने वाली हवा में स्पर्श तथा उसमें ही बी–सी जैसा शब्द–पर्याय भी रहता है। घण्टा के बजने पर उसमें भी स्पर्श तथा टन् टन् जैसा शब्द–पर्याय रहता है। कानों से इसका शब्द सुनाई पड़ते समय घण्टे के शब्द–पर्याय वाले पुद्गल–अणु वायु में मिश्रित हो जाते हैं। इस प्रकार वायु में स्पर्श गुण तथा शब्द–पर्याय दोनों के एक साथ रहने के कारण ही हमें अनुकूल वायु होने पर उसका स्पर्श तथा दूर का शब्द भी सुनाई पड़ जाता है। पर प्रतिकूल वायु की दशा में उसका स्पर्श तथा निकट का शब्द भी सुनाई नहीं पड़ता। इससे सिद्ध है कि उस समय स्पर्श गुण वाली वायु तथा उसमें मिश्रित घण्टा के शब्द–पर्याय वाले पुद्गल अणु हमारे पास पहुँचते हैं। जिस प्रकार वातावरण में शीतल स्पर्श तथा सुगन्ध से उस स्पर्श वाली वायु तथा उसमें ही मिश्रित फ़ूल के गन्ध वाले पुद्गल अणु का परिज्ञान होता है, उसी प्रकार यहाँ भी वैसी वायु तथा उसमें ही मिश्रित शब्द–पर्याय वाले घण्टा–अणु को जान सकते हैं। जैन दर्शन में जो पुद्गल शब्द की अवस्था को धारण करते हैं, उन्हें भाषा–वर्गणा कहते हैं। इस भाषा–वर्गणा में जिस प्रकार स्पर्श आदि गुण आश्रय पाते हैं, वैसे ही शब्द–पर्याय भी वहीं अवस्थित होते हैं[1]।

जैन दर्शन में आकाश अलग द्रव्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। वह व्यापक होने तथा भाव–पदार्थ होने से अस्तिकाय है[2]। वह सभी पदार्थों को प्रवेश

---

१. शब्दपर्यायस्याश्रयो भाषा–वर्गणा, न पुनराकाशम्। तत्र (भाषा–वर्गणायां) च स्पर्शो निर्णीयत एव। यथा शब्दाश्रयः स्पर्शवान्। अनुवाप्रतिवातयोर्विप्रकृष्ट–निकटशरीरिणोपलभ्यमानानुपलभ्य–मानेन्द्रियार्थत्वात्। तथाविध–गन्धाधारद्रव्यपरमाणुवत्।

–स्याद्वादमञ्जरी श्लोक १४ पर अन्ययोगव्यवच्छेद टीका पृ. १२६.१२७

२. धर्माधर्माकाशपुद्गलकालजीवलक्षणं द्रव्यषट्कम्। –स्याद्वादमञ्जरी पृ.२०४ । यहाँ छह प्रकार के द्रव्यों की गणना में आकाश तथा उससे भिन्न पुद्गल को स्वीकार किया गया है।

अथवा अवकाश प्रदान करता है[1]। इस प्रकार आकाश की सम्पूर्ण चरितार्थता घण्टा को अवकाश प्रदान करने में निहित है। पर इसमें विभिन्न शब्द उत्पन्न होना घण्टा के विभिन्न शब्द–पर्यायों का परिणाम है। अतः शब्द पुद्‌गल के शब्द–पर्यायों के रूप में मान्य है, आकाश के किसी गुण या पर्याय के रूप में नहीं। रूप आदि के समान जो गुण हमारे प्रत्यक्ष में आते हैं, वे कभी आकाश के गुण नहीं होते। इसलिये भी शब्द आकाश का गुण नहीं है[2]।

---

१. अन्यवस्तुप्रदेशमध्येऽन्यस्य वस्तुनः प्रवेशोऽवगाहः। तदाकाशकृत्यम्।
—सर्वदर्शनसंग्रह, आर्हतदर्शन, पृ. १५२.

२. न गगनगुणः शब्दः, अस्मदादिप्रत्यक्षत्वात्, रूपादिवत्। —स्याद्वादमञ्जरी पृ. १२७

३. शब्द वायु का परिणाम है।

—शिक्षा शास्त्र

शिक्षा शास्त्र में शब्द विषयक यह सम्मानित मत प्राचीन काल से प्रचलित है। इसके अनुसार वायु कुछ विशेष दशाओं में शब्द आकार में परिणत हो जाती है। दर्शन शास्त्र में 'परिणाम' शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में किया जाता है। इस प्रक्रिया में कोई वस्तु तत्त्वतः अन्य आकार या अवस्था को धारण करती है। ऐसा होने पर इसे अन्य नाम से पुकारा जाने लगता है। जैसे दूध का दही बनना उसका परिणाम है। इसी प्रकार यहाँ माना गया कि वायु ही शब्द की एक विशेष दशा में बदल जाती है तथा तत्काल पुनः वह वायु दशा में आ जाती है।

इस विषय में शिक्षा का एक प्रसिद्ध श्लोक यह है कि आकाश तथा वायु के प्रभाव से नाद नामक वायु शरीर से मुख तक आती है। यही मुख के विभिन्न स्थानों में विभक्त होकर वर्ण के रूप में बदल जाती है। इसे ही शब्द कहते हैं।[1]।

इसकी व्याख्या करते हुए वाक्यपदीय का एक प्रसिद्ध श्लोक इस प्रकार है—

लब्धक्रियः प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्तिना।

स्थानेष्वभिहतो वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते।।

—वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, श्लोक १०८

इसका अर्थ यह है कि वक्ता की इच्छा के अनुरूप प्रयत्न के द्वारा अन्दर की सक्रिय वायु इकट्ठी होकर ऊपर की ओर भागती है। यह कण्ठ, तालु आदि स्थानों से टकरा कर 'अभिघात' नामक संयोग करती है। इस प्रक्रिया में यह वायु शब्द रूप में बदल जाती है।

यहाँ टीकाकारों ने उदाहरण देते हुए कहा है कि मेघ का जल प्रतिकूल

---

१. आकाशवायुप्रभवः शरीरात् समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः।
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः।। —वर्णोच्चारणशिक्षा।

२. मेघस्थमुदकं प्रतिकूलवातसहकृतेन तादृशेनोदकान्तरेणाभिहतं विद्युद्रूपतया परिणमति। अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मणः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम्। तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति। तत्रापि शब्दाकारः परिणामस्तु वज्रनिर्घोषाख्यो वायोरेव न जलस्य। तदुक्तमग्निपुराणे— यदाऽन्तरिक्षे बलवान् मारुतो मरुता हतः। जांयते तत्र निर्घोषो बलवान् वायुसम्भवः।
— उक्त वाक्यपदीय श्लोक पर अम्बाकर्त्री टीका, पृ०१८७

वायु के द्वारा अन्य जलौघ से टकरा कर विद्युत् रूप में बदल जाता है तथा यहाँ की भीषण वायु मेघगर्जन रूपी शब्दाकार में परिणत होती है[२]। इस प्रकार ये दोनों अलग २ उपादान कारणों के परिणाम हैं। जल का विद्युत् रूप में तथा वायु का शब्दरूप में परिणाम होता है। विपरीत नहीं हो सकता। क्योंकि दर्शनशास्त्र में विद्युत् का कारण जल को ही तथा शिक्षाशास्त्र आदि में शब्द का कारण वायु को ही बताया गया है[१]।

यही स्थिति मुख से बोले जाने वाले शब्दों की भी है। यहाँ भी अन्दर की वायु वेग से आकर मुख के विभिन्न स्थानों से टकराती है। इस समय यदि कण्ठ पूरी तरह खुला हुआ हो तो यह 'श्वास' नामक शब्दाकार को धारण करती है। पर कण्ठ के संकोच होने पर यह वायु 'नाद' नामक शब्दाकार में परिणत होती है[२]। श्वास तथा नाद को क्रमशः अघोष तथा घोष भी कहा जा सकता है। व्यंजनों में वर्ग के प्रथम अक्षर क, च आदि अघोष हैं तथा तृतीय अक्षर ग, ज आदि सघोष हैं। सघोष अक्षर में एक ही अक्षर का अनुरणन अथवा झंकार होता है। पर अघोष अक्षर के उच्चारण में कण्ठ के खुला होने के कारण यह अनुरणन नहीं हो पाता। इसलिये इन्हें उचित ही अघोष नाम दिया गया है। इस समय सघोष की अपेक्षा इन अक्षरों का शब्दाकार में परिणाम कम तथा वायुरूप में इनकी उपस्थिति अधिक होती है। यह स्थिति वैसी ही है जैसे दूध अपने परिणाम की प्रक्रिया में कठोर दही की अपेक्षा कम जमा हो। यहाँ भी वायु का शब्द रूप में कम परिणाम तथा इस प्रकार वायु रूप में अधिक उपस्थिति होने से इन अक्षरों को 'श्वास' नाम दिया गया है।

मीमांसकों द्वारा इस सिद्धान्त का खण्डन— अनेक दर्शन सम्प्रदाय इस

---

१. विज्ञान के अनुसार, भाप, वायु और धूल के कणों से निर्मित बादल आपस में टकराने से आवेशित हो जाते हैं। ऐसे में ऋण आवेश अन्य स्थान में वर्तमान विपरीत आवेश के प्रति आकर्षित होकर अतितीव्र गति से जाकर उससे मिलता है। आवेश के इस प्रवाह से बिजली की चमक के रूप में प्रकाश ऊर्जा मुक्त होती है। इस भयंकर प्रवाह के समय रास्ते में आने वाली हवा क्षण भर में हजारों अंश गर्म होकर बहुत तेजी से फैलती है। इस प्रक्रिया में बिजली की चमक केवल सेकेण्ड के कुछ सहस्रांश ही जीवित रहती हैं। इतने कम समय में भी यह रास्ते के वायु के ताप को बढ़ाते हुए इनके अणुओं में इतना जबर्दस्त प्रकम्पन उत्पन्न करती है कि यह भयंकर ध्वनि उत्पन्न कर सके। स्पष्टतः दर्शन तथा शिक्षाशास्त्र का उपरिलिखित विवरण विज्ञान की अवधारणा के समतुल्य है।

२. सोऽनुप्रदानरूपेण परिणतो वायुः कण्ठगतो विवृते कण्ठे श्वासरूपतां, संवृते कण्ठे नादतां च प्रतिपद्यते। — वाक्यपदीय श्लोक ११५ पर अम्बाकर्त्री व्याख्या।

सिद्धान्त का विस्तार से खण्डन करते हैं। जैसे मीमांसकों का कहना है कि अगर शब्द वायु का परिणाम होता तो शब्द के साथ२ उसके कारण की भी प्रत्यक्ष उपलब्धि होती। अन्य सभी जगह ऐसा ही होता है। जैसे पट का चक्षु से प्रत्यक्ष होने पर उसके कारण तन्तु का भी अवश्य ही उसी समय प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार यहाँ भी शब्द के वायुकारणक होने की दशा में शब्द प्रत्यक्ष के समय उनके वायवीय अवयवों का भी प्रत्यक्ष होना चाहिये। ऐसा न होने से इस शब्द को वायु से उत्पन्न नहीं माना जा सकता[1]।

इस प्रकार यहाँ शिक्षा शास्त्र द्वारा प्रवर्तित केवल वायु की 'शब्द–द्रव्य' की उपादान–कारणता के सिद्धान्त का खण्डन किया गया है। अन्य सभी विवरण आज भी सबको सर्वथा स्वीकार्य हैं। शिक्षा शास्त्र के ही अन्य सम्प्रदाय में वायु के निमित्त कारण होने की भी स्थापना की गई है। यह स्थापना अत्यन्त वैज्ञानिक है। इसका विस्तृत विवरण इस ग्रन्थ के चौदहवें परिच्छेद में प्रस्तुत किया गया है।

---

१. वायवीयश्चेच्छब्दो भवेत् वायोः संनिवेशविशेषः स्यात्। न च वायवीयानवयवान् शब्दे सतः प्रत्यभिजानीमो यथा पटस्य तन्तुमयान्। —मीमांसा दर्शन १.१.२२ पर शाबर भाष्य।

४. शब्द आकाश में अवस्थित विभु, नित्य गुण है।

—मीमांसा

शब्द के सम्बन्ध में एक अन्य प्रमुख मत मीमांसकों का है। यह बहुत प्राचीन समय से प्रचलित है तथा अनेक मतभेद होने पर भी इसे दर्शन– जगत् में अत्यन्त सम्मानित स्थान प्राप्त है। इसकी मौलिक विशेषताओं को न्याय वात्स्यायन भाष्य में इस प्रकार निरूपित किया गया है–

आकाश–गुणः शब्दो विभुर्नित्योऽभिव्यक्तिधर्मकः।

—न्याय सूत्र २.२.१२ पर वा. भाष्य

अर्थात् प्रभाकर मीमांसकों के मत में शब्द आकाश का गुण होता है। साथ ही वह विभु, नित्य तथा अनेक उपायों से अभिव्यक्त या प्रकाशित होने का गुण रखता है। इस क्रम से इसकी विस्तृत व्याख्या इस प्रकार है–

१. शब्द आकाश का गुण होता है– यह अभिमत न्याय तथा प्रभाकर मीमांसकों में समान रूप से मान्य है। यद्यपि भट्ट मीमांसक आकाश के अलावा शब्द को अलग द्रव्य के रूप में स्वीकार करते हैं। पर प्रभाकर मीमांसकों के अनुसार आकाश नामक द्रव्य में शब्द नामक गुण रहता है।

यह गुण सर्वव्यापक आकाश में सर्वत्र एक रूप से सदा अवस्थित है। यहाँ नैयायिकों से मतभेद है। न्याय में शब्द को अव्याप्यवृत्ति अर्थात् आकाश के एक छोटे से देश में अवस्थित माना जाता है। वह क्षणिक होने से शीघ्र ही उस देश से विलुप्त भी हो जाता है। उनके अनुसार आकाश तथा आत्मा के गुण इसी प्रकार के हुआ करते हैं[१]।

पर मीमांसकों के अनुसार एक विभु आकाश में रहने वाला गुण एक ही हो सकता है, अनेक कदापि नहीं। यदि शब्द एक न हो तो आकाश भी मूलतः एक न रह सकेगा।

यह सच है कि उपाधि के धर्म उपधेय से भिन्न होते हैं। जैसे घटाकाश में आकाश की उपाधि घट सर्वव्यापक नहीं है। पर यहाँ शब्द आकाश की उपाधि

---

१. अथाकाशशरीरिणाम्। अव्याप्यवृत्तिः क्षणिको विशेषगुण इष्यते।

—कारिकावली, प्रत्यक्षखण्ड श्लोक २७

नहीं है, अपितु उसका विशेष गुण है, उसकी पहचान है। अतः जैसे आकाश एक है वैसे ही शब्द को भी एक मानना होगा। साथ ही एक तथा भागरहित आकाश में दो विशेषताएँ रह भी नहीं सकती। क्योंकि तब तो उसकी एकता में ही व्याघात होगा। इसलिये भी आकाश में अवस्थित शब्द एक ही सिद्ध होता है[1]।

२. शब्द विभु या सर्वव्यापक होता है– उपरिलिखित तर्क के अनुसार आकाश के विभु होने से शब्द भी विभु है। किसी भी विशेष गुण की व्यापकता या उसका छोटा, बड़ापन उसके द्रव्य से नियन्त्रित होता है। अग्नि का उष्ण गुण उतना ही व्यापक होता है, जितना अग्नि। ये विशेष गुण उस द्रव्य की इस व्यापकता का अतिक्रमण नहीं कर सकते। क्योंकि ये ही इस द्रव्य की पहचान होते हैं। इस प्रकार आकाश के गुण शब्द को उतना व्यापक मानना होगा, जितना आकाश है। इससे सिद्ध है कि शब्द भी विभु है।

३. शब्द नित्य होता है– शब्द के विभु होने पर उसका नित्य होना स्वयं सिद्ध है। क्योंकि प्रत्येक विभु पदार्थ अनिवार्य रूप से नित्य होते हैं। इस प्रकार हजार वर्ष पहले या इस समय बोला गया 'क' अक्षर तथा भारत में अथवा जापान में बोला गया यह अक्षर उत्पन्न नष्ट न होने से नित्य तथा इस प्रकार एक होने से वही है। न्याय के विद्वान् तथा सामान्य लोग भी यह सोचते हैं कि यह 'वही' नहीं, अपितु 'उस तरह' का है[2]। सामान्य जीवन में 'वही' तथा 'उस तरह' में बहुत घालमेल देखा गया है। लोग तो शाम को जलाई गई दीपकलिका को सबेरे उठने पर भी 'वही' कह देते हैं। मीमांसा का कहना है कि इसी घालमेल के परिणाम स्वरूप इस अक्षर को 'उस तरह' का बताया जाता है, पर वस्तुतः वह 'वही' है।

मीमांसा के इस सिद्धान्त पर अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं। जैसे एक प्रमुख प्रश्न यह है कि शब्द नित्य होने की दशा में वह हर समय सुनाई क्यों नहीं पड़ता अथवा उसे श्रवणयोग्य बनाने के लिये मुख के प्रयत्न के द्वारा बोलने की अपेक्षा क्यों होती है। इसका उत्तर शब्द की अगली विशेषता के द्वारा दिया गया है–

---

१. आकाशदेशश्च शब्दः। एकं च पुनराकाशम्। अतोऽपि न नानादेशेषु (शब्दः)
–मीमांसा सूत्र १.१.१५ पर शाबर भाष्य।
तुलनीय– श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः। एकं च पुनराकाशम्।
–अष्टाध्यायी अइउण् सूत्र पर महाभाष्य।

२. सोऽयं क इति बुद्धिस्तु साजात्यमवलम्बते। –कारिकावली श्लोक १६७

४. शब्द मुख आदि के प्रयत्न से अभिव्यक्त या प्रकाशित होता है– शब्द नित्य अर्थात् सर्वदा वर्तमान रहने पर भी वायु आदि द्वारा अप्रकट या छिपा हुआ रहता है। अतः जिस प्रकार अंधेरे में छिपे हुए पिण्ड को प्रकाश द्वारा अभिव्यक्त करते हैं, उसी प्रकार मुख में तालु आदि के संयोग विभाग द्वारा वायु में वैसा ही संयोग विभाग उत्पन्न करके उस छिपे हुए शब्द को प्रकट कर दिया जाता है। जिस प्रकार प्रदीप से प्रकाशित पिण्ड को हम प्रदीप से उत्पन्न नहीं, अपितु केवल अभिव्यक्त मानते हैं, उसी प्रकार वायु के संयोग विभाग से शब्द कोई नया उत्पन्न नहीं होता, अपितु वह केवल प्रकाशित भर होता है तथा अगले ही क्षण उस संयोग, विभाग के बन्द होने पर पुनः छिप जाता है। इस दृष्टि से मीमांसा में यह मान्य है कि स्थिर वायु सदा नित्य शब्द को आवृत किये रहती है। पर कानों से परिसीमित आकाश में वायु के संयोग, विभाग द्वारा झिलमिल होने पर वह शब्द, सुनाई पड़ने लगता है। पुनः तत्काल वहीं छिप जाता है[1]!!

मीमांसा के इस सिद्धान्त में अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं। ऊपर उदाहरण में कहा गया कि अभिव्यंजक प्रकाश द्वारा पिण्ड की उपलब्धि होती है। इस समय हम प्रकाश तथा पिण्ड दोनों की उपलब्धि करते हैं। पर यहाँ आपके द्वारा मान्य अभिव्यंजक वायु के संयोग–विभाग का प्रत्यक्ष तो होता ही नहीं। पुनः इसके द्वारा ध्वनि का प्रत्यक्ष किस प्रकार हो सकता है[2]। इसके उत्तर में यह कह सकते हैं कि उस उदाहरण में आवरक अंधेरा उपलब्ध होने से आवरकाभाव प्रकाश की उपलब्धि आवश्यक होती है। पर यहाँ आवरक वायु के उपलब्ध न होने से अभिव्यंजक संयोग विभाग के प्रत्यक्ष न होने पर भी उसके द्वारा ध्वनि की उपलब्धि हो जाती है[3]।

इस उत्तर के पश्चात् भी मीमांसकों पर प्रश्न उपस्थित होते हैं। जैसे यह देखा गया है कि अनेक लोग 'क' आदि अक्षरों का उच्चारण द्रुत, विलम्बित आदि तार–भेद से, या स्वरों में उदात्त, अनुदात्त आदि मात्रा भेद से अथवा अम्बूकृत

---

१. द्विविधो हि वायुः– स्थिरः अस्थिरश्च। तत्र यः स्थिरः स घनान्धकारवत् शब्दमावृत्यास्ते। तस्य च वक्तृप्रयत्नसमुत्थेन वायुना संयोगविभागा उत्पद्यन्ते।तैश्च संयोगविभागैस्तस्य स्थिरस्य वायोरपनयः क्रियते, स एव च शब्दस्य संस्कारः।

— तत्त्वसंग्रह श्लोक २१६५ पर कमलशील कृत पञ्जिका टीका।

२. कथमगृहीते व्यंजके व्यंग्यस्य ग्रहणं भवति, न ह्यालोकाग्रहणे तद्व्यंग्यस्य घटादेर्ग्रहणं युक्तम्।

— तत्त्वसंग्रह श्लोक २१४६ पर पञ्जिका।

३. तुलनीय–वायवीयाः पुनः संयोगविभागा अप्रत्यक्षस्य वायोः कर्णशष्कुलीप्रदेशे प्रादुर्भवन्तो नोपलभ्यन्त इति नानुपपन्नम्। —मीमांसा सूत्र १.१.१५ पर शाबर भाष्य

आदि दोषों के भेद से अनेक प्रकार से करते हैं। यहाँ मीमांसकों के सिद्धान्त के अनुसार 'क' अक्षर तो नित्य, एक ही है। पुनः यह विविध अभिव्यंजकों के विभेद के कारण अलग२ प्रतीत होता है। जिस प्रकार एक ही पिण्ड अभिव्यंजक लाल, हरा, प्रकाश के भेद से अनेक प्रकार का प्रतीत होता है। इसी प्रकार अभिव्यंजक की विशेषताओं को शब्द में आरोपित करने के कारण शब्द अनेक प्रकार का प्रतीत होता है। पर वस्तुतः वह एक ही है।

इस पर प्रश्न यह है कि अभी आपके कथनानुसार जब अभिव्यंजक का प्रत्यक्ष ही नहीं है तो उसकी विशेषताएँ किस प्रकार अभिव्यंग्य शब्द में आरोपित कर प्रत्यक्ष हो गईं। जल को देखे बिना उसकी महत्ता तरंगों में किस प्रकार आरोपित हो सकती है[1]। प्रकाश को देखे बिना उसके लाल, हरा गुणों का आरोप पिण्ड में किस प्रकार हो सकता है?

इसका उत्तर यह दिया जाता है कि जिस प्रकार पित्त दोष से ग्रस्त व्यक्ति को अभिव्यंजक पित्त देखे बिना ही मीठा तीता लगता है, उसी प्रकार यहाँ भी अभिव्यंजक देखे बिना ही अभिव्यंग्य में आरोपित इसके धर्मों का प्रत्यक्ष हो जाता है[2]।

इस पर एक प्रश्न यह हो सकता है कि किसी द्रव्य के द्वारा किसी अन्य द्रव्य को प्रतिबन्धित करके ही उसके गुणों को रोका जा सकता है। दीवाल आदि द्वारा पुष्पकणों को रोक कर ही उसकी गन्ध को रोका जाता है। पर यहाँ वायु द्वारा आकाश नामक द्रव्य को आवृत किये बिना उसके गुण शब्द को किस प्रकार आवृत किया जा सकता है।

मीमांसा के उत्तर के अनुसार सचमुच यह अपने आपमें अनूठा अभिव्यंजक है। यहाँ वायु की उपस्थिति मात्र से आकाश को आवृत किये बिना ही शब्द को आवृत कर लिया जाता है। साथ ही वायु के संयोग विभाग 'होने' मात्र से अथवा इसके अस्तित्व मात्र से शब्द का अभिव्यंजन हो जाता है[3]। जिस प्रकार अन्य दर्शनों में भी चुम्बक के अस्तित्व मात्र से लोहे में क्रिया हो जाती है, इसी प्रकार 'वह है' इतने मात्र से शब्द का आवरण तथा प्रकाशन सम्पन्न होता है!!

---

१. कथमगृहीत्वा व्यञ्जकस्थं महत्त्वादि शब्दे समारोपयेत्। न ह्यविषयीकृतस्य जलादेर्मरीचिकादावारोपो भवेत्। —तत्त्वसंग्रह श्लोक २१४६ पर पञ्जिका।

२. मधुरं तिक्तरूपेण श्वेतं पीततया यथा।
गृह्णन्ति पित्तदोषेण विषय़ं भ्रान्तचेतसः। — तत्त्वसंग्रह श्लोक २१४६

३. शब्दे बुद्धिस्तु तद्वशात्। — तत्त्वसंग्रह श्लोक २१४८
'नादवशात् तत्सत्तामात्रेणैवेति' यावत्। — प्रस्तुत श्लोक पर पञ्जिका।

इस सिद्धान्त के अनुसार अक्षरों की विभुता पर एक प्रश्न यह है कि यदि किसी समय श्रोता के कान के आकाश में 'क' अक्षर अवस्थित है, तो उसे अगले क्षण 'ख' कैसे सुनाई देगा[1]। वह अक्षर विभु होने के कारण क्रियाशील नहीं हो सकता। अतः वह वहाँ से कभी हट नहीं सकता। तब अन्य अक्षर की अभिव्यक्ति किस प्रकार सम्भव हो सकती है।

इसका उत्तर यह दिया जाता है कि विभु आकाश में सम्पूर्ण विभु अक्षर एक साथ अवस्थित हैं। कान में अलग२ प्रकार के वायु के संयोग–विभाग रूपी झिलमिल से अलग२ अक्षर सुनाई पड़ते हैं। इस प्रकार यह वायु के झिलमिल का कमाल है कि वह भिन्न२ अक्षरों का प्रत्यक्ष कराता रहता है।

इस सिद्धान्त पर एक अन्य प्रश्न इस प्रकार पूछा जा सकता है कि वायु के संयोग, विभाग द्वारा कानों में विभु अक्षर के किसी अवयव का प्रत्यक्ष होता है, या सम्पूर्ण विभु अक्षर का ? प्रथम विकल्प सम्भव नहीं, क्योंकि विभु का कोई अवयव नहीं होता। दूसरा विकल्प मानने पर 'क' अक्षर सुनते समय पूरी दुनियाँ के 'क' अक्षर सुनाई पड़ने लगेंगे[2]।

इसका उत्तर यह है कि उस अक्षर का स्वभाव ही ऐसा है कि एक कान में केवल एक ही अक्षर सुनाई पड़ता है। न्यायशास्त्र के अनुसार भी तो सम्पूर्ण दुनियाँ में रहने वाली गायों में एक गोत्व जाति मानी जाती है। उस जाति का कोई अवयव नहीं होता। फिर भी एक ही गाय को देखकर गोत्व जाति का प्रत्यक्ष मान लिया जाता है। यह जिस प्रकार यहाँ सम्भव है वही प्रक्रिया मीमांसा में 'क' आदि अक्षरों के प्रत्यक्ष के संदर्भ में भी मानी जा सकती है। न्यायशास्त्र का ही एक सिद्धान्त यह है कि यदि दो दर्शन सम्प्रदायों में एक ही प्रकार का दोष आपतित हो तो उसके लिये किसी एक को दोषी नहीं ठहराना चाहिये[3]।

उपरिलिखित प्रश्न को अन्य प्रसंग में अन्य प्रकार से उठाया जाता है। 'सत्वान्तरे च यौगपद्यात् (मीमांसा सूत्र १.१.६) के अन्तर्गत यह पूछा गया है कि एक नित्य शब्द अनेक स्थानों में एक साथ किस प्रकार उपलब्ध हो सकता है[4]। अनेक

१. यत्रैव वक्तृमुखाकाशदेशे श्रोतृश्रोत्राकाशदेशे वा गोशब्द उपलब्धः, तत्रैवाश्वशब्द इदानीमुपलभ्यते। न पुनरतिमुक्तकुसुमे य उपलब्धो गन्धः स बन्धूके मधूके वा कदाचिदुपलभ्यते।

— न्याय मञ्जरी, पृ. २०७

२. तत्र सर्वैः प्रतीयेत शब्दः संस्क्रियते यदि। निर्भागस्य विभोर्न स्यादेकदेशे हि संस्क्रिया।

— तत्त्वसंग्रह, श्लोक २१५६

३. यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे। — तर्कभाषा, अभावनिरूपण के अन्त में।

४. नानादेशेषु च युगपच्छब्दमुपलभामहे। तदेकस्य नित्यस्यानुपपन्नम्।

— मीमांसा सूत्र १.१.६ पर शाबरभाष्य

स्थानों में एक साथ उपलब्ध होने वाली वस्तु सजातीय हो सकती है, सर्वथा एक कदापि नहीं। यदि वह अनवयव रूप से एक साथ सर्वत्र व्याप्त हो तो वह परिच्छिन्न व्यक्ति को सावयव रूप से उपलब्ध नहीं हो सकती।

आदित्यवद् यौगपद्यम् (मीमांसा सूत्र १.१.१५) के शाबर भाष्य में इस प्रश्न का समाधान जिन शब्दों में किया गया है, वह इस प्रकार है—

'अरे देवताओं के प्यारे, मूर्ख! जरा सूरज की तरफ देखो। यह सूर्य एक होकर भी जिस प्रकार एक साथ अनेक स्थानों में अवस्थित जैसा लगता है, उसी प्रकार की स्थिति यहाँ भी है'[1]। इस भाष्य की टीका में कहा है कि विन्ध्यदेश तथा असम के लोग प्रातःकाल एक साथ अपनी२ पूर्व दिशा में सूर्य को उगता हुआ देखते हैं। उसी प्रकार यहाँ भी होता है[2]।

ध्यान देने योग्य है कि यहाँ दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्त में बहुत भिन्नता है। सूर्य अतिविशाल होकर भी विभु नहीं है। उसमें से शक्तिशाली तथा महावेगशाली असंख्य अभिव्यंजक किरणें निकल कर विन्ध्य तथा असम में बैठे हुए मनुष्यों की आँखों की रेटिना में एक साथ अलग२ सूर्य के प्रतिबिम्ब को उपस्थित करती हैं। पर यहाँ शब्द विभु है। इसका अभिव्यंजक बहुत कमजोर है। यह मुख से समीपस्थ मनुष्य के कान तक जा पाता है। यह एक साथ अनेक स्थानों के मनुष्यों को एक ही शब्द का अभिव्यंजन किस प्रकार करा सकता है। ध्यान दें, दृष्टान्त में अनेक अभिव्यंजकों से <u>अनेक प्रतिबिम्ब</u> का प्रत्यक्ष होता है। पर दार्ष्टान्त में अनेक अभिव्यंजकों से एक साथ <u>एक ही शब्द के</u> प्रत्यक्ष की बात कही जाती है। यह सम्भव प्रतीत नहीं होता।

संक्षेप में कहें तो मीमांसा—प्रोक्त शब्द की विशेषताएँ सामान्य मनुष्य की बुद्धि के लिये अगम्य हैं। कोई शब्द नित्य हो, वह अन्य अभिव्यञ्जक से प्रकाश्य हो। पर स्वयं अभिव्यञ्जक का प्रत्यक्ष न होता हो। पर साथ ही अभिव्यञ्जक के धर्मों का प्रत्यक्ष हो जाता हो ! वह स्वयं विभु हो, पर कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न छोटे से आकाश देश में उसका प्रत्यक्ष हो जाता हो। वह स्वयं एक हो, पर अनेक स्थानों के लोग एक साथ 'उसी' अक्षर का प्रत्यक्ष करते हों! सचमुच, ऐसे शब्द का अनुभव कर पाना सामान्य मनुष्य के लिये आसान कार्य नहीं है!!

---

१. आदित्यं पश्य देवानांप्रिय ! एकः सन्ननेकदेशावस्थित इव लक्ष्यते।
— मीमांसा सूत्र १.१.१५ पर शाबर भाष्य।

२. ये तावद् विन्ध्यनिलयाः पुरुषाः, ये च कामरूपे स्थितास्तैः सर्वैरपि स्वस्वात्मनः प्राग्भाग एवोद्यन् भास्वान् निरीक्ष्यते। — मीमांसा सूत्र १.१.१५ पर शाबर भाष्य की टीका।

मीमांसा तथा वेदान्त में वेद की नित्यता का आशय– मीमांसा शास्त्र में इस महान् प्रयत्न से शब्द–नित्यता की सिद्धि वेदों को नित्य बनाने के लिये की जाती है। इस शास्त्र के अनुसार वेद अपौरुषेय होने से नित्य हैं। अर्थात् किसी पुरुष या पुरुषविशेष ईश्वर के द्वारा रचना की कृपा के अधीन नहीं है। अपितु वे सर्वथा नित्य हैं[1]। प्रलय न होने से अथवा सृष्टि सदा बनी रहने से उनके विनाश का कभी प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता।

इस प्रकार की अवधारणा से यह आभास मिलता है कि इस सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार बाहरी दुनियाँ में आकाश में अक्षर विभु रूप से एकरस छाए हुए हैं, उसी प्रकार अक्षर–समूह शब्द तथा उनसे निर्मित वेद–वाक्य भी आकाश में नित्य रूप से वर्तमान रहते हैं।

पर यह सोचना सही नहीं है। आकाश में वर्णों के नित्य रूप से अवस्थित मानने पर भी शब्द तथा उस आनुपूर्वी वाले वेद वाक्यों का आकाश में सदा बने रहना किसी भी रीति से सम्भव नहीं हो सकता। आकाश कोई ब्लैकबोर्ड तो है नहीं, जिसमें विविध अक्षर क्रम से जड़े हुए हों, यह भी नहीं कि उन अक्षरों को लोग देवनागरी लिपि के क्रम से बाएँ से दाहिनी ओर पढ़ते हों। ऐसा भी नहीं है कि इस गोल पृथिवी में वे अक्षर सभी के लिये बाईं या दाहिनीं ओर हों। अतः स्पष्टतः वे वाक्य बाहरी दुनियाँ में आकाश या आत्मा के समान नित्य नहीं हो सकते।

दर्शनशास्त्र के गम्भीर विद्वानों ने इस तथ्य को भली भाँति समझ लिया था। भामतीकार आचार्य वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि जो (मीमांसक) वर्णों को नित्य मानते हैं, उन्हें भी पद और वाक्य को तो अनित्य ही मानना होगा। क्योंकि आनुपूर्वी व्यक्ति–धर्म है, वर्ण का धर्म नहीं। मनुष्यों द्वारा बनाई गई वर्णों की आनुपूर्वी स्वयं वर्णों की विशिष्टता किस प्रकार बन सकती है। सदा वर्तमान, नित्य, विभु अक्षर देश और काल की दृष्टि से एक दूसरे से आगे पीछे नही रह सकते[2]।

---

१. अपौरुषेया वेदाः; सम्प्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादात्मवत्।
— सर्वदर्शनसंग्रह, जैमिनि– दर्शन पृ. ५४१

२. येऽपि तावत् वर्णानां नित्यत्वमास्थिषत तैरपि पदवाक्यादीनामनित्यत्वमभ्युपेयम्। आनुपूर्वीभेदवन्तो हि वर्णाः पदम्। पदानि चानुपूर्वीभेदवन्ति वाक्यम्। व्यक्ति–धर्मश्चानुपूर्वी न वर्णधर्मः, वर्णानां नित्यानां विभूनां च कालतो देशतो वा पौर्वापर्यायोगात्। व्यक्तिश्चानित्येति कथं तदुपगृहीतानां वर्णानां नित्यानामपि पदता नित्या। पदानित्यतया च वाक्यादीनामप्यनित्यता व्याख्याता।
—ब्रह्मसूत्र १.१.३ पर शांकर भाष्य पर भामती।

इसलिये मीमांसा में वेद को नित्य कहने का वास्तविक आशय यह है कि वेद सदा अनादि काल से गुरु–शिष्य परम्परा से पढ़ा पढ़ाया जा रहा है। यह परम्परा कभी टूटी नहीं[1]। इसके स्वर, मात्रा तक में कभी कोई बदलाव नहीं आया। इसे बदलने में कभी कोई स्वतन्त्र नहीं रहा, न हो सकता है।

वेदान्त में भी वेदों की नित्यता का यही आशय है। पर क्योंकि इस सिद्धान्त में सृष्टि, प्रलय होता है, अतः मान्य है कि सम्पूर्ण सृष्टि पर्यन्त वेद नित्य रूप से गुरु–शिष्य–परम्परा में अवस्थित रहता है। प्रलय में आकाश के साथ वेद भी विनष्ट हो जाता है। इस प्रलय के पश्चात् पुनः नई सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर निःश्वासवत् अनायास ही ठीक पिछली आनुपूर्वी के समान वेद को पुनः प्रकट करता है। इस आनुपूर्वी को बदलने में ईश्वर भी स्वतन्त्र नहीं है[2]। जिस प्रकार प्रत्येक सर्ग के प्रारम्भ से अग्नि जलाती ही है, पानी गलाता ही है। विपरीत नहीं हो सकता। उसी प्रकार वेदों की आनुपूर्वी भी विपरीत नहीं हो सकती।

यद्यपि वेदान्त परिभाषा आदि ग्रन्थों में वर्ण के साथ२ पद वाक्य समूह रूप वेद की आकाश के समान सम्पूर्ण सृष्टि–पर्यन्त नित्यता बताई है[3]। पर उपरिलिखित तर्क तथा भामती की व्याख्या के अनुसार यह मान लेना आवश्यक है कि वर्ण–नित्यता तथा पद–वाक्य–नित्यता का अर्थ भिन्न२ है। वर्ण आकाश में सदा वर्तमान रहने से नित्य है, पर पद वाक्य उच्चारण की परम्परा कभी न टूटने के कारण नित्य माने गए हैं।

व्याकरण शास्त्र में भी जो शब्द–नित्यता की बात कही गई है, उसका भी आशय पद–स्फोट आदि से है, जो कि अन्तःकरण वृत्ति रूप है[4]। वहाँ भी बाहरी दुनियाँ में अवस्थित किसी वर्ण–समूह रूप पद की नित्यता से आशय नहीं है। इसे खण्ड के अन्तिम परिच्छेद में विस्तार से निरूपित किया जावेगा।

---

१. वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययन–पूर्वकम्।
वेदाध्ययनसामान्यादधुनाध्ययनं यथा।। – श्लोक वार्तिक, वाक्याधिकरण १.१.६

२. परमात्मनो नित्यस्य वेदानां योनेरपि न तेषु स्वातन्त्र्यं, पूर्वपूर्वसर्गानुसारेण तादृशतादृशानुपूर्वीविरचनात्। – ब्र.सू. १.१.३ पर भामती।

३. तथा च वर्णपदवाक्य–समुदायस्य वेदस्य वियदादिवत् सृष्टिकालीनोत्पत्तिमत्त्वं प्रलयकालीन–ध्वंसप्रतियोगित्वं च। – वेदान्त परिभाषा आगमपरिच्छेद पृ. २४१

४. सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे– महाभाष्य पस्पशाह्निक में कात्यायन वार्तिक–१
'तत्र नित्यः शब्दो जातिस्फोट–लक्षणो व्यक्तिस्फोटलक्षणो वा।
–उक्त वार्तिक पर प्रदीप टीका।

५. शब्द आकाश में समवेत अनित्य, अव्यापी गुण है।

—न्यायशास्त्र

न्यायशास्त्र के अनुसार आकाश में समवाय अर्थात् नित्य सम्बन्ध से रहने वाला तथा श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण किया जाने वाला विशेष गुण शब्द होता है। यही इसका लक्षण अथवा पहचान भी है[१]। क्योंकि केवल आकाश में समवेत विशेष गुण अथवा श्रोत्र से ग्राह्य विशेष गुण शब्द के अलावा और कोई नहीं हो सकता।

शब्द के आकाशाश्रयत्व की सिद्धि—शब्द के आकाश में समवाय सम्बन्ध से रहने की सिद्धि परिशेषानुमान से की जाती है। इसके लिये पहले इसे 'विशेष गुण' सिद्ध किया जाता है— बहिरिन्द्रिय से ग्रहण किये गए पदार्थ गुण होते हैं। यद्यपि आँखों से गुण के अलावा द्रव्य तथा क्रिया का भी प्रत्यक्ष होता है। अतः परिष्कृत रूप से कहना होगा कि आँखों से ग्राह्य न होकर भी अन्य बाह्य इन्द्रिय से ग्राह्य पदार्थ स्पर्श आदि के समान अवश्य ही गुण होते हैं। शब्द भी इसी प्रकार का होने से अनिवार्यतः गुण है[२]।

शब्द के गुण सिद्ध होने पर न्याय के नियम के अनुसार इसका द्रव्य में समवेत होना सुनिश्चित है। पर यह स्पर्श वाले द्रव्य—पृथिवी, जल, तेज, वायु में नहीं रह सकता। क्योंकि यह गुण कारणगुणपूर्वक न होकर भी प्रत्यक्ष होता है[३]। इसका तात्पर्य यह है कि पृथिवी आदि अवयवी में गुण अपने समवायि कारणों के गुणों से उत्पन्न होते हैं। जैसे कपड़े में पीला रूप कपड़े के समवायि कारण तन्तु में पीत रूप गुण से उत्पन्न होता है। पर यह बिलकुल भी आवश्यक नहीं कि वीणा के तार से उत्पन्न होने वाला शब्द गुण उस तार के अवयव के गुण से उत्पन्न हुआ हो। अपितु स्थिति यह है कि पहले क्षण में निःशब्द तार के अवयव होने पर भी सीधे तार अवयवी में शब्द उत्पन्न हो जाता है[४]। इस प्रकार शब्द के कारण—गुणपूर्वक उत्पन्न न होने के कारण इसे पृथिवी आदि चार द्रव्यों में समवेत नहीं

---

१. श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दः। आकाशमात्रवृत्तिः। —तर्क संग्रह।

२. शब्दो गुणः चक्षुर्ग्रहणायोग्य— बहिरिन्द्रियग्राह्यजातिमत्त्वात् स्पर्शवत्।
— कारिकावली, प्रत्यक्ष खण्ड, श्लोक ४४ पर मुक्तावली।

३. शब्दो न स्पर्शवद्विशेष—गुणः, अकारण—गुणपूर्वक—प्रत्यक्षत्वात्, सुखवत्।
—वहीं पर मुक्तावली

४. स्वावयवशब्दसजातीयः शब्दो भेर्यादौ नोपलभ्यते, निःशब्दैरपि भेर्याद्यवयवैर्भेर्याद्यारम्भात्।
— वैशेषिक सूत्र २.१.२५ पर विवृति।

माना जा सकता।

यह शब्द दिशा, काल तथा मन का भी गुण नहीं हो सकता। क्योंकि यह न्याय की सुनिश्चित परिभाषा के अनुसार 'विशेष' गुण है[1]। पर दिशा आदि में सामान्य गुण ही समवेत होते हैं। यह आत्मा का भी गुण नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मा के गुण अन्तरिन्द्रिय मन के द्वारा गृहीत होते हैं। जबकि इसका प्रत्यक्ष श्रोत्र नामक बहिरिन्द्रिय से होता है[2]।

अब बचता है केवल आकाश! अतः इसका इस परिशिष्ट आकाश द्रव्य में समवेत होना सुनिश्चित सिद्ध होता है।

शब्द आकाश की पहचान भी है– न्याय ग्रन्थों में इस शब्द को आकाश का लिंग अथवा पहचान बताया गया है[3]। क्योंकि शब्द नामक गुण किसी द्रव्य के आश्रय के बिना रह ही नहीं सकता। उपरिलिखित रीति से पृथिवी आदि ८ द्रव्य उसके आश्रय बन नहीं सकते। अतः शब्द को आधार प्रदान करने वाले के रूप में आकाश के अस्तित्व की सिद्धि होती है।

यह ध्यान देने योग्य है कि न्याय में अवकाश प्रदान करने वाले के रूप में आकाश का अस्तित्व प्रायः मान्य नहीं है। वैशेषिक सूत्र में कमरे से घुसना, निकलना इत्यादि क्रियाओं के बनाने के लिये आकाश को सिद्ध करने का उपक्रम किया है[4]। पर अगले ही सूत्रों में इसका खण्डन किया है। उसका संक्षिप्त आशय यह है कि पक्षियों को उन्मुक्त उड़ने के लिये किसी अतिरिक्त भावरूप आकाश की आवश्यकता नहीं। उनके किसी पहाड़ आदि से टकराने पर आकाशाभाव को भी कारण नहीं मान सकते। क्योंकि आकाश के विभु होने के कारण वह पहाड़ आदि सभी घनी वस्तुओं में भी समान रूप से परिव्याप्त है। अगर ऐसा नहीं मानेंगे तो आकाश की विभुता पर आघात होगा। अतः मानना होगा कि पक्षी आदि के मूर्त पदार्थ से संयोग के कारण उसके वेग गुण आदि में प्रतिबन्ध आने से उड़ना क्रिया का विघात होता है, आकाशाभाव के कारण नहीं[5]।

---

१. शब्दो न दिक्कालमनसां गुणः विशेषगुणत्वात्, रूपवत्। –पूर्वोक्त पर मुक्तावली।
२. नाऽऽत्मविशेषगुणः बहिरिन्द्रिययोग्यत्वात्, रूपवत्। –वहीं पर मुक्तावली।
३. शब्दगुणमाकाशम्... शब्दलिंगकञ्च। –तर्कभाषा में प्रमेयनिरूपण पृ. १८६
परिशेषाल्लिंगमाकाशस्य। –वैशेषिक सूत्र २.१.२७
४. निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिंगम्। –वैशेषिक सूत्र २.१.२०
५. मूर्तसंयोगेन कर्मकारणस्य वेगुगुरुत्वादेः प्रतिबन्धात् कर्मणोऽभावोऽनुत्पादो, न त्वाकाशाभावात्, तस्य व्यापकत्वात्, तस्मादाकाशान्वयोऽन्यथासिद्ध एव नाकाशनिमित्ततां साधयति। –वै. सू. २.१.२३ पर उपस्कार व्याख्या।

इससे सिद्ध है कि 'अवकाश' इस आकाश की पहचान नहीं बन सकता। अपितु शब्द गुण वाला होना ही इसका सुस्पष्ट लक्षण है।

शब्दोत्पत्ति के विभिन्न कारण– न्याय शास्त्र में शब्द के उत्पन्न होनें के कारणों का विस्तार से निरूपण किया जाता है। सभी प्रकार के शब्दों के लिये आकाश समवायि–कारण है, यह तो उपरिलिखित विवेचन से प्रकट है। पुनः असमवायिकारण तथा निमित्तकारण के रूप में संयोग, विभाग तथा शब्द को स्वीकार किया जाता है[1]।

जैसे घण्टा में किसी दण्ड के प्रहार से शब्द उत्पन्न होते समय वेग गुण से परिपूर्ण दण्ड का घण्टा के साथ संयोग निमित्त कारण है। इस प्रकार यह संयोग तथा दण्डगत वेग दोनों निमित्त हैं[2]। साथ ही यहाँ घण्टा तथा आकाश के संयोग को असमवायिकारण माना गया है। यहाँ प्रकम्पित घण्टा का आकाश के साथ संयोग– यह तात्पर्य है। क्योंकि सामान्य घण्टा का आकाश–संयोग तो प्रहार से पूर्व भी था ही।

इस प्रकार स्पष्ट है कि शब्दोत्पत्ति में दण्डघण्टा–संयोग से उत्पन्न घण्टा में प्रकम्पन भी निमित्त कारण है। न्यायवात्स्यायन भाष्य में इसे सहज ही स्वीकार किया गया है। वहाँ कहा है कि घण्टा को हाथ से छूने से उसका कम्पन तथा शब्द भी बन्द हो जाता है। इससे अनुमानित है कि उस दशा में घण्टा में कम्पन उत्पन्न करने वाला संस्कार नष्ट हो जाता है। इससे कम्पन का विनाश होने पर अन्ततः शब्द का भी विनाश हो जाता है[3]।

किसी घण्टा में प्रकम्पन एक ऐसी घटना है, जिसमें दण्ड प्रहार से उत्पन्न क्रिया–सन्तान सचल बाण के समान सीधी दिशा में नहीं, अपितु जल्दी जल्दी परस्पर विरोधी दिशा में प्रवर्तित होता रहता है। इस प्रक्रिया में वेग नामक संस्कार स्थितिस्थापक संस्कार में तथा शीघ्र ही यह स्थिति–स्थापक पुनः वेग में बार२ बदलते हुए विपरीत दिशाओं में क्रियाएँ उत्पन्न करता रहता है। पर हाथ से छूने से यह प्रकम्पन रुक जाता है। भाष्यकार ने बताया कि काँसे की प्रकम्पित थाली को छूने पर सहज ही त्वचा से इसका अनुभव किया जा सकता है। इससे

---

१. संयोगाद् विभागाच्छब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः। –वै. सू. २.२.३१

२. भेरीदण्डसंयोगो दण्डगतश्च वेगो निमित्तकारणम्। –न्यायकन्दली शब्दनिरूपण पृ. ६६४

३. पाणिकर्मणा पाणिघण्टाप्रश्लेषो भवति। तस्मिंश्च सति शब्दसन्तानो नोपलभ्यते, तत्र प्रतिघाति–द्रव्यसंयोगः शब्दस्य निमित्तान्तरं संस्कारभूतं निरुणद्धीत्यनुमीयते। तस्य च निरोधात् शब्दसन्तानो नोत्पद्यते। – न्यायसूत्र २.२.३६ पर वात्स्यायन–भाष्य।

सिद्ध है कि छूने से इस प्रकम्पन को उत्पन्न करने वाला संस्कार–सन्तान विनष्ट हो जाता है। इस प्रकार शब्दोत्पत्ति में घण्टा का कम्पसन्तान सीधा निमित्तकारण है। पर संस्कार–सन्तान निमित्तान्तर अथवा परम्परा से शब्द का निमित्तकारण बनता है[1]।

मुख से शब्दोत्पत्ति के प्रसंग में भी उपरिलिखित गुण ही निमित्त कारण हैं। इस समय प्रकम्पित कण्ठ, तालु आदि स्थानों का आकाश के साथ संयोग असमवायिकारण है। इन स्थानों का प्रयत्न नामक गुण से प्रेरित तथा अभिहत वायु के साथ संयोग निमित्त कारण है। इस संयोग से आकाश में अक्षर उत्पन्न हो जाते हैं।

कुछ शब्द विभाग नामक गुण से उत्पन्न होते हैं। जैसे– बाँस के फाड़ने पर चट् चट् की आवाज। इस शब्द की उत्पत्ति में बाँस के दो खण्डों में उत्पन्न 'विभाग' गुण निमित्त कारण हैं तथा इस विभाग के फलस्वरूप विभक्त बाँस का आकाश से विभाग असमवायिकारण है।

इसी प्रकार पवर्ग अक्षरों की उत्पत्ति में उत्तरोष्ठ तथा अधरोष्ठ का विभाग निमित्तकारण है तथा विभक्त ओष्ठ का आकाश से विभाग असमवायिकारण बनता है।

शब्दज शब्द– उपरिलिखित दोनों उपायों से प्रकम्पित घण्टा आदि से तत्संयुक्त आकाश में शब्द उत्पन्न होता है। पर प्रश्न होता है कि इस घण्टा का शब्द अन्य स्थानों में श्रोता को किस प्रकार उपलब्ध होता है। इसका उत्तर 'शब्दज शब्द' नामक विशेष प्रक्रिया के द्वारा दिया जाता है। इसके अनुसार पवन आदि की सहायता से दसों दिशाओं में शब्द से निरन्तर नए२ शब्द उत्पन्न होते हुए अन्त में श्रोता के कान तक पहुँच जाते हैं।

इस प्रक्रिया में वायु अवश्य ही निमित्तकारण है। क्योंकि यह देखा गया है कि शब्द के अनुकूल वायु की ओर अधिक शब्द सुनाई देता है, प्रतिकूल वायु की ओर कम। यह वायु की सहायता से ही सम्भव है। अतः मान्य है कि प्रकम्पित घण्टा से आकाश में शब्दोत्पत्ति के समकाल ही घण्टासमीपस्थ वायु गतिशील होकर शब्दज शब्द को आगे बढ़ाती रहती है।

इस प्रक्रिया में प्रकम्पित घण्टा से आकाश में दसों दिशाओं में शब्द उत्पन्न

---

१. कम्पसन्तानस्य स्पर्शनेन्द्रियग्राह्यस्य चोपरमः कांस्यपात्रादिषु पाणिसंश्लेषो लिंगं संस्कार–सन्तानस्येति। तस्मान्निमित्तान्तरस्य संस्कारभूतस्य नानुपलब्धिरिति। – वहीं पर भाष्य

होने के पश्चात् पूर्व २ शब्द से अन्य अन्य शब्द उत्पन्न होते रहते हैं। यह अवधारणा इस मान्यता पर अवलम्बित है कि शब्द क्षणिक होता है। इसकी क्षणिकता का अर्थ 'तीसरे क्षण विनष्ट होने वाला' यह है[1]। इस प्रकार बार२ उत्पन्न तथा नष्ट होते हुए यह तरंगरूपता को धारण करता है। तरंग उसे ही कहा जाता है कि जब किसी वस्तु की दो विरोधी स्थितियाँ एक निश्चित समय में बार२ एक दूसरे का स्थान ग्रहण करें। यहाँ शब्दज शब्द इसी प्रकार का होने से तरंग है। न्यायशास्त्र में इसकी तरंग–रूपता को दो उदाहरणों से प्रकट किया जाता है—

I वीचीतरंगन्याय– यह देखा गया है कि किसी स्थिर जल वाले तालाब में पत्थर फेंकने पर उसके चारों ओर छोटी तरंग बनती हैं। इसके द्वारा इसके भी चारों ओर उससे बड़ी तरंग तथा उसके पश्चात् उससे भी बड़ी२ गोलाकार तरंगें क्रम २ से बनती जाती हैं। इस समय पानी में एक निश्चित समयावधि के भीतर फेंके गए पत्थर के चारों ओर 'श्रृंग' तथा 'गर्त' ये दो आकार क्रम२ से उत्पन्न होते रहते हैं। शब्दोत्पत्ति में भी यही परिस्थिति होने से इसे इस न्याय का नाम दिया गया है[2]। यहाँ 'वीची' का अर्थ छोटी तरंग है। इसके द्वारा बड़ी तरंग बनने से इस न्याय का यह नाम सार्थक है।

शब्दज–शब्द की प्रक्रिया में प्रकम्पित घण्टा के चारों ओर तत्संयुक्त आकाश में जो शब्द बनते हैं, उनसे नवीन शब्द की 'उत्पत्ति' तथा 'विनाश'– इन दो रूपों में पहले वीची सदृश छोटी तरंग तथा उससे बड़ी और बड़ी तरंगें क्रमशः बनती चली जाती हैं। ये पूर्वोक्त परिभाषा के अनुरूप होने से तरंग कही जाती हैं। जिस प्रकार तालाब में फेंके गए पत्थर के चारों ओर प्रकम्पित पानी में दो अलग२ आकारों के क्रमशः धारण करने के कारण वे तरंग हैं, उसी प्रकार यहाँ भी घण्टे के चारों ओर एक निश्चित समयावधि के भीतर शब्द के दो आकारों के धारण करने से ये शब्द–तरंगें कही जाती हैं।

पर इनमें पानी की तरंगों से एक विभेद अवश्य है। तालाब में जो तरंगें बनती हैं, उनमें जलरूपी माध्यम स्वयं उत्पन्न नष्ट नहीं होते हुए अपनी मध्यमान स्थिति में प्रकम्पित होता है। उसके श्रृंग तथा गर्त नामक दो आकार क्रमशः उत्पन्न–नष्ट होते हुए आगे, और आगे संचरित होते रहते हैं। पर शब्द–तरंगों में शब्द स्वयं दो आकारों को धारण करते हुए आगे बढ़ता है। यह किस प्रकम्पित

---

१. क्षणिकत्वं च तृतीयक्षणवृत्तिध्वंस–प्रतियोगित्वम्।
– कारिकावली प्रत्यक्ष खण्ड श्लोक २७ पर मुक्तावली।

२. वीचीतरंगन्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्तिता। – कारिकावली श्लोक १६६

माध्यम में संचरण करता है, इसे यहाँ नहीं बताया जा सकता। क्योंकि शब्द का आश्रय आकाश नित्य होने से कदापि प्रकम्पित नहीं हो सकता। इस-प्रकार स्पष्ट है कि यहाँ तरंग की सम्पूर्ण मौलिक अवधारणा से केवल आंशिक तुलना ही हो सकती है।

पर इन शब्द–तरंगों के निमित्त कारण वायु–तरंगें पूरी तरह जल–तरंगों के सदृश हैं। क्योंकि यहाँ प्रकम्पित वायु के अणुओं में बनने वाले 'घन' तथा विरल' रूप उत्पन्न, नष्ट होते हुए बड़े तथा उससे भी बड़े गोलाकारों में आगे और आगे संचरण करते चले जाते हैं[१]।

वायु–तरंगों का यह निरूपण न्याय के एक सम्प्रदाय के अनुसार है। पर सामान्यतः न्याय के विद्वान् वायु का तिर्यग्गमन स्वीकार करते हुए उनमें ऐसी गोलाकार तरंगें नहीं मानते[२]। उनका कहना है कि जब तक वायु किसी अन्य वेग से प्रेरित न हो तब तक वह अपनी नैसर्गिक तिर्यग्गति को नहीं छोड़ती[३]। इस प्रकार इस मत में वायु–तरंग नहीं, अपितु वायु की तिर्यग्गति ही शब्दज शब्द को आगे बढ़ाने में मिमित्त कारण है।

II <u>कदम्ब–गोलक न्याय</u>– कदम्ब–पुष्प के मध्य में पराग के चारों ओर छोटी२ पंखुड़ियाँ होती हैं। पुनः उसके भी चारों ओर उससे भी बड़े गोलाकार में इससे बड़ी पंखुड़ियाँ वर्तमान रहती हैं। इसी प्रकार शब्द भी घण्टे के चारों ओर उत्पन्न नष्ट होते हुए क्रमशः बडे तथा उससे भी बड़े गोलाकार को धारण करता रहता है[४]।

इस अन्य न्याय का वर्णन एक मत–विभेद को प्रकट करने के लिये है। यहाँ यह देखा गया है कि कदम्ब–पुष्प के एक गोलाकार में अनेक पंखुड़ियाँ होती हैं। इसी प्रकार इस मत में मान्य है कि घण्टे के चारों ओर उत्पन्न होने वाले छोटे शब्द–गोलाकार में अनेक शब्द तथा इससे भी बड़े२ गोलाकारों में अनेकानेक शब्द उत्पन्न होते हैं। जबकि पिछले न्याय में यह माना गया था कि एक शब्द–गोलाकार

---

१. यह तथ्य इस वचन के आधार पर कहा गया है– प्रेरणादभिघाताच्च वायौ गतिकर्मविशेषः प्रादुर्भवति। ततो वेग उत्पद्यते। यावच्च वेगकारितो वीचीतरंगवद् गतिकर्मविशेषः प्रादुर्भवति, तावच्छब्दसन्तान उत्पद्यते। –वैशेषिक सूत्र २.१.६ पर चन्द्रकान्तीय भाष्य।

२. कदम्बगोलकाकारशब्दारम्भो हि सम्भवेत्। न पुनर्दृश्यते लोके तादृशी मरुतां गतिः। – न्याय मञ्जरी, प्रमाण प्रकरण पृ० २०६ ।

३. यावन्न वेगिनाऽन्येन प्रेरितो मातरिश्वना। तावन्नैसर्गिको वायुर्न तिर्यग्गतिमुज्झति। –वही पृ० २०६।

४. कदम्बगोलकन्यायादुत्पत्तिः कस्यचिन्मते। – कारिकावली श्लोक १६६

मं चारों ओर एक ही शब्द उत्पन्न होता है। विश्रुत नैयायिक विद्वानों ने इस कदम्ब–गोलक–न्याय में अरुचि दिखाई है। क्योंकि इस मत में एक ही गोलाकार में अनेक शब्द–कल्पना का गौरव होता है[1]।

<u>शब्दज शब्द का क्रम</u>— अभी शब्द को क्षणिक अर्थात् तृतीय क्षण में विनाश्य बताया गया है। विभु पदार्थों के विशेष गुण इसी प्रकार के होते हैं। अत एव आत्मा के ज्ञान, इच्छा आदि विशेष गुण भी क्षणिक हैं। अपनी परिभाषा के अनुसार शब्द नामक क्षणिक गुण प्रथम क्षण में उत्पन्न होता है, द्वितीय क्षण में स्थित रहता है, तृतीय क्षण में विनष्ट हो जाता है। यह विनाश द्वितीय क्षण में उत्पन्न कार्य शब्द के द्वारा होता है। अतः कहना होगा कि प्रथम क्षण में उत्पन्न शब्द का द्वितीय क्षण में उत्पन्न शब्द के द्वारा तृतीय क्षण में विनाश कर दिया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक शब्द–विनाश का स्वोत्तरवर्ती शब्द अर्थात् अपने से द्वितीय क्षण में उत्पन्न शब्द कारण बनता है[2]। इस प्रक्रिया में प्रत्येक क्षण में शब्द की घटनाओं का विवरण इस प्रकार है—

प्रथम क्षण – भेरी दण्ड संयोग आदि कारणों से प्रथम शब्द की उत्पत्ति।

द्वितीय क्षण –प्रथमक्षणोत्पन्न शब्द की स्थिति तथा इसके द्वारा अन्य शब्द की उत्पत्ति।

तृतीय क्षण – द्वितीयक्षणोत्पन्न शब्द की स्थिति तथा इसके द्वारा प्रथम क्षणोत्पन्न शब्द का विनाश तथा इसी के द्वारा अन्य शब्द की उत्पत्ति।

इस प्रकार प्रत्येक नए२ उत्पन्न होने वाले शब्द का जो प्रथम क्षण होता है, वही विनष्ट होने वाले शब्द का तृतीय क्षण होता है। द्वितीय क्षण वाला स्थितिकालीन शब्द इन दोनों कार्यों— प्रथम क्षण वाले नए शब्द की उत्पत्ति तथा तृतीय क्षण वाले शब्द का विनाश— इन्हें एक साथ सम्पन्न करता है।

इस क्रम से शब्द–तरंग बड़े तथा इससे भी बड़े गोलाकार धारण करती

---

१. आद्यशब्दाद् दशसु दिक्षु दश शब्दा उत्पद्यन्ते, ततश्चान्ये दश शब्दा उत्पद्यन्त इति भावः। अस्मिन् कल्पे कल्पनागौरवादुक्तं कस्यचिन्मत इति।

— कारिकावली श्लोक १६६ पर मुक्तावली पृ. ५४५

२. योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्तिविशेषगुणनाश्यत्वात्। प्रथम–शब्दस्य द्वितीय–शब्देन नाशः।

— कारिकावली, प्रत्यक्ष खण्ड श्लोक २७ पर मुक्तावली।

हुई आगे बढ़ती जाती है। पर आगे चलकर यह क्रम रुक जाता है। अतः प्रश्न होता है कि अन्तिम शब्द का विनाश किस प्रकार होता है। इसका समाधान इस प्रकार दिया जाता है–

इस समय उपान्त्य के द्वितीय स्थिति क्षण में अन्तिम शब्द के द्वारा ही उपान्त्य का नाश कर दिया जाता है। ध्यान रहे कि इस समय उपान्त्य शब्द प्रथम क्षण वाले शब्द का विनाश तो करता ही है। वह अन्य शब्द को उत्पन्न भी करता है। साथ ही किसी दीवाल आदि से अभिघात जैसी विशेष परिस्थिति में यही अन्य अन्तिम शब्द अपने उत्पत्ति क्षण में ही उपान्त्य का नाश कर देता है। इस प्रकार यहाँ तीन कार्य– उपान्त्य याने द्वितीय क्षण वाले शब्द द्वारा प्रथम क्षण वाले शब्द का विनाश, इसी उपान्त्य द्वारा नए शब्द की उत्पत्ति तथा ठीक इसी क्षण में इस नए उत्पद्यमान शब्द के द्वारा अपने जनक उपान्त्य का विनाश– ये सभी एक साथ सम्पन्न हो जाते हैं!

यहाँ कुछ लोग कहते हैं कि इसी क्षण में एक चौथा कार्य भी सम्पन्न होता है– सुन्दोपसुन्द–न्याय[1] से उपान्त्य के द्वारा अन्तिम उत्पद्यमान शब्द का विनाश भी हो जाता है। तर्कभाषाकार इसे गलत ठहराते हैं, जो कि सर्वथा उचित है। उनका कहना है कि अभी ऊपर कहा गया कि इस क्षण उपान्त्य द्वारा अन्तिम नया शब्द उत्पन्न किया जाता है। अब इसी क्षण यही उपान्त्य इसका विनाश कैसे करने लगा। आखिर एक क्षण में एक शब्द किसी एक वस्तु में एक ही प्रकार की क्रिया कर सकता है। अतः मानना होगा कि उपान्त्य के इस द्वितीय क्षण में उपान्त्य द्वारा अन्त्य शब्द की उत्पत्ति तथा साथ ही इसी अन्त्य उत्पद्यमान शब्द द्वारा उपान्त्य का विनाश तो होता है, पर इस क्षण में उपान्त्य द्वारा अन्तिम शब्द का विनाश नहीं होता। अपितु इससे अगले क्षण में उपान्त्य के विनाश के द्वारा अन्तिम शब्द का

---

१. यह सुन्दोपसुन्द न्याय एक पौराणिक कथा पर अवलम्बित है। कहते हैं कि सुन्द तथा उपसुन्द नाम के दो भाई थे। ये तीनों लोकों को जीतने की इच्छा से विन्ध्याचल पर तप करने लगे। इनकी तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा जी ने इन्हें वर दिया कि यदि ये आपस में न लड़ें तो इन्हें कोई मार न सकेगा। इस वर से उत्साहित होकर इन्होंने जनता में अत्याचार करना प्रारम्भ कर दिया। तब ब्रह्मा जी ने इन दोनों को लड़ाने के लिये तिलोत्तमा नाम की अतिसुन्दरी रमणी को भेजा। इसकी प्राप्ति के लिये दोनों आपस में लड़ने लगे। अन्त में सुन्द ने उपसुन्द का सिर धड़ से अलग कर दिया। तो भी उपसुन्द पीछे कैसे रहता। और तब शुरू हुआ कबन्ध–युद्ध!! नाचते हुए उपसुन्द के कबन्ध अर्थात् धड़ ने लड़ते हुए सुन्द का भी सिर अलग कर दिया!!!

विनाश किया जाता है[१]। ऐसा विशेष परिस्थिति में किया जाता है। विशेष स्थिति का यही तो कमाल है!!

वायु निमित्त है, समवायि–कारण नहीं– ऊपर कहा गया है कि शब्दज शब्द की इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में वायु निमित्त कारण के रूप में स्वीकार्य है। अतः वायु में ही नित्य सम्बन्ध से शब्द उत्पन्न नहीं हो सकता। इसे स्पर्श वाले सभी द्रव्यों की समवायिकारणता का प्रतिषेध करते हुए पहले सिद्ध किया जा चुका है।

फिर भी कभी२ शब्दज शब्द में यह सम्भावना प्रकट की जाती है कि वायु में ही समवाय सम्बन्ध से शब्द उत्पन्न होता है। क्योंकि यह हो सकता है कि पहले वायु के सूक्ष्म अवयवों में तथा बाद में उनसे महान् वायु में शब्द उत्पन्न होता हो। ऐसी दशा में प्रश्न होता है कि कारणगुणपूर्वक होने से वायु में ही शब्दोत्पत्ति क्यों न स्वीकार कर ली जाय। न्याय के विद्वान् अनेक उपायों से दृढ़ता के साथ इस सम्भावना का प्रतिषेध करते हैं। जैसे–

१. वायु के स्पर्श जैसे विशेष गुण यावद् द्रव्यभावी होते हैं। अर्थात् सम्पूर्ण वायु में नियमित रूप से समवेत होते हैं। पर शब्द नामक गुण ऐसा नहीं है। वह तो कहीं रहता है, कहीं नहीं। कभी उत्पन्न होता है तथा कभी विनष्ट भी हो जाता है। अतः इस विरोधी विशेषता के कारण यह वायु का गुण नहीं हो सकता[२]।

२. मुख नीचे करके बोलने पर शब्द ऊपर सुनाई देता है। ऊपर करके बोलने पर नीचे न सुनाई पड़े, ऐसा नहीं है। शब्द को वायु का गुण मानने पर उसके तिर्यग्गमन होने से यह सम्भव नहीं है। अतः शब्द वायु में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न नहीं हो सकता[३]।

३. पेट में कान रखने पर 'गुड़ गुड़' शब्द सुनाई देता है। यहाँ पेट के चर्म से आवृत होने से वहाँ से वायु तो निकलती नहीं। अतः जैसे दीवाल आदि की

---

१. तत्राद्यमध्यमशब्दाः कार्यशब्दनाश्याः। अन्त्यस्तूपान्त्येन उपान्तस्त्वन्त्येन सुन्दोपसुन्दन्यायेन विनश्येते। इदं त्वयुक्तम्। उपान्त्येन, त्रिक्षणावस्थायिनोऽन्त्यस्य, द्वितीयक्षणमात्रानुगामिना तृतीयक्षणे चासताऽन्त्यनाशजननासम्भवात्। तस्मादुपान्त्यनाशादेवान्त्यनाश इति।
— तर्कभाषा, प्रमेयनिरूपण पृ. २०८

२. न च वाय्ववयवेषु सूक्ष्मशब्दक्रमेण वायौ कारणगुणपूर्वकः शब्द उत्पद्यतामिति वाच्यम्। अयावद्द्रव्यभावित्वेन वायोर्विशेषगुणत्वाभावात्।
— कारिकावली, प्रत्यक्षखण्ड श्लोक ४४ पर मुक्तावली।

३. अधोमुखप्रयुक्तोऽपि शब्द ऊर्ध्वं प्रतीयते।
उत्तानवदनोक्तोऽपि नाधो न श्रूयते हि सः। — न्यायमञ्जरी पृ. २०६

रुकावट में हवा बाहर नहीं जाती, उसी प्रकार यहाँ भी शब्द के वायु का गुण होने की दशा में इस आवाज को बाहर नहीं जाना चाहिये। पर यहाँ इसके बाहर आने से सिद्ध है कि वायु इसका समवायिकारण नहीं हो सकती[1]। इस प्रकार सिद्धान्ततः यह केवल निमित्त कारण है। इसलिये सर्वत्र इसकी उपस्थिति अनिवार्य नहीं है। तेज हवा में यह शब्द को अपने अनुकूल भगाती है। पर पेट आदि का शब्द आकाशगुणक होकर इसकी सहायता के बिना भी शब्दज शब्द की प्रक्रिया से बाहर आ जाता है।

शब्द अनित्य तथा अव्यापक है– इस सम्पूर्ण विवेचन से सिद्ध है कि शब्द अनित्य होता है। इसीलिये इसे उपरिलिखित विविध उपायों से उत्पन्न करना पड़ता है। इसके लिये किसी विशेष प्रमाण की आवश्यकता नहीं। क्योंकि यह सभी को मुखादि प्रयत्नों से उत्पत्ति के पश्चात् अगले ही क्षण विनष्ट होता हुआ प्रत्यक्ष होता है।

यद्यपि अलग२ समयों में अलग२ व्यक्तियों द्वारा बोले गए 'क' आदि अक्षरों को लोग 'एक' ही कह दिया करते हैं। यह एकता जाति के आधार पर कही जाती है। जैसे लोग पहले गिलास के पश्चात् दूसरे गिलास वाले पानी को भी 'वही पानी' कहते हैं। शाम के बाद सुबह खाई जाने वाली ओषधि को भी 'वही ओषधि' कहते हैं। क्योंकि उनमें ओषधित्व जाति एक ही है। पर द्रव्य की दृष्टि से दोनों ओषधियाँ अलग२ हैं। इसे सामान्य लोग तथा न्याय के विद्वान् भी स्वीकार करते हैं[2]। ठीक इसी प्रकार 'कत्व' जाति की दृष्टि से वे अक्षर एक होकर भी द्रव्य की दृष्टि से वे सभी सर्वथा अनेक तथा अनित्य ही हैं।

इसी प्रकार यह शब्द अव्यापी भी है। क्योंकि एक जगह सुना गया शब्द अन्यत्र नहीं सुनाई देता। इसका आश्रय आकाश विभु या व्यापक है, यह स्वयं नहीं। यद्यपि अन्य विशेष गुण समूचे द्रव्य में परिव्याप्त होते हैं। पर यही तो इस शब्द की विशेषता है कि यह विशेष गुण होकर भी सर्वत्र व्याप्त नहीं होता। इसीलिये इसे सभी अन्य द्रव्यों से अलग आकाश का गुण माना गया है।

---

१. आकण्ठनद्धनीरन्ध्र–चर्मावृतमुखोदितः।
शब्दो यः श्रूयते तत्र न कोष्ठ्यानिल–सर्पणम्। –न्यायमञ्जरी पृ. २०६

२. तदेवौषधमित्यादौ सजातीयेऽपि दर्शनात्।
तस्मादनित्या एवेति वर्णाः सर्वे मतं हि नः।। –कारिकावली श्लोक १६८

६. ध्वनि–विषयक सिद्धान्तों का भाषा पर प्रभाव।

भारत में अतिप्राचीन काल से ध्वनि–विषयक विविध सिद्धान्तों पर निरन्तर विचार–विमर्श होता रहा है। इन सिद्धान्तों के आधार पर भाषा के अनेक शब्द विकसित होते रहे हैं। अतः भाषा रूपी दर्पण में इनकी छाया प्राप्त की जा सकती है। प्रस्तुत परिच्छेद में ऐसे कुछ शब्दों को प्रस्तुत किया गया है।

अक्षर–भाषा की सबसे छोटी इकाई अक्षर है। अन्य शब्दों में कहें तो यही वे छोटी२ ईंटें हैं, जिनसे मिलकर 'वाङ्मय' अथवा वाणी का विशाल महल निर्मित होता है। भारतीय मनीषा ने प्राचीन काल से यह स्वीकार किया कि इन छोटी 'ईंटों' का कभी विनाश नहीं होता। इसी मान्यता ने मीमांसा में सिद्धान्त का रूप प्राप्त किया। अतएव इन्हें सार्थक रूप से 'अक्षर' नाम प्रदान किया गया। इसका मौलिक अर्थ कभी 'क्षरित या विनष्ट न होने वाला' यही है[१]।

वर्ण– इन्हें 'वर्ण' भी कहा जाता रहा है। वैसे वेद में वर्ण शब्द का रंग अर्थ में अनेक बार प्रयोग हुआ है। निरुक्तकार ने भी इस अर्थ को माना है[२]। पर स्वयं निरुक्तकार ने अक्षर अर्थ में भी इसका प्रयोग किया है[३]। इसका कारण यही कि यह अक्षर रंग के समान किसी भी शब्द या वाक्य की पहचान बन जाता है। जिस प्रकार कोई कपड़ा अपने रंग के द्वारा पहचाना तथा अन्य कपड़ों से भिन्न किया जा सकता है। इसी प्रकार मात्र एक वर्ण सम्पूर्ण शब्द को पद और अर्थ दोनों दृष्टियों से भिन्न करने का सामर्थ्य रखता है।

महाभाष्य में एक रोचक प्रसंग में यह प्रश्न उठाया गया है कि ४–४ अक्षरों वाले कूप, सूप तथा यूप इन शब्दों में मात्र १–१ वर्ण बदलने पर कितने प्रतिशत अर्थ बदलना चाहिये। उन्होंने पहले गणित के नियम के आधार पर यह सम्भावना प्रकट की कि मात्र चौथाई अर्थ बदलना चाहिये। पर सिद्धान्त में उन्होंने यह माना कि समाज द्वारा प्रवर्तित शब्दार्थ के नियम गणित के नियमों से संचालित नहीं होते। अतः केवल एक अक्षर समूचे अर्थ को पूरी तरह बदल सकता है। इस प्रकार उन्होंने केवल एक वर्ण में सम्पूर्ण शब्द की अलग पहचान बना सकने के सामर्थ्य को सिद्ध किया है[४]।

---

१. अक्षरं न क्षरं विद्यात् – न क्षीयते, न क्षरतीति वाऽक्षरम्। –ञभञ् सूत्र पर महाभाष्य।
२. कल्याणवर्णरूपः – कल्याणवर्णस्येवास्य रूपम्। – निरुक्त २.३
३. अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्। – निरुक्त २.१
४. द्रष्टव्य – ह्यवरट् सूत्र के महाभाष्य पर रोचक प्रकरण।

शब्द— इन अक्षरों से निर्मित सार्थक तथा प्रयोग में आने वाले घटकों को 'शब्द' नाम दिया गया है। ये शब्द ही सम्पूर्ण साहित्य को वाणी प्रदान करते हैं। अतः इनका यह नाम सार्थक है। पानी देने वाला होने से मेघ के लिये 'अब्द' के समान क्विबन्त शप् उपपद के साथ दा धातु से क प्रत्यय के द्वारा इसकी निर्मिति सम्भावित है।

पद— महावैयाकरण पाणिनि ने व्याकरण शास्त्र में पारिभाषिक रूप से इसे 'पद' नाम दिया है[1]। इनसे पूर्व निरुक्तकार यास्क ने भी इसके चार अंग बताते हुए इसके 'पद' नाम को स्वीकार किया है[2]। उन्होंने अन्य प्रसंग में कहा है कि गाय के चार पैरों के सादृश्य पर अन्य चार अंगों वाली वस्तुओं के चौथाई अंश को भी 'पद' कहा जाता है[3]। अतः यह सम्भावना बलवती है कि शब्द के भी चार अंग मान्य होने के कारण प्रत्येक को यह 'पद' नाम दिया गया होगा।

पदार्थ— बाद में चलकर विश्व की सभी वस्तुओं के लिये 'पदार्थ' नाम बहुत लोकप्रिय हुआ। न्याय शास्त्र में भी द्रव्य, गुण आदि विश्व के सभी ७ घटकों को एक पदार्थ नाम दिया गया[4]। यह शब्द पद तथा अर्थ के मेल से बना है। अतः इसका मौलिक तात्पर्य 'किसी शब्द का अर्थ' यही है।

शब्दानुवेध सिद्धान्त— सभी प्रकार की वस्तुओं के लिये इस तात्पर्य वाले पदार्थ का प्रयोग दर्शनशास्त्र के एक विशेष 'शब्दानुवेध' नामक् सिद्धान्त को सूचित करता है[5]। इसके अनुसार प्रत्येक वस्तु तथा उसके ज्ञान के पीछे कोई न कोई शब्द अवश्य अनुविद्ध या जुड़ा हुआ रहता है। अन्य मनुष्य को किसी वस्तु का बोध कराने के लिये तो हम शब्द का प्रयोग करते ही हैं। साथ ही उस वस्तु या घटना को सोचने के लिये भी हम इसका उपयोग करते हैं। हम अपने स्वभावानुसार मन में पहले शब्द को लाए बिना किसी बात को सोच भी नहीं सकते ! इससे सिद्ध है कि शब्द से जुड़ कर ही किसी वस्तु का ज्ञान हमारे लिये सम्भव हो पाता है। इसे ही शब्दानुवेध कहते हैं।

---

१. सुप्तिङन्तं पदम्। — अष्टाध्यायी सूत्र १.४.१४
२. तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि—नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च। — निरुक्त १.१
३. पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः। प्रभागपादसामान्यादितराणि पदानि। — निरुक्त २.७
सामान्य जन समाज में यह परिकल्पना बहुत लोकप्रिय हुई। अतः पदांश से 'पैसा' तथा पदोन से 'पौना' शब्द विकसित हुआ।
४. धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्। वैशेषिक सूत्र १.१.४
५. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते। — वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, श्लोक १२३

पदार्थ शब्द से इस सिद्धान्त की सूचना भी मिलती है कि विश्व में पहले पद आता है। उसके पश्चात् उसके अर्थ के रूप में पदार्थ या वस्तु का अस्तित्व होता है। वैसे सामान्य मनुष्य का सोच इससे भिन्न होता है। उनके अनुसार तो पहले वस्तु आती है– पहले पुत्र–जन्म होता है। बाद में उनका नाम रखते हैं।

पर यहाँ ऋषियों का आशय यह है कि विद्वानों के वैदुष्य तथा दूरदर्शिता से किसी वस्तु, उसके नाम तथा उसकी प्रक्रिया को सोच लेने के पश्चात् ही वस्तु उत्पन्न हो पाती है। विमान शब्द के द्वारा पक्षी (वि) के सदृश (मान) बनने की इच्छा से हवाई जहाज बनता है तथा 'आकाशवाणी' जैसे शब्दों के द्वारा ध्वनि को दूर पहुँचाने के अदम्य विचार से टेलीफोन बनता है!! इस तथ्य का संकेत इस श्लोक में किया गया है–

लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते।

ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति।

–उत्तररामचरितम् १.१०

अर्थात् सामान्य मनुष्यों की वाणी वस्तु के पीछे चलती है। पर पारदृश्वा विद्वानों की वाणी के पीछे वस्तु दौड़ती है। सचमुच, इस दृष्टिकोण से सभी वस्तुएँ सही मायने में 'पदार्थ' बनती हैं!

श्रोत्र तथा कर्ण– दर्शनशास्त्र में इस शब्द को सुनने के लिये श्रोत्र इन्द्रिय के रूप में स्वीकार किया गया है। यह 'कर्ण' से सर्वथा भिन्न है। वैदिक काल से ही इस विभेद को भली प्रकार समझा जाता रहा है। अथर्ववेद का एक सुन्दर मन्त्र इस प्रकार है–

वाङ्म असन् नसोः प्राणः चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः। अपलिता केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्।

–अथर्ववेद १९.६०.९

अर्थात् मेरे जीवन के सौ वर्षों तक मुख में वाणी हो, नासिका में प्राण हों अक्षि में चक्षु हो, कानों में श्रोत्र हो। मेरे सिर के बाल गंजे न हों, मेरे दाँत मैले न हों मेरी भुजाओं में खूब पराक्रम हो!!

यहाँ स्पष्टतः कानों में श्रोत्र रहने की प्रार्थना है। अतः ये दोनों भिन्न हैं। दर्शन की परिभाषा के अनुसार कानों से परिसीमित आकाश श्रोत्र होता है। इस प्रकार कान तो केवल डिब्बा अथवा निवास स्थान है। इसमें रहने वाली इन्द्रिय श्रोत्र है, जिससे हम सुनते हैं।

पर बाद में, लगता है कि हिन्दी तथा संस्कृत में भी इन दोनों शब्दों के अर्थ में घालमेल हो गया। इसलिये संस्कृत में 'आकर्णयति' का अर्थ सुनना होता है तथा हिन्दी में कर्ण से विकसित 'कान' शब्द श्रवणेन्द्रिय का सूचक माना जाता है।

शुश्रूषा– प्राचीन काल में माना गया कि भली प्रकार सुनना सेवा का सबसे बढ़िया उपाय है। कोई सेवक मालिक की बात को ध्यान लगाकर सुनकर ही अच्छी सेवा कर सकता है। इसीलिये संस्कृत में सुनने अर्थ वाली 'श्रु' धातु से निर्मित 'शुश्रूषा' 'शुश्रूषते' आदि शब्द 'सेवा करना' अर्थ को प्रकट करने लगे।

श्रवण– उपनिषदों में भी भलीभाँति सुनने को ही ध्यान का प्रथम चरण माना गया है। इसीलिये वहाँ 'निदिध्यासन' अर्थात् ध्यान लगाने की इच्छा से पहले मनन तथा उससे भी पहले 'श्रवण' की बात कही जाती है[1]।

श्रोत्रिय– भली प्रकार सुनने योग्य होने से वेद को 'श्रुति' कहा गया तथा जो वेदपाठी इसके प्रति भली प्रकार कान लगाता है, उसे 'श्रोत्रिय' शब्द से सम्बोधित किया गया। पाणिनि के एक सूत्र के अन्तर्गत व्याख्याकारों ने 'छन्दस्' के स्थान में श्रोत्र आदेश करते हुए बड़े प्रयत्न से निपातन द्वारा इसे सिद्ध किया है[2]। पर यहाँ इस भावना को मानने पर 'श्रोत्रं ददाति' अर्थात 'कान लगाता है' इस अर्थ में श्रोत्र शब्द से ही आसानी से सिद्ध किया जा सकता है।

श्रावक– बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार भी भली प्रकार सुनना किसी छात्र की सबसे बढ़िया पहचान है। इसीलिये वहाँ शिष्य को 'श्रावक' कहा जाता है।

इन सब शब्दों से प्रकट है कि भली प्रकार सुनने को सेवा करना, ध्यान लगाना आदि का पहला चरण माना जाता रहा है!!

---

१. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। –बृहदारण्यक उपनिषद् २.४.५

२. श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते। – अष्टाध्यायी सूत्र ५.२.८४

छन्दसो वा श्रोत्रभावः, तदधीत इति घंश्च प्रत्ययः। – उक्त सूत्र पर काशिका।

७. ध्वनि पर दार्शनिकों का गोलमेज सम्मेलन।

पिछले परिच्छेदों में विभिन्न दर्शन–सम्प्रदायों के प्रमुख ध्वनि–सिद्धान्तों की चर्चा की गई है। स्पष्टतः ये सभी इस विषय में एकमत नहीं हैं, अपितु अनेक स्थानों पर परस्पर गम्भीर मत–भेद रखते हैं। अतः यह स्पष्ट होना जरूरी है कि इनका विरोध कहाँ तथा किन कारणों को लेकर है। इसके लिये यहाँ सभी दार्शनिकों को एक साथ उपस्थित करा कर उनके प्रमुख मत–विभेदों को प्रस्तुत किया जा रहा है–

न्याय– शब्द स्वयं अनित्य तथा अव्यापी होते हुए नित्य तथा विभु आकाश का गुण है। अतः यह ऐसे नित्य आकाश में नित्य समवाय सम्बन्ध से रहता है। वास्तव में आकाश की पहचान इसके शब्द गुण के द्वारा ही हो पाती है। इसीलिये आकाश को शब्द–लिंगक कहा जाता है[1]।

जैन– यह कहना सही नहीं कि शब्द आकाश का गुण है। आकाश तो अवकाश प्रदान करने के लिये है। उसमें विश्व की हर वस्तु रहती है। अतः आप आकाश को केवल शब्द का आश्रय किस प्रकार बता सकते हैं।

मीमांसक– आप न्याय के विद्वान् कहते हैं कि शब्द आकाश की पहचान है। पर वह शब्द अव्यापी है– कहीं रहता है, कहीं नहीं। कभी रहता है, कभी नहीं। यह कैसी पहचान हुई। क्या यह हो सकता है कि अग्नि की पहचान बनने वाला उष्ण गुण आग के किसी भाग में रहे, कहीं नहीं। अतः मानना होगा कि विभु आकाश में रहने वाला गुण भी सर्वव्यापक है।

न्याय– यदि यह शब्द सर्वव्यापक है तो हर जगह उपलब्ध क्यों नहीं होता।

मीमांसक– वह तो प्रत्येक जगह अभिव्यक्त न होने से उपलब्ध नहीं होता। पर आप पर इससे उल्टा प्रश्न है कि यदि यह शब्द अव्यापक है तो वह घण्टा आदि देश से अन्य जगह किस प्रकार उपलब्ध होता है।

न्याय– वह तो शब्दज–शब्द प्रक्रिया से आगे चलकर श्रोता के कानों तक पहुँच जाता है।

---

१. शब्दगुणमाकाशम् –एकं विभु नित्यञ्च। शब्दलिंगकञ्च।
— तर्कभाषा प्रमेयनिरूपण पृ. १८६

मीमांसक– आपकी शब्दज शब्द प्रक्रिया बहुत गड़बड़ है। आप कहते हैं कि पहला शब्द दूसरे शब्द को उत्पन्न करता है तथा दूसरा शब्द तीसरे क्षण में पहले शब्द को विनष्ट करता है। ऐसा करते समय वह कोई क्रिया करता है या नहीं, उस क्रिया की उत्पत्ति के लिये उसमें कोई वेग गुण कार्य करता है या नहीं? सब जानते हैं कि पहले तिनके की आग दूसरे तिनके में क्रियायोग द्वारा आग लगाती है। पहला डब्बा दूसरे डब्बे को वेग द्वारा चलनशील बनाता है[1]। पर आपके शब्द के गुण होने से उसमें कोई क्रिया, कोई वेग रह ही नहीं सकता। फिर वह अन्य शब्द की उत्पत्ति–विनाश का कारण कैसे बना। यदि कोई बिना कुछ किये ही अस्तित्व मात्र से किसी फल का कारण बन जाय, तो दुनियाँ का हर राजा अपनी अवस्थिति–मात्र से पूरी दुनियाँ को क्यों न जीतने लगे[2]! इससे सिद्ध है कि न्यायसम्मत शब्द के गुण होने के कारण उनकी शब्दज–शब्द प्रक्रिया असम्भव है।

शिक्षाशास्त्र– इसलिये यही मानना उचित है कि शब्द वायु–द्रव्य का अथवा ध्वनि के विशेष परमाणु–द्रव्यों का परिणाम है। इस प्रकार उसमें क्रिया तथा वेग बन जाने से वह अन्यत्र पहुँच सकेगा। इस प्रक्रिया के अनुसार भागते हुए वायु के अणु या ध्वनि–परमाणु जब घने हो जाते हैं तो शब्द के रूप में बदल जाते हैं। जैसे दूध घना होकर दही बन जाता है अथवा जैसे हवा से बादल घने हो जाते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी है[3]। पुनः अगले क्षण उनका घनीभाव न रहने पर उनका शब्दभाव तिरोहित हो जाता है तथा ये पुनः वायुरूपता को धारण कर लेते हैं।

न्याय– नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। क्योंकि बाह्य एक एक ज्ञानेन्द्रिय से ग्रहण किये जाने वाले पदार्थ अवश्य ही गुण होते हैं। जैसे त्वचा से ग्राह्य 'स्पर्श' अवश्य ही गुण है[4]। यहाँ यद्यपि त्वचा से द्रव्य का भी प्रत्यक्ष होता है। पर वह आँख से भी ग्राह्य होने से एक ज्ञानेन्द्रिय से ग्राह्य नहीं है। अतः हमारे उक्त कथन में अतिव्याप्ति नहीं है।

---

१. वीचीसन्तानतुल्यत्वमपि शब्दे सुदुर्वचम्।
मूर्तिमत्त्वक्रियायोगवेगादि –रहितात्मसु।। —न्याय मञ्जरी, प्रमाण–प्रकरण पृ. १६७–

२. संस्कृत में यह एक रोचक न्याय है–
यदि स्याद् वाक्यमात्रेण निर्जितेयं वसुन्धरा!

३. अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्या परमाणवः — वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, श्लोक १११

४. शब्दो गुणः जातिमत्त्वे सति बाह्येकैकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात् रूपवत्।
— वैशेषिक सूत्र २.१.२४ पर उपस्कार।

इसके साथ ही, जो आँख द्रव्य का प्रत्यक्ष करती है वह द्रव्य के अन्य सामान्य गुणों– संयोग, विभाग आदि का प्रत्यक्ष भी अवश्य करती है। अब यदि आपकी मान्यता के अनुसार श्रोत्र शब्दाकार वायु–द्रव्य का प्रत्यक्ष करे तो यह उसके अन्य गुणों का प्रत्यक्ष क्यों नहीं करता। इससे सिद्ध है कि शब्द वायु रूप द्रव्य नहीं है।

जैन– सचमुच उक्त दोष के कारण शब्द वायु–रूप द्रव्य नहीं हो सकता। पर वायु में आश्रित 'पर्याय' तो हो ही सकता है। इस दशा में वायु के गतिशील होने पर श्रोता को वायु के साथ२ उसका 'पर्याय' शब्द भी उपलब्ध हो सकता है। इसीलिये वायु अनुकूल हो तो दूर का शब्द तथा वायु का स्पर्श भी एक साथ अनुभव में आता है। पर प्रतिकूल वायु में समीप का शब्द भी नहीं सुनाई पड़ता।

न्याय– यह भी सही नहीं है। क्योंकि वायु के सभी गुण 'यावद्–द्रव्यभावी' अर्थात् सम्पूर्ण वायु में सर्वत्र व्यापक होते हैं। पर शब्द इस प्रकार का न होने से वायु का गुण नहीं हो सकता।

सांख्य– वाह! क्या खूब! शब्द अव्यापक होकर वायु का गुण नहीं बन सकता। पर वह अव्यापक होकर व्यापक आकाश का लिंग बन सकता है!! किस प्रकार?

अच्छा आप यह बतावें कि आपके अनुसार घण्टा के प्रकम्पन से आकाश में शब्द उत्पन्न होता है। याने क्रिया हुई घण्टा में, पर शब्द उत्पन्न हो गया निष्क्रिय आकाश में! जिस घण्टा में प्रकम्पन से सक्रियता आई, वहाँ कुछ हुआ नहीं, पर जिस अधिकरण में कोई क्रिया नहीं हुई, वहाँ शब्द उत्पन्न हो गया!! यह किस प्रकार सम्भव है?

इसी प्रकार आपके अनुसार घण्टा को हाथ से छूने पर प्रकम्पन बन्द होने से आकाश में शब्द नष्ट हो जाता है। पर निमित्त कारण के नष्ट होने से समवायिकारण के गुणों का विनाश नहीं हुआ करता। कुम्हार के मृत होने से घड़े के गुणों का विनाश नहीं हो सकता। अतः आप यह बतावें कि घण्टा का प्रकम्पन बन्द होने से विरोधी अधिकरण में रहने वाले शब्द का किस प्रकार विनाश हो सकता है[1]।

---

१. यदि हि शब्द आकाशनिष्ठः स्यात् तदा हस्तसंयोगस्य घण्टास्थत्वेन वैयधिकरण्यं प्राप्तम्। वैयधिकरण्ये हि प्रतिघातिद्रव्यस्य हस्तादेरप्रश्लेषात् संयोगासम्भवात् शब्दोपरमो न स्यात्।
— न्याय सूत्र २.२.३८ के वात्स्यायन भाष्य पर प्रसन्नपदा पृ. १६१

इस प्रश्नों के समाधान के लिये मानना होगा कि शब्द घण्टा आदि में ही अवस्थित रहता है।

न्याय– पर शब्द घण्टा में रहेगा तो शब्द–सन्तान कैसे बनेगा। उसके बिना घण्टा में स्थित शब्द श्रोत्र में कैसे पहुँचेगा। क्योंकि घण्टास्थ रूप आदि गुणों का सन्तान नहीं देखा गया। इसी प्रकार घण्टास्थ शब्द का भी सन्तान नहीं बन पावेगा।

सांख्य– वह तो दूरस्थ फूल की गन्ध की तरह कानों तक चला जावेगा। जिस प्रकार फूल के पराग कण उड़कर नाक तक पहुँच कर उसके गन्ध की प्रतीति कराते हैं। उसी प्रकार प्रकम्पित घण्टा से शब्द वाले अणु उड़कर कान तक पहुँच कर शब्द–बोध कराते हैं।

न्याय– तब तो कान में शब्द गूँजना चाहिये। वह तुरन्त क्यों रुक जाता है। घण्टा के प्रकम्पन बन्द होने पर उड़े हुए शब्द के अणु किस प्रकार विनष्ट हो जाते हैं। आपने यह प्रश्न हमसे पूछा था। पर ध्यान रहे यह समस्या आपके भी गले पतित होती है। साथ ही आपकी इस प्रक्रिया से शब्दसन्तान तो बनता नहीं। तो फिर शब्द का तारत्व मन्दत्व किस प्रकार बन सकेगा[1]।

वेदान्त– इसलिये मानना होगा कि शब्द श्रोत्र देश के पास नहीं, अपितु श्रोत्र ही शब्द के पास चला जाता है।

न्याय– पर श्रोत्र तो उपाधि से सीमित आकाश ही है। वह विभु, नित्य एव निष्क्रिय है। वह घण्टा समीपस्थ शब्द के पास किस प्रकार पहुँच सकता है।

वेदान्त– आपका शब्द भी तो निष्क्रिय है। वह शब्दज–शब्द की प्रक्रिया में बिना कोई क्रिया किये अन्य शब्द की उत्पत्ति विनाश में कारण किस प्रकार बन जाता है। आप कहते हैं कि जिस प्रकार अवयव तन्तु का निष्क्रिय रूप अवयवी पट के रूप को उत्पन्न करता है, वैसा ही यहाँ भी होता है। पर ध्यान रहे, यह भी आपका ही सिद्धान्त है। दूसरे वहाँ रूप के अधिकरण तन्तु में अवश्य ही क्रिया रहती है। पर यहाँ तो शब्द में भी, शब्द के अधिकरण आकाश में भी क्रिया नहीं रहती। फिर वह अन्य शब्द की उत्पत्ति विनाश में कारण में किस प्रकार बन जाता है।

---

१. यदा हि रूपादिसमानाश्रयः शब्दस्तदा रूपादिवदेव सन्तानहीनः स्यादित्येक एव स्यात्। एकस्य च शब्दस्य तीव्रत्वमन्दत्वादिभेदो नोपपद्यते।

– न्याय सूत्र २.२.३९ के भाष्य पर प्रसन्नपदा पृ. १९२.

वास्तव में आपने यह काल्पनिक नियम बनाया हुआ है कि विभु पदार्थों के उत्तरवर्ती गुण पूर्वगुणों के विनाश में कारण होते हैं। इस प्रकार आप ज्ञान को भी अनित्य बताते हैं, जो कि सर्वथा गलत है। ज्ञान सदा नित्य होता है। इसी प्रकार शब्द भी नित्य होता है।

न्याय– पर शब्द नित्य है तो वह सदा उपलब्ध क्यों नहीं होता।

मीमांसक– कोई भी पिण्ड आवरण में या अँधेरे में क्यों नहीं उपलब्ध होता। स्पष्ट है कि पिण्ड की अभिव्यक्ति के लिये आवरण का न होना आवश्यक है। इसी प्रकार यहाँ भी वायु से आवृत होने से शब्द उपलब्ध नहीं होता।

न्याय– पर कोई द्रव्य अन्य द्रव्य को रोककर ही उसके गुण को रोक सकता है। दीवाल गन्ध वाले कण को रोक कर ही उसकी गन्ध को रोकती है। पर यहाँ वायु आकाश को आवृत कर नहीं सकती। फिर वह उसके गुण शब्द को कैसे रोक सकती है?

वेदान्त– इस प्रकार का दोष तो आपके यहाँ भी है। क्योंकि आप यह भी मानते हैं कि कोई भी द्रव्य अन्य द्रव्य को क्रियाशील करके ही उसके गुणों को बदल सकता है। समवायिकारण को सक्रिय किये बिना उसके गुणों में कोई परिवर्तन लाना सम्भव नहीं है। आपकी शब्दज शब्द की प्रक्रिया में वायु आकाश को सक्रिय नहीं कर सकता। फिर वह उसके गुण शब्द की उत्पत्ति–विनाश में किस प्रकार निमित्त कारण बन जाता है। ध्यान रहे जिसके घर स्वयं शीशे के हों, वे दूसरे के घरों में पत्थर नहीं चलाया करते[1]!!

वैज्ञानिक– इस प्रकार वायु के निमित्त कारण द्वारा शब्द उत्पत्ति–विनाश रूप में तरंगित हो नहीं सकता। साथ ही आपके मतानुसार यह गुणरूपी शब्द अन्य द्रव्य को तरंगित कर नहीं सकता। आपका मानना है कि शब्द मूर्त द्रव्यान्तर का प्रेरक नहीं होता[2]। कुड्यादि द्रव्य तो उल्टे शब्द का विघात ही करते हैं। इस प्रकार टेलीफोन के डायफ्राम रूपी द्रव्य को तरंगित न कर पाने के कारण यह टेलीफोन किस प्रकार क्रियाशील हो सकता है?

---

१. न्याय में इस मुहावरे के अनुरूप श्लोक इस प्रकार है–
यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे। – तर्कभाषा अभावनिरूपण पृ. १२५

२. शब्द के गुणत्व की सिद्धि अथवा पौद्गलिकत्व निषेध में न्याय द्वारा एक हेतु प्रस्तुत है–
सूक्ष्ममूर्तद्रव्यान्तराप्रेरकत्वात्।
– स्याद्वादमञ्जरी श्लोक १४ पर अन्ययोगव्यवच्छेद टीका, पृ. १२६

वेदान्त– हमारी बात पूरी नहीं हुई थी कि वैज्ञानिक बोल पड़े। हमें कुड्यादि द्रव्य से शब्द के विघात पर भी प्रश्न करना है। आप अन्तिम शब्द विनाश के लिये भी दीवाल आदि के अभिघात को निमित्त कारण मानते हैं। हम पूछते हैं कि दीवाल शब्द के साथ किस सम्बन्ध से सम्बन्धित होकर उस शब्द में इतना सामर्थ्य ला देता है कि अन्तिम उत्पद्यमान शब्द ही उपान्त्य का विघात करने लगे! स्पष्टतः, आपके अनुसार इनमें कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। द्रव्य गुण का संयोग सम्बन्ध नहीं होता। दीवाल का आकाश के साथ संयोग सम्बन्ध अवश्य है। पर दीवाल का अभिघात आकाश में कोई विशेषता नहीं ला सकता। इस प्रकार जब दीवाल ने आकाश को सक्रिय करके प्रभावित ही नहीं किया तो उस समवेत शब्द में शब्द विनाश का सामर्थ्य कैसे आया? यह भी प्रश्न है कि उपान्त्य शब्द स्वयं विनष्ट होकर अन्तिम शब्द का विनाश किस प्रकार कर सकता है?

इन सबसे प्रकट है कि आपकी शब्दज शब्द प्रक्रिया सर्वथा असंगत एवम् असमीचीन है।

न्याय– पर आपके मत में शब्द विभु या सर्वव्यापक है तो अनेक अक्षर सर्वत्र एक साथ कैसे रह सकते हैं। जहाँ 'क' बैठा हुआ है, वहाँ 'ख' कैसे रह सकता है।

मीमांसक– आपके मत में भी तो असंख्य विभु आत्माएँ हैं। वे सर्वत्र एक साथ कैसे रह लेती हैं। पहले इसका जवाब दें। कृपया पुनः इस मुहावरे को याद करें कि जिसके घर स्वयं शीशे के हों, वे दूसरे के घरों में पत्थर नहीं चलाया करते।

न्याय– पर दुनियाँ भर में 'क' शब्द एक साथ हो कैसे सकता है। वह तो अलग २ लोगों से बोला जाता हुआ प्रत्यक्ष ही हमें उपलब्ध होता है।

मीमांसक– वह बोलने वाले तथा उसके मुख, ताल्वादि अभिव्यंजक के भेद से भिन्न प्रतीत होता है। वस्तुतः वह एक ही है।

न्याय– हम कहते हैं, वह एक नहीं है। अपितु समान जाति का होने से एक प्रतीत होता है। जैसे पूरी रात जलती हुई दीपकलिका समान जाति की होने से एक ही प्रतीत होती है।

मीमांसक– हम कहते हैं वह एक ही है। फिर भी उपाधि या अभिव्यंजक के भेद से भिन्न२ प्रतीत होता है। जैसे लोगों को अलग२ उपाधि के द्वारा घटाकाश छोटा तथा मठाकाश बड़ा अलग२ प्रतीत होता है।

न्याय– पर इस विवाद से कोई निर्णय तो हो नहीं पाया कि दूर स्थित घण्टा का शब्द कानों से किस प्रकार सुना जाता है।

बौद्ध– इसलिये मानना होगा कि न तो शब्द श्रोत्र के पास जाता है, न ही श्रोत्र शब्द के पास आता है। अपितु दोनों के अपनी२ जगह अवस्थित रहने पर भी, जैसे दूर स्थित चुम्बक की अवस्थिति मात्र से लोहे में क्रिया हो जाती है, उसी प्रकार घण्टा–शब्द की स्थिति मात्र से वह सुनाई पड़ जाता है[1]।

सभी दार्शनिक– वाह, वाह! तब तो आजकल टेलीफोन की क्या जरूरत! तब तो दुनियाँ भर के शब्द अपनी स्थिति मात्र से हर जगह सुनाई पड़ जावेंगे!!

---

१. चक्षुःश्रोत्रमनोऽप्राप्तविषयम् । – अभिधर्मकोश १.४३
यत्र रूपं दृश्यते, न तत्र तद्ग्राहकं चक्षुरिन्द्रियमस्ति, तत्र प्रमाणानुपलभ्यमानत्वात्। तत्राविद्यमानदेवदत्तादिवत्। यथा चक्षुः एवं श्रोत्रमपि वक्तव्यम्। – वहीं स्फुटार्था टीका।

८. अनुमानों की माया।

दर्शनशास्त्र में अनुमानों के प्रयोग से शब्द के विविध स्वरूप को सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। क्योंकि यथार्थ बोध के लिये प्रत्यक्ष के पश्चात् सामान्यतः अनुमान को ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। न्याय शास्त्र में इसका सबसे अधिक उपयोग हुआ है। पर अन्य सम्प्रदाय भी इसमें पीछे नहीं हैं। अतः यहाँ विभिन्न दार्शनिकों द्वारा अनुमान के द्वारा साधित ध्वनि–विषयक पक्ष प्रतिपक्ष को प्रस्तुत किया जा रहा है–

न्याय– इस विश्व में ज्ञानेन्द्रियों से पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है। यह देखा गया है कि जिन पदार्थों का केवल एक ही ज्ञानेन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है, वे अवश्य गुण होते हैं। जैसे रूप का केवल चक्षु से या स्पर्श का केवल त्वचा से प्रत्यक्ष होने के कारण ये दोनों गुण हैं। इसी प्रकार शब्द का केवल श्रोत्र से प्रत्यक्ष होने के कारण वह भी अवश्य ही गुण है। प्रयोग है– *शब्द गुण है, जाति वाला होकर हम लोगों की केवल एक२ बाह्य ज्ञानेन्द्रिय से ग्राह्य होने के कारण, रूप के समान*[1]।

जैन– न्याय का यह कथन ठीक नहीं। वस्तुतः शब्द पृथिवी, जल, वायु आदि पुद्गलों का एक पर्याय अथवा अवस्था है। यह इन पुद्गलों में कभी रहने तथा कभी न रहने से पौद्गलिक पर्याय के रूप में मान्य है। ज्ञानेन्द्रियों के विषय पुद्गल के गुण तथा पर्याय दोनों होते हैं। अतः प्रयोग होगा– *शब्द पौद्गलिक हैं, ज्ञानेन्द्रियों का विषय होने के कारण, रूपादि के समान*[2]।

न्याय– यह ठीक नहीं। यह शब्द पृथिवी आदि पुद्गलों का पर्याय नहीं माना जा सकता। क्योंकि यह आकाश में समवेत होता है। आकाश में रहने वाला गुण पृथिवी आदि का पर्याय किस प्रकार हो सकता है। अतः प्रयोग होगा– *शब्द पौद्गलिक नहीं, क्योंकि स्पर्श–शून्य द्रव्य उसका आश्रय है*[3]।

जैन– न्याय का हेतु वास्तव में हेत्वाभास है। क्योंकि यह शब्द वायु आदि के स्पर्श के साथ२ उपलब्ध होता है। ठण्डी हवा लगने के साथ२ उसका सी सी शब्द भी सुनाई पड़ता है। अतः स्पष्टतः स्पर्श–शून्य आकाश नहीं अपितु स्पर्श

---

१. शब्दो गुणः, जातिमत्त्वे सति अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात्, रूपवत्।
– तर्कभाषा, प्रमेयनिरूपण पृ. १८७

२. पौद्गलिकः शब्दः, इन्द्रियार्थत्वात्, रूपादिवत्।
– स्याद्वादमञ्जरी श्लोक १४ पर अन्ययोगव्यवच्छेद टीका पृ. १२६

३. नास्ति पौद्गलिकः शब्दः स्पर्शशून्याश्रयत्वात्। – वही पृ. १२६

वाला वायु आदि द्रव्य ही शब्द का आश्रय है[1]।

शब्द के आकाशगुणत्व का भी आसानी से निवारण हो सकता है। क्योंकि हमारे प्रत्यक्ष के जो रूपादि विषय होते हैं, वे कभी भी आकाश के गुण नहीं होते। अतः प्रयोग होगा– *शब्द आकाश का गुण नहीं है, हमारे प्रत्यक्ष का विषय होने के कारण, रूपादि के समान*[2]।

वेदान्त– यहाँ यह कहना ठीक नहीं कि शब्द आकाश का गुण नहीं। क्योंकि प्रतिध्वनि आदि आकाश का गुण हो सकता है। अतः आकाश आदि सभी महाभूतों का शब्द गुण मानना श्रेयस्कर है। यहाँ न्याय के द्वारा केवल आकाश का गुण बताना ठीक नहीं। क्योंकि वह अन्य महाभूतों में भी उपलब्ध होता है। अतः प्रयोग है– *शब्द केवल आकाश का गुण नहीं है, वायु आदि में भी उपलब्ध होने के कारण*[3]।

न्याय– वास्तव में यह कहना सर्वथा अनुचित है कि शब्द घण्टा आदि पृथिव्यादि पदार्थों का भी गुण होता है। क्योंकि पृथिवी आदि द्रव्यों के गुण कारणगुणपूर्वक होते हैं। पर यह शब्द ऐसा नहीं है। अतः इनका गुण भी नहीं है। प्रयोग होगा– *शब्द स्पर्श वाले द्रव्यों का गुण नहीं है, अकारण–गुणपूर्वक होकर भी प्रत्यक्ष होने के कारण, सुख के समान।*

इस तथ्य को अन्य अनुमानों से भी सिद्ध कर सकते हैं। यह शब्द घण्टा संयुक्त आकाश से अन्यत्र भी उपलब्ध होता है। पर अन्य सभी विशेष गुण आश्रय में ही उपलब्ध देखे गए हैं। अतः विपरीत धर्म वाला होने से यह स्पर्श वाले द्रव्यों का गुण नहीं हो सकता। प्रयोग होगा– *यह शब्द पृथिवी आदि चारों का गुण नहीं, आश्रय से अन्यत्र उपलब्ध होने के कारण*[4]।

शब्द की आश्रय से अन्यत्र उपलब्धि शब्द–सन्तान नामक विशेष प्रक्रिया के कारण होती है। अन्य किसी भी गुण में यह प्रक्रिया नहीं पाई जाती। इस दृष्टि

---

१. शब्दपर्यायस्याश्रयो भाषावर्गणा, न पुनराकाशम्, तत्र च स्पर्शो निर्णीयत एव।
—वही पृ. १२७

२. न गगनगुणः शब्दः, अस्मदादिप्रत्यक्षत्वात्, रूपवत्। — वही पृ. १२६

३. शब्दो नास्ति आकाशमात्रगुणः, वाय्वादावपि तदुपलब्धेः।
— वेदान्त परिभाषा, विषय–परिच्छेद पृ. ३१२

४. अयं शब्दो न पृथिव्यादीनां चतुर्णां गुणः, आश्रयादन्यत्रोपलब्धेः।
—तत्त्वसंग्रह श्लोक ६२१ पर पञ्जिका।

से भी अन्यों से विपरीत धर्म वाला होने से यह घण्टा आदि का गुण नहीं हो सकता। प्रयोग होगा– *शब्द रूपादि गुणों के समानाश्रय घण्टा आदि में समवेत नहीं हो सकता, घण्टास्थ गुणों के सन्तान वाला न होने*[1] *तथा इस शब्द के शब्द–सन्तान वाला होने से। घण्टा आदि में समवेत होने वाले रूपादि गुण कभी सन्तान वाले नहीं होते–घण्टा के मूर्त तथा अव्यापक होने से*[2]*। पर शब्द तो शब्द–सन्तान वाला है। अतः घण्टा आदि में समवेत भी नहीं है।*

मीमांसक– वास्तव में यह कहना ठीक नहीं कि शब्द में कोई सन्तान होता है। क्योंकि किसी भी रूपादि गुण में यह सन्तान नहीं देखा गया। अतः मानना होगा कि किसी भी गुण के साथ व्याप्ति न होने से यह अन्य शब्द को उत्पन्न करने वाला नहीं हो सकता। प्रयोग है– *शब्द अन्य शब्द का आरम्भक नहीं है, गुण होने के कारण, रूप के समान*[3]*।*

यह शब्द–सन्तान सम्भव भी नहीं है। क्योंकि ऐसा सन्तान क्रियावान् तथा वेगवान् के द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। शब्द में ऐसी कोई क्रिया या वेग गुण न होने से उसमें यह सन्तान सम्भव नहीं हो सकता। प्रयोग होगा– *शब्द में कोई वीचीसन्तान नहीं है, क्रियायोग न होने से तथा वेग न होने से।*

जैन– इसलिये मानना होगा कि शब्द का आश्रय स्पर्श वाली वायु आदि होती है। उसके अनुकूल होने पर उसका स्पर्श तथा दूर का शब्द भी साथ ही सुनाई पड़ता है, प्रतिकूल होने पर पास का शब्द भी नहीं सुनाई पड़ता। इस प्रकार शब्द–सन्तान से नहीं, अपितु वायु के चलने से यह शब्द श्रोता तक पहुँचता है[4]।

न्याय– पर वायु में तो कोई शब्द रहता ही नहीं। क्योंकि वायु के सभी गुण यावद् द्रव्यभावी होते हैं। पर शब्द ऐसा नहीं है। अतः प्रयोग होगा– *शब्द वायु का गुण नहीं, अयावद् द्रव्यभावी होने से।*

शिक्षाशास्त्र– अतः यही कहना समुचित है कि वायु द्रव्य ही घनीभूत होकर अन्ततः शब्दाकार में परिणत हो जाता है।

---

१. शब्दो नास्ति रूपादिसमानदेशः, कम्पसमानाश्रयः घण्टादिस्थः, घण्टादिनिष्ठरूपादीनां सन्तानादर्शनात्। – न्याय सूत्र २.२.३८ के वात्स्यायन भाष्य पर प्रसन्नपदा पृ. १६१

२. घण्टायाश्च मूर्तत्वेनाव्यापकत्वेन च तत्र शब्दस्य सन्तानो नोपपद्यते। –उक्त सूत्र पर प्रसन्नपदा पृ० १६१

३. न शब्दान्तरारम्भकः शब्दो गुणत्वात्, रूपवत्। – न्याय मञ्जरी पृ. १६७

४. शब्दाश्रयः स्पर्शवान्। अनुवात – स्याद्वादमञ्जरी पृ १२६ (द्वितीय परिच्छेद की टिप्पणी द्रष्टव्य)

मीमांसक– वास्तव में यह कथन सर्वथा अनुचित है। क्योंकि यदि शब्द वायु का परिणाम हो तब तो शब्द के साथ२ वायु के स्पर्श की भी उपलब्धि होनी चाहिये। जैसे तन्तु का पटरूप में परिणाम होने पर पट के साथ २ तन्तु की तथा उसके रूपादि गुणों की भी चक्षु से उपलब्धि अवश्य होती है। पर यहाँ जो वायु शब्द का प्रत्यक्ष कराती है, वह किसी विभिन्न स्पर्श की उपलब्धि नहीं कराती। अतः शब्द वायु का परिणाम नहीं हो सकता। प्रयोग होगा– *शब्द वायवीय नहीं है, शब्द के वायवीय अवयवों तथा उसके स्पर्श का श्रोत्र से प्रत्यक्ष न होने के कारण*[1]।

अतः मानना होगा कि वायु शब्दाकार में परिणत नहीं होता, अपितु वह नित्य शब्द को अभिव्यक्त करता है।

न्याय– पर इस दुनियाँ में कोई नित्य अभिव्यंग्य शब्द है ही नहीं। सभी अनित्य शब्द हैं। क्योंकि वे बाह्य ज्ञानेन्द्रिय से अनुभूत होते हैं। सभी ऐसे पदार्थ अनित्य ही होते हैं। ज्ञानेन्द्रियों से विभु, अणु नित्य पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होता। वे नियमतः अनित्य पदार्थों का ही प्रत्यक्ष करती हैं। अतः प्रयोग होगा– *शब्द अनित्य है, जाति वाला होकर हम लोगों के बाह्य करण से प्रत्यक्ष योग्य होने के कारण, घट के समान*[2]।

कारण वाला होने अथवा उत्पन्न होने वाला होने से भी इस शब्द को अनित्य सिद्ध किया जा सकता है। अतः प्रयोग होगा– *शब्द अनित्य है, कारण वाला होने से*[3]।

मीमांसक– यह ठीक नहीं। वास्तव में तो श्रवण योग्य होने से शब्द नित्य ही है। अतः प्रयोग है– *शब्द नित्य है, श्रावण होने से।*

न्याय– आपका यह हेतु 'सत्प्रतिपक्ष' नामक हेत्वाभास से ग्रस्त है। क्योंकि इसे खण्डित करने के लिये उपर्युक्त अनुमान यथावस्थित है।

मीमांसक– आपका उपर्युक्त हेतु 'व्याप्यत्वासिद्ध' नामक हेत्वाभास से ग्रस्त है। क्योंकि उसमें 'अश्रावणत्व' उपाधि है[4]। इस प्रकार जो बाह्य इन्द्रिय से

१. तुलनीय–तृतीय परिच्छेद में टिप्पणी में प्रस्तुत शाबर भाष्य तथा तत्वसंग्रह श्लोक २५३३। साथ ही 'तस्य वायोः स्पर्शप्रसंगो योऽयं भाष्यकारेण कृतः, स कथम्–प्रस्तुत श्लोक पर पञ्जिका।
२. अनित्यः शब्दो जातिमत्त्वे सति अस्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्वात्, घटवत्।
– न्याय सूत्र २.२.१४ पर न्याय–वार्तिक तथा तर्कभाषा पृ. २०६
३. अनित्यश्चायं कारणतः – वैशेषिक सूत्र २.२.२८। कारणवदनित्यं दृष्टम्, स्थाल्यादि। कारणवाँश्चायम्। – प्रस्तुत सूत्र पर भाष्य
४. एतेनेदमपास्तम्—अश्रावणत्वोपाधिबाधितत्वाच्च। –सर्वदर्शन–संग्रह, जैमिनि दर्शन पृ० ५५४

ग्राह्य हो वह अनित्य नहीं, अपितु जो अश्रावण हो वही अनित्य होता है।

न्याय– आपका यह उपाधि प्रदर्शन सर्वथा गलत है। आखिर अश्रावणत्व किसी की अनित्यता में किस प्रकार प्रयोजक हो सकता है। प्रयोजक को ही उपाधि कहते हैं[1]। अतः यह उपाधि मान्य नहीं है।

मीमांसक– आपका भी अनित्यता सिद्धि के लिये हेतु–प्रदर्शन सर्वथा गलत है। आखिर कारणवत्व या कार्यत्व हेतु अपने आश्रय शब्द में है या नहीं इसे स्पष्ट सिद्ध किये बिना यह सद् हेतु किस प्रकार हो सकता है। अतः यह हेतु मान्य नहीं है।

विविध निष्कर्षों के कारण

उपरिलिखित विवेचन से प्रकट है कि इन अनुमानों के प्रयोग से दार्शनिक लोग अलग२ निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। इसका कारण ढूँढ़ना रोचक है कि अनुमान 'प्रमाण' होकर भी एक निष्कर्ष क्यों नहीं प्रदान कर पाता। स्थिति यह है कि दो वस्तुओं में समानता के आधार पर अतिसामान्य तथा विशेष परिस्थिति वाले निष्कर्ष भी निकाले जा सकते हैं। यदि इन वस्तुओं में कुछ समानता तथा कुछ विलक्षणता पाई जाती हो तब तो अलग२ निष्कर्ष निकालना सर्वथा सम्भव है।

उदाहरण के लिये मान लीजिये, क तथा ख में परस्पर $च^1$ तथा $च^2$ नामक धर्मों की समानता देखी गई है तथा ख में 'ट' नामक एक धर्म की विलक्षणता देखी गई है। इस ख में $च^3$ नामक धर्म को सिद्ध करना है जो कि 'क' में प्रत्यक्ष ही देखा गया है। यहाँ समानता के आधार पर अन्वयी अनुमान के द्वारा एक निष्कर्ष तथा विलक्षणता के आधार पर व्यतिरेकी अनुमान के द्वारा ठीक विपरीत निष्कर्ष प्राप्त हो सकता है। जैसे–

प्रथम अनुमान प्रयोग–

ख में $च^3$ नामक धर्म है।

ख में $च^2$ धर्म होने के कारण।

जहाँ२ $च^2$ होता है, वहाँ२ $च^3$ अवश्य होता है, जैसे क में

ख में भी $च^2$ है। अतः वहाँ $च^3$ भी अवश्य है।

---

१. प्रयोजकश्चोपाधिरुच्यते। –तर्कभाषा, हेत्वाभासनिरूपण पृ० २५२

द्वितीय अनुमान प्रयोग–

ख में च^{3} नामक धर्म नहीं है।

ख में 'ट' धर्म होने के कारण

जहाँ२ च^{3} नामक धर्म होता है, वहाँ वहाँ 'ट' धर्म नहीं होता, जैसे क में।

पर ख तो ऐसा नहीं है। अतः वहाँ च^{3} धर्म भी नहीं है।

इस द्वैत को एक लौकिक उदाहरण से भी प्रकट कर सकते हैं। मान लीजिये, किसी व्यक्ति को त्वचा से आग में उष्ण गुण होने का अनुभव नहीं है। केवल वह दूर से उसके लाल प्रकाश को देखकर ही उसे जान पाता है। यह व्यक्ति अनुमान प्रमाण के द्वारा इसमें उष्ण गुण के होने या न होने को जानना चाहता है। यहाँ अनुमाता अपने अलग२ प्रयोगों से दो विरोधी निष्कर्ष प्राप्त कर सकता है। क्योंकि आग में पृथिवी, जल, वायु के साथ कृतकत्व या अनित्यत्व धर्म की समानता है। साथ ही उस आग में प्रकाशकत्व नामक धर्म की ऐसी विलक्षणता है, जो अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं होती। इस दशा में प्रयोग इस प्रकार होंगे–

प्रथम अनुमान प्रयोग–

आग अनुष्ण या ठण्डी होती है।

कृतक या अनित्य होने से

दुनियाँ में जो२ अनित्य हैं, वे अनुष्ण अवश्य हैं, जैसे जल आदि।

आग भी ऐसी ही अनित्य है। अतः अवश्य ही अनुष्ण या ठण्डी है।

द्वितीय अनुमान प्रयोग–

आग उष्ण होती है

प्रकाशक होने से

जो उष्ण नहीं होता, वह प्रकाशक भी नही होता, जैसे जल आदि।

पर आग तो ऐसी नहीं, अर्थात् प्रकाशक है।

अतः यह अनुष्ण नहीं, अर्थात् उष्ण है।

ध्यान रहे, यहाँ न्याय के आकर–ग्रन्थों में प्रथम अनुमान के हेतु को प्रत्यक्ष द्वारा बाधित ठहराया है। किसी अन्य अनुमान के द्वारा नहीं। उनके पास ऊपर प्रस्तुत दो अनुमानों में से किसी एक को अनुमान से ही सिद्ध या बाधित करने का कोई उपाय नहीं। यहाँ पर हमने उस बेचारे अनुमाता को आग के पास ले जाकर प्रत्यक्ष से प्रथम अनुमान को बाधित कर दिया। पर अन्य उदाहरणों में अगर किसी धर्म को प्रत्यक्ष से जान पाने का उपाय न हो तो? स्पष्ट है कि वहाँ अनुमान किसी एक को सिद्ध या बाधित नहीं कर सकता।

शब्द के विभिन्न धर्मों के साथ ऐसी ही स्थिति है। इसमें अनेक समान तथा कुछ विलक्षण धर्म होने के कारण सभी दार्शनिक अपने२ मनपसन्द निष्कर्ष निकालते हैं तथा उसे ही सही ठहराते हैं। इसे निम्न चित्र से स्पष्ट किया जा सकता है—

शब्द की रूप आदि चार गुणों से समानताएँ—

I रूप आदि बाह्य ज्ञानेन्द्रियों से प्रत्यक्ष के विषय होते हैं।	I शब्द भी बाह्य ज्ञानेन्द्रिय से प्रत्यक्ष का विषय होता है।

निष्कर्ष-

१. *वेदान्त- जो२ इन ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं, वे अवश्य ही पृथिव्यादि के गुण होते हैं। अतः शब्द भी पृथिवी आदि का गुण है।*

२. *जैन- जो२ हमारे प्रत्यक्ष का विषय होते हैं, वे आकाश के गुण नहीं होते। अतः शब्द भी आकाश का गुण नहीं है।*

३. *न्याय- जो२ इन ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं, वे अवश्य ही गुण होते हैं। अतः शब्द भी गुण है।*

II रूप आदि सभी गुण हैं।	II शब्द भी गुण है।

निष्कर्ष-

मीमांसक- जो२ गुण होते हैं, उनमें सन्तान नहीं होता अतः शब्द में भी शब्द-सन्तान नहीं होता।

शब्द की रूप आदि चार गुणों से विलक्षणताएँ–

I रूप आदि कारणगुणपूर्वक होकर प्रत्यक्ष के विषय हैं।	I शब्द कारणगुणपूर्वक न होकर प्रत्यक्ष का विषय है।

निष्कर्ष-

न्याय- पर जो पृथिवी आदि चार द्रव्यों के गुण होते हैं, वे तो अवश्य ही कारण-गुण-पूर्वक होते हैं। शब्द तो ऐसा है नहीं। अतः यह पृथिवी आदि चार का गुण भी नहीं है।

II रूप आदि आश्रय से अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते।	II शब्द घण्टा संयुक्त आकाश से अन्यत्र भी उपलब्ध होता है।

निष्कर्ष-

न्याय- पर जो पृथिवी आदि चार द्रव्यों के गुण हैं वे तो कभी आश्रय से अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते। शब्द तो ऐसा नहीं है। अतः यह पृथिव्यादि का गुण भी नहीं है।

III रूप आदि में सन्तान नहीं होता।	III शब्द में शब्द–सन्तान होता है।

निष्कर्ष-

न्याय- पर पृथिवी आदि चार द्रव्यों के गुणों में तो सन्तान नहीं होता। शब्द तो ऐसा नहीं। अतः यह पृथिव्यादि का गुण भी नहीं।

इस प्रकार विरोधी अनुमान प्रयोगों की परिस्थिति में इतने अनुमानों के बाद भी यह प्रश्न बना ही रहता है कि–

I शब्द के भी बाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने के कारण इसे पृथिवी आदि का गुण मानें।

अथवा

शब्द के अकारणगुणपूर्वक प्रत्यक्ष आदि होने के कारण इसे पृथिवी आदि का गुण न मानें।

II शब्द के भी गुण होने तथा इसमें क्रिया तथा वेग न होने के कारण इसमें शब्द– सन्तान न मानें।

अथवा

शब्द के आश्रय से अन्यत्र उपलब्ध होने के कारण शब्द–सन्तान मानें।

III व्यक्तिभेद आदि से शब्द के अलग२ उपलब्ध होने से इन्हें अलग२ मानें।

अथवा

सर्वत्र शब्द की समानता उपलब्ध होने से इन्हें सर्वथा एक अथवा 'वही' मानें।।

---

६. समस्या की जड़ें कहाँ हैं।

पिछले दो परिच्छेद केवल इस तथ्य की झलक दिला पाने में समर्थ हैं कि दर्शन के विविध सम्प्रदाय ध्वनि को लेकर कितनी उलझन में हैं। दर्शन में ध्वनि के हर विकल्प को आजमाया गया है, उस पर गम्भीर विचार किया गया है। पर लगभग सभी विकल्पों पर अन्य सम्प्रदायों ने अनेक प्रश्न उपस्थित किये हैं। ये प्रश्न कभी२ तो इतने अकाट्य हैं कि इनका समाधान प्राप्त होना सर्वथा दुष्कर है। अतः यहाँ क्रमबद्ध विचार कर लेना आवश्यक है कि सभी सम्प्रदायों की ध्वनि–विषयक प्रमुख मान्यताओं के समक्ष कौन प्रमुख समस्याएँ उपस्थित होती हैं।

इस तथ्य में लगभग सभी सहमत हैं कि ध्वनि श्रोत्र से ग्रहण किया जाने वाला गुण है। श्रोत्र, घ्राण तथा रसना इन्द्रियों से केवल गुण का प्रत्यक्ष होता है। चक्षु तथा त्वचा से गुण तथा द्रव्य दोनों उपलब्ध होते हैं। क्योंकि आँखें रूप के अलावा लम्बाई, चौड़ाई, दीर्घ, ह्रस्व, संयोग, विभाग आदि गुणों के माध्यम से किसी द्रव्य के आकार प्रकार को देख पाने में समर्थ हैं। श्रोत्र से किसी द्रव्य के ऐसे किसी आकार प्रकार को उपलब्ध नहीं किया जा सकता। अतः मान्य है कि श्रोत्रेन्द्रिय केवल शब्द नामक गुण का प्रत्यक्ष करती है।

सभी गुण अपनी परिभाषा के अनुसार अनिवार्यतः किसी न किसी द्रव्य में निवास करते हैं। बाहरी ज्ञानेन्द्रियों से ग्रहण किये जाने वाले विशेष गुण–रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इसी प्रकार के देखे गए हैं। हम यह सोच भी नहीं सकते कि द्रव्य को छोड़ कर केवल रूप गुण कहीं घूमता फिरे! जब भी कभी रूप एक स्थान से अन्यत्र उपलब्ध होता है तो उसके अपने द्रव्य में रहते हुए ही ऐसा होता है।

ज्ञानेन्द्रियाँ अनिवार्यतः इन गुणों वाले द्रव्य से संयुक्त होकर ही इनके गुणों का प्रत्यक्ष करती हैं। यद्यपि प्रक्रिया थोड़ी अलग२ है। स्पर्श बोध के लिये या तो त्वचा उस द्रव्य तक पहुँचती है या वह स्पर्शवान् द्रव्य त्वचा के पास लाया जाता है। रस–बोध के लिये सामान्यतः रसवान् द्रव्य रसना तक पहुँचाया जाता है। रूप–बोध के लिये आँखें अपनी किरणों के माध्यम से रूपवान् द्रव्य तक पहुँचती हैं। (दार्शनिक ऐसा ही मानते हैं।) गन्ध–बोध के लिये फूल से गन्ध वाले अणु उड़ कर हवा से संयुक्त होकर उसके सहारे नाक तक पहुँचते हैं।

पर ध्वनि या शब्द–गुण के प्रत्यक्ष के सन्दर्भ में स्थिति थोड़ी भिन्न है। हम देखते हैं कि घण्टा में शब्द उत्पन्न होकर घण्टा नहीं, अपितु केवल उसका शब्द

हमारे कानों तक पहुँचता है। शब्द के गुण होने के कारण ऐसा नहीं होना चाहिये। इसे सिद्ध करने के लिये अनेक विकल्प हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। जैसे–

I घण्टा में शब्द उत्पन्न ही न होता हो, अपितु इससे संयुक्त आकाश नामक द्रव्य में उत्पन्न होकर शब्दज–शब्द प्रक्रिया से उत्पन्न विनष्ट होते हुए हमारे कानों तक पहुँच जाता हो।

II घण्टा में शब्द उत्पन्न होकर उससे संयुक्त वायु में नित्य सम्बन्ध से उत्पन्न होकर उसके स्पर्श के साथ२ उसमें रहते हुए उस वायु की गति के द्वारा कानों तक पहुँच जाता हो।

III घण्टा में शब्द उत्पन्न होकर उसके शब्द वाले अणु घण्टा से निकल कर हवा में संयुक्त हो जाते हों तथा वे हवा के सहारे हमारे कानों में पहुँच जाते हों। जैसे फूल के गन्ध वाले अणु हवा में मिल कर नाक तक पहुँच जाते हैं।

IV स्वयं श्रोत्र ही घण्टादेश में पहुँच कर उसमें स्थित शब्द को उपलब्ध करता हो।

V घण्टा के प्रकम्पन से समीपवर्ती वायु में संयोग–विभाग के द्वारा सर्वत्र वर्तमान नित्य शब्द श्रोत्र में अभिव्यक्त होता हो।

इसमें न्याय–सम्मत प्रथम विकल्प के अन्तर्गत शब्दज–शब्द की प्रक्रिया को अतिसूक्ष्मता के साथ निरूपित किया जाता है। फिर भी उस पर ऐसे अजर अमर प्रश्न उपस्थित किये गए हैं, जिनका समाधान सम्भव नहीं दिखता।

जैन–सम्मत द्वितीय विकल्प पर भी प्रश्न यह है कि वायु का यह शब्द अन्य गुणों के समान 'यावद्–द्रव्य–भावी' क्यों नहीं होता। अथवा यह पूछ सकते हैं कि वायु में स्थित यह शब्द किन कारणों से तुरन्त नष्ट हो जाता है। अन्य गुण तो ऐसे नहीं हैं।

सांख्य– सम्मत तृतीय विकल्प पर भी प्रश्न यह है कि इन उड़े हुए घण्टा के अणुओं में समवेत शब्द क्यों तुरत नष्ट हो जाता है। साथ ही इस दशा में यह सम्भावना बनती है कि यह घण्टा कपूर की तरह शीघ्र उड़ जाय। ऐसा क्यों नहीं होता।

वेदान्त–सम्मत तथा मीमांसा–सम्मत क्रमशः चौथे, पाँचवें विकल्प आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से व्यावहारिक नहीं हैं। अतः उन पर विचार अनावश्यक है।

ध्वनि–स्वरूप पर आधुनिक वैज्ञानिक विकल्प

इनके अलावा ध्वनि का एक और विकल्प बचता है, जिसे आधुनिक वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार बाहरी दुनियाँ में 'ध्वनि' नामक कोई अतिरिक्त वस्तु है ही नहीं!! दार्शनिकों के अनुसार यह विकल्प इतना अव्यावहारिक है कि इस पर विचार करने की भी आवश्यकता नहीं।

पर वैज्ञानिक कहते हैं कि यही सही है। इस दुनियाँ में ध्वनि ऊर्जा है, ध्वनि तरंगें हैं, ध्वनि उत्पन्न करने की सम्पूर्ण प्रक्रिया एवं व्यवस्था है। पर ध्वनि नहीं है। घण्टा में बनने वाले प्रकम्पन, हवा में उत्पन्न तरंगें तथा इनके द्वारा कानों की अस्थियों में बनने वाले प्रकम्पन के परिणामस्वरूप जो भी ध्वनि उत्पन्न होती है, वह एक संवेदना है, जो कि मस्तिष्क में निवास करती है। इस संवेदना के अनिवार्य कारण प्रकम्पन आदि को भी लौकिक व्यवहार में गौण रूप से ध्वनि कहा जा सकता है। पर बाहरी दुनियाँ में इनसे अतिरिक्त कोई 'ध्वनि' नहीं है।

दार्शनिक कहेंगे कि यह विवरण बौद्ध विज्ञानवादी है। पर वास्तव में ऐसा है नहीं। यह विवरण उन भौतिक वैज्ञानिकों का है, जो बाहरी दुनियाँ को सर्वथा सत्य तथा हमारे ज्ञान से अप्रभावी मानते हैं। दार्शनिकों के अनुसार 'शब्द का अनुभव' जैसे प्रयोगों में स्पष्ट ही हमारे ज्ञान से भिन्न बाहरी विषय के रूप में शब्द उपलब्ध होता है। पर प्रयोग तो 'पीड़ा का अनुभव', 'सुख–दुख का अनुभव' भी होते हैं। इन प्रयोगों से कोई दार्शनिक भी पीड़ा को ज्ञान–बाह्य नहीं मानते।

भौतिक विज्ञान के अनुसार दुनियाँ के पदार्थ निश्चय ही ज्ञान–बाह्य हैं। क्योंकि इनके द्वारा तथा इनके अनुरूप हमारा ज्ञान या संवेदना उत्पन्न होती है। फिर भी ये संवेदनाएँ अपने सर्वाधिक सन्निहित बाह्य कारक के सर्वथा अनुरूप नहीं बनतीं। अपितु मस्तिष्क के अपने२ संवेदी क्षेत्र में अपने२ विशिष्ट प्रकार की बनती हैं। ऊष्म– संवेदना, शब्द–संवेदना इत्यादि के समय बाह्य भौतिक घटना से ज्ञानेन्द्रियों पर बने विविध प्रकार के प्रकम्पन सर्वाधिक सन्निहित कारक हैं। इनकी मस्तिष्क के विविध संवेदी क्षेत्रों में बने प्रतिबिम्बों के द्वारा पुनः प्रस्तुति की जाती है[1]। इस पुनः प्रस्तुति की प्रक्रिया में यह आवश्यक नहीं होता कि वे संवेदी

---

१. हमारे मस्तिष्क में बाह्य विश्व के प्रतिबिम्ब होते हैं। फलस्वरूप, हमारे सब विचार भी मस्तिष्क में बाह्य विश्व के प्रतिबिम्ब हैं। – द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद की सरल रूपरेखा पृ. १२६। पुनः – 'यह ध्यान रहे कि हर प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बित की आंशिक पुनः प्रस्तुति ही करता है।' वही पृ. १३६

क्षेत्र इन्द्रियस्थ प्रकम्पनों का ठीक उसी प्रकार मूल्यांकन करें। अपितु अग्नि के प्रकम्पन के अनुभव के समय मस्तिष्क में यह मूल्यांकन ऊष्णता के रूप में होता है तथा सुनते समय हमारा मस्तिष्क वायु–प्रकम्पन के द्वारा उत्पन्न कानों की अस्थि–प्रकम्पन का शब्द–संवेदना के रूप में मूल्यांकन करता है। अब यह मस्तिष्क अपने स्वभाव के अनुसार इस विशिष्ट प्रभाव या मूल्यांकन को इसी रूप में बाहर आरोपित करता है। इसीलिये ऊष्मा के समान ध्वनि अतिरिक्त रूप से बाहर प्रतीत होती है।

हमने इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में 'रूप तथा ऊष्मा' नामक परिच्छेद के अन्तर्गत विस्तार से सिद्ध किया है कि अग्नि तथा उसके प्रकम्पन के अतिरिक्त कोई ऊष्मा नामक गुण बाहरी दुनियाँ में अस्तित्वशाली नहीं। फिर भी मस्तिष्क अपनी विशेष प्रक्रिया के अनुसार ऐसा ही समझता है। हम उस सम्पूर्ण विवरण को यहाँ दुहराना नहीं चाहते।

इस प्रक्रिया के द्वारा हम दैनिक जीवन में ध्वनि को इस प्रकार स्थापित करते हैं– १. वह सन्निहित कारक (प्रकम्पन आदि) जिस ध्वनि रूप में मस्तिष्क को प्रभावित करता है, अथवा यों कहें कि मस्तिष्क उस कारक का जिस रूप में मूल्यांकन करता है, उसे हम बाहरी दुनियाँ में प्रकम्पन क्रिया से भिन्न रूप में आरोपित करते हैं। २. वायु–प्रकम्पन जैसे सन्निहित–कारक के अपने स्वरूप की उपलब्धि न होने के कारण उसके ध्वनि होने या न होने की चर्चा नहीं करते, पर घण्टा–प्रकम्पन की ध्वनि–स्वरूपता का प्रतिषेध करते हैं।

इसीलिये दर्शनशास्त्र के विद्वान् प्रयत्नपूर्वक प्रकम्पन की शब्दस्वरूपता का प्रतिषेध करते हैं। उनका कहना है कि घण्टा के प्रकम्पन का अनुभव त्वचा या आँखों से होता है, जो कि कानों से होने वाले शब्द–बोध से भिन्न प्रकार का है। इस प्रकार इस बोध के चाक्षुष होने से इसे शब्द नहीं माना जा सकता[1]।

यहाँ वायु–प्रकम्पन की शब्द–स्वरूपता का प्रश्न ही नहीं उठाया गया है। क्योंकि हम इनका त्वचा आदि से अनुभव नहीं कर सकते तथा हमारे कान भी इनका 'प्रकम्पन' के रूघ में अनुभव नहीं कराते। आज हम जानते हैं कि साँपों के

---

१. नापि कर्माचाक्षुषत्वात् प्रत्ययस्य। – वैशेषिक सूत्र २.२.२४
(शब्दो नास्ति कर्म)। प्रत्ययस्य शब्दविषयकस्याचाक्षुषत्वात्, चक्षुर्भिन्नबहिरिन्द्रियजन्यत्वा–दित्यर्थः। – उसी सूत्र पर उपस्कार।

कान नहीं होते। पर वे किसी शब्द होने की दशा में धरती पर तथा उसके पश्चात् वायु में बने प्रकम्पनों का अनुभव कर लेते हैं[1]। कुछ मछलियाँ भी श्रवण–सीमा से निम्न आवृत्ति वाले प्रकम्पनों के प्रति अपनी पार्श्व रेखा में उपस्थित ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा संवेदनशील होती हैं[2]। यदि हमारे साथ भी ऐसा होता तब शायद हम इन वायु–प्रकम्पनों की शब्द–स्वरूपता का सिद्धान्त स्थापित करते!! पर वर्तमान ज्ञानेन्द्रिय–रूपी उपकरणों की स्थिति में हमारी ध्वनि–विषयक स्थापनाएँ उपर्युक्त प्रकार की ही बनती हैं।

दर्शन तथा विज्ञान में मौलिक मतभेद

इस विवेचना के आलोक में दर्शन तथा विज्ञान में समानता तथा स्पष्ट विभेद स्थापित कर लेना आवश्यक है। दोनों इस तथ्य में एकमत हैं कि घण्टा का प्रकम्पन, वायु की तरंगें इत्यादि ध्वनि या शब्द को उत्पन्न करने में कारण हैं।

अब यहाँ वैज्ञानिकों का कहना है कि १. इन तरंगों तथा कानों के अस्थि–प्रकम्पन आदि के द्वारा 'ध्वनि' नामक संवेदना मस्तिष्क में उत्पन्न होती है, जो कि घण्टा आदि में आरोपित की जाती है। वस्तुतः बाहरी दुनियाँ में इन तरंगों आदि से अतिरिक्त ध्वनि नामक कोई पदार्थ नहीं। २. दैनिक प्रयोगों में कार्य–कारण के अभेद के द्वारा गौण रूप से इन तरंगों को ध्वनि कहने में कोई आपत्ति नहीं। क्योंकि ये तरंगें अनिवार्यतः शब्द–संवेदना उत्पन्न करने में सबसे सन्निहित कारण हैं।

पर दार्शनिकों का कहना है कि १. इन तरंग इत्यादि के द्वारा सर्वथा अतिरिक्त वस्तु 'ध्वनि' नामक गुण रूप में बाहरी दुनियाँ में उत्पन्न होती है जिसका संवेदन मनुष्य को होता है। २. दैनिक प्रयोगों में घण्टा–प्रकम्पन या तरंगों से सर्वथा भिन्न रूप में घण्टा–ध्वनि को समझना चाहिये।

सचमुच, यही समस्या की जड़ है। इस ध्वनि को अतिरिक्त मानने पर इसे

---

१. यह प्राचीन काल से ही जान लिया गया था कि साँपों के कान नहीं होते। साथ ही यह भी ज्ञात था कि वे 'सुनने' जैसी संवेदना के साथ अपनी अनुक्रिया अवश्य करते हैं। अतः मान्य था कि वे आँखों से ही सुनते हैं!! इसे प्रकट करने के लिये संस्कृत में इन साँपों के लिये एक रोचक शब्द 'चक्षुःश्रवस्' प्रचलित है, जिसका मूल अर्थ 'आँखों से सुनने वाला' यह है।

२. पानी के किनारे कदमों के भूमि से जल तक संचारित होने वाले कम्पन का अधिकांश बहुत निम्न आवृत्ति का होता है और मछली कानों के बजाय पार्श्व रेखा में उपस्थित ज्ञानेन्द्रियों से इन कम्पनों को इन्द्रियगोचर कर सकती है।

—प्राणी शरीर का क्रिया विज्ञान, नट श्मिट–नील्सन, पृ० १०४

किसी पदार्थ के अन्तर्गत सिद्ध करना पड़ता है। पुनः इसे किसी अन्य पदार्थ में आधार अथवा स्थान देना पड़ता है। इसकी उत्पत्ति, विनाश, क्रिया आदि की अलग से व्यवस्था करनी पड़ती है। पर व्यवस्था चाहे जो करें, दोषों से छुटकारा नहीं मिलता। यदि इसे गुण मानते हैं तो इसकी गति सिद्ध नहीं होती, क्रिया मानते हैं तो कानों से शब्द–संवेदन नहीं बन पाता। द्रव्य मानते हैं तो इसके ह्रस्व, दीर्घ आदि अन्य गुण सिद्ध नहीं होते।

पर विज्ञान इस ध्वनि को अतिरिक्त न मानते हुए एक साथ इन सभी समस्याओं से मुक्ति प्राप्त कर लेता है तथा औपचारिक प्रयोगों को मान्यता देते हुए लोक–व्यवहार भी सिद्ध कर लेता है। विज्ञान जगत् में एक रोचक प्रश्न पूछा जाता है कि अगर किसी विस्तृत रेगिस्तान में, जहाँ दूर२ तक कोई सुनने वाला न हो, वहाँ कोई विस्फोट हो तो ध्वनि पैदा होगी या नहीं।

इसके दो प्रकार से उत्तर दिये जाते हैं। कुछ का कहना है कि कोई ध्वनि नहीं होगी। क्योंकि ध्वनि तो एक संवेदना है जो कानों में प्रकम्पन के उपाय से मस्तिष्क में उत्पन्न होती है। यह ध्वनि का तात्त्विक स्वरूप है।

पर कुछ का कहना है कि ध्वनि होगी। क्योंकि यहाँ बाहरी दुनियाँ में वह सम्पूर्ण भौतिक घटना परिघटित हुई है, जो ऐसी संवेदना को उत्पन्न करने के लिये अनिवार्यतः उत्तरदायी होती है। यह कार्य–कारण में अभेद मानते हुए ध्वनि का औपचारिक स्वरूप है।

विज्ञान की इस प्रकार की मान्यता पर दर्शन शास्त्र द्वारा अनेक प्रकार के प्रश्न उठाए जा सकते हैं, जो इस प्रकार हैं–

वैज्ञानिक मान्यता पर सम्भावित प्रश्नों का निराकरण

१. दर्शन में किसी विशेष पदार्थ के साथ सन्निकर्ष के द्वारा उसी पदार्थ–विषयक यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रक्रिया में अन्य पदार्थ के साथ इन्द्रिय–सन्निकर्ष के द्वारा अन्य पदार्थ–विषयक ज्ञान को उचित नहीं माना जाता। पर विज्ञान की प्रक्रिया में वायु–प्रकम्पन के साथ श्रोत्रेन्द्रिय के परम्परा–सन्निकर्ष के द्वारा शब्द–विषयक ज्ञान उत्पन्न माना जाता है। अतः प्रश्न है कि इस प्रक्रिया को किस प्रकार उचित ठहराया जा सकता है।

यहाँ विज्ञान का कहना है कि ज्ञानेन्द्रियों से लगभग सभी विशेष गुणों की संवेदना के सन्दर्भ में यही वास्तविकता है। इन संवेदनाओं की उत्पत्ति इन्हीं प्रकम्पनों तथा तरंगों का कमाल है। रूप, रंग की संवेदनाएँ विभिन्न दैर्घ्य वाली

प्रकाश–तरंगों से उत्पन्न होती हैं। लाल रंग की अनुभूति दृश्य–तरंगों में सबसे दीर्घ लम्बान 0-0007112 m.m. वाली प्रकाश–तरंग से उत्पन्न होती है। जबकि बैगनी (violet) रंग के लिये इन दृश्य–तरंगों में सबसे कम लम्बान 0.0004318m.m. वाली प्रकाश–तरंग की अपेक्षा होती है[1]।

किसी माध्यम में चलने वाली तरंगों में भी २० से लेकर २०,००० आवृत्ति वाले स्पन्दनों से हमें शब्द संवेदना प्राप्त होती है। कुत्ता ३०,००० आवृत्ति वाली 'कुत्ता–सीटी' को 'सुन' लेता है[२]। चमगादड़ १,००,००० चक्र आवृत्ति वाले स्पन्दनों से शब्द–संवेदना प्राप्त कर लेता है। जिसे मनुष्य कदापि प्राप्त नहीं कर पाता। अतः मनुष्य के लिये यह स्पन्दन पराश्रव्य है। पर किसी गर्म लोहे के घण्टे के अणुओं के मध्य दस लाख प्रति सेकेण्ड की आवृत्ति वाले स्पन्दनों के द्वारा हम अपनी त्वचा के माध्यम से ऊष्मा की संवेदना प्राप्त कर लेते हैं[3]।

यहाँ विज्ञान का मानना है कि क्योंकि गुणों की अनुभूति की यही वास्तविक प्रक्रिया है। अतः दर्शन की व्याख्या इस प्रक्रिया के अनुरूप की जानी चाहिये।

वैसे दर्शनशास्त्र भी कभी२ इस प्रक्रिया के समीप पहुँच गए प्रतीत होते हैं। वे अन्य के द्वारा अन्य विषयक ज्ञान को सिद्धान्ततः न मानते हुए भी कहीं२ इसे अपनाते जैसे लगते हैं। जैसे बौद्धों ने न्याय के विद्वानों पर प्रश्न उठाया है कि घटविषयक अनुभव के समग्र चक्षु का घट अवयवी के साथ सन्निकर्ष किस प्रकार माना जा सकता है। क्योंकि व्यवहार में हमारी आँखें घट अवयवी अर्थात् घट के समूचे आकार प्रकार से एक साथ कभी सन्निकृष्ट हो ही नहीं सकती[४]। न्याय की प्रक्रिया में घटैकदेश कदापि घट नहीं है। ऐसी दशा में कपाल के साथ इन्द्रिय–सन्निकर्ष के द्वारा घटविषयक अनुभव मानना होगा। पर तब एकघटविषयक ज्ञान

1. The shortest visible waves are violet, with a wavelength of about 0.0004318 millimeters. The longest are red, with a wavelength of about 0.0007112 millimeters. In between are all the colors of the spectrum, and each shade has its own wavelength. -Here's more tell me why, London, Page 224
२. इसे इसके निर्माता के नाम पर 'गाल्टन सीटी' कहा जाता है। सर फ्रेंसिस गाल्टन ने इसका निर्माण यह जानने के लिये किया था कि अजायब–घर के जानवर इसे सुनकर कैसी प्रतिक्रिया करते हैं।
3. In a block of hot iron the atoms vibrate perhaps a million times each second- that is, extremely rapidly. -Lots more tell me why, London, Page 338
४. न तावदेकं विषयो भवति, अवयवेभ्योऽन्यस्य अवयविरूपस्य क्वचिदप्यग्रहणात्। नाप्यनेकम्, परमाणूनां प्रत्येकमग्रहणात्।

—विंशतिका श्लोक ११ पर वसुबन्धु कृत स्वोपज्ञ–वृत्ति पृ० ४४

को मानस– परिकल्पना कहना होगा। क्योंकि कपाल तो अनेक हैं[1]।

इस विवरण को उपस्थित करने का हमारा अभिप्राय केवल यह दिखाना है कि आस्तिक दर्शन भी कभी२ न चाहते हुए भी इस उलझन में पड़ गए हैं। वे कहते जरूर हैं कि जब चक्षु का घट के साथ संयोग सन्निकर्ष होता है, तब घट विषयक ज्ञान होता है[2]। पर उक्त प्रक्रिया के अनुसार घट अवयवी के साथ चक्षु के सन्निकर्ष को प्रतिपादित नहीं कर सकते। अतः विज्ञानसम्मत प्रत्यक्ष की इस पूर्वोक्त मान्य प्रक्रिया के आलोक में दर्शनशास्त्र द्वारा इसके सामंजस्य की व्यवस्था करनी चाहिये। यह सच है कि दर्शन के लिये यह एक नए प्रकार की समस्या है। पर दर्शन–शास्त्र के नियम विज्ञान के अनुरूप बनना श्रेयस्कर हैं।

२. विज्ञान पर दर्शन का दूसरा प्रश्न यह है कि अन्य से अन्यविषयक ज्ञान उत्पन्न मानने पर हम इस ज्ञान को 'यथार्थ अनुभव' किस प्रकार सिद्ध कर सकते हैं। क्योंकि बाह्यार्थवाद के अनुसार बाह्य विश्व के अनुरूप ज्ञान होना ही उस ज्ञान की यथार्थता का पैमाना है। अन्यथा सीप के द्वारा उत्पन्न रजत–ज्ञान को भी सत् मानना पड़ेगा। 'शब्द का अनुभव' यह स्पष्टतः बाहरी शब्द के अनुरूप हमारे ज्ञान को प्रकट करता है। पर आपकी प्रक्रिया के अनुसार प्रकम्पन के द्वारा उत्पन्न शब्द के अनुभव को किस प्रकार सत् कहा जा सकता है।

यहाँ वैज्ञानिक दृष्टिकोण यह है कि कोई भी प्रत्यय यदि वह नियमतः उसी बाह्य पदार्थ के प्रभाव से उत्पन्न होता हो तथा अपने अवगम के अनुकूल अर्थक्रिया में सहायक हो तो उसे सत्य मानने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये। अनेक बाह्यार्थवादी दार्शनिक भी इसे मानते हैं।[3]। आँखों से नदी समझने के पश्चात् यदि उसमें स्नानादि क्रिया हो जाती है तो वह सत्य है। इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में बताया गया है कि आँखों से मूलतः वस्तुओं के रंग, वैसे बिन्दु, उनकी अवस्थिति देखने का कार्य ही होता है। उसके पश्चात् उनके आधार पर रेखा, लम्बाई, चौड़ाई, उनका 'नदी' नाम इत्यादि बताना मस्तिष्क का कार्य है। फिर भी क्योंकि इन सभी मानस प्रत्ययों से अर्थक्रिया में सदा अनुकूलता ही

---

१. तुलना कीजिये– आकाराव्यतिरिक्तत्वात् ज्ञाने वाऽनेकता भवेत्। अन्यथा कथमेकत्वमनयोः परिकल्प्यते। – तत्त्वसंग्रह, बहिरर्थपरीक्षा श्लोक २०३७, पृ. ६६७

२. यदा चक्षुषा घटविषयं ज्ञानं जन्यते तदा चक्षुरिन्द्रियं घटोऽर्थः। अन्योः सन्निकर्षः संयोग एव। – तर्कभाषा प्रत्यक्षनिरूपण पृ. ५३

३. अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थ–सत्। – प्रमाणवार्तिक, प्रत्यक्षपरिच्छेद श्लोक ३ पृ. १००

सत् की यह परिभाषा बाह्य अर्थ मानने वाले सौत्रान्तिक दार्शनिकों की है।

उपस्थित होती है, अतः उक्त परिभाषा के अनुसार इन्हें सत् मानने में कोई बाधा नहीं।

प्रस्तुत प्रसंग में शब्द–संवेदना के मस्तिष्क में स्थित होने पर भी क्योंकि यह नियमतः बाह्य वायु–प्रकम्पन आदि के प्रभाव से ही उत्पन्न होती है तथा अर्थक्रिया में कभी बाधा उपस्थित नहीं करती। अतः यह ध्वनि या शब्द सत् है।

३. विज्ञान पर दर्शन का तीसरा प्रश्न यह है कि शब्द को मूलतः मस्तिष्कस्थ मानने पर बाहर प्रतीत होने वाले शब्द को किस प्रकार यथार्थ सिद्ध करेंगे। ऐसा न होने पर 'यह घण्टा मीठी आवाज करता है', 'यह तेज बोलता है' जैसे सैकड़ों प्रयोग गलत सिद्ध होने लगेंगे। क्योंकि हम इन प्रयोगों से इन पदार्थों में ही ध्वनि को प्रकट करना चाहते हैं।

यहाँ विज्ञान के अनुसार यह सच है कि तत्त्वतः घण्टा आवाज नहीं, प्रकम्पन करता है। पर यह प्रकम्पन उस ध्वनि–संवेदना का सन्निहित अनिवार्य कारक हैं। ये ऐसी शक्ति हैं, जिनके आने पर कानों के माध्यम से मस्तिष्क को शब्द–संवेदना मिले बिना रह नहीं सकती। अतः इस ध्वनि के वस्तुनिष्ठ न होते हुए भी[1] कार्य–कारण में अभेद मानकर ऐसे प्रयोगों में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। भाषा में सौष्ठव के लिये इस प्रकार के प्रयोग होते रहते हैं, होने भी चाहिये। लोक–व्यवहार में गलत अर्थक्रिया प्रदान न करने के कारण इस प्रकार के प्रयोगों को दोषावह नहीं माना जाता।

दर्शनशास्त्र भी ऐसे प्रयोगों को भ्रम मानकर भी दोषपूर्ण नहीं मानते। पञ्चदशी में एक रोचक उदाहरण के अन्तर्गत यह कहा गया है कि एक बार एक आदमी के सामने नीले रंग के चमकते प्रदीप की प्रभा उपस्थित की गई। दूसरे आदमी को चमकदार नीली मणि की प्रभा दिखाई गई। दोनों ने उस प्रभा को ही नीली मणि समझते हुए उसके पास जाकर उसे प्राप्त करने की कोशिश की। पर पहले व्यक्ति का प्रयत्न व्यर्थ गया, जबकि दूसरे को मणि प्राप्त हो गई!

वेदान्त के अनुसार यहाँ दोनों के द्वारा प्रभा को मणि समझना भ्रम है। पर

---

१. वस्तुओं के अवियोज्य मूल गुणों के कारण उनके भीतर जो हमारे अन्दर विभिन्न प्रकार के संवेद जैसे रंग, शब्द, गन्ध, स्वाद इत्यादि उत्पन्न करने की क्षमता होती है, इन्हें उपगुण कहा जाता है। – – – ये उपगुण वस्तुओं में न होकर आत्मा में पाए जाते हैं। ये वस्तुओं की उन शक्तियों की ओर संकेत अवश्य करते है, जो हमारे भीतर उपगुणों के विज्ञानों को उत्पन्न करते हैं।

—आधुनिक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास, अनुभववाद, जॉन लॉक पृ. २३१

पहले वाले भ्रम से तदनुकूल अर्थक्रिया न होने से वह तात्त्विक भ्रम है, जिसे रोका जाना चाहिये। दूसरे वाले भ्रम से ऐसा नहीं होता। अतः वह संवादि–भ्रम है, जिसके बने रहने में कोई बात नहीं[1]।

विज्ञान के अनुसार भी घण्टा का आवाज करना संवादि–भ्रम है, जिसे कदापि दोषपूर्ण नहीं माना जा सकता।

---

१. दूरे प्रभाद्वयं दृष्ट्वा मणिबुद्ध्याऽभिधावतोः।
प्रभायां मणिबुद्धिस्तु मिथ्याज्ञानं द्वयोरपि।।
न लभ्यते मणिर्दीपप्रभां प्रत्यभिधावता।
प्रभायां धावताऽवश्यं लभ्येतैव मणिर्मणेः।।
दीपप्रभामणिभ्रान्तिर्विसंवादिभ्रमः स्मृतः।
मणिप्रभामणिभ्रान्तिः संवादिभ्रम उच्यते।।
— पञ्चदशी, ध्यानदीपप्रकरण, श्लोक ४.५.६ पृ. ३०६
तुलनीय–यत्रास्ति वस्तुसम्बन्धो यथोक्तानुमितौ यथा।
नान्यत्र भ्रान्तिसाम्येऽपि दीपतेजो मणौ यथा।।
—प्रमाणवार्तिक, स्वार्थानुमानपरिच्छेद, कारिका ८१, पृ० २८५

१०. ध्वनि पर न्याय दर्शन तथा आधुनिक विज्ञान।

न्याय शास्त्र में ध्वनि विषय पर अत्यन्त गम्भीरता के साथ विचार–विमर्श प्राप्त होता है। उनकी अनेक मान्यताएँ आधुनिक भौतिक विज्ञान के सिद्धान्तों से समतुल्य हैं। न्याय के विद्वानों को इसकी वैज्ञानिकता का अनुभव रहा है। प्रशस्तपादभाष्य में एक स्थान पर कहा गया है कि ध्वनि के सम्पूर्ण मार्ग को तार्किकों ने भली प्रकार रौंद डाला है[1]!! सचमुच, यह उनकी गर्वोक्ति नहीं, अपितु तथ्योक्ति है। इस परिच्छेद में ध्वनि के ऐसे कुछ घटकों का वर्णन है, जो आधुनिक विज्ञान के समकक्ष हैं।

१. प्रकम्पन (विज्ञान)– आधुनिक विज्ञान में किसी वस्तु की सरल आवर्त गति या प्रकम्पन को ध्वनि उत्पन्न करने का आवश्यक कारण माना गया है। दैनिक जीवन में अनेक वस्तुओं में यह क्रिया देखी जा सकती है। उदाहरण के लिये वीणा के तार में प्रकम्पन के लिये पहले हाथ की उँगलियों से उस स्थिर तार में बल लगाना पड़ता है। इससे उसमें क्रिया उत्पन्न हो जाती है तथा वह मध्यमान से विपरीत दिशा की ओर जाने लगता है। अब जैसे२ वह आगे बढ़ता है, वैसे२ न्यूटन की गति के तृतीय नियम के अनुसार तार की कील भी उसी बल से अपनी ओर खींचने लगती है। परिणामतः वह तार आगे बढ़ने से रुक जाता है। अब उस कील द्वारा लगाया गया प्रत्यानयन बल (restoring force) उसे अपनी ओर ख़ींचने लगता है। इससे वह मध्यमान स्थिति की ओर लौटने लगता है। इस प्रक्रिया में इसका वेग बढ़ता जाता है, पर कील द्वारा लगाया गया बल कम होता जाता है। मध्यमान स्थिति में आने पर इसका वेग अधिकतम तथा कील द्वारा लगाया गया बल शून्य हो जाता है। इस स्थिति में वह तार रुकता नहीं, अपितु न्यूटन की गति के प्रथम नियम जड़त्व के कारण वह आगे बढ़ने लगता है। आगे जाने पर पुनः उसे कील के बल से रुकना पड़ता है। यह पक्रिया बार२ दुहराई जाती है। इसे ही प्रकम्पन कहते हैं।

इस समय तार की मध्यमान स्थिति में तार का वेग तथा गतिज ऊर्जा अधिकतम होती है तथा कील द्वारा लगने वाला बल तथा स्थितिज ऊर्जा शून्य होती है। पर विपरीत दिशा में तार का वेग तथा गतिज ऊर्जा शून्य होती है तथा कील द्वारा लगने वाला बल तथा स्थितिज ऊर्जा अधिकतम होती है। इस प्रकार

१. अतीवायं मार्गस्तार्किकैः क्षुण्णः। —प्रशस्तपादभाष्य, शब्दप्रकरण, पृ० ६६६

प्रकम्पन के समय स्थितिज ऊर्जा गतिज ऊर्जा में तथा गतिज ऊर्जा स्थितिज ऊर्जा में बदलती रहती है।

दैनिक जीवन में विविध रूपों में इस प्रकम्पन के अनेकानेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। यदि कोई भी वस्तु किसी भी रूप में, किसी भी उपाय से २० से २०,००० प्रति सेकेण्ड की आवृत्ति वाला स्पन्दन कर रही हो तो वह हमें ध्वनि के रूप में सुनाई पड़ती है। सामान्यतः हम सोचते हैं कि मक्खी, मच्छर उड़ते समय मुँह से आवाज करते होंगे। पर सच यह है कि वे अपने पंखों को इतना तीव्र वेग से फड़फड़ाते हैं कि उनका यह प्रकम्पन हमें श्रवण संवेदना प्रदान करने लगता हैं। यहाँ ऐसे कुछ पक्षियों के पंख की प्रति सेकेण्ड आवृत्ति को प्रस्तुत किया जा रहा है–

भौंरा – २२० चक्र प्रति सेकेण्ड

मक्खी – ३५२ चक्र प्रति सेकेण्ड

मधुमक्खी – ४४० चक्र प्रति सेकेण्ड

मच्छर – ५०० से ६०० चक्र प्रति सेकेण्ड

१. प्रकम्पन (दर्शन)– न्यायशास्त्र में भी इस प्रकम्पन को ध्वनि का आवश्यक कारण माना गया है। वहाँ घण्टा अथवा काँसें की थाली की झनझनाहट के द्वारा इसका निरूपण किया जाता है। इसके अनुसार यहाँ बलवत् प्रयत्नपूर्वक हाथ की उँगलियों से इसमें क्रिया उत्पन्न की जाती है। इससे 'वेग' नामक संस्कार उत्पन्न होता है। इसे न्याय की भाषा में 'उत्तरदेशसंयोगजनकक्रियाजनक' कहा जाता है। अतः यह पाँचवें क्षण में पूर्व क्रिया को नष्ट करके नई२ क्षीण से क्षीणतर क्रिया को उत्पन्न तथा नष्ट करता है तथा क्रिया भी क्षीण से क्षीणतर वेग को बार२ उत्पन्न और नष्ट करती है[1]। अन्त में वायु आदि के प्रतिरोध से वेग का नाश तथा इस विनाश से उत्तरदेशसंयोग उत्पन्न करने वाली क्रिया का भी सर्वथा विनाश हो जाता है। इस स्थिति में तार के कील के अवयवों की निबिडता अर्थात् घनापन के दबाव से एक विपरीत बल वाला 'स्थिति स्थापक संस्कार' उत्पन्न हो जाता है[2]। इसे 'यथापूर्वसंयोगजनकक्रियाजनक' कहा जाता है। यह पहले से विपरीत दिशा में क्रिया संचालित करता है। क्योंकि विपरीत दिशा में क्रिया के लिये विपरीत

१. वेगस्यैव कर्मनाशकत्वं कल्प्यते। पूर्वकर्मनाशानन्तरम् (उत्तर कर्म)। उत्तरकर्मणाऽपि पूर्ववेगनाशस्ततो वेगान्तरोत्पत्तिः। –मुक्तावली, गुणनिरूपण श्लोक १५८ मे दिनकरी,

२. ये घना निबिडा अवयवसन्निवेशाः तैर्विशिष्टेषु स्पर्शवत्सु द्रव्येषु वर्तमानः स्थितिस्थापकः। –प्रशस्तपादभाष्य, गुणनिरूपण, संस्कार–प्रकरण मे न्यायकन्दली पृ० ६५६

प्रकार के संस्कार की आवश्यकता होती है। अतः समान दिशा मे क्रिया उत्पन्न करने वाले वेग से यह विपरीत क्रिया सम्भव नहीं थी[1]। यह स्थितिस्थापक भी क्षीण से क्षीणतर क्रिया को उत्पन्न, नष्ट करते हुए तथा इसी प्रकार क्रिया द्वारा उत्पन्न, नष्ट किये जाते हुए अन्त में मध्यमान स्थिति में सर्वथा विनष्ट हो जाता है। यहाँ वेग नामक संस्कार पुनः उत्पन्न होकर उस तार को और आगे बढ़ा देता है।

यहाँ 'वेग' विज्ञान की गतिज ऊर्जा के समकक्ष है तथा 'स्थितिस्थापक' स्थितिज ऊर्जा के समतुल्य है। ऊपर कहे गए restoring force का अनुवाद आसानी से स्थितिस्थापक बल के रूप में हो सकता है। इस प्रकार इस प्रकम्पन में एक बार क्रिया उत्पन्न करने के पश्चात् 'स्थितिस्थापक' 'वेग' में तथा 'वेग', 'स्थितिस्थापक' में परिवर्तित होता है तथा इससे एक निश्चित समय में आगे पीछे की दिशा में क्रम २ से क्रिया बार२ दुहराई जाती है। अतः इसे पारिभाषिक रूप से 'प्रकम्पन' कहते हैं। न्याय सूत्र २.२.३६ के वात्स्यायन भाष्य में कांस्य–पात्री को प्रकम्पन का उदाहरण बताते हुए इसके साथ सावधानी से 'आदि' शब्द का प्रयोग करते हुए अनेक वस्तुओं में अनेक रूपों में ध्वनि उत्पन्न करने वाले इस प्रकम्पन को स्वीकार किया है।

२. तरंगे (विज्ञान)– इन कणों के प्रकम्पन के द्वारा किसी माध्यम में तरंगें उत्पन्न हो जाती हैं। इन माध्यम में उत्पन्न होने वाली तरंगों को प्रत्यास्थ तरंगें (elastic waves) कहते हैं। इनसे भिन्न प्रकृति की कुछ तरंगें निर्वात में बिना किसी माध्यम के भी संचरण करती हैं। इन्हें विद्युत् चुम्बकीय तरंगें (electromagnetic waves) कहा जाता है।

माध्यम में उत्पन्न होने वाली तरंगों को इनकी गतियों के आधार पर दो प्रकार से विभाजित किया जाता है–

I अनुप्रस्थ तरंग (transverse wave)- यहाँ माध्यम के कण तरंग चलने की दिशा के लम्बवत् दिशा में सरल आवर्त गति करते हैं। पानी में चलने वाली तरंगें, वीणा, सितार आदि के तार के प्रकम्पन से बनने वाली तरंगें इसके उदाहरण हैं।

II अनुदैर्घ्य तरंग (longitudinal wave) इसमें माध्यम के कण तरंग चलने की दिशा के अनुदिश ही सरल आवर्त गति करते हैं। वायु में चलने वाली ध्वनि तरंगें इसके उदाहरण हैं।

---

१. यद्दिगाभिमुख्येन क्रियया वेगो जन्यते, तद्दिगभिमुखतयैव क्रियासन्तानस्य हेतुः (वेगः)।
—वहीं, न्यायकन्दली पृ० ६४८

तरंगों की मौलिक विशेषताएँ– I तरंगों में माध्यम के कण अपनी मध्यमान स्थिति के इधर–उधर ही कम्पन करते रहते हैं। यदि पानी की किसी तरंग के ऊपर कोई तिनका डाल दें तो वह वहीं ऊपर नीचे होता रहता है, आगे नहीं बढ़ता। इससे स्पष्ट है कि पानी का स्थानान्तरण नहीं होता।

II यहाँ ऊर्जा का संचरण विक्षोभ के रूप में अपने स्रोत से काफी दूर तक होता है। यह विक्षोभ अनेक आकारों में परिदृश्य हो सकता है। पानी तरंगों में यह शीर्ष और गर्त के रूप में दृष्टिगोचर होता है। यहाँ तरंग के सबसे ऊँचे बिन्दु को शीर्ष तथा सबसे नीचे के बिन्दु को गर्त कहा गया है। हम देखते हैं कि ये शीर्ष और गर्त आगे तब तक बनते चले जाते हैं, जब तक किनारा न आ जाय। इससे प्रकट है कि पानी की ऊर्जा गोलाकार में संचरित होती हुई आगे और आगे शीर्ष और गर्त बनाती हुई बढ़ती चली जाती है।

III किसी माध्यम में ऊर्जा का संचरण नियत वेग से होता है। अतएव पानी की तरंगों में एक निश्चित समय के अन्तराल में क्रम२ से शीर्ष तथा गर्त देखे जाते हैं।

ध्वनि तरंगें वे हैं जो मस्तिष्क में शब्द–संवेदना उत्पन्न करने के लिये उत्तरदायी होती हैं। ये घण्टा आदि में अनुप्रस्थ बनती हैं। घण्टा–तरंगों के तत्काल पश्चात् तत्समीप वायु भी तदनुकूल तरंगित की जाती है। पर इसमें वायु के अणुओं के दूर२ फैले होने के कारण संसंजक बल नगण्य होने से अनुप्रस्थ तरंगें नहीं बन सकतीं। अतः वायु में अनुदैर्ध्य तरंगें बनती हैं।

वायु के दृश्य न होने के कारण हम इन तरंगों को देख नहीं सकते। अतः इनकी प्रकृति का अन्दाज लगाना थोड़ा मुश्किल है। हारमोनियम की भाथी के फैलने और सिकुड़ने की तरह इनका आकार प्रकार बनता है। इसमें घण्टा की भुजाएँ अपनी मध्यमान स्थिति से बाहर की ओर जाकर समीपस्थ वायु के अणुओं को दबाती है।। इससे वायु का दाब और घनत्व बढ़ जाता है। इसे ही वायु का सम्पीडन (compression) कहते हैं। पर जब यह घण्टे की भुजा अपने मध्यमान स्थिति से अन्दर की ओर चली जाती है तो समीपस्थ वायु के अणुओं का दबाव सामान्य से भी कम हो जाता है। इस समय वायु के अणु और दूर२ तक चले जाते हैं। इसे ही वायु का विरलन (rarefaction) कहते हैं।
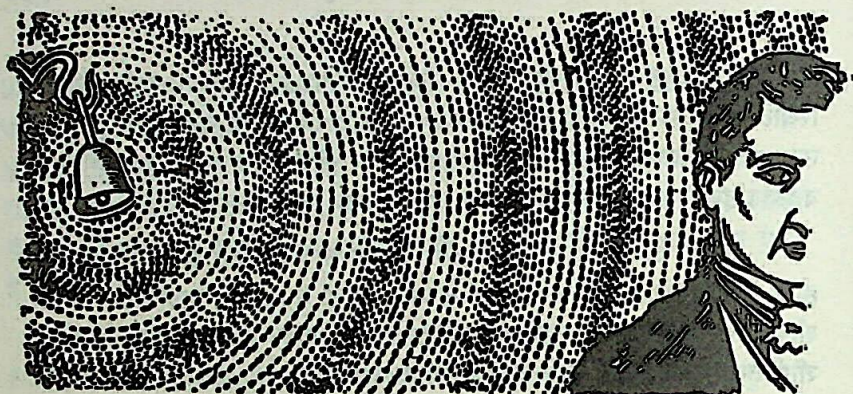
यहाँ वायु में वर्तमान ऊर्जा से उत्पन्न विक्षोभ सम्पीडन तथा विरलन के रूप में दूर२ तक पहुँच जाता है। विभिन्न स्वरित्रों से उत्पन्न वायु में विक्षोभ एक निश्चित समय में क्रमशः ये दोनों आकार धारण करते हैं। अतः इन दोनों को मिलाकर एक पूर्ण तरंग बनती है। किसी माध्यम में एक सेकेण्ड के बीच ये जितनी बार बनती हैं, उन्हें तरंगों की आवृत्ति कहते हैं।

२. तरंगें (दर्शन)— दर्शनशास्त्र में तरंगों की परिकल्पना किसी माध्यम में चलने वाली के रूप में ही है। अतः स्पष्टतः वहाँ प्रत्यास्थ तरंगों का विवेचन है।

यहाँ माना गया है कि घण्टा में प्रकम्पन के द्वारा वायु में तरंगें बनती हैं तथा तदनुकूल शब्द की तरंग बनती हैं। वहाँ इन तरंगों को प्रकट करने के लिये पानी की तरंगों का उदाहरण दिया गया है। यद्यपि ऊपर दिखाया गया है कि वायु में तरंगें कुछ भिन्न प्रकार की बनती हैं। फिर भी पानी तथा वायु दोनों में तरंग की मौलिक विशेषताएँ समान होने के कारण यहाँ पानी के उदाहरण से समझाया गया है।

वायु में तरंग बनने के सिद्धान्त का वर्णन वैशेषिक सूत्र भाष्य आदि में प्राप्त होता है। वहाँ कहा है कि दुन्दुभि में अभिघात से समीपस्थ वायु में एक विशेष प्रकार की गति उत्पन्न होती है। इससे वायु में वेग उत्पन्न होता है। इस वेग के द्वारा जब तक वायु में वीची—तरंग के सदृश विशेष गति चलती रहती है, तब तक शब्दसन्तान उत्पन्न होता रहता है[1]। स्पष्टतः यह वैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुकूल है। आधुनिक विज्ञान वायु में तरंगों के विस्तृत प्रतिपादन के द्वारा ही शब्द की व्याख्या करता है।

---

१. प्रेरणादभिघाताच्च वायौ गतिकर्मविशेषः प्रादुर्भवति। ततो वेग उत्पद्यते। यावच्च वेगकारितो वीचीतरंगवद् गतिकर्मविशेषः प्रादुर्भवति। तावच्छब्दसन्तान उत्पद्यते।
— वैशेषिक सूत्र २.१.६ पर चन्द्रकान्त भट्टाचार्य प्रणीत भाष्य।

पर प्राचीन न्याय के विद्वान् ध्वनि उत्पत्ति के लिये वायु की तरंगरूपता से विपरीत मत रखते हैं। उनका कहना है कि वायु की तिर्यग्गति (तिरछी दिशा में चलने वाली गति) ही प्रसिद्ध है; अन्य कोई नहीं[1]। अतः यहाँ पर यह वायु तरंगगति को धारण नहीं कर सकती। इस मत में वायु एक ही दिशा में तिरछा चलने वाली अपनी इस गति के द्वारा ही शब्दज शब्द को आगे बढ़ाता है।

न्याय में वायु–प्रकम्पन आदि से सर्वथा अतिरिक्त शब्द बाहरी दुनियाँ में स्वीकार्य है। इसकी शब्दज शब्द प्रक्रिया को सिद्ध करने के लिये सभी विद्वान् एक स्वर से इस 'शब्द' की तरंगरूपता का प्रतिपादन करते हैं।

पर पूर्वोक्त तरंगों की मौलिक विशेषता के आधार पर इस अतिरिक्त शब्द की आंशिक तरंगरूपता ही सिद्ध हो सकती है। क्योंकि वहाँ कहा है कि ऐसी तरंगों में माध्यम के कण अपनी मध्यमान स्थिति में ही प्रकम्पित होते रहते हैं, आगे नहीं बढ़ते। पर इस शब्द–तरंग की परिकल्पना में शब्द का कोई ऐसा माध्यम वहीं प्रकम्पित होने वाला नहीं है। यहाँ तो केवल शब्द के उत्पत्ति–विनाश के रूप में बदलते आकार नियत अन्तराल में क्रमशः आगे बढ़ते रहते हैं। पर ये बदलते आकार किस प्रकम्पित माध्यम में अवस्थित हैं, इसे हम नहीं बता सकते। क्योंकि आकाश नित्य होने के कारण प्रकंम्पित नहीं हो सकता। इस प्रकार यहाँ तरंग की सभी मौलिक विशेषताएँ वर्तमान नहीं हैं।

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से तो वायु आदि में ध्वनि–तरंगों से अतिरिक्त कोई भी शब्द इस दुनियाँ में अस्तित्वशाली नहीं है। अतः ऐसे शब्द की तरंगरूपता तथा उसके द्वारा उसका संचरण आदि सिद्ध करना अवास्तविक ही है। इससे केवल वह दृष्टि प्राप्त हो सकती है जो वायु को तरंगपूर्ण सिद्ध करने में सहायक होती है।

३. ध्वनि तरंगों के माध्यम (विज्ञान)– ध्वनि–तरंगें वायु के अलावा अन्य अनेक माध्यमों में संचरित होती हैं। पर यहाँ न्याय से तुलना के अवसर पर केवल वायुरूपी माध्यम पर विचार किया जावेगा।

वायु अन्यों से तुलना में ध्वनि–संचरण का बहुत सुस्त माध्यम है। फिर भी यह सबसे अधिक लोकप्रिय है। क्योंकि सामान्य बातचीत को सुनने के लिये इस माध्यम की अनिवार्य आवश्यकता है। हम चन्द्रमा के धरातल पर कोई बातचीत

---

१. तिर्यग्गमनवानेष ज्ञेयः स्पर्शादिलिंगकः। – कारिकावली, प्रत्यक्ष खण्ड, श्लोक ४२
कदम्बगोलकाकारशब्दारम्भो हि सम्भवेत्।
न पुनर्दृश्यते लोके तादृशी मरुतां गतिः। – न्याय मञ्जरी,प्रमाण–प्रकरण, पृ. २०६

नहीं सुन सकते। रेडियो तरंगें हों तो बात दूसरी है, क्योंकि वे निर्वात में भी चल सकती हैं।

सामान्य बातचीत में वायु के माध्यम से ध्वनि–संचरण को अनेक प्रयोगों द्वारा सिद्ध किया जाता है। इसके लिये किसी ज़ार में बिजली की घण्टी लटका देते हैं। अब उसे कस कर वायुरोधी बना देते हैं, ताकि बाहर की वायु प्रवेश न कर सके। इस समय घण्टी बजाने पर आवाज सुनाई देती है। पर इसमें से वायुचूषण पम्प द्वारा वायु निकालने पर ध्वनि की तीव्रता कम होती जाती है। पूरी तरह निर्वात कर देने पर ध्वनि बिल्कुल नहीं सुनाई देती। इससे सिद्ध है कि बिजली की घण्टी की ध्वनि वायु–माध्यम में बनी तरंगों द्वारा ही कानों को तरंगित करते हुए मस्तिष्क तक पहुँचती हैं। इस माध्यम के न होने पर ध्वनि संचरण न होने से हमें कोई संवदेना प्राप्त नहीं हो सकती।

आजकल आँस्सिलोग्राफ (Oscillograph) आदि यन्त्रों द्वारा स्पष्ट रीति से इन तरंगों का अध्ययन किया जा सकता है। प्रत्येक अक्षर की अलग२ तरंगें पहचानी जा सकती हैं। अतः ध्वनि–संचरण में वायु की तरंगरूपता में कोई सन्देह नहीं हैं।

३. ध्वनि–तरंगों के माध्यम (दर्शन)– न्यायशास्त्र के भी एक सम्प्रदाय में वायु–तरंगों को स्वीकार किया गया है। वहाँ इनकी उपयोगिता घण्टा से उत्पन्न एक अतिरिक्त शब्द को आगे ठेलने के लिये एक निमित्त कारण के रूप में है। इस सिद्धान्त में भी जार के अन्दर निर्वात में रखी घण्टी की आवाज नहीं सुनाई दे सकती। क्योंकि घण्टी–समीपस्थ आकाश में उत्पन्न शब्दों को कोई भी निमित्त कारण ठेल कर शब्दज–शब्द के रूप में आगे बढ़ाने वाला नहीं हैं। ऐसी दशा में इस आवाज के आगे न बढ़ पाने की स्थिति में हमारे कानों तक न पहुँच पाने के कारण यह नहीं सुनी जा सकती।

यहाँ न्यायशास्त्र की सम्मति में निर्वात आकाश में शब्द के अस्तित्वशाली होने का सामर्थ्य तो है। पर सामान्यतया इस दशा में शब्दज–शब्द प्रक्रिया न बन पाने से वह उपस्थित रहता नहीं है। पर विज्ञान के अनुसार वायु आदि किसी माध्यम के उपस्थित न होने पर हम किसी औपचारिक शब्द के अस्तित्व की भी कल्पना नहीं कर सकते।

४. ध्वनि का वेग (विज्ञान)– ध्वनि विभिन्न माध्यमों में विभिन्न वेग से संचरण करती है। अन्य माध्यमों की अपेक्षा वायु में इसके संचरण का वेग बहुत

धीमा होता है। शान्त वातावरण में 0°C पर वायु में इसका वेग ३३२ मी. प्रति सेकेण्ड होता है। पर वायु के थोड़ा गर्म होने पर 20°C में इसका वेग ३४४ मी./से. हो जाता है। जब कि इतने ही ताप वाले पानी में यह १४५७ मी./से. के वेग से तथा स्टील में ४६६० मी./से. के वेग से संचरित होता है।

ध्वनि का वेग प्रायः माध्यम के अणुओं में ताप आदि से उत्पन्न उनके औसत वेग पर निर्भर होता है। शून्य डिग्री सेल्सियस ताप पर वायु के अणुओं का जो वेग है, वही ध्वनि का वेग है। इसका 'ताप' बढ़ने पर जैसे२ अणुओं का वेग बढ़ता जाता है, वैसे२ इसके परिसंचरण का वेग भी बढ़ता जाता है।

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि इस विश्व में सर्वाधिक वेग वाले प्रकाश तरंगों की तुलना में ध्वनि–तरंगों का वेग नितान्त तुच्छ है। इसीलिये वर्षा में आसमान में बिजली की चमक पहले दिखाई देती है, पर मेघ–गर्जन थोड़ी देर बाद सुनाई देता है। यद्यपि दोनों घटनाएँ एक साथ परिघटित होती हैं। फिर भी चमक अपनी उत्पत्ति के समकाल ही हमें उपलब्ध हो जाती है। पर मेघ–ध्वनि के हमारे पास पहुँचने में कुछ समय लगने के कारण यह हमें थोड़ी देर बाद सुनाई देती है।

वायु में ध्वनि–तरंगों के वेग के परिज्ञात होने के कारण बिजली चमकने तथा बादल गरजने के बीच के समय का ज्ञान करके धरती से गरजने वाले बादलों की दूरी को आसानी से बताया जा सकता है। इसके लिये पहले यह नोट करना चाहिये कि बिजली चमकने के कितने सेकेण्ड बाद गर्जन सुनाई पड़ा। इन सेकेण्डों की संख्या को ३ से गुणा करना चाहिये। इससे जो संख्या प्राप्त हो, लगभग उतने ही सौ मीटर दूर स्थित बादल से बिजली चमकी होगी।

४. ध्वनि का वेग (दर्शन)– दर्शनशास्त्र में भी यह भली भाँति जान लिया गया था कि प्रकाश की तुलना में ध्वनि का वेग बहुत कम होता है। बिजली की चमक का एक अन्वर्थ नाम 'आकालिकी' है। इसका अर्थ 'अपने जन्म के समकाल ही विनष्ट होने वाली' यह है[1]। पर ध्वनि को यह नाम कभी नहीं दिया गया है।

न्याय वात्स्यायन भाष्य में इसके लिये बहुत रोचक उदाहरण दिया गया है। वहाँ कहा है कि व्यंजक प्रकाश के विलुप्त होने के समकाल ही अँधेरा छा जाता है तथा कोई वस्तु नहीं दिखाई पड़ती। पर यदि कोई मनुष्य सुदूर स्थान

---

१. आकालिकडाद्यन्तवचने। – अष्टाध्यायी सूत्र ५.१.११४
आकालिकी विद्युत्, जन्मना तुल्यकालविनाशा। – उक्त सूत्र पर काशिका।

में लकड़ी काट रहा हो तो उसकी कुल्हाड़ी के लकड़ी पर प्रहार के समकाल नहीं, अपितु लकड़ी से कुल्हाड़ी को हटा लेने के पश्चात् उसकी आवाज सुनाई देती है[१]। इस प्रकार समकालीन घटना होने पर भी कोई प्रेक्षक प्रकाश्य वस्तु– कुल्हाड़ी के प्रहार को पहले, पर ध्वनि को बाद में सुनता है।

आधुनिक युग में इसके समतुल्य उदाहरण यह हो सकता है कि क्रिकेट के खेल में देखने वालों को गेंद की हिट लगती हुई पहले दिखाई देती है, पर उसकी आवाज थोड़ी देर बाद सुनी जाती है।

इस उदाहरण से यह सर्वथा स्पष्ट है कि प्रकाश की तुलना में ध्वनि का वेग बहुत कम होता है।

---

१. दारुव्रश्चने दारुपरशुसंयोगनिवृत्तौ दूरस्थेन शब्दो गृह्यते, न च व्यंजकाभावे व्यंग्यग्रहणं भवति।
— न्यायसूत्र २.२.१३ पर वात्स्यायन भाष्य।

११. ध्वनि पर न्याय से इतर दर्शन तथा आधुनिक विज्ञान।

ध्वनि विषय पर न्याय से भिन्न दर्शनों में भी पर्याप्त विचार किया गया है। उनमें भी आधुनिक विज्ञान के समकक्ष अनेक सिद्धान्त प्राप्त होते हैं। उनका विवरण इस प्रकार है–

१. ध्वनि के वायु के अलावा अन्य अनेक माध्यम (विज्ञान)– ध्वनि वायु के साथ२ पानी, लोहा, पीतल आदि अनेक माध्यमों में बनने वाली तरंगों से एकाकार होते हुए दूर२ तक परिसंचरण कर सकती है। वायु की अपेक्षा द्रव तथा द्रव की अपेक्षा ठोस इसके अधिक वेगशाली संवाहक होते हैं। क्योंकि इनमें उत्तरोत्तर अधिक अच्छा प्रत्यास्थता गुणांक होने से अधिक अच्छा प्रकम्पन होता है। सामान्यतः जो पदार्थ ऊष्मा के सुचालक होते हैं, वे ध्वनि के भी सुचालक होते हैं तथा जो पदार्थ ऊष्मा के कुचालक हैं, वे ध्वनि के भी कुचालक होते हैं। जिन वस्तुओं में चालन (conduction) नामक विधि से ऊष्मा का परिसंचरण आसानी से नहीं होता, उन्हें ऊष्मा का कुचालक कहा जाता है। कम्बल, तकिया आदि इसी प्रकार के हैं। ये ध्वनि के भी कुचालक होते हैं।

२. ध्वनि के वायु के अलावा अन्य अनेक माध्यम (दर्शन)– वेदान्त आदि दर्शनों में भी माना है कि शब्द सभी महाभूतों के माध्यम से परिसंचरण करता है[1]। यहाँ दर्शन की अपनी प्रक्रिया के अनुसार इसका अर्थ विज्ञान से थोड़ा भिन्न है। दर्शन का आशय यह है कि किसी भी महाभूत में प्रकम्पन के द्वारा उस महाभूत के ही अणुओं में शब्द नामक एक अतिरिक्त गुण उत्पन्न होता है, यह प्रकम्पन इस शब्द का सबसे सन्निहित कारण होता है। अतः जो वस्तुएँ अधिक प्रकम्पनक्षम हैं, उनमें अधिक शब्द गुण उत्पन्न होते हैं।

इन दर्शनों में लौकिक अनुभूति के अनुरूप यह मान्य है कि घण्टा बजाने पर उस घण्टा में ही शब्द उत्पन्न होता है। ये दर्शन न्याय के समान यह नहीं मानते कि उस समय यह घण्टा में उत्पन्न न होकर तत्संयुक्त आकाश में उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार स्पष्टतः वेदान्त आदि दर्शन विज्ञान के अनुरूप ध्वनि के अनेक माध्यमों को स्वीकार करते हैं।

---

१. द्रष्टव्य–न च शब्दस्याकाशमात्रगुणत्वम् .... इत्यादि द्वितीय परिच्छेद पर टिप्पणी।

३. वायु में ध्वनि–तरंगों का वेग वायु की गति से प्रभावित होता है (विज्ञान)– पिछले परिच्छेद में कहा गया है कि शान्त वातावरण में ध्वनि–तरंगों का वेग ३३२ मी. प्रति सेकेण्ड होता है। पर तीव्रगामी वायु ध्वनि–तरंगों के इन संहननों को अपने साथ बहा ले जाती है। अतः यदि ध्वनि का वेग C हो और पवन का वेग W हो तो पवन की दिशा में ध्वनि का वेग C+W तथा विपरीत दिशा में यह C-W हो जाता है।

२. वायु में ध्वनि–तरंगों का वेग वायु की गति से प्रभावित होता है (दर्शन)– इस तथ्य को दर्शन में भी अनेक उदाहरणों से सिद्ध किया जाता है। जैन दर्शन में कहा है कि प्रतिकूल वायु में निकट का शब्द भी नहीं सुनाई पड़ता पर अनुकूल वायु में दूर का शब्द भी सुनाई पड़ता है तथा उसके स्पर्श का प्रत्यक्ष भी होता है। इससे मान्य है कि वायु के आश्रय स्पर्श के साथ[२] उसके आश्रय शब्द भी सामान्य से तीव्र गति से हमारे पास पहुँचते हैं[१]।

---

१. शब्दाश्रयः स्पर्शवान्। अनुवातप्रतिवातयोर्विप्रकृष्ट–निकट–शरीरिणोपलभ्यमानानुपलभ्य–मानेन्द्रियार्थत्वात्। तथाविधगन्धाधारद्रव्यपरमाणुवत्।

– स्याद्वादमञ्जरी श्लोक १४ पर अन्ययोगव्यवच्छेद टीका पृ. १२६–१२७

१२. न्याय दर्शन तथा टेलीफोन।

क्या न्याय के सिद्धान्तों द्वारा टेलीफोन बन सकता है?

उत्तर होगा–हाँ, बन सकता है। अगर वायु आदि में क्रियारूपी ध्वनि – तरंगों से अतिरिक्त बाह्य गुणरूपी शब्द के सिद्धान्त को छोड़ दिया जाय तो।

–पर यह कैसे हो सकता है। बाह्यार्थवाद न्याय की मौलिकता है, न्याय की पहचान है : एक नैयायिक ने प्रतिवाद किया।

फिर भी अगर थोड़ी देर के लिये इस सिद्धान्त को अलग कर दें तो हम यह पाते हैं कि न्याय के सिद्धान्त टेलीफोन के सर्वाधिक समीप हैं। न्याय ने भौतिक सिद्धान्तों की गम्भीर परीक्षा के द्वारा इस टेलीफोन की परिकल्पना के लिये स्थान प्रदान किया है। यों पुराणों में आकाशवाणी तथा नाट्यशास्त्र में आकाश–भाषित जैसे प्रयोगों से यह परिकल्पना अन्यत्र भी मुखर होती रही है।

विदेशों में भी भौतिक पदार्थों तथा इन्हें ग्रहण करने वाले ज्ञानेन्द्रियरूपी उपकरणों के भली भाँति अध्ययन के द्वारा अनेक प्रकार के आविष्कार सम्भव हो सके हैं। पिछले खण्ड में बताया गया है कि आँखों के अनुकरण पर कैमरा का विकास हुआ है। इसी प्रकार कानों की सूक्ष्म संरचना के अध्ययन से टेलीफोन का आविष्कार सम्भव हो सका है।

कानों के सम्बन्ध में यह जाना गया कि यह वायु–तरंगों को ग्रहण करता है। वे वायु–प्रकम्पन जिन्हें हम न तो देख सकते हैं, न ही अन्य किसी प्रकार अनुभव कर सकते हैं, उनके अनुरूप हमारा कर्ण–पटह अथवा कान का पर्दा प्रकम्पित होने का सामर्थ्य रखता है। इसके पश्चात् अस्थि–प्रकम्पन आदि के माध्यम से नाड़ी–तन्त्र के विद्युत् आवेगों के द्वारा इस प्रकम्पन की सूचना सुदूर मस्तिष्क के श्रवण–संवेदी क्षेत्र में पहुँचा दी जाती है।

टेलीफोन के आविष्कारक डा. ग्राहम बेल यह सोचा करते थे कि जब इतना पतला तथा इतना छोटा कान का पर्दा ध्वनि या किसी शब्द के छोटे से छोटे वायु–प्रकम्पनों के अनुरूप प्रकम्पित होकर उन्हें अंकित कर सकता है तथा इस अंकन को मस्तिष्क तक भेज सकता है तो बाहरी दुनियाँ में ऐसा क्यों नहीं हो सकता। इसे सिद्ध करने के लिये वे अनेक प्रकार के प्रयोग किया करते थे। वे अपने मित्रों से कहते थे कि 'जब कान की छोटी सी चकती (disk) पूरी हड्डी

को प्रकम्पित कर सकती है, तो ऐसा तो होना ही चाहिये कि कोई लोहे की चकती किसी लोहे की छड़ को या कम से कम एक तार को उसी प्रकार प्रकम्पित कर सके।

जैसा कि प्रायः सभी आविष्कारों में हुआ है, उनके मित्रों ने उनकी इस परिकल्पना का खूब मजाक उड़ाया। दो धनी मित्र जो उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान किया करते थे, उन्होंने अन्ततः अपनी सहायता बन्द कर दी तथा कह दिया कि जब तक वह अपने इन पुराने विचारों पर प्रयोग करना बन्द नहीं करेंगे, उन्हें कोई सहायता नहीं दी जावेगी। इसके साथ ही वह व्यक्ति जिसने अपनी लड़की के साथ सगाई की थी, उसने तब तक विवाह के आयोजन से मना कर दिया, जब तक डा. बेल 'मूर्खतापूर्ण टेलीफोन' के विचार को छोड़ नहीं देते[1]!!

वैसे डा. बेल द्वारा इन प्रयोगों का मूल उद्देश्य किसी ऐसे उपकरण को विकसित करना था, जिससे बहरे लोग इन वायु–तरंगों को 'देख' सकें। इसके लिये उन्होनें चुम्बक के दो टुकड़े अलग २ कुछ दूरी पर रखे। इन्हें एक तार से जोड़ दिया। पहले चुम्बक के सामने तथा दूसरे चुम्बक के अन्त में भी एक लोहे का पतली संवेदनशील पट्टिका (reed) रखी तथा इनमें विद्युत् धारा प्रवाहित की। अब जब कोई पहली पट्टिका (reed) के सामने कोई अक्षर बोलता था तो उसके प्रकम्पन से वैसे ही बिजली के प्रकम्पन तार के माध्यम से अगले चुम्बक तक पहुँचते थे। इससे वह दूसरी पट्टिका (reed) प्रकम्पित होती हुई कभी तो उस चुम्बक के सामने आगे जाती थी तथा कभी उसके ऊपर नीचे झुक जाती थी। इससे गूँगों को यह दिखाया जा सका कि ये ध्वनि–तरंगें अन्ततः किन अक्षरों का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस दिशा में कार्य करते हुए उनके दिमाग में टेलीफोन का विचार आ गया था।

इस पर सबसे पहला तथा सबसे रद्दी किस्म का, परन्तु सफल प्रयोग मृत व्यक्ति के कान के द्वारा सम्पन्न हुआ था। डा. बेल यह जान चुके थे कि कान का पर्दा ही सबसे बढ़िया प्रकम्पनशील माध्यम है। अतः उन्होंने एक मरे हुए व्यक्ति का कान लिया, उसके पर्दे के साथ एक तिनका या तार को जोड़ दिया तथा उस तार

1. 'If this tiny disk can vibrate a bone', he said to some friends, 'then an iron disk ought to be able to vibrate an iron rod, or an wire at least', His friends laughed at him; two rich men, who had been assisting him with money in his experiements, refused to have anything more to do with him unless he kept to his old ideas; and the man whose daughter was engaged to marry said he would refuse to allow to marriage to take place unless Dr. Bell abandoned the 'foolish telephone'.

-Harmsworth popular science, London, I part, page 704

का दूसरा सिरा एक धुँआ भरे हुए शीशे की प्लेट से जोड़ दिया। अब बेल ने उस कान में कुछ कहा। तब कान का पर्दा तथा उसके अनुकूल वह तार भी तरंगित हुआ। इससे उस धुँए–भरी प्लेट में कुछ खँरोच बन गई। इस 'रद्दी' प्रयोग से उस वस्तु का विकास हुआ, जिसे आज हम 'टेलीफोन' के नाम से पुकारते हैं[1]। इस प्रयोग से वे केवल गूँगें, बहरों की ही नही, अपितु समूची मानव–जाति की सेवा कर सके !!

आजकल प्रयुक्त टेलीफोन में एक डायफ्राम (diaphragm) अथवा संवेदनशील पर्दा होता है। इसका सम्बन्ध तार द्वारा विद्युच्चुम्बकीय कुण्डली से होता है। इसमें बिजली की धारा प्रवाहित की जाती है। इस कुण्डली में ताँबे का तार जोड़कर दूर रिसीवर तक ले जाते हैं। इसमें भी उसी प्रकार ड़ायफ्राम तथ विद्युच्चुम्बकीय कुण्डली होती है।

अब शब्द बोलने पर यह पर्दा ध्वनि–तरंगों के अनुरूप स्पन्दित होता है। तब उससे जुड़ी कुण्डली की विद्युत् धारा भी ठीक उसी प्रकार स्पन्दित होती है। विद्युत् का यह स्पन्दन तार के द्वारा दूर भेज दिया जाता है। यह तार रिसीवर की उस कुण्डली को भी ठीक उसी प्रकार स्पन्दित करता है। डायाफ्रम इस स्पन्दन को लेकर हवा में उसी प्रकार तरंगें बनाता है। यही तरंगें हमें शब्द के रूप में सुनाई पड़ती है।

यहाँ न्यायशास्त्र के सिद्धान्त टेलीफोन के सिद्धान्तों के अनुरूप हैं। क्योंकि न्याय में भी प्रकम्पन को ध्वनि का कारण माना है। न्याय के एक सम्प्रदाय में वायु–तरंगें भी स्वीकार्य हैं। इन वायु–तरंगों को निमित्त कारण बताते समय सावधानीपूर्वक 'आदि' पद का प्रयोग करते हुए[2] इस सम्भावना को स्थान दिया है कि वायु के अलावा तरंगित डायफ्राम या पर्दा भी शब्द का निमित्त कारण बन सकता है।

---

1. Dr. Bell worked all this out, with the ear of a dead man. At the back of the ear he placed a straw, that touched with one end of the ear-drum; the other end of the straw was set close to a piece of smoked glass. Bell spoke into the ear, and the vibrations of the drum acted on the straw, which, in turn, made tiny markings upon the glass. Out of this rather gruesome experiment came the great discovery. The telephone was actually born in the ear of a dead man.

-Harmsworth popular science, London, I part, page 704

२. पवनादिकन्तु निमित्तम् —मुक्तावली टीका।

पर इस सिद्धान्त में मुख्य बाधा वही है, जिसका उल्लेख सबसे ऊपर किया गया है। न्याय के विद्वान् वायु की तरंगों के द्वारा एक सर्वथा–अतिरिक्त ज्ञानबाह्य गुणरूप शब्द को शब्दज–शब्द प्रक्रिया से आगे बढ़ाना चाहते हैं तथा इस अतिरिक्त शब्द से शब्द–संवेदना प्राप्त करना चाहते हैं। यहाँ विज्ञान का कहना है कि ध्वनि–तरंगों को विद्युत् तरंगों में बदलने का तथा उन्हें सुदूर भेजने का उपाय तो है। पर इस अतिरिक्त 'शब्द' को भेजने का अभी तक कोई उपाय विकसित नहीं है। टेलीविजन में चित्र की असंख्य प्रकाश–तरंगों को विद्युत् तरंगों में बदलकर इन्हें भेजने का उपाय तो है, पर दृश्य रंग–बिन्दु तथा इनसे अतिरिक्त 'चित्र' द्रव्य भेजने का कोई उपाय नहीं।

रंगीन टेलीविजन में सुदूर दृश्य पदार्थों से उनके रंग नही भेजे जाते। अपितु दृश्य वस्तु के प्रस्तरण (scanning) के द्वारा निर्मित असंख्य दृश्य–बिन्दुओं पर प्रतिक्षिप्त प्रचण्ड प्रकाश को फोटो एलेक्ट्रिक सेल पर डाला जाता है। इससे निर्मित विविध विद्युत् तरंगों को दूर भेजकर ग्राहक स्थल पर पुनः उसी प्रकार की प्रकाश–तरंगों को टेलिविजन के पर्दे पर डाला जाता है। ये अलग २ लम्बानों वाली प्रकाश–तरंगें ही रंग संवेदना उत्पन्न करती हैं। साथ ही यहाँ विविध विद्युत् तरंगों से परिवर्तित तथा पुनः निर्मित वायु की ध्वनि–तरंगें ही मस्तिष्क में शब्द संवेदना उप्पन्न करती हैं।

इसलिये आधुनिक विज्ञान में वायु आदि की इन ध्वनि–तरंगों से कोई अतिरिक्त बाह्य गुण–रूपी शब्द मान्य नहीं हैं तथा विविध लम्बानों वाली प्रकाश–तरंगों से अतिरिक्त बाह्य गुणरूपी रूप–रंग का अस्तित्व स्वीकार्य नहीं है। वास्तव में ध्वनि–तरंगों के प्रभाव से मस्तिष्क में शब्द–संवेदना उत्पन्न हो जाती है तथा प्रकाश–तरंगों के प्रभाव से रंग–बिन्दु तथा उनसे चित्र–संवेदना उत्पन्न हो जाती है।।

---

१३. हम कानों से कैसे सुनते हैं।

प्राणियों में सुनने वाले उपकरण को दर्शनशास्त्र में 'श्रवण–इन्द्रिय' नाम दिया गया है। इसे इन्द्रिय कहने का मौलिक कारण यह है कि यह 'इन्द्र' अर्थात् आत्मा की पहचान है[1]। प्राणियों में आत्मा मन के माध्यम से श्रवण–सहित सभी इन्द्रियों से सम्बद्ध रहते हुए उनमें परस्पर तदनुकूल क्रियाएँ सम्पन्न कराता है। इसीलिये हम क्रमिक अक्षरों को सुनकर पूरे पद तथा वाक्य को बोलते तथा समझते हुए उसके अनुसार कार्य करते हैं[2]। मनुष्यों में बोलना क्रिया अन्य इन्द्रियों की तरह अनायास नहीं होती। अपितु बचपन में अक्षर तथा पदों को सुनने के द्वारा धीरे२ यह सम्भंव हो पाती है। इससे प्रकट है कि हमारे कानों से सम्बद्ध आत्मा है जो कि सुनने के अनुकूल शब्द बोलने के लिये मन के माध्यम से वाणी को प्रेरित करती है। इस प्रकार इस सुनने वाले उपकरण 'श्रोत्र' से आत्मा की पहचान मिलने से इसे इन्द्रिय कहा जाता है।

इस श्रोत्र को पारिभाषिक रूप से 'कर्ण' अथवा कान से पृथक् समझा जाता है। सुनने वाला उपकरण 'श्रोत्र' ही है। कर्ण तो वह 'स्थान' अथवा डिब्बा जैसा है, जिसमें श्रोत्र निवास करता है। फिर भी आगे चलकर संस्कृत में तथा हिन्दी आदि में भी 'कान' का प्रयोग इन्द्रिय के लिये होता रहता है।

श्रोत्र इन्द्रिय की उत्पत्ति– वेद एवम् उपनिषदों में श्रोत्र की उत्पत्ति के विषय में अनेक विवरण प्राप्त होते हैं। दर्शनशास्त्रों में अपनी२ सुविधानुसार इन्हें थोड़ा बदल कर मान्यता प्रदान की गई है। उपनिषद् में माना है कि अग्नि वाणी के रूप में मुख में प्रविष्ट हुई तथा दिशाएँ श्रोत्र के रूप में कान में प्रविष्ट हुईं[3]। वेदान्त में अपनी एक विशेष प्रक्रिया के अनुसार यह माना है कि आकाश के राजस अंश से वाणी तथा आकाश के ही सात्त्विक अंश से श्रोत्र उत्पन्न हुआ है[4]। यह मान्यता प्रमुखतः इस तर्क पर अवलम्बित है कि सृष्टि में जो गुण जिस महाभूत

---

१. इन्द्रियमिन्द्रलिंगम् ..... —अष्टाध्यायी ५.२.९३
इस सूत्र में इन्द्रिय को इन्द्र का लिंग या पहचान बताया गया है।

२. क्रमभाविनो वर्णान् श्रुत्वा पदवाक्यभावं प्रतिसन्धाय शब्दार्थव्यवस्थां च बुध्यमानोऽनेक–विषयमर्थजातमग्रहणीयमेकैकेनेन्द्रियेण गृह्णाति।
—न्याय सूत्र३.१.४३ पर वात्स्यायन भाष्य।

३. अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्....दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशत्।
—ऐतरेय उपनिषद् १.२.४

४. द्रष्टव्य–वेदान्त परिभाषा, विषयपरिच्छेद, वेदान्तसार–सूक्ष्म–शरीरोत्पत्ति–प्रकरण इत्यादि।

में सबसे पहले उत्पन्न हुआ, उसी महाभूत से उस गुण को उत्पन्न करने तथा ग्रहण करने वाली इन्द्रिय निर्मित होनी चाहिये। वेदान्त में श्रुति के प्रमाण के अनुसार सबसे पहले शब्द गुण वालां आकाश उत्पन्न हुआ। अतः इस आकाश से ही वाणी तथा श्रोत्र की उत्पत्ति मान्य है।

दर्शन–जगत् में यह मान्यता बहुत लोकप्रिय हुई। अतः न्याय ने वेदान्त का उल्लेख न करते हुए तथा अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए थोड़े परिवर्तन के साथ इसे अपना लिया है। उनके अनुसार घ्राण तथा श्रोत्र इन्द्रिय जिस विशेष गुण को ग्रहण करती हैं, वह उस विशेष गुण वाले महाभूत से निर्मित होती है, जिस विशेष गुण की आधारता उसका लिंग अथवा लक्षण हो[1]। जैसे घ्राण इन्द्रिय गन्ध को ग्रहण करती है। इस गन्ध का आधार होना पृथिवी का लक्षण है। अतः यह पार्थिव तत्त्व से निर्मित है।

इसी प्रकार श्रोत्र इन्द्रिय शब्द को ग्रहण करती है। शब्द का आधार होना आकाश का लक्षण है। अतः परिसीमित आकाश ही श्रोत्र है। यहाँ वेदान्त के समान श्रोत्र को आकाश से निर्मित नहीं कहा गया। क्योंकि आकाश नित्य है। अतः न्याय की परिभाषा में कर्ण शष्कुली से अवच्छिन्न आकाश ही श्रोत्र होता है[2]। इस दर्शन की सम्मति में क्योंकि शब्द आकाश के अलावा कहीं भी समवेत नहीं होता। इसलिये भी शब्द ग्रहण करने वाले श्रोत्र को आकाश स्वरूप ही होना चाहिये।

वेद–मन्त्र आधुनिक विज्ञान के अनुरूप– श्रोत्र के विषय में वेदों से भी कुछ संकेत प्राप्त होते हैं। पुरुष सूक्त का एक प्रसिद्ध मन्त्र इस प्रकार है–

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।

श्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत।। —यजुर्वेद ३१.१२

अर्थात् उस पुरुष–विशेष ईश्वर के मन से चन्द्रमा, चक्षु से सूर्य, श्रोत्र से वायु तथा प्राण, मुख से अग्नि उत्पन्न हुई। यहाँ आलंकारिक वर्णन के द्वारा चक्षु तथा श्रोत्र से उन२ पदार्थों की उत्पत्ति दिखाई गई है, जो उन२ इन्द्रियों से ग्रहण किये जाने वाले गुणों के प्रकाशक हैं। जैसे–चक्षु रूप को ग्रहण करता है। अतः

---

१. यह कथन 'यस्य बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्य–विशेषगुण–ग्राहकं यदिन्द्रियं तत् तद् गुणकम्' – न्यायकन्दली पृ० १२४ के आधार पर प्रस्तुत है।

२. शब्दोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं श्रोत्रम्। तच्च कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नम् आकाशमेव । —तर्कभाषा, प्रमेयनिरूपण, पृ० १६७

ईश्वर के चक्षु से बाहरी दुनियाँ में रूप का प्रकाशक सूर्य उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार श्रोत्र से शब्द का ग्रहण होता है। अतः इस मन्त्र की भावना के अनुसार ईश्वर के श्रोत्र से वही उत्पन्न होना चाहिये जो इस विश्व में शब्द का प्रमुख प्रकाशक है। अब यहाँ क्योंकि श्रोत्र से वायु की उत्पत्ति बताई गई है। अतः इस वर्णन से वायु के शब्द–प्रकाशक होने का संकेत मिलता है। साथ ही जिस प्रकार सामान्य प्राणियों का चक्षु रूप के परम–प्रकाशक सूर्य के तेजस्तत्त्व से निर्मित होता है, इसी प्रकार हम लोगों का श्रोत्र शब्द के प्रमुख प्रकाशक वायु–तत्त्व से निर्मित है– यह संकेत भी प्राप्त होता है।

अगले मन्त्र में कहा है कि उस पुरुष विशेष ईश्वर का श्रोत्र ही दिशाएँ हैं[1]। इसका आशय यह प्रतीत होता है कि ईश्वर का शब्द–ग्राहक श्रोत्र तथा बाहरी दुनियाँ में शब्द का प्रकाशक वायु– ये दोनों व्यापक होने से दिशाओं के अनुरूप हैं।

उपनिषदों ने भी वेद से आशय ग्रहण करते हुए यह संकेत दिया है कि व्यापक होने से वायु सदृश दिशाएँ ही श्रोत्र बनकर कानों में प्रविष्ट हुईं। इससे प्रकट है कि इनके अनुसार श्रोत्र की उत्पत्ति या उसके व्यापार में वायु साधकतम करण होता है।

आधुनिक विज्ञान का भी ऐसा ही मानना है। उसके अनुसार सुनने की प्रक्रिया में वायु की ध्वनि–तरंगें ही कान के पर्दे को तदनुकूल प्रकम्पित करती हैं। यद्यपि घण्टा आदि में भी ये तरंगें बनती हैं। पर इन्हें सुनने के लिये भी वायु–तरंगें ही समीपतम उपाय हैं। अतः स्पष्ट है कि कानों में वायु–तरंगों का सर्वाधिक प्रभाव है।

श्रोत्र से शब्द–ग्रहण की प्रक्रिया (दर्शन)– दर्शनशास्त्र में अपनी सुविधा तथा तर्कों के अनुसार कानों से परिसीमित आकाश को ही श्रोत्र स्वीकार किया है। इसका 'शब्द' नामक गुण के साथ समवाय अर्थात् नित्य–सन्निकर्ष होना शब्द के सविकल्पक ज्ञान का 'करण' अर्थात् सबसे सन्निहित साधन है[2]। इस सन्निकर्ष के तत्काल पश्चात् आत्मा में निर्विकल्पक ज्ञान पूर्वक शब्द–ज्ञान उत्पन्न होता है। अथवा यह कहें कि इस सन्निकर्ष के बाद शब्द–ज्ञान उत्पन्न हुए बिना रह नहीं सकता।

१. पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकां अकल्पयन्। – यजुर्वेद ३१.१३
२. यदा श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दो गृह्यते, तदा श्रोत्रमिन्द्रियं, शब्दोऽर्थः। अनयोः सन्निकर्षः समवाय एव। – तर्कभाषा, प्रत्यक्ष निरूपण पृ. ५५

इस व्याख्या का स्पष्ट अर्थ निकलता है कि यहाँ कर्णशष्कुली आदि का अधिकतम उपयोग आकाश–स्वरूप श्रोत्र को परिसीमित या सुरक्षित करना है। इनकी सम्पूर्ण उपयोगिता यहीं समाप्त हो जाती है। क्योंकि इस श्रोत्र के साथ शब्द–सन्निकर्ष के पश्चात् अब शब्द–ज्ञान रूपी फल के लिये इनकी कोई क्रिया नहीं होनी है।

ऐसी दशा में प्रश्न हो सकता है कि हम कर्ण– पटह या कान का पर्दा तथा कान की अस्थियों के प्रकम्पन आदि को किस प्रकार श्रवण का कारण निरूपित करेंगे। क्योंकि कर्ण–शष्कुली से सीमित आकाश के साथ शब्द का समवाय होने के तत्काल पश्चात् शब्द–प्रत्यक्ष होने की स्थिति में अब इनकी कारणता को कैसे सिद्ध किया जा सकता है।

दर्शनशास्त्र में भी अन्य शब्दों में यह प्रश्न उठाया जाता रहा है। न्याय–कन्दली में कहा है कि सुनने में शब्द–सन्निकर्ष के अलावा अन्य किसी अंग या उनकी क्रिया की उपयोगिता तो है नहीं। तब फिर बहरे को भी सुनाई पड़ना चाहिये। क्योंकि कर्ण·शष्कुली तो उसके पास भी होती ही है[1]।

वहाँ इसका उत्तर यह दिया गया है कि आकाश के नित्य होने पर भी यह मनुष्य के धर्म, अधर्म की विकलता के कारण होता है। न्याय के अनुसार धर्म तथा अधर्म आत्मा में रहने वाले 'अदृष्ट' नामक गुण के अन्तर्गत हैं, जो क्रमशः पुण्य तथा पाप कार्यों से उत्पन्न होते हैं तथा फल.भोग के द्वारा जिनका विनाश.होता है[2]। इस प्रकार इस विवरण के अनुसार कान की सभी बीमारियाँ मनुष्य के पूर्वजन्मों के खराब कर्मों का फल है, जिसके भोग के पश्चात् ही उनका निवारण हो सकता है !

न्याय–कन्दली से पूर्व जरन्नैयायिक[3] जयन्त भट्ट ने भी अपनी न्याय–मञ्जरी में इस प्रकार प्रश्न किया है कि आप आकाश को श्रोत्र बताते हैं। इस आकाश में कभी दोष तो आ नहीं सकता। अतः यह सदा संस्कृत रहेगा। इस प्रकार सब लोगों के आकाशाभिन्न श्रोत्र भी सदा संस्कृत रहेंगे। तब फिर मनुष्य बहरा क्यों होता है?

१. नन्वेमपि बधिरस्य शब्दोपलब्धिः स्यात्, कर्णशष्कुली–सद्भावादत आह–तस्य चेति। तस्याकाशस्य नित्यत्वेऽप्युपनिबन्धकयोर्धर्माधर्मयोः सहकारिभूतयोर्वैकल्याद् बाधिर्यम्।
—प्रशस्त–पाद–भाष्यं, आकाश–प्रकरण पर न्याय–कन्दली पृ. १५५

२. धर्माधर्मावदृष्टं स्यात्, धर्मः स्वर्गादिकारणम्।
.........इमौ तु वासनाजन्यौ ज्ञानादपि विनश्यतः। —कारिकावली श्लोक १६४
अपिना भोगपरिग्रहः । — उक्त श्लोक पर दिनकरी

३. नव्य न्याय के जनक गंगेश उपाध्याय ने इन्हें यह उपनाम प्रदान किया है!

इसका उत्तर वही है– मनुष्य के पाप से उत्पन्न अधर्मरूपी अदृष्ट के फलस्वरूप ऐसा होता है[1]।

वैद्यक–ग्रन्थों में कान का बहना आदि अनेक रोग तथा उनके निवारण की विस्तार से चर्चा है। ये रोग प्रमुखतः श्रोत्र के निवास–स्थान कान से सम्बन्धित हैं। कहीं२ बाधिर्य का भी वर्णन है। भाव–प्रकाश में इसका कारण यह बताया है कि जब शब्द को आगे बढ़ाने वाली वायु कफ से परिपूर्ण होकर स्रोत को रोक ले, तब बहरापन होता है[2]।

श्रोत्र से शब्द–ग्रहण की प्रक्रिया (विज्ञान)– किसी घण्टा आदि के प्रकम्पन से वायु में उत्पन्न ध्वनि–प्रकम्पन या शब्द–तरंगें कर्णशष्कुली तथा कर्णकुहर के मार्ग से अन्दर पहुँचती है। कर्ण–शष्कुली में ये शब्द तरंगें एकत्र होकर कर्णकुहर के कुछ टेढ़े तथा लम्बे मार्ग से चलकर कर्ण–पटह या कान के पर्दे में प्रविष्ट होती हैं। इस प्रकार कर्ण–शष्कुली तो केवल ध्वनि–तरंगों के आगे जाने का रास्ता है, अथवा दर्शन के शब्दों में केवल 'इन्द्रिय–प्रणालिका' है। सुनने का असली व्यापार तो इसके आगे होता है।

इस मार्ग से वायु की ध्वनि–तरंगें कर्ण–पटह में प्रविष्ट होकर इस पर्दे को उसी प्रकार प्रकम्पित करती हैं। इसके भीतर ३ अस्थियाँ होती हैं। इनमें रकाब के आकार की धरणक (stapes) नामक अस्थि सबसे मुख्य है। ये पर्दे के प्रकम्पन को ठीक उसी प्रकार अंकित करते हुए धरणक के अन्तिम भाग में स्थित कर्णावर्त (cochlea) की जलपूर्ण आरोही अवरोही नालिकाओं तक पहुँचाती है। यह कर्णावर्त या कॉक्लिया ढाई चक्रों में कुण्डलित होता है। यहाँ स्वरादानिका (organ of corti) नामक श्रवण–संवेदी अंग की रौमिक कोशिकाएँ नालिकाओं के द्रव तक प्रतिक्षिप्त रहती हैं। यहाँ कर्णकुहर की वायु–तरंगों के अनुरूप धरणक की अस्थियों के प्रकम्पन जलतरंगों में बदल जाते हैं। इन तरंगों के प्रत्येक कम्पन के प्रहारों को स्वरादानिका की रौमिक कोशिकाओं के द्वारा नाडीय विद्युत् आवेगों के रूप में मस्तिष्क के श्रवण–संवेदी क्षेत्र तक पहुँचाया जाता है। मस्तिष्क में इन प्रकम्पनों की व्याख्या विभिन्न शब्दों के रूप में की जाती है।

---

१. आकाशं च श्रोत्रमाचक्षते भवन्तः ....तस्मिन् संस्कृते सति सर्वे च तदैव संस्कृतकरणाः प्राणिनः सम्पन्ना इति सर्व एव श्रृंणुयुः। —न्याय–मञ्जरी पृ. १६४
समाधान– धर्माधर्मनिबन्धन एव बधिरेतरविभागः।

२. यदा शब्दवहो वायुः स्रोतसावृत्य तिष्ठति।
शुद्धश्लेष्मान्वितो वापि बाधिर्यं तेन जायते। — भाव–प्रकाश, कर्णरोगाधिकार।

श्रोत्र के ये अंग इतने बढ़िया संवेदनशील हैं कि ये सभी ध्वनि–तरंगों को ग्रहण करते हुए इन्हें उसी प्रकार तथा ठीक उतनी ही आवृत्ति में नाड़ी–सूत्रों के द्वारा मस्तिष्क तक पहुँचाने का सामर्थ्य रखते हैं[1]। हमारा मस्तिष्क इन तरंगों को अलग२ ग्रहण करते हुए भी प्रकम्पन के रूप में नहीं, अपितु शब्द के रूप में इनका अनुभव करता है। अतएव हम असंख्य प्रकार के अलग२ प्रकम्पनों को अलग२ ध्वनियों के रूप में पहचानते हैं।

सामान्यतः ये प्रकम्पन वायु–तरंगों के द्वारा ही श्रोत्र तक पहुँचते हैं। पर यदि अन्य किसी उपाय से इन प्रकम्पनों को श्रोत्र तक पहुँचाया जा सके, तो भी शब्द का अनुभव हो सकता है। जैसे यदि चाभी से चलने वाली किसी घड़ी को दाँतों से दबा लिया जाय तथा दोनों कानों को उँगलियों से बन्द कर लिया जाय तो आराम से उसकी टिक् टिक् आवाज सुनाई पड़ती है। इस घड़ी को कान के ऊपर रखने से जितनी आवाज सुनाई देती है, उसकी अपेक्षा इस प्रक्रिया से अधिक अच्छी आवाज सुनी जा सकती है। क्योंकि विज्ञान के अनुसार वायु की अपेक्षा अस्थि इत्यादि ध्वनि–तरंगों के अधिक अच्छे माध्यम हैं।

यहाँ दर्शनशास्त्र की दृष्टि से कर्णशष्कुली से परिसीमित आकाश–स्वरूप श्रोत्र को पूरी तरह बन्द कर लिया गया है। फिर भी ध्वनि–संवेदन होना प्रमाण है कि असली श्रवण–व्यापार इससे आगे कर्ण–पटह से प्रारम्भ होता है।

दर्शन तथा विज्ञान में प्रमेय–सम्प्लव– दर्शनशास्त्र में यह माना गया है

१. ये नाडीय आवेग शंखीय पालि में प्रहारों के रूप में पहुँचते हैं। इन प्रकारों की आवृत्ति बाह्यतरंगों की आवृत्तियों के समरूप होती है। इस कारण तारत्व से सम्बन्धित अनुभूतियों को उत्पन्न कर पाती है।
—मनोविज्ञान–नारमन एल. मन पृ. ४६६

कि ज्ञानेन्द्रियों से अलग२ विशेष गुणों का प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् वहाँ प्रमेय–व्यवस्था होती है। यहाँ न्याय का कहना है कि द्रव्य की दृष्टि से प्रमेय–सम्प्लव होता है[1]। क्योंकि त्वचा तथा चक्षु इन दो ज्ञानेन्द्रियों से एक ही द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है[2]। पर बौद्ध दार्शनिक द्रव्य को नहीं मानते। अतः वे कहते हैं कि यहाँ भी प्रमेय–सम्प्लव नहीं होता, अपितु केवल काल्पनिक रूप से उपलब्ध होता है[3]।

इस प्रसंग में विज्ञान की दृष्टि से एक अन्य विशेषता को भी जोड़ा जाना चाहिये। यहाँ घण्टा–प्रकम्पन त्वचा से उपलब्ध होता है। साथ ही श्रव्य सीमा के अन्तर्गत आवृत्ति वाला यही प्रकम्पन ध्वनि–तरंगों के द्वारा कानों तक पहुँचने पर प्रकम्पन क्रिया के रूप में नहीं, अपितु शब्द के रूप में उपलब्ध होता है। अतः कहना होगा कि यहाँ क्रिया की दृष्टि से वस्तुतः प्रमेय–सम्प्लव होता है, पर उपलब्ध नहीं होता।

---

१. न्यायसूत्र १.१.३ के वात्स्यायन भाष्य में प्राप्त इस शब्द का यहाँ अन्य सन्दर्भ में प्रयोग किया गया है।

२. दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्। —न्याय सूत्र ३.१.१

३. तत्सामर्थ्यसमुद्भूतकल्पनानुगमात्मकम्।
प्रतिसन्धानविज्ञानं समुदायं व्यवस्यति। — तत्त्वसंग्रह, प्रथम भाग, श्लोक ५६ पृ. ५८

१४. हम मुख से कैसे बोलते हैं।

हम दिन रात बोलते, बात–चीत करते हुए जल्दी यह सोच भी नहीं पाते कि मुख में शब्द की उत्पत्ति कितनी आश्चर्यपूर्ण घटना है। हर अक्षर बोलने के लिये हमारी वाणी को अलग२ प्रकार का प्रयत्न करना पड़ता है। इन प्रयत्नों के लिये सभी छोटे से छोटे आदेश मस्तिष्क द्वारा प्रेषित किये जाते हैं। मस्तिष्क हमारे समाज की भाषा में वाणी के पास सन्देश नहीं भेजता। अपितु 'क' बोलने के लिये कण्ठ को कितनी मात्रा में आगे, पीछे होना है, इसे नाडीय आवेगों द्वारा प्रेषित करता है। क्योंकि कण्ठ को 'क' बोलना नहीं आता! उसे तो केवल मस्तिष्क के आदेशानुसार उतना आगे पीछे हिलना आता है!!

मनुष्य में ये नाडीय आवेग लगभग १०० मीटर प्रति सेकेण्ड की गति से भेजे जाते हैं। ये कुछ मिलीसेकेण्ड तक स्थिर रहते हैं। उद्दीपन में वृद्धि के द्वारा इनकी प्रति सेकेण्ड आवृत्ति की संख्या को बढ़ाया जा सकता है। अलग२ आदेश प्रदान करने के लिये इन आवेगों को एक के बाद एक करके पंक्तिबद्ध रूप से भेजा जाता है। केवल 'क' बोलने के लिये अनेक आवेगों को क्रम से भेजना पड़ता है। पुनः इनसे निर्मित शब्द तथा वाक्य बोलने के लिये यह जटिलता बढ़ती जाती है। सभी शब्दों के किसी अर्थ के प्रतीक होने के कारण उस अर्थ के अनुरूप शब्द को बोलना इस प्रक्रिया को और जटिल बनाता है।

इन सभी कारणों से विद्वानों ने मुख में अक्षर तथा शब्द की उपस्थिति को सबसे प्रमुख घटना माना। इसीलिये आगे चलकर 'मुख्य' शब्द ही प्रधान अर्थ का वाचक बन गया। जबकि इसका मौलिक अर्थ 'मुख में होने वाला शब्द' इतना भर है[1]।

काव्य के विद्वानों ने भी वाणी के इस अचरजभरे 'मुख्य' कार्य पर चुटकी ली है। एक श्लोक में दाँतों ने जीभ से पूछा है कि अगर हम तुम्हें काट लें तो तुम क्या करोगी। जीभ का जवाब था कि केवल एक ही (खराब) शब्द बोलेंगे और तुम्हारी पूरी बत्तीसी झड़ जावेगी[2] !!

---

१. शरीरावयवाच्च। — अष्टाध्यायी सूत्र ४.३.५५

२. दन्ता वदन्ति जिह्वे त्वां दशामः किं करिष्यसि।
एकमेव वचो वच्मि नूनं सर्वे पतिष्यथ!!

मुख से बोलने की प्रक्रिया (शिक्षा शास्त्र)— भारतीय शिक्षा शास्त्र में ध्वनि तथा प्रत्येक अक्षर की अलग२ उत्पत्ति का निरूपण सर्वथा वैज्ञानिक रीति से किया जाता है। इसकी वर्णमाला का क्रम, अक्षर की उत्पत्ति के अनुसार वर्गीकरण आदि को आज भी विश्व में अत्यन्त समादर की दृष्टि से देखा जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आधुनिक ध्वनिशास्त्र (Phonetics) ने शिक्षाशास्त्र से बहुत प्रेरणा प्राप्त की है।

मुख से ध्वनिसामान्य की उत्पत्ति के लिये शिक्षाशास्त्र के एक सिद्धान्त का वर्णन तीसरे परिच्छेद में किया गया है। एक अन्य सिद्धान्त के अनुसार आत्मा बुद्धि के द्वारा अर्थ या विषय तथा उसके अनुरूप शब्द को इकट्ठा करके बोलने की इच्छा धारण करते हुए मन को युक्त करता है। यह मन शरीर की अग्नि या ऊर्जा को तथा यह ऊर्जा वायु को प्रेरित करती है। यह वायु उरःस्थल फेफड़े में विचरण के साथ धीरे२ ऊपर उठते हुए स्वर को उत्पन्न करती है[1]।

यहाँ श्लोक की प्रथम पंक्ति में मस्तिष्क में बोलने की इच्छा का विवरण दिया है। द्वितीय पंक्ति में मस्तिष्क द्वारा तन्त्रिका तन्तुओं के माध्यम से फेफड़े की वायु को प्रयत्नपूर्वक ऊपर उठने के आदेश का संकेत दिया है। अन्तिम पंक्ति में संकेत से यह बताया है कि यही वायु विभिन्न स्थानों से अवरुद्ध होकर अनेक प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न करने का निमित्त कारण बनती हैं। इस प्रक्रिया में कवर्ग से पवर्ग तक अक्षरों के उच्चारण में जिह्वा विभिन्न स्थानों का स्पर्श करके अन्दर से आने वाली वायु को एक क्षण के लिये पूरी तरह रोक लेती है। अतः इन्हें 'स्पर्श' यह अन्वर्थ नाम दिया है[2]। इस वायु रोकने की क्रिया में जिह्वा सबसे प्रमुख साधन है। अतएव इसे 'करण' नाम दिया गया है तथा यह जिन मुख के स्थानों का स्पर्श करती है, उन्हें पारिभाषिक रूप से 'स्थान' नाम दिया गया है।

मुख से बोलने की प्रक्रिया (न्याय)— इस शास्त्र ने भी अपने शब्दों में इस प्रक्रिया को स्थान दिया है। इसका विवरण पाँचवें परिच्छेद में दिया जा चुका है। यहाँ कण्ठ, तालु आदि स्थानों का अन्दर से आने वाली वायु के साथ अभिघात संयोग को मुख से शब्दोत्पत्ति का विशेष निमित्त कारण बताया है।

---

१. आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।। —वर्णोच्चारण—शिक्षा—श्लोक २

२. कादयो मावसानाः स्पर्शाः। —वर्णोच्चारण—शिक्षा

इस प्रसंग में वैशेषिक सूत्र में संयोग के नोदन तथा अभिघात नाम के दो विभाजन किये गए हैं। वहाँ कहा है कि जिस संयोग से शब्द उत्पन्न नहीं होता, वह नोदन है। जैसे– पैर का चुपचाप कीचड़ में धँस जाना। पर अभिघात नाम संयोग की दो विशेषताएँ होती हैं। प्रथम–वह शब्द उत्पन्न करता है। द्वितीय–इस संयोग से उत्पन्न क्रिया अवश्य ही विभाग का कारण बनती है। अर्थात् इस संयोग के अनन्तर वहाँ से विभाग हो जाता है[१]।

शब्द की व्याख्या के प्रसंग में वैशेषिक का यह विवरण सचमुच बहुत महत्त्वपूर्ण है। यहाँ अभिघात संयोग की दूसरी विशेषता से यह संकेत दिया गया है कि अभिघात से घण्टा तथा समीपस्थ वायु में प्रकम्पन उत्पन्न होता है। जिस संयोग से क्रिया उत्पन्न होकर विभाग तथा पुनः संयोग आदि का निरन्तर क्रम बने, वह अवश्य ही प्रकम्पन है। इसकी प्रथम विशेषता के अनुसार इस प्रकम्पन से अवश्य ही शब्द उत्पन्न होता है। इस प्रकार किसी भी वाद्य में अभिघात का अन्तिम फल प्रकम्पन–पूर्वक शब्द उत्पन्न होना है। घण्टा का प्रकम्पन आकाश में शब्द उत्पन्न करने का तथा समीपस्थ वायु में प्रकम्पन शब्दज–शब्द प्रक्रिया का निमित्त कारण बनता है।

मुख से बोलते समय भी जिह्वा का कण्ठ, तालु आदि स्थानों के साथ तथा इन स्थानों का समीपस्थ वायु के साथ अभिघात नामक संयोग से वायु–प्रकम्पन के द्वारा आकाश में शब्द उत्पन्न होते हैं।

मुख से बोलने की प्रक्रिया (विज्ञान)– आधुनिक विज्ञान भी इस धारणा को समर्थन प्रदान करता है। उसके अनुसार शब्द उत्पन्न करने के लिये उपाय चाहे जो हो, पर उन सबका एक मात्र उद्देश्य होता है– प्रकम्पन या ध्वनि–तरंगें उत्पन्न करना'। मुख से बोलते समय भी स्थान–करण के 'अभिघात' नामक संयोग द्वारा यही कार्य होता है। तेज हवा चलने पर वायु के अणुओं का तीव्र संयोग होने पर भी ध्वनि–तरंगें न बनने से शब्द उत्पन्न नहीं होता। इस समय न्याय के शब्दों में हवा का वेग से 'नोदन' नामक संयोग होता है। अतः प्रकम्पन नहीं होता। पर मुख से शब्द बोलते समय हवा न चलने पर भी अभिघात नामक संयोग से वायु में ध्वनि–तरंगें बन जाने से शब्द उत्पन्न हो जाता है।

भौतिक विज्ञान का नियम है कि किसी गतिशील वस्तु को अचानक रोक

---

१. यः संयोगः शब्दनिमित्तकारणं भवति, यज्जनितं कर्म संयोगिनोः परस्परविभागहेतुश्च भवति स संयोगविशेषोऽभिघातः। – वैशेषिक सूत्र ५.२.१ में उपस्कार।

कर जाने देने पर उसकी गतिज ऊर्जा ऊष्मा तथा ध्वनि ऊर्जा में बदल जाती है। परिणामतः वस्तु में ध्वनि–तरंगें उत्पन्न हो जाती हैं। किसी गेंद को सीधे फेंक कर किसी दीवाल से अचानक टक्कर देकर अथवा सीटी बजाते समय मुख से सीधी फेंकी गई वायु को आगे रोक कर त्तथा अन्य दिशा से जाने देकर ठीक यही कार्य किया जाता है। मुख से बोलते समय भी अन्दर की उच्छ्वास वायु को रोक कर इसी सिद्धान्त के अनुसार ध्वनि उत्पन्न की जाती है। इस प्रक्रिया में हम बाहर से ली गई स्वच्छ वायु से कभी शब्द नहीं बोल सकते। विडम्बना है कि शब्द सदा मलिन वायु से ही बोला जाता है!

शब्दोत्पत्ति का करण वाणी– शिक्षा शास्त्र में शब्द उत्पन्न करने के लिये जिह्वा को करण बताया है। वेदान्त दर्शन आदि में इसे 'वाक्' नामक कर्मेन्द्रिय बताया है, जो कि जिह्वा में निवास करती है। इस जिह्वा में 'रसना' नामक ज्ञानेन्द्रिय तथा इसी में यह कर्मेन्द्रिय भी रहती है।

यहाँ इन्द्रियों का यह दो प्रकार का विभाजन बहुत अच्छे आधार पर अवलम्बित है। जो इन्द्रियाँ बाहर के दृश्यों के द्वारा मस्तिष्क में विविध संवेदनाएँ तथा सूचनाएँ प्रदान करने में कारण बनती हैं, वे ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं। इन संवेदनाओं को प्राप्त करने के पश्चात् हमारा मस्तिष्क जिन्हें तदनुरुप कार्य करने के लिये आदेश प्रदान करता है, उन्हें कर्मेन्द्रिय कहा जाता है। इनके पाणि, पाद इत्यादि ५ उपभेद होते हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में श्रोत्र बाहरी ध्वनि–तरंगों के आधार पर मस्तिष्क में शब्द–संवेदना उत्पन्न करता है, अतः वह ज्ञानेन्द्रिय है। मस्तिष्क इस संवेदना के अनुरूप शब्द उत्पन्न करने के लिये वाणी को आदेश प्रदान करता है। इस आदेश के अनुरूप कार्य सम्पादित करने के कारण यह कर्मेन्द्रिय है।

पर बौद्ध दर्शन के विद्वान् अलग२ कारणों से सभी कर्मेन्द्रियों का प्रतिषेध करते हैं। वाणी के सन्दर्भ में उनका यह कहना है कि अन्य इन्द्रियों के समान इसका कार्य नैसर्गिक नहीं है। बच्चा पैदा होते ही अन्य सभी इन्द्रियों से कार्य करने की क्षमता रखता है। पर शिक्षा के बिना वाणी से शब्द बोलने का कार्य नहीं कर सकता। अतः यह इन्द्रिय नहीं है[1]। अगर जिह्वा के आगे पीछे चलाने मात्र

---

१. वाचस्तु नेन्द्रियत्वम्, वचने शिक्षाविशेषापेक्षत्वात्।
—अभिधर्मकोश द्वितीय–कोशस्थान पृ. १४४ तथा इससे आगे।
जातमात्रो हि बालको विनैव शिक्षया चक्षुषा रूपाणि पश्यति, न त्वेवं वचनं करोति।
—उक्त वचन पर स्फुटार्था।

से इसे इन्द्रिय कहें तो पलकों के फड़काने तथा चुटकी बजाने आदि की क्रिया से पलकों आदि को भी इन्द्रिय क्यों न माना जाय?

आधुनिक भाषा विज्ञान के विद्वान् भी इस मत के समर्थक हैं कि वाणी का कार्य मौलिक या नैसर्गिक नहीं है, अपितु अर्जित है। बालक अपने आस–पास की ध्वनियों का बार२ श्रवण उनका अनुकरण, स्मरण आदि के वर्षों के व्यापार से भाषा बोलना सीख पाता है। प्रत्येक बालक इस भाषा को अर्जित करते समय उस प्रक्रिया को दुहराता है, जिसे सबसे पहले मानव जाति ने इसे प्राप्त करने के लिये अपनाया था। गूँगे लोग अनिवार्यतः बहरे होते हैं। इस दशा में ये लोग ध्वनियों का श्रवण न कर पाने की स्थिति में वाणी को तदनुरूप प्रेरित न कर पाने के कारण ही कुछ भी बोल पाने में असमर्थ होते हैं। पर सामान्य बालक इन ध्वनियों को सुनकर, उनमें प्रतीकात्मकता की स्थापना करके वाणी के व्यापार में समर्थ हो जाता है। इस प्रकार इसके इस कार्य में बाहरी परिवेश् तथा बुद्धि का अतिरिक्त सहयोग होने के कारण यह अर्जित व्यापार है।

अन्य कर्मेन्द्रियों के साथ भी यह तथ्य लागू होता है। हमारे हाथ की उँगलियाँ किसी वस्तु को पकड़ने के लिये हैं। यह उनका मौलिक कार्य है। पर इनसे वीणा अथवा तबला बजाने का कार्य वर्षों के अभ्यास द्वारा अर्जित है। इसी प्रकार भाषा तथा वाणी का व्यापार भी अर्जित है।

पर विज्ञान के इस सिद्धान्त से सहमत होने पर भी वाणी के कर्मेन्द्रिय होने में आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। क्योंकि उपरिलिखित परिभाषा के अनुसार मस्तिष्क के आदेशानुसार विशिष्ट कार्यों का सम्पादन करने वाली कर्मेन्द्रियाँ होती हैं। शब्द उत्पन्न करना वाणी का अति–विशिष्ट कार्य है। निपुणता अर्जित करने पर यह कार्य और विशिष्ट बन जाता है। इससे-आत्मा की ज्ञान, इच्छा अथवा मस्तिष्क का अतितीव्र सूचना–सम्प्रेषण, स्मरण आदि सभी की पहचान होती है। इस सूक्ष्म कार्य के सामने चुटकी बजाने जैसे कार्यों की कोई तुलना नहीं। इस प्रकार वाणी के इस कार्य को नैसर्गिक न मानने पर भी, मस्तिष्क के आदेश द्वारा अतिविशिष्ट कार्य सम्पादित करने वाली होने के कारण वेदान्त द्वारा इसे कर्मेन्द्रिय मानना सर्वथा वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत सिद्ध होता है।

---

१५. स्फोट का विस्फोट !

भारतीय मनीषा ने शब्द–विषय पर एक अन्य अत्यन्त सम्मानित सिद्धान्त की स्थापना की है। इसका श्रेय संस्कृत व्याकरण शास्त्र के विद्वानों को प्राप्त है। इस सिद्धान्त से ध्वनि पर कम, पर अक्षरों से निर्मित शब्द, वाक्य तथा इनकी अर्थवाचकता आदि पर अधिक प्रकाश पड़ता है। अतः इसे ध्वनि से थोड़ा अलग, अन्तिम परिच्छेद में स्थान दिया गया है।

इस सिद्धान्त में ध्वनि विषय पर लगभग वही अभिमत है, जो न्याय–शास्त्र का है। वर्णरूप ध्वनि अनित्य होती है तथा यह स्थान का करण के साथ स्पर्श या अभिघात संयोग से उत्पन्न होती है। महाभाष्यकार के अनुसार 'शब्द करो', 'शब्द मत करो' जैसे प्रयोग इस प्रकार की अनित्य ध्वनि के लिये ही किये जाते हैं[1]।

पर अक्षरों से निर्मित शब्दों की क्या प्रकृति होती है ? अथवा इन शब्दों में अर्थ–वाचकता किस प्रकार होती है? इस प्रकार के प्रश्न व्याकरण शास्त्र में उत्पन्न होते हैं। सामान्यतः कणों से निर्मित वस्तुएँ दो प्रकार की होती हैं– १. या तो वे कण–समूह–रूप हों, जिनमें एकवचन आरोपित होता है। २. अथवा एक अवयवीरूप हों, जो अनेक अवयवों से निर्मित एक अतिरिक्त पदार्थ होता है। इनमें प्रथम विकल्प का उदाहरण अनाज का ढेर हो सकता है। यह ढेर अनाज के दानों से भिन्न नहीं है। दानें बहुत हैं, फिर भी इसमें एकवचन का आरोप किया गया है। शास्त्र में सेना, वन आदि ऐसे ही उदाहरण हैं। द्वितीय विकल्प का उदाहरण तन्तु से निर्मित पट हो सकता है, जो कि तन्तुओं से सर्वथा भिन्न, वस्तुतः एकत्व से परिपूर्ण पदार्थ माना जाता है। समूह की परिकल्पना में इन दोनों से भिन्न कोई तीसरा विकल्प नहीं हो सकता।

इस दशा में अक्षरों से निर्मित शब्द, वाक्य उपरिलिखित दो प्रकार के ही हो सकते हैं। पर ध्वनि की अपनी विशेष प्रकृति के कारण इन दोनों प्रकारों में कठिनाइयाँ हैं। पहले विकल्प के अनुसार अक्षरों का समूह शब्द हो सकता है। पर इसमें कठिनाई यह है कि अक्षरों के अनित्य होने के कारण इनका समूह बन ही नहीं सकता। महाभाष्यकार के मनोरम शब्दों में– 'वाणी क्रमशः एक क्षण में एक

---

१. प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। तद्यथा– शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीः .... इति ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते। – महाभाष्य, पस्पशाह्निक पृ. १६

अक्षर को सम्पादित करती है। जिस समय वह 'ग' बोलती है, उस समय 'ओ' अक्षर नहीं है। जब वह ओ बोलती है, उस समय तो 'ग' अक्षर विलुप्त हो चुका! इस प्रकार अक्षरों के उत्पत्ति–विनाशशील होने के कारण कोई अक्षर किसी का सहायक नहीं हो सकता[1]। अतः बाहरी दुनिया में इनका मेल सम्भव नहीं है।

यहाँ दूसरा विकल्प भी सम्भव नहीं है। क्योंकि जब अक्षरों का एक साथ मेल ही नहीं, तो उनसे निर्मित एक अतिरिक्त शब्द किस प्रकार बन सकता है। जब अतिरिक्त शब्द ही नहीं तो वह किसी अर्थ का वाचक भी किस प्रकार बन सकता है।

इस समस्या के समाधान के लिये जिस तत्त्व की स्थापना हुई, उसे व्याकरण के विद्वानों ने 'स्फोट' नाम दिया है। इसका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ 'जो ध्वनि के द्वारा प्रस्फुटित अथवा अभिव्यक्त हो', वह स्फोट है। इसके अनुसार अनेक अक्षरों को सुनकर अन्तःकरण में एक विलक्षण आकार का सृजन होता है। यह उन बाहरी अक्षरों से भिन्न केवल 'एक शब्द' तथा 'एक वाक्य' के स्वरूप का होता है। इससे ही अर्थबोध होता है। इस स्फोट के निरूपण में एक प्रसिद्ध श्लोक इस प्रकार है–

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।

वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन।।

– वाक्यपदीय, ब्रह्मकांण्ड श्लोक ७३

अर्थात् इस स्फोट के अन्तर्गत पदों में वर्ण नहीं होते, वर्णों के भी अवयव नहीं होते। वाक्य के मध्य भी अलग२ अक्षर तथा शब्द के रूप में कोई भी विभेद उपस्थित नहीं होता।

स्पष्टतः यह वर्णन बाहरी दुनियाँ के शब्दों का नहीं हो सकता। अतः मान्य है कि यह अन्तःकरण के उस आकार का विवेचन है, जहाँ अलग२ अक्षरों का भेद मिट जाता है। कुछ वैयाकरणों का कहना है कि यह स्फोट अन्तःकरण का अन्यों से सर्वथा भिन्न, विलक्षण आकार है।

---

१. एकैकवर्णवर्तिनी वाक्। न द्वौ युगपदुच्चारयति। गौरिति यावद् गकारे वाग्वर्तते, नौकारे, न विसर्जनीये। यावदौकारे, न गकारे, न विसर्जनीये। .... उच्चरितप्रध्वंसिनः खल्वपि वर्णाः। .... न वर्णो वर्णस्य सहायः।

—परः सन्निकर्षः संहिता—अष्टाध्यायी सूत्र १४.१०६ पर महाभाष्य।

यहाँ महान् दार्शनिक शंकराचार्य का कहना है कि यह स्फोट वर्ण को विषय बनाकर उत्पन्न होने वाली शब्दाकाराकारित वृत्ति ही है। यह अत्यन्त यथार्थ विवरण है। सांख्य तथा वेदान्त में माना है कि बाह्य विषयों का विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों से प्रत्यक्ष के द्वारा बुद्धि में उस आकार की वृत्ति बनती है। इसका ही पुरुष को 'बोध' होता है। यह वृत्ति बाहर अलग२ बिखरे पदार्थों को एक बना कर उपस्थित करके उसके पूरे स्वरूप तथा कार्यों का अवगम कर लेती है। यदि हमें टार्च द्वारा किसी हाथी को क्रम से दिखाया जाय तो भी हमारी बुद्धि उस पूरे हाथी के आकार वाली होकर उसे जान सकती है। यहाँ बुद्धि का यह समूह आकार उस स्वरूप से भिन्न है जो हमें टार्च द्वारा क्रमशः दिखाया गया है। यह उसके उन अवयवों का अलग२ सन्निवेश नहीं है।

ठीक यही स्थिति शब्दाकार वृत्ति के साथ है। अलग२ अक्षरों से निर्मित एक शब्दाकार वृत्ति उन भेद वाले अक्षरों से भिन्न ही है। अतः इस एक वृत्ति में उन अलग २ अक्षरों की विभेदकता नहीं है, यह कथन सही सिद्ध होता है।

यहाँ व्याकरण के विद्वान् स्फोट को सर्वथा विलक्षण सिद्ध करने के लिये इसे सर्वथा अलग आकार का बताना चाहते हैं। पर शांकर भाष्य में अनेक तर्कों से बताया गया है कि यह अनेक वर्णों को विषय बना कर उत्पन्न होने वाली बुद्धि की एक शब्दाकार वृत्ति से अलग कुछ नहीं। क्योंकि 'गो' ध्वनि से अभिव्यक्त इस मध्यमा नामक स्फोट में भी 'ग ओ' अक्षर झलकते हैं। यदि यह स्फोट इन अक्षरों से निर्मित बुद्धि की वृत्ति से सर्वथा भिन्न हो, तब तो जिस प्रकार 'गो' के स्फोट में दकार का अनुवर्तन नहीं होता, उसी प्रकार गकार का अनुवर्तन भी नहीं होना चाहिये[1]।

शांकर भाष्य में यह भी कहा है कि स्फोटवादियों के मत में दृष्टहानि तथा अदृष्टकल्पना का दोष आता है। वर्णों की ही एकाकार वृत्ति बनती है, इस दृष्ट अवधारणा को छोड़ना पड़ता है। साथ ही 'वर्ण सर्वथा भिन्न अतिरिक्त स्फोट को व्यक्त करता है तथा यह स्फोट अर्थविशेष को प्रकट करता है'– इस सर्वथा अदृष्ट अनुभव की कल्पना करनी पड़ती है[2]।

---

१. यतोऽस्यामपि बुद्धौ गकारादयो वर्णा अनुवर्तन्ते, न तु दकारादयः। यदि ह्यस्याः बुद्धेर्गकारादिभ्योऽर्थान्तरं स्फोटो विषयः स्यात्ततो दकारादय इव गकारादयोऽप्यस्या बुद्धेर्व्यावर्तेरन्, न तु तथास्ति। तस्मादियमेक–बुद्धिर्वर्णविषयैव स्मृतिः।
— ब्रह्म–सूत्र १.३.२८ पर शांकर–भाष्य पृ. ३२७

२. स्फोटवादिनस्तु दृष्टहानिरदृष्टकल्पना च। वर्णाश्चेमे क्रमेण गृह्यमाणाः स्फोटं व्यंजयन्ति, स स्फोटोऽर्थं व्यनक्तीति गरीयसी कल्पना स्यात्। – उक्त सूत्र पर शांकर भाष्य पृ. ३३०

व्याकरण के अनेक विद्वानों ने भी स्फोट की इस रूप में व्याख्या की है। उनके अनुसार विश्व में अकारादि वर्णों के रूप में सुस्पष्ट वैखरी वाणी है। मन में उसकी तदाकार वृत्ति मध्यमा वाणी है। इस दशा में मनुष्य को मन में शब्द और अर्थ का अलग२ बोध होता है। इसे वेदान्त में मनोमय कोश कह सकते हैं। पुनः इससे सूक्ष्म वृत्ति जिसमें शब्द, अर्थ का अलग बोध क्षीण होने लगता है, उसे पश्यन्ती वाणी कहते हैं। यह विज्ञानमय कोश के लगभग समकक्ष है। इन वृत्तियों से सर्वथा निरुपहित विशुद्ध तत्त्व 'परा' के अन्तर्गत आता है।

इस विवेचन से निम्न तंथ्य प्रकट होते हैं– १. बाहरी दुनियाँ में अलग२ अक्षरों का ही अस्तित्व है। २. इनके द्वारा मन तथा बुद्धि में स्फोट नामक एक शब्दाकार वृत्ति बनती है। ३. इसी मानस शब्दाकार वृत्ति से लोक में अर्थबोध होता है।

आधुनिक विज्ञान में स्फोट के समकक्ष व्याख्याएँ– इसमें सन्देह नहीं कि शब्द को लेकर स्फोट की यह व्याख्या अत्यन्त वैज्ञानिक है। बाहरी दुनियाँ में अक्षर–समूह बनाने का कोई उपाय नहीं। अतः मस्तिष्क में निर्मित एकाकार शब्द–संवेदना के द्वारा अर्थ–बोध होता है।

पर इस तथ्य को केवल शब्द तक सीमित नहीं रखना चाहिये। क्योंकि लोक–व्यवहार में मस्तिष्क की अनेक संवेदनाओं में यही बात दृष्टिगोचर होती है। आकाश में अलग२ पक्षियों को देखकर बलाका–पंक्ति का, बिन्दुओं को देखकर रेखा का, रेखाओं को देखकर चित्र के अवबोध में यही तथ्य दुहराया जाता है।

वैज्ञानिकों के अनुसार रेखा–खण्डों से चित्र की अनुभूति बहुत ही सुखद तथा मनोहारी चमत्कार है। अगर ऐसा न होता तो हमारी दुनियाँ अधूरी रहती! एक गणितज्ञ यूलर के अनुसार अगर हम अतिरिक्त चित्र की अनुभूति न कर पाते तो चित्रकार की सम्पूर्ण कला बेकार होती। क्योंकि तब तो हम कहते कि अमुक जगह लाल तथा अन्य जगह नीला धब्बा है। यहाँ काली तथा कुछ सफेद लगने वाली रेखाएँ हैं[१]!

---

१. If we were used to judge about things as there are in reality then this art would be impossible, it would be as if we are all-blind. In vain the artist would exhaust his skill in colour blending, for we would merely say: there is a red spot on this board, here a blue one, here a black and there several whitish lines!!

-A mathematician 'Euler'.

इस विवरण से प्रकट है कि स्फोट–सिद्धान्त का क्षेत्र बहुत व्यापक है। पर शब्द की व्याख्या के लिये प्रतिबद्ध व्याकरण के द्वारा इसे केवल शब्द तक सीमित रखा गया है।

अन्य से अन्य का बोध : एक मौलिक प्रश्न

व्याकरण–शास्त्र में अक्षर से शब्द तथा उससे अर्थ–बोध के निरूपण के लिये स्फोट का प्रतिपादन भारतीय दर्शन तथा विज्ञान में एक सर्वथा मौलिक विस्तृत प्रश्न के केवल एक अंग का उत्तर देने का प्रयास है। अन्य दर्शनों में इसके अन्य अंगों से सम्बन्धित प्रश्नों का अपनी२ मान्यताओं के अनुसार उत्तर दिया गया है। इन प्रश्नों को इन उपवर्गों में प्रकट किया जा सकता है–

१. क के द्वारा उसे ख के रूप में बोध करना असत्य तथा दोषावह होता है या नहीं।

२. क के द्वारा उसका कभी क तथा कभी क रूप रूषित ख के रूप में बोध होता हो। पर इस प्रकार के ख के रूप में बोध होने पर ही तदनुकूल अर्थक्रिया हो पाती हो, क के रूप में बोध होने पर नहीं। ऐसी दशा में इस क का ख के रूप में बोध कर लेना असंत्य तथा दोषावह है या नहीं।

३. क के द्वारा उसका कभी क तथा कभी ख के रूप में बोध होता हो। पर ख के रूप में बोध होने पर भी व्यवहार में नियमित रूप से क के द्वारा सम्पादित होने वाली अर्थक्रिया सम्पन्न हो जाती हो। ऐसी दशा में इस क का ख के रूप में बोध करना असत्य तथा दोषावह है या नहीं।

४. क के द्वारा नियमतः तथा अनिवार्यतः ख के रूप में ही बोध होता है। ऐसी दशा में इस क का ख के रूप में बोध कर लेना असत्य तथा दोषावह है या नहीं।

इन उपवर्गों का विवरण इस प्रकार है–

१. इस उपवर्ग के अन्तर्गत सभी एकमत से स्वीकार करते हैं कि ऐसा बोध असत्य भी होगा तथा दोषपूर्ण भी। शुक्ति या सीप को देखकर उसे रजत के रूप में बोध करना सर्वथा असत्य है।

२. इसके लिये मान लीजिये रेखा शकल से चित्र या अक्षर की अलग२ इकाईयों से शब्द का बोध होता है। यहाँ चित्रबोध में रेखाएँ तथा शब्दबोध में अक्षर भी झलकते हैं। बाहरी दुनियाँ में चित्र न होने पर भी इस चित्रबोध तथा शब्दबोध

से ही अर्थक्रिया सम्पन्न होती है। अतः यह बोध सत्य है या नहीं। यहाँ अलग२ दर्शन की मान्यता अलग२ है–

I न्याय का कहना है कि चित्रबोध सत्य है। अतः मानना होगा कि बाहरी दुनियाँ में रेखा–शकल के अलावा एक अतिरिक्त चित्र द्रव्य का अस्तित्व है। क्योंकि किसी बोध की सत्यता का पैमाना ही यह है कि वह उसी रूप में बाहर वर्तमान हो।

II. व्याकरण का कहना है कि शब्द–बोध सत्य हैं, क्योंकि वह अतिरिक्त स्फोट के रूप में यथार्थतः अस्तित्वशाली होता है।

III. वेदान्त का कहना है कि चित्र तथा शब्दबोध सत्य तो नहीं है, पर वह उन्हीं अक्षरों के समुदाय के बोध की दशा में कदापि दोषावह भी नहीं है। क्योंकि– क़ यह बोध उन्हीं अक्षरों से निर्मित हुआ है। ख. इस समुदित वृत्ति में वे ही अक्षर झलकते हैं। ग. इससे अर्थक्रियाकारिता भी सम्पन्न हो जाती है।

IV. विज्ञान का कहना है कि यह चित्रबोध सिद्धान्ततः बाहरी रेखा–शकल के सर्वथा अनुरूप तो नहीं है। फिर भी यही सुखद है, मनोरंजक है तथा दोषावह भी नहीं है।

३. उदाहरण के लिये लोक व्यवहार में शब्द को अर्थ समझ कर अथवा रेखा को अक्षर समझ कर कार्य किये जाते हैं। यहाँ वास्तव में रेखा उन अक्षरों का संकेत प्रदान करने वाली अर्थात् संकेतक होती है। पर लोग इस संकेतक को ही संकेत्य समझते हुए ऐसा कहते हैं कि 'मैं इन लिखित अक्षरों से ही अक्षर–बोध करता हूँ'। यहाँ क्योंकि इन रेखाओं को अक्षर समझने पर भी अक्षर–बोध की अर्थक्रिया नियमित रूप से सही सम्पन्न हो जाती है, अतः इन्हें अक्षर समझना असत्य होने पर भी दोषावह नहीं है।

वेदान्त में एक उदाहरण दिया है कि लोग ध्वनि के धर्म ह्रस्व आदि को अकार आदि अक्षरों का धर्म मानकर 'ह्रस्व अकार' ऐसा प्रयोग करते हैं। जिस प्रकार गरम, ठण्डा यह विभेद गुणों का है, द्रव्य का नहीं। फिर भी लोग 'गरम पानी', 'ठण्डा पानी' इस प्रकार प्रयोग करते हुए पानी द्रव्य में तथा 'ह्रस्व अकार' इस प्रयोग से अकार अक्षर में ह्रस्व धर्म को आरोपित कर देते हैं। इस प्रकार आरोप करते हुए कोई यह कहता है कि मैं 'अजिन' में 'ह्रस्व इकार' तथा 'अजीन' में 'दीर्घ ईकार' का प्रयोग करते हुए अलग२ अर्थबोध करता हूँ। यहाँ इसका यह आरोप असत्य तो है, पर दोषावह नहीं। क्योंकि इकार को ह्रस्व के रूप में समझने

पर भी अर्थबोध की वह अर्थक्रिया प्राप्त हो जाती है, जो आरोप न करने पर होती।

पर अजिन को ही 'अजीन' समझना असत्य और दोषावह दोनों है। क्योंकि इसे दीर्घ समझने से सर्वथा अलग अर्थबोध होता है। इस प्रकार अजिन के अर्थानुरूप क्रिया–नहीं हो पाती[1]। 'अजिन' का अर्थ 'चमड़ा' है तथा 'अजीन' का अर्थ 'वृद्ध न होना' यह है।

४. उदाहरण के लिये विज्ञान में प्रकाश–तरंगों से रंगों का तथा ध्वनि–तरंगों से शब्द का बोध होता है। मनुष्य को पूरे जीवन इसी प्रकार का अनुभव होता है, कभी वैपरीत्य नहीं होता। इस अनुभव को सत्य या असत्य समझने में अलग२ मान्यताएँ हैं। जैसे–

I. भारतीय दर्शन का कहना है कि तरंगें कभी भी रंग तथा शब्द की अनुभूति के समतुल्य नहीं मालूम पड़तीं। अतः इन्हें रंग समझना असत्य है। विश्व में इन तरंगों से सर्वथा भिन्न इस अनुभूति के अनुरूप विषय शब्द गुण को बाह्य रूप से उपस्थित समझना चाहिये।

II. विज्ञान का कहना है कि क्योंकि तरंगों से अनिवार्यतः शब्द अनुभव होता है, अतः हमें इस संवेदना को सत्य मानना चाहिये। साथ ही इन तरंगों के तद्नुकूल अर्थक्रियाकारी होने के कारण व्यवहार में इन्हें ही शब्द मानना दोषपूर्ण नहीं हो सकता। जैसे नौवें परिच्छेद में प्रस्तुत वेदान्त के उदाहरण में मणिप्रभा को मणि मानना दोषावह नहीं माना गया। पर, हमें अपनी इच्छा के द्वारा शब्दानुभूति के समतुल्य किसी अतिरिक्त गुणरूपी शब्द को सत् कहते हुए बाहरी दुनियाँ में बिठाने का अधिकार नहीं है। भौतिकी के नियम तथा मस्तिष्क की भौतिक, रासायनिक प्रणाली हमारी इच्छा से नियंत्रित नहीं होती। इन नियमों को देखकर तो ऐसा लगता है कि बाहरी दुनियाँ के अनुरूप संवेदना का न होना ही कुछ अधिक स्वाभाविक है। क्योंकि भौतिक संकेतों के बार२ बदलने की स्थिति में कुछ विसदृशता सम्भावित है। ध्वनि के सन्दर्भ में घण्टा का प्रकम्पन वायु–तरंगों में, ये तरंगें कानों की अस्थि–तरंगों में, ये कर्णावर्त की जल–तरंगों में तथा पुनः ये विद्युत् तरंगों के रूप में मस्तिष्क तक जाकर अपने ढंग की व्याख्या प्राप्त करती

---

१. न च ब्रूमः सर्वस्मादसत्यात् सत्यस्योपजनः ....यतः कुतश्चिदसत्यात् सत्यं कुतश्चिदसत्यम्। यथा दीर्घत्वादेर्वर्णेषु समारोपितत्वाविशेषेऽप्यजीनमित्यतो ज्यानिविरहमवगच्छन्ति सत्यम्, अजिनमित्यतस्तु समारोपित–दीर्घभावाज्ज्यानिविरहमवगच्छन्तो भवन्ति भ्रान्ताः!!न चात्र दीर्घसमारोपं प्रति कश्चिदस्ति भेदः।

— ब्रह्मसूत्र २.१.१४ के शांकर भाष्य पर भामती।

हैं[1]। इस पूरी प्रक्रिया को ज्ञान लेने के पश्चात् हम इन अनुभूतियों के बाहरी दुनियां से सर्वथा अनुरूप होने की आशा नहीं कर सकते। पर इन कुछ विसदृश अनुभूतियों से भी सभी लोक–व्यवहार सही प्रकार से चलने के कारण इन्हें ही सत्य मानने में कोई बाधा नहीं है।

भारतीय दर्शन–शास्त्र की ध्वनि सम्बन्धी समस्याएँ इन्हीं विकल्पों के चारों ओर घूमती रहती हैं। संस्कृत व्याकरण शास्त्र केवल द्वितीय विकल्प के अन्तर्गत शब्द के सन्दर्भ में अपने ढंग से समाधान देने का उपक्रम करता है। दर्शन तथा विज्ञान के सम्पूर्ण आलोडन के द्वारा इन सभी विकल्पों का व्यापक परिपेक्ष्य में सही समाधान सम्भव हो पाता है।

---

१. विस्तार के लिये देखें १३ वें परिच्छेद में विज्ञान–सम्मत विवरण।

तृतीय खण्ड

वायु एवं स्पर्श-विज्ञान

तुभ्यं वातः पवतां मातरिश्वा।

—अथर्ववेद ८.१.५

मातरिश्वा वायुर्मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति।

—निरुक्त ८.१.५

We live on the bottom of an Ocean of air-the atmosphere. Every body, every grain of sand, any object situated on the earth is subject to air pressure.

-Physics for everyone, book 1, Page 228

१. जीवन की सबसे पहली पहचान!

छान्दोग्य उपनिषद् में एक कहानी आई है कि एक बार शरीर की इन्द्रियों में विवाद छिड़ गया कि उनमें सबसे श्रेष्ठ कौन है। वे लड़ती हुई इस झगड़े के निपटारे के लिये प्रजापति के पास पहुँचीं। प्रजापति ने कहा कि इसका निर्णय परीक्षा से हो। जिसके चले जाने पर शरीर सबसे कुरूप तथा अपवित्र दिखाई पड़े, वही सबसे श्रेष्ठ है। इस परीक्षा के लिये सबसे पहले वाणी शरीर से बाहर निकल गई। उसने एक साल बाद वापस लौट कर शरीर से पूछा कि कहो कैसा लगा। शरीर ने कहा कि जैसे गूँगे लोग मजे से देखते, सुनते, खाते-पीते रहते हैं, वैसा ही लगा। इस प्रकार क्रम २ से आँख, कान तथा मन आदि एक एक साल के लिये शरीर से बाहर गए तथा सबको वैसा ही उत्तर मिला।

अन्त में चलने की बारी आई प्राण की! तब तो ऐसा लगा कि जैसे घोड़ा भागते हुए पैरों की कील उखाड़ दे, वैसे प्राण सभी इन्द्रियों को जड़ से उखाड़े डाल रहा है। तब सभी ने प्राण से प्रार्थना की कि आप हमारे स्वामी हैं, आप मत जावें।

इस समय वाणी ने कहा कि जो मैं 'वसिष्ठ' कही जाती हूँ, वह सचमुच तुम्हीं हो। आँखों ने कहा कि जो मुझे लोग 'प्रतिष्ठा' कहते हैं, वह प्रतिष्ठा केवल तुम हो। कानों ने कहा कि मुझे लोग जो 'सम्पत्' कह कर पुकारते हैं, वह वास्तव में तुम हो। मन ने कहा कि मुझे जो लोग जीवन का 'आयतन' या आधार समझते हैं, वह केवल तुम हो-

'अथ हैनं वागुवाच यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति। अथ हैनं चक्षुरुवाच यदहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत् प्रतिष्ठासीति। अथ हैनं श्रोत्रमुवाच यदहं सम्पदस्मि त्वं तत् सम्पदसीति। अथ हैनं मन उवाच यदहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति'। —छान्दोग्य उपनिषद् ५.१.१४

कुछ लोगों को सन्देह हो सकता है कि प्राणों के महत्त्व को समझाने के लिये उपनिषत् को इतनी बड़ी परीक्षा का आयोजन क्यों करना पड़ा। क्या हमारे लिये प्राण इतना अगम्य है। पर विचार करने पर लगता है कि यही जीवन की सचाई है। जो हमारे जीवन का अनिवार्य है, जो शरीर का सुन्दरतम है, वह हमारी आँखों से ओझल रहता है। उस ओर हमारा सबसे कम ध्यान जाता है। आँख, कान को बन्द करके हम उनके महत्त्व को आसानी से जान लेते हैं। क्योंकि किसी

का अभाव उसके महत्त्व को बताने का सबसे बढ़िया उपाय है। पर प्राण अपने महत्त्व को बता नहीं सकता। क्योंकि जब तक हम रहते हैं, तब तक प्राण रहता है तथा जब प्राण नहीं रहता तब उसके अभाव को जानने के लिये हम खुद नहीं रहते! ऐसे में प्राण कैसे बताए अपने महत्त्व को!!

पर उपनिषत् से सूचना प्राप्त करके जब हम उसे ध्यान से देखते हैं तो पाते हैं कि शरीर का हर अंग, उसकी प्रत्येक इन्द्रिय, उसकी प्रत्येक कोशिका उस प्राण से जुड़ी हुई है। इस प्रकार प्राण को जीवन की पहचान कहना भी उतना सही नहीं है। क्योंकि यह पहचान तो तब बनें, जब हम इसे अलग करके देख सकें। इस प्रकार यह तो केवल 'परम प्रतिष्ठा' है!

संस्कृत में प्राण के लिये जो शब्द विकसित हुए, वे अवस्थिति या प्रतिष्ठा के ही द्योतक हैं। 'प्राण' शब्द का मूल अर्थ यही है[1]। अन्य 'असु' शब्द अस् धातु से विकसित है, जिसका अर्थ 'होना' मात्र है। निरुक्त के अनुसार असु+र अर्थात् 'प्राणों वाला' इस यौगिक अर्थ में असुर का प्रयोग होता है[2]। वेद में इसी मौलिक व्युत्पत्ति के अनुसार असुर शब्द[3] का तथा अवेस्ता में 'अहुर' शब्द का देवता अर्थ में प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार विश्व में क्षुद्र से लेकर विशाल से विशालतम जन्तुओं के प्राण को ही प्रतिष्ठास्वरूप मानते हुए उन्हें एक सामान्य नाम दिया गया– प्राणी। अर्थात् ये सभी प्राण ग्रहण करने वाले हैं। ये अपने आकार प्रकार स्वभाव आदि में लाखों, करोड़ों प्रकार के हो सकते हैं। पर इनमें प्राण ग्रहण करने की पहचान समान रूप से परिव्याप्त है।

विदेशों में भी सभी प्रकार के जन्तुओं के लिये एक नाम animal प्रदान किया गया। यह शब्द लैटिन के animale से विकसित है जिसका अर्थ 'श्वास ग्रहण करने वाला' है। इंग्लिश में भी animate क्रिया का श्वास लेने अर्थ में प्रयोग होता है। आजकल हम लोग animal का अनुवाद 'चौपाए पशु' करते हैं। पर जन्तु–विज्ञान के अनुसार विस्तृत अर्थों में protozoa जैसे एककोशीय सूक्ष्म

---

१. उपनिषद् में ब्रह्म को 'जलान्' नाम दिया है। क्योंकि यह ज= उत्पत्ति, ल= विलय तथा 'अन्' अर्थात् अवस्थिति करने वाला है। द्रष्टव्य– सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जलानिति शान्त उपासीत– छान्दोग्य उपनिषद् ३.१४.१

२. अपि वाऽऽसुर इति प्राणनाम, अस्तः शरीरे भवति तेन तद्वन्तः– निरुक्त ३.८

३. स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः स्वस्ति द्यावापृथिवी सुचेतुना– ऋग्वेद ५.५१.११ इस मन्त्र में सूर्यदेव को असुर कहा गया है।

जीवों से लेकर विशालतम जन्तु भी श्वास ग्रहण करने की योग्यता के कारण animal के अन्तर्गत आते हैं।[१]।

आधुनिक जन्तु–विज्ञान ने सूक्ष्मदर्शी आँखों से हमारे शरीर की संरचना का अचरजभरा चित्र उपस्थित किया है। उनके अनुसार विशाल से विशालतम शरीर क्षुद्र से क्षुद्रतम कोशिकाओं से निर्मित हैं। इस विवरण से तो ऐसा लगता है मानों यह शरीर विशाल मधुमक्खी का छत्ता हो, जिसमें छोटे–२ असंख्य डिब्बे हों तथा जिनमें अलग–२ जीवन रूपी रस भरा हो[२]! इन कोशिकाओं को मोटे तौर पर सन्तरे की फाँकों में पतली झिल्ली से घिरे हुए रसदार डिब्बों के उदाहरण से भी समझा जा सकता है। ऊपर से एक दिखने वाला सन्तरा भी वास्तव में ऐसे सैकड़ों डिब्बों का समूह होता है। सामान्य प्राणी की भी ऐसी ही स्थिति है। पर हम इन कोशिका रूपी डिब्बों के अति–सूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्मदर्शी के बिना इन्हें नहीं देख सकते। जैसे तर्कुरूपी पेशी– कोशिका ६० से १०० माइक्रोन तक लम्बी होती है। इतनी छोटी कोशिका में जीवन की वे प्रत्येक आवश्यक क्रिया सम्पादित होती है, जिनके लिये हमारे पास इतना बड़ा शरीर है! इनमें हर समय पोषक आहार का ग्रहण, अनावश्यक पदार्थ का उत्सर्जन होता रहता है। इनमें वर्तमान 'मितकेन्द्र' (mitochondria) जैसे अतिसूक्ष्म तन्तु–सूत्रों के द्वारा प्राण–वायु का श्वसन तथा ऊर्जा का स्थानान्तरण आदि सम्पन्न होता है। इनमें उपस्थित 'केन्द्रक' (nucleus) के द्वारा विभिन्न नाडीय आवेगों से सूचना के अनुसार कार्य करते हुए मस्तिष्क जैसा कार्य सम्पादित किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक कोशिका का अपना जीवन है। इसीलिये वैज्ञानिक लोग शरीर की किसी भी कोशिका को अलग निकाल कर उन्हें अनुकूल परिवेश तथा पोषक आहार देकर जब तक चाहें तब तक जिन्दा रख सकते हैं।

---

१. When we use the word 'animal' we tend to think of pretty large creatures that move about on earth. But did you know that amoeba is considered an 'animal'.

...........The amoeba belongs to the Protozoa, which is the lowest division of the animal kingdom.

—Heres more tell me why, London, Page 313.

२. योग सूत्र व्यास–भाष्य में एक सुन्दर रूपक अलंकार में इस शरीर को मधुमक्खी का छत्ता, इन्द्रियों को मधुमक्खी तथा चित्त को इन मधुमक्खियों का राजा बताया है–

यथा मधुकरराजानं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति, निविशमानमनुनिविशन्ते, तथेन्द्रियाणि पर–शरीरावेशे चित्तमनुविधीयन्ते।

—योग सूत्र ३.३८ पर व्यास भाष्य।

इन कोशिकाओं को ऊर्जा प्राप्ति हेतु ग्लूकोज के विखण्डन के लिये प्रतिक्षण प्राण–वायु की आवश्यकता होती है। इनके पास इन्हें संचित रखने के लिये कोई गोदाम नहीं है। अतः ये प्रतिक्षण आहार तथा प्राण–वायु के लिये छटपटाती रहती हैं। सोते समय स्थिर दिखने वाली पेशी कोशिकाएँ (muscular cells) भी भूख, प्यास से बेहाल होकर ऊष्मा ऊर्जा की प्राप्ति के लिये लगातार खाती, साँस लेती तथा मल उत्सर्जन करती हैं। इस प्रकार विश्व के प्रत्येक प्राणी की प्रत्येक कोशिका को मोटे तौर पर जिस चीज की प्रतिक्षण समान रूप से आवश्यकता है, वह है– प्राण। एक सेल् वाले अमीबा (amoeba) जैसे प्राणी को इसे ग्रहण करने की बड़ी सुविधा है। वह अपने चारों ओर से कहीं से भी जल तथा इसमें घुली ऑक्सीजन को परासरण (osmosis) क्रिया द्वारा प्राप्त कर सकता है तथा विसरण (diffusion) द्वारा अपशिष्ट पदार्थ को बाहर निकाल सकता है। पर किसी शरीर में कोशिकाओं का समूह एक विशाल बस्ती के सदृश है। किसी घनी बस्ती में शुद्ध जल की प्राप्ति तथा मल के निकास की जैसी व्यवस्था होती है, वैसी ही यहाँ भी है। हम जानते हैं कि इसके लिये शहरों में बड़ी छोटी नालियों तथा पाइप की व्यवस्था की जाती है। स्वच्छ जल को मशीनों से विशाल टंकियों में चढ़ाकर पाइप द्वारा ऊपरी मंजिल के मकानों में पहुँचाया जाता है तथा नालियों के द्वारा अशुद्ध पानी को दूर भेजा जाता है। शहरों में स्वच्छ हवा को पाइप से भेजने की व्यवस्था नहीं करनी पड़ती। क्योंकि उसे वातावरण से सीधे प्राप्त कर लिया जाता है। पर कोशिकाओं की इस घनी बस्ती में भोजन, पानी के अलावा प्राण–वायु भेजने की भी अतिरिक्त व्यवस्था करनी पड़ती है। पोषक आहार ग्लूकोज आदि को 'रक्त–रस' (plasma) के रूप में नालियों द्वारा दूर भेजा जाता है। पर प्राण–वायु का इस रक्त–रस में विलयन बहुत कम हो पाता है। अतः इसे उभयावतल डिस्क (disk) जैसी या चकती जैसी अथवा बीच में दबे हुए गोल तकिया के आकार की रक्त–कणिका (red blood corpuscles) रूपी छोटे–छोटे डिब्बों में बन्द करके इसी रक्त में तैराकर धमनी (artery) धमनिका (arteriole) तथा केशिकाओं (capillary) रूपी बन्द नालियों के द्वारा अन्तिम छोर की कोशिकाओं तक पहुँचाया जाता है। सुदूर कोशिकाओं तक जाते–जाते ये नालियाँ शाखाओं, प्रशाखाओं में विभक्त होती हुई क्रमशः छोटी होती जाती हैं। इन नालियों तथा कणिकाओं की लघुता सचमुच विस्मयजनक है। धमनिका का व्यास लगभग ०.१ मिलीमीटर या १०० माइक्रोन तथा केशिकाओं का व्यास लगभग ०.०१ मिलीमीटर या १० माइक्रोन (एक मिलीमीटर का सौवाँ भाग) तक होता है। इनके अन्दर लगभग ०.००७ मिलीमीटर या ७–८ माइक्रोन व्यास की रक्त–कणिकाएँ

अपने डिब्बे में प्राण–वायु लेकर सुदूर कोशिकाओं तक दौड़ती हैं। इन कणिकाओं की लघुता का अन्दाज इस प्रकार भी लग सकता है कि एक घन मिलीमीटर रक्त में इन कणिकाओं की संख्या लगभग ५० लाख होती है। इस प्रकार यदि मनुष्य के शरीर में ३ लीटर रक्त है तो इसमें १५ खरब कणिकाएँ समाती हैं! इन कणिकाओं वाले रक्त को ऊपरी मंजिल की कोशिकाओं तक महुँचाने के लिये पम्प करना पड़ता है। यह कार्य पम्पिंग स्टेशन में हृदय के द्वारा सम्पन्न किया जाता है। इसे बाहरी मशीनों की तरह आराम करने की सुविधा प्राप्त नहीं है। यह पूरे जीवन भर निरन्तर प्रति मिनट औसतन ७० बार आकुंचन करते हुए प्रति आकुंचनों के बीच ०.४ सेकेण्ड का समय विश्राम के नाम पर प्राप्त कर पाता है!!

इस प्रकार ये कोशिकाएँ प्राण–वायु की सहायता से ग्लूकोज अणुओं के नियन्त्रित विखण्डन द्वारा निरन्तर सन्तुलित ऊर्जा प्राप्त करती हैं। वैज्ञानिक काव्य की भाषा में –इस प्रक्रिया में कोशिका रूपी चूल्हे में A.T.P. रूपी दियासलाई से ऑक्सीजन की सहायता से ग्लूकोज रूपी ईंधन में आग लगाकर ऊष्मा ऊर्जा प्राप्त की जाती है। अग्नि के द्वारा दहन के समय भी इसी प्रक्रिया से भयंकर ऊष्मा ऊर्जा मुक्त होती है। श्वसन द्वारा यह ऊर्जा धीरे–२ नियंत्रित प्रक्रम से प्राप्त होती हैं। दहन के समय ऑक्सीजन के चारों ओर से अनियन्त्रित उपयोग के द्वारा पदार्थ के अणुओं के रासायनिक बन्धन धड़ाधड़ टूटते हुए ऊष्मा, प्रकाश ऊर्जा उत्पन्न करते हैं। ऊर्जा संरक्षण सिद्धान्त (Conservation of energy) के अनुसार इन दोनों उपायों से उत्पन्न ऊर्जा की मात्रा एक ही होती है। केवल उनके आविर्भूत होने की गति तीव्र या मन्द होती है। एक ग्राम शर्करा के जलाने से जितनी ऊर्जा अतितीव्र गति से एक साथ प्राप्त होती है, श्वसन के द्वारा भी ठीक उतनी ही ऊर्जा नियन्त्रित तथा मन्द गति से प्राप्त होती है। लोहा में जंग लगते समय ऊष्मा ऊर्जा उत्पन्न होने में भी ठीक यही प्रक्रिया दोहराई जाती है। पर वहाँ यह प्रक्रिया श्वसन से भी अतिमन्द गति से होती है। उसका यह अतिमन्दन इतना अधिक है कि हम इससे मुक्त होने वाली ऊष्मा ऊर्जा का कोई अनुभव नहीं कर सकते।

ऊपर बताए गए उदाहरणों में से मध्यम गति या नियन्त्रित प्रक्रम से उपभुक्त होने वाली प्राण–वायु को भारतीय दर्शन में जीवन की पहचान बताया है। प्रशस्तपाद भाष्य का कहना है कि सभी दिशाओं में कुटिल गति से दौड़ने वाली वायु जहाँ पर धौंकनी के समान नियत उपाय से तथा नियत क्रम से चलती हुई

१. शरीर–परिगृहीते वायौ विकृतकर्मदर्शनाद् भस्त्राध्मापयितेव।
–प्रशस्तपादभाष्य, आत्म–प्रकरण पृ. २००

निश्चित कार्य करती है, उससे जीवन की सूचना मिलती है[1]। जिस प्रकार किसी घर का मालिक अपने घर की टूट फूट की मरम्मत करता है, वैसे ही इन विशाल कोशिकाओं की बस्ती में रहने वाला इनका मालिक 'पुरुष' अपने प्राणों के द्वारा इनका पुनर्निर्माण करता रहता है। इस प्रकार अंगों के कार्य सञ्चालन के समय होने वाले 'भग्न–क्षत–संरोहण' में जो सहयोग प्रदान करे, वह प्राण–वायु जीवन की पहचान बनती है[2]।

हमारे ऋषियों ने इसे सामान्य वायु से भिन्न समझते हुए इसे अलग से 'प्राण' नाम दिया तथा यह माना कि यज्ञ आदि सभी कार्यों की व्यवस्था इसके होने पर ही सम्भव हो पाती है। अतः उन्होंने अनेक वचनों में अनेक सुन्दर उपमाओं के द्वारा सब कुछ इसमें ही प्रतिष्ठित बताया है—

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।

ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च।। प्रश्नोपनिषद् २.१६

अर्थात् जिस प्रकार रथ के (चक्र की) धुरी में सभी अरे या तीलियाँ प्रतिष्ठित होती हैं, उसी प्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद, साम, यज्ञ, क्षत्रिय तथा ब्राह्मणों की सभी क्रियाएँ प्राणों में प्रतिष्ठित हैं।

इस वचन का विस्तृत आशय यह है कि सभी प्राणि–शरीरों में जीवन की सभी कोशिकाओं की क्रियाओं की प्रतिष्ठा प्राण ही हैं। हमारी नासिका में प्राणों को खींचने की जो कशिश है, वह वास्तव में हमारे शरीर की अरबों, खरबों कोशिकाओं की सामूहिक माँग का परिणाम है। हमारा मस्तिष्क शरीर के विविध भागों में निरन्तर नाडीय विद्युत् 'आवेग' भेजते हुए हृदय–सञ्चलन, रक्त–संवहन आदि के द्वारा इनके लिये प्राणों की आपूर्ति की व्यवस्था करता है। ऐसे 'आवेग' शरीर में फैले स्वायत्त तन्त्रिका तन्त्र (autnomic nervous system) के अत्यन्त पतले प्रायः ०.०१ मि.मी. से भी कम मोटाई के तन्तुओं के माध्यम से भेजे जाते हैं। इन पर हमारी इच्छा का कोई नियन्त्रण नहीं होता। इसलिये हम प्रतिक्षण कोशिकाओं

---

१. आज से पौने तीन हजार वर्ष पहले यास्क ने 'पुरुष' शब्द के नामकरण का आधार शरीर में रहने वाला' होना बताया था। द्रष्टव्य– पुरुषः पुरिशयः– निरुक्त २.२। पूः शरीरं बुद्धिर्वा– – – तयोरसौ शेते विशेषेणास्ते इति पुरिशयः सन् पुरुष इत्युच्यते– उक्त वचन पर दुर्गाचार्य भाष्य। उपर्युक्त नई व्याख्या के अनुसार कोशिकाओं रूपी पुर में रहने के कारण इसे 'पुरुष' कह सकते हैं।

२. देहस्य वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणादिनिमित्तत्वाद् गृहपतिरिव।

———प्रशस्त–पादभाष्य, आत्म–प्रकरण, पृ. २००

द्वारा प्राणों की माँग तथा इनकी आपूर्ति के विषय में कुछ नहीं जान पाते।

नासिका द्वारा खींचे गए प्राणों पर भी हमारी इच्छा का केवल कुछ क्षणों के लिये आंशिक नियन्त्रण ही हो सकता है। हम अपनी इच्छा का प्रयोग करके अधिक समय तक इन्हें नहीं रोक सकते। बड़ी से बड़ी इच्छा–शक्ति वाला मनुष्य भी इन प्राणों का वशी (=वश में रखने वाला) नहीं, अपितु वश्य (=वश में रहने वाला) ही होता है। उपनिषदों के अनुसार मनुष्य अधिकतम इन्द्रियों का वशी हो सकता है, जिसे जितेन्द्रिय कहते हैं[1]। पर वह प्राणों का वशी नहीं हो सकता। प्राणों का वशी केवल ईश्वर है जो नौ दरवाजे वाले देहरूपी नगर या बस्ती में रह कर सब मनुष्यों को संचालित करते हुए प्राणों को अपने अधीन रखकर प्राण लेने में समर्थ है[2]। पर मनुष्य इन्हें अपने अधीन नहीं रख सकता। अतः हमारे सोते, जागते तथा विविध कार्यों को करते हुए ये प्राण हमारी जानकारी या इच्छा के अधीन न होकर निरन्तर कार्य करते हैं। इसलिये हम इन्हें लगभग 'अपने आप' चलने वाला साधारण कार्य मानते हैं। पर इनकी प्रक्रिया के सूक्ष्म अध्ययन के द्वारा अथवा ध्यान–योग के द्वारा अन्य कार्यों से विरत होकर 'साक्षी–भाव' से देखकर हम जान पाते हैं कि यह जीवन की कितनी विलक्षण घटना है! विद्वानों, कवियों ने अनेक सूक्तियों में इसकी विलक्षणता का परिचय दिया है। एक सुन्दर श्लोक में रूपक अलंकार का प्रयोग करते हुए कहा है कि खुले हुए ६ दरवाजे वाले इस शरीर–रूपी पिंजरे में एक प्राण रूपी पक्षी[3] रहता है। इतने छिद्रों के रहते हुए इसका बने रहना विस्मयपूर्ण है, इसके निकल जाने में क्या अचरज है[4]!!

---

१. जो ज्ञानवान् पुरुष अपने समाहित चित्त से इन्द्रियों को वश में रखता है, उसकी इन्द्रियाँ वश्य होती हैं तथा वह इन्द्रियों का वशी होता है–
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः।। —— कठोपनिषद् १.३.६

२. नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च।। ——श्वेताश्वतरोपनिषद् ३.१८
वेद में इस अकेले ईश्वर को प्राणों के अधीन न रहकर प्राण लेने वाला बताया है–
आनीदवातं स्वधया तदेकं, तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास। ——ऋग्वेद १०.१२९.२

३. सामान्य लोकजीवन में भी प्राणों को पक्षी बताने वाला रूपक बहुत लोकप्रिय रहा है। इसलिये प्राकृत तथा हिन्दी आदि में 'प्राण रूपी पक्षी उड़ना' इस अर्थ में 'प्राणपखेरू उड़ना' कहा जाता है।

४. उद्घाटित–नवद्वारे पञ्जरे विहगोऽनिलः!
यदि तिष्ठति तदाश्चर्यं, प्रयाणे विस्मयः कुतः!!

पर अपने जीवन में 'अतिपरिचयादवज्ञा' इस मुहावरे के अनुसार हम इन प्राणों को तथा विश्व में वायु के व्यापार को अति–स्वाभाविक मानते हैं। हमें यह जल्दी भान भी नहीं होता कि हम जन्म से लेकर मृत्यु तक सैकड़ों किलोमीटर की ऊँचाई तक फैले हुए अतिविशाल वायु के समुद्र या वायु–मण्डल[1] के सबसे नीचे वाले तल में निवास करते हुए प्राण लेते हैं। जब कि विश्व में अब तक ज्ञात सबसे गहरा पानी का समुद्र 'मैरियन दरार' की गहराई ११.५ कि.मी. है तथा जलचर प्राणी पानी के जबर्दस्त भार के कारण वहाँ एक निश्चित गहराई से नीचे नहीं रहते। इस धरती में पानी के समुद्र का जो सबसे ऊपरी तल होता है वही वायु के समुद्र का सबसे निचला तल होता है। मछली अपनी विशेष बनावट के द्वारा पानी के सबसे ऊपरी तल तक विचरण कर सकती है। पर हम अपने भारी आकार के कारण सामान्यतः इस वायु–समुद्र से ऊपर नहीं उठते। हम अपने दैनिक कार्यों के लिये इसकी सबसे नीचे वाली तलहटी में रहने के लिये मजबूर हैं। हम अपनी आदतवश इसे ही स्वाभाविक मानते हैं।

मानव जाति के इतिहास में बहुत समय तक वायु के गुणों को सही रूप से न समझ पाने का कारण इसके व्यापार को अतिस्वाभाविक मानना ही रहा है। इस वायु से अति–सम्पर्क तथा इस प्रकार तथाकथित 'अति–परिचय' की दशा में इसे भली प्रकार जानने के लिये मानव को बहुत मुश्किलें उठानी पड़ीं। स्थिति यह रही कि इस वायु ने सदा साथ रह कर अपने गुणों को हमसे छिपाया। हमारा दैनिक अनुभव यह है कि सुदूरवर्ती पिण्ड तथा सूक्ष्म कण हमारी आँखों से ओझल होते हैं। पर साथ ही यह भी सच है कि जीवन भर प्रतिक्षण एक ही रूप से प्रभावित करने वाले वस्तु के गुण भी हमारे अनुभव से बाहर हो जाते हैं। वायु के सूक्ष्म निरीक्षण के पश्चात् यह सच सबसे स्पष्ट रूप से सामने आया कि सामान्यतः जिसे हम सदा देखते हैं, उसे भी कभी नहीं देख पाते!!

हवा की सम्पीडकता, प्रतिरोधकता, इसका गुरुत्व, विश्व में तथा शरीर में छिपी इसकी अपरिमित ऊर्जा आदि को जानने में हम इसी सच को लागू होता हुआ पाते हैं। हवा ने विश्व के प्रत्येक पिण्ड में दबाव तथा प्रत्येक गतिशील पिण्ड में हर समय प्रतिरोध को उपस्थित करके इन गुणों को हमारे अनुभव से बाहर कर दिया। जीवन से मृत्यु तक हमारे शरीर में हर समय समान भार डालकर इस हवा ने अपने गजब के भार को प्रकट नहीं होने दिया। विश्व में भौतिकी के सुदीर्घ

---

१. इसके लिये इंग्लिश का atmosphere शब्द ग्रीक के atmos (gas) तथा sphaira (= ball) इन दो शब्दों से मिल कर बना है। अतः इसका शाब्दिक अर्थ 'गैस की गेंद अथवा गोला' है।

इतिहास में महान् दार्शनिक अरस्तू से लेकर हजारों वर्षों तक हवा के वजन को जानने के प्रयत्न व्यर्थ हुए हैं! क्योंकि हमारे ऊपर निरन्तर पड़ने वाला वायुदाब सामान्य अनुभव में तथा परीक्षण के दौरान भी पकड़ से बाहर हो जाता था। किसी तराजू के पसंगों पर हवा से भरे ब्लैडर में अन्दर से तथा खाली ब्लैडर में ऊपर से ठीक पहले के समान दबाव डाल कर तथा इस प्रकार दोनों दशाओं में ब्लैडर का समान भार प्रदर्शित करते हुए हवा हमें सदा यही समझाती रही कि इसकी उपस्थिति वजन में कोई भिन्नता नहीं लाती[1]!!

इस हवा को इकट्ठा करने की विधि के अभाव में इसकी अपार ऊर्जा को जानने में भी काफी कठिनाई उठानी पड़ी। आधुनिक युग में इस विधि को विकसित करके विश्व के विविध कार्यों के लिये अनेक उपकरणों के द्वारा इस ऊर्जा का उपयोग लेना सम्भव हो सका है।

भारतीय मनीषा ने अधिकतम प्राणों के सञ्चय की विधि का आविष्कार करके शरीर में वायु की छिपी अपरिमित ऊर्जा को पहचाना था तथा इसके उपयोग के द्वारा शरीर तथा मन को ऊर्जस्वी बनाने में महती सफलता प्राप्त की थी। भारतीय दर्शन एवं धर्मशास्त्र में प्राण-धारण की महत्ता के वर्णन भरे पड़े हैं। योग-सूत्र का कहना है कि प्राणों को विशेष प्रकार से धारण करने से चित्त की एकांग्रता, परम-प्रसन्नता आदि की उपलब्धि होती है[2]। इससे मनुष्य की मूढता तथा अनवबोध की स्थिति का विनाश होकर ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करने की अपार क्षमता प्राप्त होती है[3]।

इस प्रकार भारतीय साधकों ने माना कि शरीर के तमाम विकारों, मन की तमाम कुण्ठाओं को दूर करने तथा इस प्रकार शरीर, मन को परम पवित्र करने के लिये प्राणों के निग्रह से बढ़िया कोई उपाय नहीं है। अतएव गीता में श्रीकृष्ण ने वायु को पवित्र करने वालों में सर्वश्रेष्ठ मानते हुए अपनी दिव्य विभूति को पवन-स्वरूप बताया है[4]। मनुस्मृति में भी कहा है कि जिस प्रकार सोना आदि

---

१. विशेष विवरण के लिये देखें इस खण्ड का ६वां परिच्छेद।

२. प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य। —योग-सूत्र १.३४

३. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। —योग-सूत्र १.५२
प्राणायामानभ्यस्यतोऽस्य योगिनः क्षीयते विवेकज्ञानावरणीयं कर्म।
—उसी सूत्र पर व्यास- भाष्य

४. पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्। —भगवद्गीता १०.३१

धातुओं को तपाने से उसके विकार का नाश होता है। वह धातु परम शुद्ध तथा कान्तिमान् बनती है। इसी प्रकार प्राणायाम के द्वारा भी इन्द्रिय-दोषों का विनाश होता है तथा इस प्रकार वे परमस्फूर्तिमती एवं शक्तिशाली बनती हैं[1]।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार इसकी व्याख्या यह है कि फेफड़े में सामान्यतः ३०० से ४०० करोड़ वायुकोष्ठक (alveoli) होते हैं। इनके चारों ओर रक्तकेशिकाओं का अत्यन्त घना जाल बिछा रहता है। इन वायुकोष्ठकों से ऑक्सीजन का रुधिर में तथा रुधिर की कार्बन डाइ ऑक्साइड का वायुकोष्ठकों में विसरण होता रहता है। सामान्य श्वास-प्रश्वास के समय बहुत कम वायुकोष्ठक वायु से भरते हैं। पर प्राणायाम के उपाय से रुधिर को अधिकतम ऑक्सीजन उपलब्ध होती है तथा इसकी अधिकतम मलिनता दूर होती है। इससे रुधिर का रंग अतिस्वच्छ लाल हो जाता है तथा यह शरीर की प्रत्येक कोशिका को अधिकतम ऊर्जा प्रदान करने में सक्षम हो जाता है।

प्राणों की इन सभी विशिष्टताओं को ध्यान में रखकर ही ऋषि ने भाव विभोर होकर यह प्रार्थना की है-

नसोर्मे प्राणोऽस्तु।

-पारस्कर गृह्य सूत्र २.३.२५

हे ईश्वर! मेरी नासिका में सदा प्राणों की अवस्थिति रहे।

---

१. दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्- मनुस्मृति ६.७१

२. उड़ती हवा या बहती हवा
(वायु की पहचान)

हिन्दी भाषा में हवा की चलना क्रिया को प्रकट करने के लिये कोई अतिरिक्त शब्द नहीं है। 'उड़ना' क्रिया का मौलिक प्रयोग हवा में उड़ने वाली चिड़िया आदि की गति को प्रकट करने के लिये होता है। 'बहना' क्रिया मूलतः पानी की गति को द्योतित करती है। वायु की गति को प्रकट करने के लिये इन्हीं क्रियाओं से काम चलाया जाता है।

पर इंग्लिश, संस्कृत आदि भाषाओं में इसके लिये अलग–२ शब्द हैं। इंग्लिश में flow का अर्थ बहना तथा blow का अर्थ 'हवा का चलना' है। इसी प्रकार संस्कृत में 'वहति' पानी बहने अर्थ में तथा 'वाति' क्रिया हवा चलने अर्थ में प्रयुक्त होती है।

इन भाषाओं में क्रिया के शब्दों की भिन्नता से इस वायु की अन्य द्रव्यों से भिन्नता भी प्रकट होती है। भारतीय दर्शन में इसे पृथिवी, जल आदि द्रव्यों से सर्वथा भिन्न मानते हुए इसकी अलग पहचान बताई है।

वायु का लक्षण (दर्शन)– दर्शन के अनुसार वायु वह है जो १. तिर्यग्गति करती है[1]। २. जिसमें रूप, रस, गन्ध गुण नहीं रहता। ३. जिसमें शीत, उष्ण स्पर्श भी नहीं, अपितु इन दोनों से विलक्षण अपाकज अनुष्णाशीत स्पर्श रहता है[2]। इनका क्रमिक विवरण इस प्रकार है–

१. वायु तिर्यग्गति अर्थात् तिरछी या कुटिल गति करती है। एक स्थान से चली वायु सीधी दिशा में नहीं, अपितु विविध दिशाओं में भागती रहती है। जबकि पृथिवी का कोई पिण्ड साधारणतः अगर कोई प्रतिबन्धक न हो तो सीधी दिशा में 'पतन' करता है। इसी प्रकार जल भी प्रतिबन्धक न होने पर सीधी दिशा में 'स्यन्दन' करता या बहता है। इनमें वर्तमान वेग क्रमशः इनके सीधे पतन या स्यन्दन का हेतु होता है। पर वायु में वर्तमान वेग से यह अलग–२ दिशाओं में दौड़ती है। अन्य किसी भी द्रव्य में यह विशेषता नहीं है। अत एव यही वायु की पहचान है।

---

१. तिर्यग्गमनवानेष ज्ञेयः स्पर्शादिलिंगकः ——कारिकावली श्लोक ४३

२. अपाकजोऽनुष्णाशीतस्पर्शस्तु पवने मतः —— वही, श्लोक ४२

२. वायु में उड़ते हुए त्रसरेणु अथवा धूल या धुएँ के कण भी वायु के सहारे तिर्यग्गति करते हैं। फिर भी इन्हें 'वायु' नहीं माना जा सकता। क्योंकि इसकी अन्य विशेषता के अनुसार इस वायु में न तो गन्ध होती है, न ही कोई रूप रहता है। गंन्ध केवल पृथिवी की तथा रूप केवल पृथिवी, जल, तेज की विशिष्टता है। अतः उड़ता हुआ काला धुँआ रूपवान् होने से तथा धूपबत्ती का धुँआ भी सुगन्धित होने से विशुद्ध वायु की श्रेणी में नहीं आता। उड़ने वाला रूपवान् तिनका वायु में उड़ता है। वह स्वयं वायु नहीं होता। इसी प्रकार धुएँ के कण वायु में उड़कर भी 'वायु' महाभूत के अन्तर्गत नहीं हैं। श्वेत–श्याम बादल भी धुआँ, जल तथा वायु का संघात है[1], विशुद्ध वायु नहीं।

३. वायु का अनुष्णाशीत स्पर्श होता है। गर्म हवा में तेजस् के अणु तथा शीतल वायु में जल के अणु वायु के साथ मिश्रित होते हैं। लौकिक व्यवहार में जल की शीतलता को वायु में आरोपित करके 'शीतल वायु' यह प्रयोग करते हैं, जो कि भ्रान्त है। क्योंकि तात्त्विक दृष्टि से शीत गुण केवल जल में ही समवेत होता है। वायु में इस शीतल जल का मिश्रण होता है। इस प्रकार कोहरा विशुद्ध वायु नहीं। अपितु वायु में उड़ने वाली धूल तथा जलकणों का मिश्रित रूप है। सर्दी के दिनों में यह मिश्रण मुँह से बाहर निकलता है। जो कि सर्वथा दृश्य होता है। इसे ही वाष्प कहा गया है। महाकवि कालिदास ने एक वर्णन में कहा है कि श्वास से निकली हुई शीशे पर पड़ी हुई 'वाष्प' के उड़ जाने पर निर्मित स्वच्छ शीशे के समान इन्दुमती का मुख प्रसादपूर्ण हो गया[2]!!

ओस के अदृश्य जल–कण भी वायु नहीं है। क्योंकि वायु की शीतलता के द्वारा वहां भी जलकण अनुमेय हैं तथा इसी गुण के कारण वे वायु से भी तथा रूपवान् धूम से भी सर्वथा पृथक् हैं। संस्कृत में इन्हें तुषार, तुहिन आदि कहा जाता है। शीत ऋतु में ये ही सूक्ष्म जल–कण नीचे गिर कर शीतल जल–बिन्दु का रूप धारण कर लेते हैं। महाकवि कालिदास ने अपने एक सुन्दर श्लोक में कहा है कि प्रातः समय में शीतकाल ओस की गिरती हुई बूँदों के द्वारा मानों आँसू बहा रहा है[3]!!

---

१. धूमज्योतिः–सलिलमरुतां सन्निपातः स मेघः। —मेघदूतम् १.५

२. निःश्वास– वाष्पापगमात् प्रपन्नः प्रसादमात्मीयमिवात्मदर्शः। —रघुवंश ७.६८

३. तृणाग्रलग्नैस्तुहिनैः पतद्भिराक्रन्दतीवोषसि शीतकालः। —ऋतुसंहार ४.७

यूरोप में भी अरस्तू से लेकर विगत २०० वर्षों तक ओस का ऊपर से गिरना माना जाता था–

Since the days of Aristotle until about 200 years ago, it was believed that dew 'fell' somewhat like rain. —Tell me why, Page 49

वायु तथा गैस की पहचान (विज्ञान)– आधुनिक विज्ञान के अनुसार दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाली वायु में अनेक तत्त्वों तथा यौगिकों के अणुओं का प्रकीर्णित सम्मिश्रण होता है। इसमें सामान्यतः ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, कार्बन डाइ ऑक्साइड आदि अनेक गैसें तथा जल–वाष्प के साथ–२ असंख्य धूल के कण वर्तमान होते हैं। इनमें नाइट्रोजन का प्रतिशत सर्वाधिक होता है। सामान्य वातावरण में नाइट्रोजन ७८.०८४१ प्रतिशत, ऑक्सीजन २०.६४८६ प्रतिशत तथा कार्बन डाइ ऑक्साइड ०.०३१८ प्रतिशत वर्तमान होती है। अत एव इस वायु का किसी एक गैस के अन्तर्गत निरूपण नहीं किया जा सकता। इसे अनेक गैसों के मिश्रण के प्रतिनिधि के रूप में स्थान दिया जा सकता है।

विज्ञान के अनुसार गैस वह है १. जिसमें किसी तत्त्व या यौगिक के अणु अपनी गतिज ऊर्जा द्वारा यदृच्छ गति करते हैं। २. जिसके अणुओं में परस्पर आकर्षण बल नगण्य होता है। ३. जिसका आकार तथा आयतन दोनों अनिश्चित होते हैं। इनका विवरण इस प्रकार है–

जब किसी पदार्थ के अणुओं की दूरी काफी अधिक होती है तो इनमें परस्पर लगने वाला आक़र्षण बल काफी कम होता है। अतएव ये अणु अलग–२ हर समय किसी भी दिशा में गति करने के लिये स्वतन्त्र होते हैं। इनकी प्रायः सम्पूर्ण ऊर्जा गतिज ऊंर्जा होती है। इसलिये ये यदृच्छ गति करते हैं। सर्वत्र अनियमित गति के कारण ये अपना निश्चित आकार नहीं बना सकते। इन्हें जितना भी बड़ा अवकाश दिया जाय, उन सबमें ये फैल जाते हैं। अतएव इनका आकार तथा आयतन भी अनिश्चित होता है। इस प्रकार की विशेषता वाले अणु–समूह को 'गैस' संज्ञा प्रदान की जाती है। वायु में अनेक तत्त्वों तथा यौगिकों के अणु–समूह वाली अनेक गैसें हैं तथा वायु इन अनेक गैसों का समूहीकृत नाम है।

दर्शन तथा विज्ञान में समानता– दोनों शास्त्रों में वायु या गैस की अनियमित गति स्वीकार्य है। दर्शन में वायु की जो तिर्यग्गति बताई गई है, वह आधुनिक विज्ञान की यदृच्छ गति के समतुल्य है। इस प्रकार दोनों के अनुसार इस परिस्थिति में असंख्य कण या अणु सभी दिशाओं में स्वतन्त्र तथा अनियमित गति करते हैं।

इसके साथ ही दोनों में यह भी मान्य है कि धूल आदि के उड़ते हुए कण वायु या गैस नहीं है। पर इसका कारण थोड़ा अलग–२ है। दर्शन के अनुसार ये पृथिवी के रूपवान् अणुओं के संघात हैं। संघात होने पर इनकी रूपवत्ता दृश्य भी है। जबकि वायु रूप–रहित होती है। अतः धूलि–कण वायु नहीं है।

विज्ञान के अनुसार ये उड़ते हुए धूलि–कण स्वतन्त्र अणु नहीं। अपितु अनेक अणुओं या यौगिकों के सम्पिण्ड हैं। अतः यदृच्छ गति वाले होकर भी ये गैस की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आते।

इसी प्रकार कोहरा, बादल आदि भी विशुद्ध वायु या गैस नहीं है। क्योंकि दर्शन के अनुसार यहाँ दृश्य तथा स्पृश्य शीतल जलकण उपस्थित होते हैं। जबकि वायु रूप वाली तथा शीतल स्पर्श वाली भी नहीं है। विज्ञान के अनुसार यहाँ जल के स्वतन्त्र अणु नहीं, अपितु अत्यन्त छोटी बूँदों के रूप में जलाणु समूह उपस्थित होते हैं, जिनमें परस्पर अन्तरा–अणुक बन्धन (inter-molecular bond) भी वर्तमान होता है। अतः ये वाष्प या गैस नहीं कहे जा सकते।

दर्शन तथा विज्ञान में मतभेद– दर्शन का मानना है कि जल, तेजस् आदि के तिर्यग्गति करते हुए अणु चाहे वे स्वल्प संघनित हों या सर्वथा स्वतन्त्र दशा में हों, वे वायु के अन्तर्गत नहीं आते। इस प्रकार कोहरा या ओस की दशा में शीतल वायु तथा तेजस् के अणुओं से मिश्रित उष्ण वायु वास्तव में विशुद्ध वायु नहीं है। शुद्ध वायु का स्पर्श उष्ण तथा शीतल दोनों से भिन्न सर्वथा विलक्षण होता है।

विज्ञान का कहना है कि सर्वथा स्वतन्त्र दशा में यदृच्छ गति करने वाले जल के अणु भी वाष्प रूप में वायु के एक आवश्यक घटक के रूप में मान्य हैं। यह वाष्प वायु के समान सर्वदा अदृश्य होती है। दैनिक जीवन में ऐसी कोई वायु नहीं, जिसके घटक के रूप में ऐसे वाष्परूपी स्वतन्त्र अदृश्य जलाणु उपस्थित न हों। गर्मी के दिनों में भी हम किसी ग्लास में बर्फ डालकर रख दें तो उस ग्लास के बाहर चारों ओर पानी की बूँदें हो जाती हैं। ये बूँदें वायु में उपस्थित जल के स्वतन्त्र अणुओं के संघनन से निर्मित होती हैं। अतः वायु के ऑक्सीजन आदि अन्य घटकों के समान ये जलाणु अथवा वाष्प भी इस वायु का अवश्यक घटक है।

ओस में भी यदि ये वाष्परूपी स्वतन्त्र जलाणु वर्तमान हों तो वे विशुद्ध वायु के अन्तर्गत सम्मिलित हैं। पर ये ही जलाणु जब संघनित होकर कोहरे का रूप धारण करते हैं अथवा जब धरती पर स्यन्दन की क्षमता वाली शीतल नन्हीं बूँदों का रूप धारण करते हैं तब इन्हें दर्शन शास्त्र के समान वायु के अनिवार्य घटक के अन्तर्गत नहीं माना जाता। ये ओस की बूँदें ऊपर से नहीं गिरती। अपितु उसी स्थान पर संघनित होकर निर्मित होती हैं। इस प्रकार विज्ञान में जलाणु संघनन से पूर्व स्वतन्त्र दशा में वाष्प या वायु का आवश्यक घटक हैं पर संघनन के पश्चात् जल हैं।

गर्म हवा में वायु के उन्हीं सभी अनिवार्य घटकों के अलावा कोई अतिरिक्त घटक उपस्थित नहीं होता। क्योंकि विज्ञान में तेजस् को कोई अतिरिक्त तत्त्व या इसके कोई अतिरिक्त अणु स्वीकार नहीं किये जाते। अपितु इस गर्म दशा में वायु के उन्हीं विविध घटकों के वे ही अणु सामान्य से अधिक तीव्रता से प्रकम्पन करते हैं। इस प्रकार इस अवधारणा के अनुसार गर्म हवा भी ठीक उन्हीं घटक गैसों वाली विशुद्ध वायु सिद्ध होती है।

यहाँ विज्ञान में गैस (Gas) तथा वैपर (Vapour) अर्थात् वाष्प के बीच विभेद स्थापित किया जाता है। यदृच्छ गति करने वाले वे स्वतन्त्र अणु–समूह जो सामान्य ताप पर ठोस या द्रव नहीं बनते, उसे गैस कहते हैं[1]। ऑक्सीजन को द्रव बनाने के लिये सामान्य से अत्यन्त न्यून ताप तथा दाब की आवश्यकता होती है। अतः यह गैस है। पर जो सामान्य ताप पर द्रव अवस्था को धारण करती हो, वह स्वतन्त्र अणु दशा में वाष्प होती है। जल के यदृच्छ गति वाले स्वतन्त्र अणु सामान्य ताप पर द्रव बनने की क्षमता रखने के कारण वाष्प कहे जाते हैं। ये इस दशा में दृश्य नहीं हो सकते। अतः विज्ञान में वाष्प को दृश्य नहीं माना जाता। कोहरा इत्यादि में जल के अणु–समूह दृश्य होते हैं। अतः इसे Vapour या वाष्प नहीं माना जाता है। विज्ञान में गैस का ही एक उपभेद वाष्प है। अतः वाष्प में गैस की सभी विशेषताएँ वर्तमान होती हैं। इस प्रकार Vapour का सही अर्थ वह वाष्प है जो दृश्य नहीं तथा जिसमें स्वतन्त्र जलाणु द्रव की अपेक्षा अधिक दूरी रखते हुए यदृच्छ गति करते हैं। इस दृष्टि से कोहरा दृश्य होने से वाष्प नहीं, अपितु वहाँ असंख्य नन्हीं बूँदें (Droplets) उपस्थित होती हैं[2]। ये बादलों की बूँदों की अपेक्षा अधिक नन्हीं होने से अधिक सूर्य–क़िरणों को अपने में समाहित कर पाती हैं। अतः बादलों की तुलना में कोहरा प्रायः अधिक घना प्रतीत होता है[3]।

---

1. 'Gas' = any airlike or completely elastic fluid (especially one that does not become liquid or solid at ordinary temperatures, other gases being usually called 'vapoures').

   —Oxford Dictionary of Current English

2. Water vapour is absolutely transparent and colourless. It is invisible just like air. The white fog that is popularly known as 'vapour' is really a multitude of water-droplets.

   —Fun with maths and physics, Page 125.

3. The reason fogs often seem denser than clouds is that the droplets are smaller in a fog. A large number of small drops absorb more light than a smaller number of large drops.

   —Tell me why, London, Page 48.

प्रस्तुत तुलना का संक्षेप इस प्रकार है– क. दर्शन के अनुसार कोहरा विशुद्ध वायु नहीं है, वह वाष्प है। विज्ञान के अनुसार भी कोहरा वायु का अनिवार्य घटक नहीं। पर वह दृश्य होने से Vapour नहीं है। ख. दर्शन के अनसार संघनन से पूर्व ओस के अदृश्य स्वतन्त्र जल–कण भी वायु नहीं, वह वाष्प है। विज्ञान के अनसार ये अदृश्य स्वतन्त्र जलाणु वाष्प हैं, साथ ही ये वायु का अनिवार्य घटक हैं। इन दोनों मतभेदों को अन्य शब्दों में यों कह सकते हैं कि दर्शन के अनुसार दृश्य तथा अदृश्य जलकण–क्रमशः कोहरा तथा ओस दोनों विशुद्ध वायु नहीं। अपितु दोनों वाष्प हैं। विज्ञान में कोहरा वायु का अनिवार्य घटक नहीं। साथ ही वाष्प भी नहीं है। पर ओस जल–कण के रूप में संघनन से पूर्व वाष्प है तथा वायु का अनिवार्य घटक भी है। ग. दर्शन के अनुसार गर्म हवा में तेजस् के अणु मिश्रित होने से यह विशुद्ध वायु नहीं। विज्ञान के अनुसार तेजस् के कोई अतिरिक्त अणु अमान्य होने से इस वायु में वे ही अनिवार्य घटक उपस्थित हैं, कोई अतिरिक्त मिश्रण नहीं है।

२. दर्शनशास्त्र के अनुसार वायु में नियमित रूप से गन्ध गुण नहीं होता। अतः सुगन्धित वायु में तिर्यग्गति करते हुए गन्ध वाले कण भी वायु नहीं है। अपितु इसमें गन्ध वाले पृथिवी के कणों का मिश्रण है। ऐसी दशा में इन कणों का कठिन या मृदु स्पर्श उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि इस प्रकार का स्पर्श पृथिवी की अपनी विशिष्टता या पहचान मानी गई है। फिर भी यहाँ इस गुण की 'स्वरूप योग्यता' मानते हुए इन कणों को पार्थिव माना जाता है। यदि किसी वस्तु में किसी गुण के प्रभाव को प्रदर्शित करने की स्वरूपतः क्षमता हो, पर वह सूक्ष्म होने से उस प्रभाव को प्रकाशित न कर पा रहा हो तो उसमें उस गुण की स्वरूपयोग्यता मानी जाती है। यहाँ भी सुगन्धित पुष्पकणों में मृदु–स्पर्श की स्वरूपयोग्यता होने से यह पार्थिव ही है, वायवीय नहीं।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार किसी गैस के लिये उसमें गन्ध गुण होना या न होना अनिवार्य नहीं है। अपितु उनकी परिभाषा के अनुसार अणुओं की स्वतन्त्र यदृच्छ गति वाला होना आवश्यक है। इस प्रकार तीखी गन्ध वाली क्लोरीन भी 'गैस' (Chlorine gas) के रूप में मान्य है।

इस विवरण से प्रकट है कि दर्शन के अनुसार गन्ध गुण के साथ दृश्य या अदृश्य मदृ–कठोर स्पर्श का अनिवार्य सहभाव होता है तथा इन गुणों वाला पदार्थ अनिवार्यतः पृथिवी ही होता है। पर विज्ञान के अनुसार ऐसा कोई सहभाव नहीं होता। हर गुण वाले पदार्थ के अणु अपने उस विशेष गुण को न छोड़ते हुए ठोस,

द्रव तथा गैस इन तीनों अवस्थाओं को (परिभाषानुसार मृदु–कठोर स्पर्श को रखते हुए या छोड़ते हुए) धारण कर सकता है[1]। इस प्रकार गन्ध–विहीन जल हिम दशा में सचमुच ठोस है (भ्रान्त नहीं– जैसा कि दार्शनिक मानते हैं।) तथा गन्ध वाली क्लोरीन यदृच्छ गति वाले अणुओं की दशा में होने से सचमुच गैस है।

यहाँ पर दार्शनिक कह सकते हैं कि क्लोरीन में गन्धवती पृथिवी के कण मिले हुए हैं। पर ऐसा है नहीं। क्लोरीन एक तत्त्व है। इसमें अन्य किन्हीं अणुओं का मिश्रण न करने पर भी Cl_2 रूप वाली सर्वथा विशुद्ध क्लोरीन में भी तीक्ष्ण गन्ध तथा हरा, पीला रूप पाया जाता है। दर्शन के अनुसार इसे वायु नहीं कह सकते तथा गन्धादि गुण होने पर भी इसे पार्थिव भी नहीं कह सकते। क्योंकि यह अपने सामान्य ताप तथा दाब पर सदा तिर्यग्गति में ही रहती है। इसका पृथिवी के समान कभी कठिन मृदु स्पर्श होता ही नहीं। दर्शन में भी माना है कि जिस वस्तु में जिस गुण की स्वरूप–योग्यता हो, उसे किसी न किसी परिस्थिति में उस योग्यता के फल को अवश्य प्रदर्शित करना चाहिये। अन्यथा उसे स्वरूपयोग्य नहीं माना जा सकता। यहाँ भी इस क्लोरीन के कभी कठिन–मृदु स्पर्श प्रदर्शित न करने के कारण इसे पार्थिव नहीं माना जा सकता। विज्ञान के अनुसार इसे गैस के अन्तर्गत मानना होगा।

मतभेद का कारण– भारतीय दर्शन तथा विज्ञान में उपर्युक्त प्रकार के मतभेद का मौलिक कारण उनकी अपनी२ विशिष्ट पद्धति है। दर्शन शास्त्र के अनुसार पृथिवी, जल, वायु आदि अलग२ तत्त्व हैं, जिनमें क्रमशः कठिन–मृदु स्पर्श, द्रवत्व तथा तिर्यग्गति नियमित रूप से रहते हैं। ये किसी भी अवस्था में अपने२ द्रव्यत्व के साथ२ अपने२ इन गुणों को खोते नहीं हैं। अब यदि किसी द्रव्य में किसी अन्य का गुण देखा जावे तो उसमें उस अन्य द्रव्य का मिश्रण कहा जावेगा। अगर किसी अवस्था में स्वयं उसका गुण न देखा जावे तो उसमें उस गुण की स्वरूपयोग्यता कही जावेगी। उदाहरण के लिये यदि वायु में पृथिवी का गन्ध गुण देखा जावे तो उसमें पार्थिव कणों का मिश्रण है। बर्फ में द्रवत्व न देखे जाने पर उसमें द्रवत्व की स्वरूपयोग्यता है। पर क्लोरीन वाले प्रसंग में इसे पृथिवी या वायु दोनों में से किसी के भी अन्तर्गत मानने में समस्या है। इसके कभी भी कठिन–मृदु स्पर्श वाली न होने से इसे पार्थिव नहीं मान सकते तथा गन्धवती होने से वायु नहीं कह सकते। इस प्रकार दर्शन की पद्धति में यह समस्या असमाहित ही है।

1. Molecules of a substance are the same, whether the substance is in a solid, liquid or gaseous state. -----Physics, Page 173.

आधुनिक विज्ञान के अनुसार पृथिवी, जल, वायु कोई भी अलग तत्त्व नहीं। अपितु ये क्रमशः ठोस, द्रव तथा गैस अवस्थाओं के प्रतिनिधि हैं। ये अलग–२ परिस्थितियों में विविध अवस्थाओं को तथा उस अवस्था को बनाने वाले गुण–धर्म को धारण कर सकते हैं। विश्व की हर वस्तु, चाहे वह किसी भी गन्ध–रूप आदि विशेष गुण की क्यों न हो, वह इन तीनों अवस्था वाली हो सकती है तथा उसकी प्रत्येक अवस्था उस वस्तु की वास्तविकता होती है। अतः हर अवस्था के साथ उसके उन विशेष गुणों का मेल हो सकता है। इसीलिये कोई एक अवस्था अथवा उस अवस्था जनित गुण–धर्म उस तत्त्व या यौगिक की मौलिकता या पहचान नहीं बन सकती। अतः विज्ञान में तत्त्व आदि की परिभाषा अलग ही है। इस प्रकार बर्फ दशा में बर्फ का ढोस होना वास्तविक है तथा अत्यधिक तप्त होकर बहते हुए लोहा में वास्तविक द्रवत्व है।

इंसी प्रकार विश्व की हर विशेष गुण वाली प्रत्येक वस्तु उनके अणुओं के यदृच्छ गतिशील होने पर गैस कही जावेगी। इसलिये वायु की घटक गन्धरहित ऑक्सीजन गैस की तरह गन्ध वाली क्लोरीन भी 'गैस' है। साथ ही यही वायु अथवा उसके ऑक्सीजन आदि घटक स्यन्दन की क्षमता धारण करने पर तत्त्वतः द्रव कहे जाने के योग्य हैं।

वायु द्रव हो सकती है! बड़ा अचरजपूर्ण है यह!! इसका निरूपण अगले परिच्छेद में क्रिया जावेगा।

---

३. हवा की मुट्ठी!
(वायु का घनत्व)

अति प्राचीन काल से मानव को यह अनुभव रहा है कि सर्वत्र फैली हुई हवा को किसी एक जगह पकड़ कर प्रतिबद्ध नहीं किया जा सकता। अत एव यह मुहावरा प्रचलित था कि हवा की मुट्ठी नहीं बन सकती। पकड़ में न आ सकने वाली वस्तु को इस उपमा के द्वारा प्रकट किया जाता था। गीता में अर्जुन द्वारा कहा गया एक सुन्दर श्लोक इस प्रकार है–

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।। — भगवद्गीता ६.३४

अर्थात् हे कृष्ण! यह मन अत्यन्त चञ्चल है। इसके निग्रह को मैं उसी प्रकार कठिन मानता हूँ, जिस प्रकार हवा को किसी एक जगह बन्द करना है।

यहाँ यह विचारणीय है कि हवा अपने किस गुण–धर्म के कारण मुट्ठी में बन्द नहीं की जा सकती। वायु के अलावा आकाश एक ऐसा द्रव्य है, जिसे कभी किसी पदार्थ में सीमित नहीं किया जा सकता। सभी दार्शनिक समान रूप से यह मानते हैं कि 'घटाकाश' जैसे प्रयोगों में आकाश को घड़े से परिसीमित बताना तात्त्विक नहीं है, अपितु सर्वथा आरोपित है। आकाश विभु या सर्वव्यापक होने से कदापि सीमित नहीं हो सकता।

पर हवा के मुट्ठी में बन्द न हो पाने से हम यह नहीं मान सकते कि यह आकाश के समान गुण–धर्म वाली है। सभी दार्शनिक तथा वैज्ञानिक समान रूप से इसे टुकड़ों में बँट सकने वाली, परिच्छिन्न अथवा सीमित मानते हैं, आकाश के समान असीमित नहीं। न्यायशास्त्र में वायु–सहित मूर्त द्रव्य को आकाश से अलग मानने का कारण ही यह है कि जल, वायु जैसे मूर्त–द्रव्य परिच्छिन्न परिमाण वाले हैं, जबकि आकाश विभु है।

दर्शन–शास्त्र में इस वायु के आकाश से विपरीत अनेक गुणों का वर्णन किया गया है। बौद्ध दर्शन में रूप–स्कन्ध के अन्तर्गत आने वाले इन्द्रिय–ग्राह्य 'विषय धातु' का एक विशिष्ट गुण 'सप्रतिघ' होना अर्थात् जगह घेरने वाला बताया है[1]। जिस प्रकार बायाँ हाथ कभी भी अपनी जगह पर दाहिने हाथ को नहीं आने

---

१. सप्रतिघा दश रूपिणः। ———अभिधर्मकोश १.२९

दे सकता, उसी प्रकार त्वगिन्द्रिय–गोचर वायु–खण्ड भी अपने स्थान पर दूसरे वायु–खण्ड को आने नहीं दे सकता[1]। अन्य दर्शनों के अनुसार भी अन्य द्रव्यों के समान वायु भी जगह घेरने वाले अणुओं से निर्मित है। अतः वायु में भी यह विशेषता वर्तमान है।

आधुनिक विज्ञान में भी यह मान्य है कि वायु के ऑक्सीजन आदि घटक अनेक अणुओं के समूह होते हैं तथा एक अणु के स्थान पर दूसरा अणु नहीं समा सकता। अतः किसी अणु की अपनी सविशेष गति के द्वारा किसी अन्य अणु के स्थान पर प्रवेश की चेष्टा करने पर वह अन्य अणु शीघ्र ही अन्यत्र जाकर उसके लिये जगह खाली कर देता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि गैस अथवा वायु की मुट्ठी न बन पाने का कारण यह नहीं कि वायु जगह नहीं घेरती, अपितु यह कि वह आसानी से अन्यों के लिये जगह खाली कर देती है।

वायु की इस विलक्षणता का प्रमुख कारण वायु का ठोस, द्रव पदार्थों की अपेक्षा सबसे विरल घनत्व वाला होना तथा उनका गतिज ऊर्जा वाला होना है। वायु के घटक ऑक्सीजन आदि के अणु एक दूसरे से दृढतापूर्वक संसंजित नहीं, अपितु छितराए हुए रहते हैं। उनमें परस्पर आकर्षण बल नगण्य होता है। ये अणु अपनी तापीय ऊर्जा (thermal energy) के फलस्वरूप निरन्तर यदृच्छ गति में होते हैं। अन्य सभी अणुओं के समान इनके अणु की अन्य अणु से बीच की दूरी (intermolecular space) में हवा जैसी कोई चीज नहीं, अपितु सर्वथा शून्य होता है। अतः ये अणु किसी प्रतिरोध के अभाव में सामान्य दशा में अपनी ऊर्जा तथा इस प्रकार अपनी गति को खोते नहीं हैं। इस गति के कारण ही ये अन्य अणु से आकर्षित नहीं, अपितु दूर से ही प्रतिकर्षित होते हैं। ऑक्सीजन का एक अणु अन्य अणु से कम से कम $3.5 \times 10^{-7}cm=35A^0$ की दूरी पर होता है। जबकि ऑक्सीजन तथा नाइट्रोजन के अणु का औसत आकार केवल $4A^0$ होता है। ($1A^0=10^{-8}cm$ अर्थात् 1 एंग्स्ट्रॉम सेंटीमीटर का १० करोड़वाँ हिस्सा होता है)। इसके आकार की अपेक्षा यह दूरी बहुत अधिक–लगभग १० गुना होती है। ऑक्सीजन का एक अणु अपने आयतन से लगभग १००० गुना अधिक हवा के आयतन में समाता है[2]।

---

१. प्रतिघो नाम प्रतिघातः। ....स्वदेशे परस्योत्पत्ति– प्रतिबन्धः ।. यथा हस्तो हस्तेनाहतः।
–उक्त श्लोक पर स्वोपज्ञ भाष्य पृ० ७६

2. Therefore, the average distance between molecules, is ten times as great as the size of molecules. And this, in turn, implies that the average volume of air per molecule is approximately a thousand times as great as the volume of the molecule itself. —Physics for everyone, L.D. Landau, book 2, page 38.

गैस के ये अणु कम से कम इतनी दूरी बनाए रखते हुए आकाश में मुक्त रूप से संचरण करते रहते हैं। इनकी संख्या अत्यधिक होती है। एक घन सेंटीमीटर हवा में सामान्य ताप तथा वायुमण्डलीय दाब पर लगभग 2.5×10^{19} अणु रहते हैं। इतनी विशाल संख्या में कोई भी अणु अपनी सीधी गति बनाए नहीं रख सकता। क्योंकि एक अणु दूसरे को टक्कर देते हुए उसे वहाँ से हटने को मजबूर करता है। यहाँ टक्कर का अर्थ एक दूसरे को छूकर टकराना नहीं है। अणु परमाणु के संसार में इस प्रकार का छूना कभी नहीं होता, जैसा हम दैनिक जीवन में समझते हैं[1]। अपितु गैस का एक अणु अन्य अणु से न्यूनतम $35A^0$ की दूरी से ही प्रतिकर्षण द्वारा विस्थापित हो जाता है। इस प्रकार ये अणु अन्य अणु से दूर हटने की चेष्टा करते हुए अपनी दिशा बदलते रहते हैं। विभिन्न अणुओं का घनत्व तथा उनकी गति के अनुसार उनका माध्य मुक्त पथ अलग–२ होता है। कोई अणु अधिकतम जितनी दूरी तक सीधी दिशा में अपनी गति बनाए रख सकता है, उसे उसका माध्य मुक्त पथ (mean free path) कहते हैं। हाइड्रोजन के अणु का यह पथ $11 \times 10^{-6}cm = 1100A^0$ के बराबर है, जबकि ऑक्सीजन का केवल $5 \times 10^{-6}cm = 500A^0$ के बराबर है। इस प्रकार अधिकतम इतनी दूरी के पश्चात् यह अणु अवश्य ही अपनी गति की दिशा बदलते हुए अन्य के लिये जगह खाली कर देता है। किसी बड़े पिण्ड के आने पर भी यह अन्य दिशा की ओर गतिशील होकर उस स्थान को आसानी से छोड़ देता है। इस प्रकार किसी के अन्दर आसानी से प्रतिबद्ध नहीं होता। इस विवरण से प्रकट है कि गैस की यह विशेषता इसके अणुओं का विरल घनत्व तथा इनकी गतिज ऊर्जा के कारण है।

पदार्थ में घनत्वमूलक स्पर्श (दर्शनशास्त्र)– दर्शन के अनुसार केवल पृथिवी में कठोर स्पर्श तथा मृदु स्पर्श गुण समवेत होता है। गन्धवती पृथिवी के पिण्ड आपस में कठिन तथा कम कठिन बन्धन में बँधे होते हैं। दूसरे शब्दों में उनके अणुओं का अत्यधिक घनत्व तथा आपस में दृढ़ बन्धन होता है। इनके अलावा अन्य किसी में ये कठिन मृदु स्पर्श गुण नहीं है[2]। जल में यदि कोई घनत्व

---

१. अणु–परमाणु के सन्दर्भ में आधुनिक भौतिक विज्ञान की व्याख्या ने दर्शनशास्त्र के हजारों वर्षों से चले आ रहे इस विवाद को समाप्त कर दिया है कि परमाणु एक दूसरे को छूते हैं या नहीं। विज्ञान की व्याख्या काश्मीरक बौद्धों की इस मान्यता के लगभग सन्निकट है कि सामान्य जीवन में समझे जाने वाले 'स्पर्श' को परमाणु के सन्दर्भ में लागू नहीं किया जा सकता। द्रष्टव्य– 'किं पुनः परमाणवः स्पृशन्त्यन्योन्यम्? आहोस्विन्न? न स्पृशन्तीति काश्मीरकाः! किं कारणम्? यदि तावत् सर्वात्मना स्पृशेयुर्मिश्रीभवेयुर्द्रव्याणि'– अभिधर्मकोश १.४३ पर स्वोपज्ञभाष्य, पृ. १२१

२. काठिन्यादि क्षितावेव नित्यतादि च पूर्ववत्। ——कारिकावली श्लोक १०४

है तो उसका प्रभाव उसकी विलक्षण स्यन्दन क्रिया के रूप में उपलब्ध होता है। इन स्पर्श गुणों के रूप में नहीं। जल में केवल शीतल स्पर्श रहता है। वायु में उष्ण, शीत स्पर्श से भिन्न अथवा पृथिवी, जल, तेज में उपलब्ध स्पर्श से भिन्न विजातीय स्पर्श रहता है[१]। इस प्रकार पृथिवी में उपलब्ध होने वाला, घनत्व से जनित कठोर या मृदु स्पर्श इस वायु में नहीं रहता। यह सिद्धान्त इस चिन्तन पर अवलम्बित है कि किसी पिण्ड के प्रवेश पर आसानी से जगह छोड़ देने वाला तथा इस प्रकार मुट्ठी आदि में प्रतिबद्ध न होने वाला वायु–द्रव्य मृदु–कठोर स्पर्श नहीं रख सकता।

पदार्थ में घनत्वमूलक स्पर्श (विज्ञान)– विज्ञान के अनुसार विविध घनत्व वाले अणुओं से निर्मित पदार्थ की ठोस, द्रव तथा गैस इन तीनों अवस्थाओं में कठोर–मृदु स्पर्श अलग–२ मात्रा में उपलब्ध होता है। ठोस पदार्थों में यह स्पर्श अत्यन्त स्पष्ट है। हाथ का टेबुल से संयोग होने पर टेबुल के परमाणु विद्युच्चुम्बकीय बल के द्वारा तथा इनसे निर्मित टेबुल के अत्यन्त घने तथा ज्यामितीय ढंग से व्यवस्थित अणु भी अपने प्रतिकर्षण बल के द्वारा हमारे हाथ के अणुओं को प्रतिकर्षित करते हुए इसके गुरुत्वाकर्षण बल का दृढता से विरोध करते हैं तथा इस प्रकार स्वयं सम्पीड़ित होने से बचते हैं तथा हाथ को धँसने नहीं देते। अणुओं के इस प्रभाव को हम कठोर स्पर्श के रूप में अनुभव करते हैं।

द्रव अवस्था वाले जल आदि में ठोस की अपेक्षा अणुओं की दूरी कुछ बढ़ जाती है तथा इस प्रकार इनका घनत्व कुछ कम हो जाता है। इन विरल घनत्व वाले अणुओं के प्रभाव से मृदु स्पर्श उपलब्ध होता है।

वायु में सापेक्षतः अधिक दूरी पर छितराए हुए विरलतर घनत्व वाले अणुओं के प्रभाव से हम इसके मृदुतर स्पर्श का अनुभव करते हैं। यदि हम किसी उपाय से इनके अणुओं के घनत्व को बढ़ाते जायँ तो धीरे–२ मृदु से विपरीत विनम्र कठोर स्पर्श के अलग–२ स्तरों का अनुभव करते हैं। किसी ट्यूब आदि में वायु को सम्पीड़ित करने पर तथा इस प्रकार उसका आयतन कम करने पर इसके अणुओं का घनत्व तथा दबाव उतना ही गुना बढ़ जाता है। इस प्रकार यह दबाव आयतन के व्युत्क्रमानुपात में बढ़ता है। दबाव बढ़ने का अर्थ यह है कि इस समय गैस के अणु अधिक तीव्रता से किसी बर्तन की दीवार से टकराते हैं। इसी टकराहट के बल से कोई गुब्बारा फूल जाता है, इंजन का पिस्टन धकेला जाता

---

२. अपाकजोऽनुष्णाशीतस्पर्शस्तु पवने मतः। —कारिकावली श्लोक ४२

विजातीयस्पर्शेन .... च वायोरनुमानात्। —उसी श्लोक पर मुक्तावली

है तथा हवा से भरा ट्यूब कठोरता का आभास कराता है। अणुओं का यह घनत्व, दबाव अथवा इनकी गतिज ऊर्जा प्रयुक्त बल जितना अधिक बढ़ता है, उतना ही अधिक कठोरता की प्रतीति होती है। इस प्रकार यहाँ दबाव तथा बल की वृद्धि कठोरता में वृद्धि का समानुपाती होती है। दृढ पिण्डों की कठोरता की प्रतीति में भी अणु–परमाणु के अनेक बल कार्यशील होते हैं। इससे स्पष्ट है कि कोई भी बल जो हमारे हाथ के बल का विरोध करे वह कठोर स्पर्श के सजातीय स्पर्श का अनुभव करा सकता है– चाहे वह बल पृथिवी का हो या वायु का हो। यद्यपि गैस के छितराए हुए अणुओं में घनत्व बढ़ाने पर भी इनमें परस्पर संसंजक बल न होने से ये किसी दृढ़ पिण्ड के बीच में आने का विरोध तो नहीं कर सकते। साथ ही ये दृढ़ पिण्ड़ के समान अतिस्पष्ट कठोरता का अनुभव भी नहीं करा सकते। पर इतने मात्र से दर्शन की मान्यता के अनुरूप इनकी कठोर स्पर्श की किसी मात्रा का निवारण नहीं किया जा सकता। अपितु यह कहना अधिक उचित है कि वायु के अणुओं में गतिज ऊर्जा प्रयुक्त बल के द्वारा कठोर–मृदु जाति का कोई निम्नस्तरीय स्पर्श उपस्थित होता है, जो कि दबाव बढ़ाने के साथ बढ़ता जाता है। किसी हवा भरे ट्यूब के स्पर्श से हम वायु में इसका ही अनुमान करते हैं तथा तेज हवा चलने पर इसी जाति वाले विलक्षण स्पर्श का अनुभव करते हैं।

घनत्व, दाब तथा ताप में परिवर्तन से गैसों का रूपान्तरण– वायु में सर्वथा स्पष्ट रूप से कठोर या मृदु स्पर्श की उपलब्धि तब हो सकती है, जब इसे ठोस या द्रव रूप में बदल दिया जाय। अथवा विज्ञान की भाषा में यों कहें कि जब इसके अणुओं की परस्पर दूरी को कम करके इनमें दृढ़ संसंजक बल उपस्थित कर दिया जाय। पर सामान्य उपायों से इसके अणुओं का घनत्व अथवा दबाव बढ़ाकर यह बल नहीं लाया जा सकता तथा इस प्रकार वायु को द्रव नहीं बनाया जा सकता। मजबूत से मजबूत ट्यूब में आप चाहे जितनी हवा भरें, वह अपने गैस रूप में ही रहेगी। १९वीं सदी के पूर्वार्ध तक भौतिक वैज्ञानिक इसमें बहुत दाब बढ़ाकर भी इसे द्रव में परिवर्तित करने में सफल नहीं हो सके थे। क्योंकि गैस के अणुओं में गतिज ऊर्जा या तापीय ऊर्जा के फलस्वरूप इनके तापीय गति (thermal motion) में होने के कारण इनमें परस्पर आकर्षण बल उत्पन्न करना सम्भव नहीं हुआ था। अतः बाद में जाना गया कि किसी भी गैस को द्रव बनाने के लिये इनकी ऊर्जा को क्षीण करना अथवा ताप कम करते हुए इन्हें एक क्रान्तिक ताप में लाना आवश्यंक होता है। प्रकृति में हर पदार्थ की अवस्था परिवर्तन के लिये अपना अलग–२ क्रान्तिक दाब (critical pressure) तथा क्रान्तिक ताप (critical temperature) सुनिश्चित है। इन गैसों का क्रान्तिक ताप

बहुत कम है। ऑक्सीजन का क्रान्तिक ताप –119°c तथा हाइड्रोजन का –240°c है। शून्य डिग्री सेल्सियस ताप पर पानी हिम बन जाता है। इससे ऋण 240 डिग्री तापमान की शीतलता सचमुच अकल्पनीय है। इस क्रान्तिक ताप पर इन्हें द्रव बनाया जा सकता है। इतने कम क्रान्तिक ताप को प्राप्त करना विज्ञान की बहुत बड़ी विजय रही है! इस उपाय से सन् १८८४–८५ में पहली बार द्रव हाइड्रोजनं प्राप्त की गई थी। इसके पश्चात् सन् १९०८ में विश्व के पदार्थों में सबसे कम क्रान्तिक ताप वाले 'हीलियम' को भी द्रव में परिवर्तित कर लिया गया था[1]।

इस महान् घटना के पश्चात् भौतिक विज्ञान में यह सिद्धान्त सुस्थिर हो गया कि विश्व में ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जिसे ठोस, द्रव तथा गैस अवस्थाओं में परिवर्तित न किया जा सके। इस सिद्धान्त से आज विज्ञान जगत् में 'लौह वाष्प तथा ठोस हवा' (iron vapour and solid air) का मुहावरा प्रचलित है। इससे अब यह सर्वथा स्पष्ट है कि गैस अणुओं के घनत्व तथा दबाव को अधिकाधिक बढ़ा कर अंधिकाधिक कठोर–जातीय स्पर्श तथा एक सुनिश्चित दाब तथा क्रान्तिक ताप में हर गैस को द्रव तथा ठोस बनाकर स्पष्ट मृदु–कठोर स्पर्श प्राप्त किया जा सकता है।

पर बात चली थी हवा की मुट्ठी से! सामान्य जीवन में हम इतने ऊँचे दाब तथा इतने कम ताप की कल्पना नहीं कर सकते। इतने कम क्रान्तिक ताप को तो हमारी मुट्ठी छू भी नहीं सकती! अतः जहाँ तक मुहावरे का प्रश्न है यह अब भी सर्वथा सच है कि सामान्य ताप पर कोई हवा की मुट्ठी नहीं बाँध सकता!!

---

1. Finally, the last stronghold was taken after another twenty years: helium, the substance with the lowest critical temperature was converted into a liquid in 1908 by Heike Kamerlingh Onnes in Leiden, Holland. The 70th anniversary of this important scientific achievement was widely celebrated.

—Physics for everyone L.D. Landau, Page 110.

४. हवा का अनुभव होता है या नहीं!

इस शीर्षक को देखते ही पाठक कह उठेंगे कि यह प्रश्न ही गलत है। हवा के शीतल, मृदुल स्पर्श का अनुभव किसे नहीं होता। संस्कृत के एक मुहावरे के अनुसार यह तो *'आपण्डितम् आपृथग्जनं परिवेदितो विषयः'* है! अर्थात् विशेषज्ञ से लेकर सामान्य मनुष्य तक सभी इसका भली प्रकार अनुभव करते हैं। फिर भी थोड़ा गम्भीरता से दर्शन–शास्त्र की रीति से इस पर विचार करते हैं।

न्याय दर्शन के अनुसार पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि द्रव्य हैं तथा इनमें गन्ध, रस, रूप, स्पर्श आदि गुण समवेत हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ द्रव्य के साथ संयोग के माध्यम से इनके गुणों का प्रत्यक्ष करती हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता। जहाँ दो ज्ञानेन्द्रियाँ एक ही द्रव्य का प्रत्यक्ष करती हैं, उस द्रव्य के प्रत्यक्ष के विषय में भी सन्देह का कोई अवकाश नहीं रहता। जैसे आँखों से घट–प्रत्यक्ष के पश्चात् त्वचा से उसका ही प्रत्यक्ष करते हैं। तभी 'मैने जिस घड़े को देखा, उसी को छूता हूँ' इस प्रकार बोध होता है। यह बोध निश्चय ही द्रव्य–विषयक है। क्योंकि दो इन्द्रियों से एक विशेष गुण का बोध नहीं होता। आँखों से रूप का ही तथा त्वचा से स्पर्श का ही बोध होता है। पर यहाँ दो इन्द्रियों से एक–विषयक बोध होने से यह एक–द्रव्य–विषयक ही है, ऐसा सिद्ध होता है। इस रीति से पृथिवी, जल, तेज द्रव्य के प्रत्यक्ष के विषय में कोई सन्देह नहीं होता।

अन्य सामान्य गुणों, जैसे संख्या, परत्व, अपरत्व द्वारा भी इन द्रव्यों का असन्दिग्ध रूप से प्रत्यक्ष हो जाता है। जैसे एक घट, दो घट आदि संख्या–युक्त घट का बोध होता है। यह संख्या गुणों की नहीं हो सकती। क्योंकि गुण में कोई गुण नहीं रहता। अतः संख्या वाले द्रव्य का प्रत्यक्ष होने पर ही हम उसे कोई संख्या प्रदान कर सकते हैं। इस प्रकार संख्या का बोध होने पर उस संख्या वाले द्रव्य का भी प्रत्यक्ष हो गया, यह आसानी से माना जा सकता है।

पर इन दोनों उपायों से वायु द्रव्य के प्रत्यक्ष के विषय में सन्देह है। क्योंकि वायु में रूप न होने से आँखों से इसके रूप तथा इसके माध्यम से द्रव्य का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। अपितु केवल एक त्वचा के द्वारा ही इसका प्रत्यक्ष हो सकता है। इस प्रकार केवल एक इन्द्रिय से वायु द्रव्य के प्रत्यक्ष की स्थिति में यह सन्देह बना ही रहता है कि इसके स्पर्श आदि से भिन्न किस आकार प्रकार को वायु–द्रव्य का प्रत्यक्ष माना जावे। इसके साथ ही एक वायु, दो वायु जैसे प्रयोग सुनने में नहीं

आते। अतः संख्या के माध्यम से भी वायु–द्रव्य के प्रत्यक्ष मानने में सन्देह बना रहता है। इसलिये इस विषय में विद्वानों में मतभेद उपलब्ध होता है, जो इस प्रकार है–

वायु–द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता (प्राचीन न्याय)– प्राचीन न्याय वैशेषिक के विद्वान् त्वगिन्द्रिय से वायु के स्पर्श आदि गुणों के अनुभव के पश्चात् इनसे अतिरिक्त किसी द्रव्य के आकार को स्पष्टतः न बता सकने की स्थिति में वायु–द्रव्य का त्वचा से प्रत्यक्ष नहीं, अपितु इसे स्पर्श लिंग से अनुमेय बताते हैं[१]। क्योंकि विलक्षण अनुष्णाशीत स्पर्श किसी द्रव्य में ही समवेत हो सकता है। पर अन्य ८ द्रव्यों में इसका समवेत होना सम्भव नहीं है। अतः इस विलक्षण गुण के आधार के द्वारा अनुमान से अतिरिक्त वायु–द्रव्य की सिद्धि करते हैं[२]।

इस सिद्धान्त के स्थिर हो जाने पर वे ज्ञानेन्द्रियों से ग्रहण किये जाने वाले सभी मूर्त–द्रव्यों के प्रत्यक्ष में लाघव हेतु से केवल एक 'रूप' गुण को कारण बताते हैं[३]। इसकी व्याख्या में उनका कहना है कि पृथिवी, जल, तेज इन तीन में 'रूप' गुण के कारण इस गुण वाले इन द्रव्यों का प्रत्यक्ष होता है। पर वायु में 'रूप' नामक कारण के न होने से त्वगिन्द्रिय से वायु–द्रव्य का संयोग होने पर भी उसका प्रत्यक्ष नहीं होता।

वायु–द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है (नवीन न्याय)– नवीन न्याय के विद्वान् विपरीत मत रखते हुए 'वायुं स्पृशामि' इस अनुभव के आधार पर वायु–द्रव्य का प्रत्यक्ष मानते हैं। उनका कहना है कि वायु–द्रव्य का कोई स्पष्ट आकार न बता पाने पर भी इस अनुभव का कोई स्वरूप तो होता ही है। इस अनुभव के यथार्थ होने से वायु–द्रव्य का प्रत्यक्ष सर्वथा मान्य है।

साथ ही चक्रवात आदि की दशा में पूर्व तथा पश्चिम से अलग–२ आने वाली वायु का 'पर वायु', 'अपर वायु', 'एक वायु', 'दो वायु' इत्यादि के रूप में भी

---

१. कारिकावली श्लोक ५४ में मुक्तावलीकार 'इत्याहुः' के द्वारा नवीन न्याय के मत में अरुचि प्रदर्शित करते हुए इसी प्राचीन मत का समर्थन करते हैं।

२. अनुभूयमानः स्पर्शः क्वचिदाश्रितः स्पर्शत्वादित्यनुमानेन ....अष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितत्वसिद्धौ अष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यत्वेन वायुरपि........सिद्ध्यति। —वैशेषिक सूत्र २.१.१६ पर विवृति।

३. त्वगिन्द्रियजन्येऽपि द्रव्यप्रत्यक्षे रूपं कारणम्। तथा च बहिरिन्द्रिय– जन्यद्रव्यप्रत्यक्षे रूप कारणम्। —कारिकावली श्लोक ५४ पर मुक्तावली। साथ ही— 'वायोः प्रत्यक्षतासन्देहेन लाघवान्मूर्तप्रत्यक्षावच्छिन्नं प्रति रूपत्वेनैव कारणत्वमुचितम्।

—उक्त प्रसंग पर 'दिनकरी' टीका।

अनुभव होता है। ये परत्वादि गुण वायु द्रव्य में ही अवस्थित होते हैं। वायु का अनुभव किये बिना उनमें एकत्वादि संख्या का अवबोध नहीं किया जा सकता। अतः इन गुणों के माध्यम से भी वायु–द्रव्य का प्रत्यक्ष यथार्थ सिद्ध होता है।

इस मान्यता की उपस्थिति में सभी द्रव्यों के प्रत्यक्ष में रूप को कारण मानना समीचीन नहीं हो सकता। क्योंकि वायु में 'रूप' नामक कारण के न रहने पर भी वायु–द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है। यदि थोड़ी देर के लिये वायु–द्रव्य का प्रत्यक्ष न भी मानें, तो भी 'इसमें रूप न होने के कारण वायु–द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं' ऐसा प्राचीन न्याय वालों का कथन तर्कसंगत नहीं हो सकता। आखिर रूप का न होना त्वगिन्द्रिय से स्पर्श के माध्यम से ग्राह्य द्रव्य के प्रत्यक्ष का किस प्रकार निवारक हो सकता है। पैर कटने के कारण आँख से देखने की क्रिया का किस प्रकार निषेध हो सकता है!!

अतः अन्वय–व्यतिरेक से यही कहना उचित है कि आँखों से रूप के माध्यम से होने वाले द्रव्य–प्रत्यक्ष में 'रूप' तथा त्वचा से स्पर्श के द्वारा द्रव्य–प्रत्यक्ष के लिये 'स्पर्श' कारण होता है[1]। इस कार्य–कारण–भाव के अनुसार स्पर्श गुण के द्वारा वायु–द्रव्य का प्रत्यक्ष अवश्य होता है, यह मानना चाहिये[2]।

<u>वायु के गुणों का प्रत्यक्ष (दर्शन)– दर्शन के अनुसार शुद्ध वायु गन्ध,</u>

१. नवीनास्तु बहिरिन्द्रियजन्य–द्रव्य–प्रत्यक्षे न रूपं, न वा स्पर्शः कारणं, प्रमाणाभावात्। किन्तु चाक्षुषप्रत्यक्षे रूपं, स्पार्शनप्रत्यक्षे स्पर्शः कारणम्–अन्वयव्यतिरेकात्। – कारिकावली श्लोक ५४ पर मुक्तावली।

२. न्याय–शास्त्र में द्रव्य की अपनी विशिष्ट मान्यता के कारण भी यह सन्देह बना रहता है। न्याय के अनुसार इन्द्रियग्राह्य गुणों का आधार द्रव्य होता है। बौद्ध दार्शनिक इस पर सदा से यह प्रश्न उठाते रहे हैं कि किसी पिण्ड के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, उसकी लम्बाई, चौड़ाई, गुरुत्व आदि सभी इन्द्रियजन्य गुणों के अनुभव के पश्चात् आखिर क्या बचता है, जिसे हम अलग से 'द्रव्य' कह कर पुकारें? इस तथ्य को महान् दार्शनिक जॉन लॉक द्वारा प्रस्तुत एक रोचक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं– *"मान लीजिये, A एक वस्तु है, जिसमें Q_1, Q_2, Q_3, Q_4, Q_5 ये पाँच गुण पाए जाते हैं। अब यदि हम कहते हैं कि A Q_1, Q_2, इत्यादि है। (जैसे सेव लाल, रसीला इत्यादि है)। यहाँ इसके दो वैकल्पिक अर्थ हो सकते हैं। प्रथम A अपने पाँच गुणों का $Q_1 - 5$ का समुच्चय है। ऐसी दशा में इसे A अलग नाम देना द्विरुक्ति होगी। द्वितीय विकल्प के अनुसार इसका अर्थ यह होगा कि A नामक वस्तु $Q_1 - 5 + A$ है, जिसमें X नामक ऐसा तत्त्व है जिसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। क्योंकि इन्द्रिय–ग्राह्य सभी गुणों का तो $Q_1 - 5$ के अन्तर्गत ही निरूपण हो चुका। इस प्रकार दोनों ही विकल्प असमाधेय हैं। इससे सिद्ध है कि वास्तव में सेव का 'विज्ञान एक 'मिश्र विज्ञान' है, जिसे हम लौकिक जीवन में सदा 'सरल–विज्ञान' के रूप में लेते हैं।"* (द्रष्टव्य Essays, John Locke 1, 3, 19)

रस, रूप गुणों से सर्वथा विरहित होती है। अतः कोई भी गन्ध वाली गैस तथा रूप, रंग वाला धुँआ आदि विशुद्ध वायु की श्रेणी में नहीं आते। ऐसे प्रत्यक्ष के समय वायु में गन्ध आदि गुणों वाले पृथिवी के अनेक कणों का मिश्रण होता है।

साथ ही वायु में मृदु–कठोर स्पर्श भी नहीं रहता। यह स्पर्श केवल पृथिवी में पाया जाता है। इसमें शीत, उष्ण स्पर्श भी नहीं रहता। यह गुण क्रमशः जल तथा तेज में ही समवेत होता है। अतः उष्ण–शीत स्पर्श से भिन्न कोई विलक्षण स्पर्श वायु में रहता है।

अब अगर वायु में शीतल स्पर्श उपलब्ध हो तो मानना होगा कि इसमें शीत–स्पर्श वाले जल–कण मिश्रित हैं। इसी प्रकार उष्ण स्पर्श वाली वायु उपलब्ध होने पर उसमें तेज–कणों का मिश्रण मानना चाहिये। इन दोनों स्पर्शों से भिन्न सर्वथा अनुष्णाशीत स्पर्श का अनुभव ही वायु के विशद्ध गुण का अनुभव कहा जावेगा।

गैस के गुणों का प्रत्यक्ष (विज्ञान)– आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी वायु के अधिकांश घटकों में गन्ध आदि गुण नहीं होते। वायु में सर्वाधिक उपलब्ध होने वाली नाइट्रोजन तथा ऑक्सीजन गैसें सर्वथा गन्धरहित, स्वादरहित तथा रंगरहित मानी जाती हैं। पर बहुत कम अनुपात में उपलब्ध कार्बन डाइ ऑक्साइड जैसे यौगिक पदार्थों की गैसें गन्धपूर्ण होती हैं। वायु की घटक से भिन्न 'क्लोरीन' आदि जैसे तत्त्वों की गैसें भी गन्धपूर्ण उपलब्ध होती हैं।

तेज चलने वाली वायु में मृदु–कठोर जातीय कोई स्पर्श हो सकता है, इसे तीसरे परिच्छेद में विस्तार से प्रकट किया जा चुका है। विज्ञान में अतिरिक्त रूप

वास्तव में होता यही है कि इन गुणों के अनेकानेक प्रकार हमें उपलब्ध होते हैं। पर एक सुनिश्चित रूप, रस, गन्ध आदि का एक विशिष्ट सहभाव किसी पिण्ड में देखने में आता है। उस रूप को अलग देखने पर भी उस निश्चित सहभाव को हम अन्यत्र नहीं देखते। अतः उसे हम अलग नाम दे देते हैं तथा उसे अलग द्रव्य के रूप में देखना चाहते हैं। यदि इस सहभाव को हम दो इन्द्रियों के द्वारा देख सकें तब तो निश्चय ही इसे अतिरिक्त द्रव्य प्रदान करने के लिये अधीर हो उठते हैं। इस सहभाव को हम अलग संख्या भी प्रदान करते हैं तथा इस उपाय से भी 'द्रव्य' के प्रत्यय को परिपुष्ट कर लेते हैं।

पर जिस वस्तु के केवल कुछ सीमित गुणों का ही प्रत्यक्ष हो, दो इन्द्रियों के द्वारा द्रव्य–प्रत्यक्ष की पुष्टि न हो पाती हो, उसका स्पष्ट आकार दृष्टिगोचर न हो सकने की स्थिति में उसमें संख्या प्रदान करने में भी कठिनाई होती हो, उस द्रव्य के प्रत्यक्ष में सन्देह बना ही रहता है। वास्तव में वायु–द्रव्य के प्रत्यक्ष में अलग२ मतों का यही रहस्य है।।

से तेजस् को न मानने के कारण वायु स्वयं उष्ण स्पर्श को धारण कर सकती है। इसी प्रकार शीत स्पर्श केवल जल की विशिष्टता नहीं है। वायु के अतिनिम्न क्रान्तिक ताप उत्पन्न करने में जल के मिश्रण का सहयोग नहीं है। अतः विशुद्ध वायु की घटक ऑक्सीजन आदि गैसें भी शीत स्पर्श वाली हो सकती हैं।

यद्यपि यह सर्वथा सच है कि सामान्य जीवन में उपलब्ध होने वाली शीतल वायु जल या जल वाष्प (water vapour) के मिश्रण का ही परिणाम होती है। अतः सामान्य दशा में वायु में इनका मिश्रण बताना सर्वथा सच है।।

---

५. और दीपक जल गया!

(वायु का ज्वलन–सहकारित्व)

अति प्राचीन काल से रात्रि के घने अन्धकार को भगाने के लिये दीपक जलाने की परम्परा रही है। भारत तथा चीन में इसके लिये तिल, सरसों, एरण्ड आदि स्नेहन पदार्थों का उपयोग किया जाता रहा है।

इस दीपक के लिये बढ़िया बत्ती, तेल आदि का प्रयोग करने पर भी हवा का चलना इसके जलने में सबसे बड़ी बाधा रही है। इससे यह बार–२ बुझता रहता था। लोगों के सामान्य जीवन गें इसका इस प्रकार बार–२ बुझना एक विशेष अनुभव या कटु यादगार जैसा था। अतः इसके लिये अलग शब्द का प्रयोग चल पड़ा था। महावैयाकरण पाणिनि ने सूचना दी है कि हवा रुकने के लिये 'निर्वातो वातः', पर दीपक बुझने के लिये 'निर्वाणः प्रदीपः' यह प्रयोग होता है[1]।

कभी हवा न चलने पर दीपक का सीधे जलते हुए बढ़िया प्रकाश करना एक सुखद अनुभूति थी। उपनिषद् आदि में इसका उपमालंकार से प्रयोग करते हुए मन की एकाग्रता को समझाया है। गीता में एक सुन्दर श्लोक इस प्रकार है–

> यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता।
> योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः। —भगवद्गीता ६.१६

अर्थात् जिस प्रकार वायुरहित स्थान में दीपक चलायमान नहीं होता, वही उपमा परमात्मा के ध्यान में लगे हुए एकाग्र चित्त की कही गई है।

इस छोटे से दीपक के बढ़िया जलने के लिये शीशे का उपयोग सीखने में मानव जाति को हजारों वर्ष बिताने पड़े हैं। हम आधुनिक जीवन में जिन्हें बहुत सामान्य वस्तु समझते हैं, उनके निर्माण में भी मनुष्य को कितना परिश्रम करना पड़ा है, इसका यह एक छोटा सा नमूना है! यों भारत सहित विश्व के अन्य भांगों में काँच की विविध वस्तुओं तथा शीशे के कलात्मक बर्तनों का प्रयोग अति प्राचीन काल से सीख लिया गया था। महाभारत के समय में स्वच्छ मणिभीय काँच (Crystal lens) से सूर्य किरणों को संघनित करके आग पैदा करने की विधि जान ली गई थी। इसे सूर्यकान्त या सूर्यकान्त मणि कहा जाता था[2]। दर्शन में इसके

१. निर्वाणोऽवाते। ———अष्टाध्यायी ८.२.५०

२. जातिः स्मृतिरयस्कान्तः सूर्यकान्तोऽम्बुभक्षणम्। —महाभारत, शान्तिपर्व १२.२१८.२६
सूर्यकान्तयोगादेव सूर्यरश्मयोऽग्निं सुवते, न पृथिव्यन्तरयोगात्, तद्वत्।
—उक्त श्लोक पर नीलकण्ठी टीका।

आधार पर गम्भीर शास्त्रार्थ[1] तथा काव्य में सुन्दर रचनाएँ की जाती रही हैं। महाकवि कालिदास ने एक सुन्दर श्लोक में कहा है कि ताडका को मारने वाले श्री राम ने मुनि से ऐसी चमकती ज्योति वाले हथियार प्राप्त किये, जैसी ज्योति सूर्य से किरणों को प्राप्त करके लकड़ी जला देने वाली सूर्यकान्त मणि से प्राप्त होती है[2]। सुनते हैं २४७ ईसा पूर्व में निर्मित विश्व के महान्तम आश्चर्यों में से एक सिकन्दरिया के प्रकाश–स्तम्भ में एक अतिविशाल काँच स्थापित किया गया था। इसे सुविधानुसार इस प्रकार मोड़ दिया जाता था कि इस पर पड़ने वाली सूर्य–किरणें संघनित होकर दूर से आने वाले शत्रु के जहाज पर प्रक्षिप्त हो सकें। इन प्रबल किरणों से जहाज में आग लग जाती थी तथा वह दूर ही जलकर नष्ट हो जाता था!!

इतने विशाल काँच के निर्माण के पश्चात् भी दीपक के छोटे से शीशे के लिये मानव जाति को अगले हजारों वर्षों तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। तब तक सामान्य लोगों में यह विश्वास था कि यह हवा दीपक बुझाने का काम करती है। अट्ठारहवीं शताब्दी के मध्य में फ्रांस के 'आर्गैण्ड' (Argand) आदि वैज्ञानिकों[3] के द्वारा शीशे के प्रयोग के पश्चात् यह जाना जा सका कि जो हवा आग बुझाने के लिये प्रसिद्ध थी वह तो आग का जीवन है! हवा से तो दीपक कभी–२ बुझता है। पर इसके बिना तो एक क्षण भी नहीं जल सकता! दीपक में शीशे की उपयोगिता यह है कि यह उसमें वायु के नियमित प्रवाह को बढ़ा देता है। शीशे के मध्य में वर्तमान वायु–स्तम्भ गर्म होकर हल्का हो जाता है। तब वह उतने ही बड़े निर्मित होने वाले घने ठण्डे वायु–स्तम्भ के द्वारा तुरन्त ही विस्थापित कर दिया जाता है। इस प्रकार उसमें ताजी हवा की नियमित आपूर्ति बढ़ जाने से दीपक बढ़िया चमकने लगता है।

इस शीशे के अभाव में हम लोग सामान्यतया यह सोचते हैं कि हवा से

---

१. सूर्यकान्त– मणि में अतिरिक्त शक्ति होने या न होने के सम्बन्ध में मीमांसा तथा न्याय में विस्तृत शास्त्रार्थ उनके ग्रन्थों में द्रष्टव्य है।

२. नैर्ऋतघ्नमथ मन्त्रवन्मुनेः प्रापदस्त्रमवदानतोषितात्।
ज्योतिरिन्धननिपाति भास्करात् सूर्यकान्त इव ताडकान्तकः।। —रघुवंश ११.२१

3. The lamps, however, in which the new oil was burnt remained quite primitive in construction, until Argand of France discovered a way of supplying air both inside and outside by means of hollow burner into which a tube shaped wick was fitted.
—Hermsworth popular science, London, Page. 2881.

दीपक बुझ गया। पर यह सही नहीं है। दीपक हवा से नहीं,अपितु स्वयं इसके ही दहन उत्पादों–जल वाष्प तथा कार्बन डाइ ऑक्साइड से बुझता है। ये उत्पाद अग्नि के लिये विष हैं। ये गर्म होने से हल्के होकर ऊपर उड़ते रहते हैं। पर तेज तथा अनियमित हवा के झोंके के प्रभाव से ये वापस लौट कर दीपक की लौ पर छा जाते हैं। तब ताजी हवा के अभाव में दीपक बुझ जाता है। घने जंगलों में लगी आग में ये उत्पाद उसे पूरी तरह नहीं ढक पाते। तब ताजी हवा इसे निरन्तर बढ़ाने में ही सहायता करती है। (वायुना धूयमानो हि वनं दहति पावकः–महाभारत)

किसी भी पदार्थ का ज्वलन वास्तव में वायु के एक घटक ऑक्सीजन का कमाल है। यह अत्यधिक ज्वलनशील गैस है। यदि वायु–मण्डल में केवल ऑक्सीजन होती तो विश्व के सभी पदार्थ जल जाते। इसके प्रभाव को कम करने के लिये हवा में लगभग ७६ प्रतिशत नाइट्रोजन गैस उपस्थित होती है। यह न तो साँस लेनें में सहायक है, न ही ज्वलनशील है। वातावरण में वर्तमान केवल २१ प्रतिशत ऑक्सीजन ही श्वसन तथा प्रत्येक प्रकार के ज्वलन में सहायक बनती है। दीपक में शीशा तथा भट्ठियों में चिमनी के द्वारा हम इसकी आपूर्ति में वृद्धि करके ही ज्वलन में वृद्धि कर पाते हैं।

दर्शनशास्त्र में 'वायु अग्नि का जीवन है' यह तथ्य सिद्धान्त रूप से जान लिया गया था। तभी उपनिषद् तथा वेदान्त में वांयु से अग्नि की उत्पत्ति को स्वीकार किया है[1]। अन्यत्र श्वसन से सम्बद्ध प्रसंगों में प्राणवायु को अग्नि या ऊष्मा ऊर्जा का कारण निरूपित किया है[2]। महाकवि कालिदास ने भी एक सुन्दर उक्ति में कहा है कि वायु अग्नि का प्रणोदक बने, इसके लिये उसे किसने आदेश दिया है[3]! अर्थात् इसका ज्वलन–सहकारी बनना तो इसका नैसर्गिक स्वभाव है।

ज्वलन की प्रक्रिया में उसका रूप तथा स्पर्श (दर्शन)– वायु के सहयोग से प्रदीप आदि के ज्वलन के समय इसका उद्भूत रूप तथा इसके साथ अनिवार्यतः इसका उद्भूत स्पर्श भी उपस्थित होता है। इसीलिये हम त्वचा से इसकी ऊष्मा का तथा साथ ही चक्षु से इसके चमकदार रंग का स्पष्ट अनुभव करते हैं। अन्य शास्त्रों तथा लोक में भी ज्वलन में इन दोनों गुणों का अनिवार्य सहभाव मानते हुए कभी पहले, कभी दूसरे तथा कभी दोनों के लिये 'ज्वलन' शब्द

---

१. तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः।
–तैत्तिरीय उपनिषद् २.१

२ एष ह वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणः। –जाबालोपनिषद्।
समीरणो नोदयिता भवेति व्यादिश्यते केन हुताशनस्य। –कुमारसम्भवम्।

का प्रयोग होता रहा है। महाभाष्य के एक उदाहरण में कहा है कि 'जिस प्रकार बढ़िया जलता हुआ दीपक घर को जलाता है'[१]। स्पष्टतः यहाँ 'ज्वलयति' का अर्थ 'प्रकाशित करना' है। लोक में भी उष्ण अर्थ वाले 'उज्ज्वल' शब्द से हिन्दी में निर्मित 'उजाला' शब्द चमकदार रूप अर्थ को प्रकट करता है।

ज्वलन के अभाव में तेजस् का कभी अनुद्भूत रूप तथा कभी अनुद्भूत स्पर्श भी होता है। चक्षु इन्द्रिय, प्रदीप प्रभा मण्डल आदि इसके उदाहरण हैं। इस दशा में ज्वलन नहीं होता।

इस विवेचन से प्रकट है कि जहाँ ज्वलन है, वहाँ उद्भूत रूप–स्पर्श का अनिवार्य सहभाव है। साथ ही यह भी सच है कि जहाँ उद्भूत–रूप, स्पर्श है वहाँ ज्वलन अवश्य है। केवल ज्वलन न होने की दशा में ही तेजस् का अनुद्भूत रूप स्पर्श रहता है।

ज्वलन की प्रक्रिया में उसका रूप तथा स्पर्श (विज्ञान)— सामान्य दैनिक जीवन में हम उद्भूत–रूप, स्पर्श के द्वारा 'ज्वलन' को जान पाते हैं। अतः इसे ही ज्वलन की पहचान मानते हुए इस विशेषता से ज्वलन को परिसीमित करते हैं। पर ज्वलन की प्रक्रिया को देखते हुए इसका अर्थ कहीं अधिक व्यापक है तथा यह ऑक्सीकरण (Oxidation) के समतुल्य है। किसी ज्वाला में ठीक उसी प्रकार ऑक्सीकरण होता है, जिस प्रकार श्वसन में या लोहे के जंग लगने इत्यादि में। अतः प्रक्रिया की समानता से अनुद्भूत स्पर्श होने पर भी इसे भी ज्वलन ही कहा जावेगा। इस प्रकार विज्ञान के अनुसार जहाँ ज्वलन है, वहाँ ऑक्सीकरण है, उद्भूत–स्पर्श हो या न हो। मोर्चा लगना आदि मन्दतर या मन्दतम ज्वलन है। यहाँ ज्वलन की डिग्री में अन्तर है, 'ज्वलन' के स्वरूप में नहीं। इसकी ऑक्सीकरण के साथ समतुल्यता स्पष्ट करने के लिये इस की वैज्ञानिक प्रक्रिया का संक्षेप से निरूपण करते हैं—

लकड़ी आदि की अग्नि की ज्वाला में ज्वलनशील पदार्थ के अणुओं के रासायनिक बन्धन अनियन्त्रित प्रक्रम से टूटते हैं। इनके टूटने से उन अणुओं के अन्दर छिपी ऊर्जा मुक्त होती है, जो कि हमें उद्भूत रूप स्पर्श या स्पष्ट प्रकाश तथा ऊष्मा के रूप में उपलब्ध होती है। इस प्रक्रिया में उस पदार्थ के कार्बन का एक परमाणु ऑक्सीजन के दो परमाणु के साथ मिलकर तीव्र गति से नए अणुओं

---

१. यथा प्रदीपः सुप्रज्वलित एकदेशस्थः सर्वं वेश्माभिज्वलयति।

—समर्थः पदविधिः—अ०सू०२.१.१. पर महाभाष्य

का निर्माण करते हैं, जिन्हें कार्बन डाइऑक्साइड (Carbon dioxide) कहा जाता है। यह वायु में मिल जाता है तथा शेष पदार्थ 'भस्म' के रूप में उपलब्ध होता है।

श्वसन में भी ठीक यही प्रक्रिया धीमी गति से चरितार्थ की जाती है। इस समय शरीर की विभिन्न कोशिकाओं में शर्करा या ग्लूकोज (glucose) के अणुओं का प्राण वायु में वर्तमान ऑक्सीजन की सहायता से विखण्डन होता है। इससे इन अणुओं में छिपी ऊर्जा हमें प्राप्त होती है तथा CO_2 तथा जल के रूप में अपशिष्ट पदार्थ निर्मित होते हैं, जिन्हें हम उच्छ्वास आदि उपायों से बाहर कर देते हैं। कोशिकाओं के एंजाइमों (Enzyme) के सहयोग से विहित इस प्रक्रिया में भी ग्लूकोज से ठीक उतनी ही ऊर्जा हमें धीमी गति से प्राप्त होती है जितनी इसके जलाने से हमें अति तीव्र गति से प्राप्त होती। महान् वैज्ञानिक अर्नेस्ट बोरेक के शब्दों में– 'हमारा सौभाग्य है कि एंजाइम यह काम इस तरह करते हैं, वर्ना डट कर भोजन करने के पश्चात् हम धुँआ बनकर उड़ जाते!! (परमाणु और जीवन पृ. १५)

बाहरी दुनियाँ में किसी पेंट (paint) के सूख कर पपड़ी छोड़ने में या लोहे में मोर्चा लगने आदि में ठीक यही प्रक्रिया और भी धीमी गति से सम्पन्न होती है। इसमें ऑक्सीजन के सहयोग से निर्मित अपशिष्ट पदार्थ के रूप में पपड़ी प्राप्त होती है। यहाँ भी उसी प्रकार अणुओं के टूटने से ऊष्मा ऊर्जा मुक्त होती है। यह ऊर्जा इतनी कम होती है कि यह तत्काल वातावरण में विकीर्ण हो जाती है तथा संघनित होकर हमें प्रभावित नहीं कर पाती। अतः हम इसकी ऊष्मा का अनुभव नहीं कर सकते। यह भी उसी प्रक्रिया द्वारा सम्पादित होने से ज्वलन का ही एक प्रकार है, जिसे हम मन्दतम ज्वलन के अन्तर्गत रख सकते हैं[1]।

प्रस्तुत विवेचन से प्रकट है कि ज्वलन की प्रक्रिया में उद्भूत रूप स्पर्श का नहीं, अपितु ऑक्सीकरण का होना अनिवार्य है। इससे प्रत्येक ज्वलन में ऑक्सीजन का सहयोग सिद्ध होता है।

इसके साथ ही अब यह भी सिद्ध हो चुका है कि उद्भूत रूप स्पर्श के लिये प्रस्तुत प्रकार का ज्वलन अनिवार्य नहीं है। आधुनिक युग में विद्युत् ऊर्जा के अनेकानेक प्रयोगों के प्रचलित होने पर बढ़िया चमकदार प्रकाश के लिये ज्वलन पर निर्भरता समाप्त हो चुकी है। आज विद्युत् बल्बों के द्वारा पूर्वोक्त से भिन्न प्रकार से प्रकाश प्राप्त किया जाता है। बल्ब के नन्हें पतले तार में मुक्त एलेक्ट्रोनों के अणुओं के साथ घर्षण से ऊष्मा तथा प्रकाश ऊर्जा विनिर्मुक्त होती है। इसके लिये

---

1. Rusting is very slow kind of burning, so slow that you can't even feel the heat being given off. —Tell me why, Page 340

बल्ब में से ऑक्सीजन को सर्वथा निकाल कर उसमें कुछ निष्क्रिय गैसें भर दी जाती हैं। यदि इसमें ऑक्सीजन बनी रहने दी जावे तो इस भयंकर घर्षण के समय बल्ब का यह नन्हाँ तार तुरत जल कर भस्म हो जावेगा, उसके चमकने का तो प्रश्न ही क्या ! इससे सर्वथा स्पष्ट है कि बल्ब के अन्दर ऑक्सीकरण रूपी जलना नहीं होता। फिर भी चमकना तो होता ही है। अतः सिद्ध है कि चमकने के लिये वस्तु में पूर्वोक्त पारिभाषिक 'ज्वलन' आवश्यक नहीं है।

आज कल हम लोग 'दीपक जलना' जैसे प्रयोगों से अभ्यस्त होकर 'बल्ब जलना' ऐसा कहते हैं। पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार यह सही प्रयोग नहीं है। आज दीपक के बढ़िया ज्वलन तथा बल्ब की खूबसूरत चमक के युग में तो सच यह है कि दीपक जल गया तथा बल्ब चमक गया!!

६. हवा कैसे भागती है!

(वायु का गति–विज्ञान)

हमारे दैनिक जीवन में हवा का चलना अत्यन्त स्वाभाविक या सामान्य प्रक्रिया है। पर कभी इसके आँधी का रूप ले लेने पर हम यह सोचने को विवश होते हैं कि यह किन कारणों से इतना तेज भागती है। अतिप्राचीन काल से ही लोगों को इसके अतितीव्र भागने का अनुभव रहा है। अतः अनेक वैदिक वचनों में इसे अति शीघ्रगामी देवता बताया है[1] तथा लोक में वायु–वेग, पवन–वेग, वात–रंहस् जैसे शब्दों के प्रयोग से इसके वेग को प्रकट किया जाता रहा है।

प्राचीन काल से ही इस वेग के कारणों को भी खोजा जाता रहा है। तैत्तिरीय उपनिषद् का कहना है कि उस महान् शक्तिशाली के डर से ही सूर्य का उदय होता है तथा उसके डर से ही हवा चलती है[2]।

इसे हम किसी सीमा तक काव्यात्मक वचन मान सकते हैं। दर्शन शास्त्र में इस पर अधिक गम्भीरता से विवरण उपलब्ध होता है। भारत में भौतिक विज्ञान के जनक महर्षि कणाद का कहना है कि अणु तथा मनस् की आद्य गति तथा वायु की तिर्यग्गति 'अदृष्ट' द्वारा होती है[3]। उनका मानना है कि अणु आदि में बाद वाली गति तो 'वेग' नामक गुण के कारण सम्पन्न होती है। पर इनकी सबसे पहले वाली गति तथा वायु की तिर्यग्गति ऐसे अदृष्ट कारण से होती है, जिसे हम नहीं देख या जान सकते[4]। इस प्रकार कणाद का मानना है कि इनकी गति निष्कारण तो नहीं है। पर इसके कारण ढूँढ़ने में कठिनाई है।

दर्शनशास्त्र में गतिविषयक सिद्धान्त– वायु की गति–विषयक कठिनाइयों या समस्याओं को समझने के लिये दर्शनशास्त्र के गति के कुछ सिद्धान्तों का निरूपण आवश्यक है। ये सिद्धान्त क्रमबद्ध रूप से नहीं कहे गए हैं। पर अनेक

---

१. वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता। —तैत्तिरीय संहिता २.१.१.१.

२. भीषाऽस्मात् पवते वायुः, भीषोदेति सूर्यः। —तैत्तिरीय उपनिषद् २.८.१

३. अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक्पवनम् अणूनां मनसश्चाद्यं कर्मादृष्टकारितम्। — वैशेषिक सूत्र ५.२.१३

४. वैशेषिक. में न + दृष्ट' इस. विग्रह के अनुसार 'नहीं देखा गया' यह 'अदृष्ट' शब्द का मौलिक अर्थ हो सकता है। यद्यपि पारिभाषिक रूप से इसका 'धर्म – अधर्म' अर्थ स्वीकार किया जाता है।

प्रसंगों में प्राप्त अलग–२ विवेचनों के आधार परं इन्हें इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है–

१. किसी भी पिण्ड में गति सकारण होती है, पर स्थिरता स्वाभाविक होती है। पिण्ड में उत्पन्न कोई भी गति चौथे क्षण उस पिण्ड में उत्तर–देश–संयोग' उत्पन्न करके पाँचवें क्षण उस 'संयोग' द्वारा अनिवार्यतः नष्ट हो जाती है। गति का यह फल तथा इस फल से गति का विनाश अवश्यंभावी है। यह किसी भी गति या क्रिया की सामान्य विशेषता है[1]। कभी–२ यह गति वेग को उत्पन्न करती है तथा यह वेग बार–२ नई–नई क्रियाएँ उत्पन्न करता है। यह गतिशील पिण्ड के अन्य–२ देश–संयोग से ज्ञात होता है[2]। पर यह वेग भी अन्त में किसी विशेष क्षण से अवच्छिन्न काल के द्वारा नष्ट हो जाता है, तब क्रिया भी विनष्ट हो जाती है। इस प्रकार प्रत्येक गतिशील पिण्ड की स्थिरता की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति है तथा इसके स्थिर बने रहने के लिये किसी अतिरिक्त कारण की आवश्यकता नहीं है।

२. किसी भी पिण्ड को गतिशील बनाने के लिये बाहरी बल लगाना पड़ता है। दर्शनशास्त्र में 'बल' नामक कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है। अतः हम यहाँ इसके समकक्ष आत्मनिष्ठ प्रयत्न या 'तेजस्' का प्रयोग कर सकते हैं। किसी पिण्ड में कोई क्रिया हाथ की क्रिया से तथा यह क्रिया 'प्रयत्न' गुण वाले आत्मा के तेजोविशिष्ट हाथ के साथ संयोग से उत्पन्न होती है। किसी गेंद को दूर फेंकने में तेजस् द्रव्य, प्रयत्न नामक गुण[3] तथा किसी पेड़ से फल के नीचे गिरने में उस फल का वृक्ष से संयोगाभाव तथा फल में वर्तमान 'गुरुत्व' गुण कारण होता है[4]। इस प्रकार किसी भी क्रिया के लिये किसी बाहरी कारण का प्रयोग अत्यावश्यक होता है। पिण्ड को क्रियाशील देख कर हम इन कारणों का अनुमान कर सकते हैं। पर इसकी स्थिरता की दशा में हम किसी बाहरी बल के कार्यशील होने की

---

१. स्वकार्य– संयोगविरोधित्वम् – प्रशस्तपादभाष्य, कर्मनिरूपण पृ. ६६७। अर्थात् अपने द्वारा उत्पन्न संयोग से विनष्ट होना किसी भी क्रिया की विशेषता है।

२. इषावयुगंपत् संयोगविशेषाः कर्मान्यत्वे हेतुः (वैशेषिक सूत्र ५.१.१६) कर्मोत्पत्तिरथ विभागः, अथ पूर्वसंयोगनाशः, उत्तरसंयोगः, कर्मनाशः। तेनायुगपत् संयोगविशेषा कर्मनानात्वज्ञापकाः।
——उक्त सूत्र पर उपस्कार।

३. तथा हस्तसंयोगाच्च मुसले कर्म (वैशेषिक सूत्र ५.१.२) अत्र च प्रयत्नवदात्मसंयुक्तेन हस्तेन मुसलस्य संयोगोऽसमवायिकारणम्, मुसलं समवायिकारणम्।——उक्त सूत्र पर उपस्कार।

४. संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् (वै०सू० ५.१.७)

कल्पना नहीं कर सकते[1]। अतः स्पष्ट है कि पिण्ड की स्थिर दशा में उस पर प्रत्येक बल शून्य होता है तथा यह बाहरी अतिरिक्त बल से गतिशील होता है।

३. किसी भी ऊपर फेंके गए पिण्ड के ऊपर जाते-२ वायु आदि के प्रतिबन्ध से उसका वेग नामक संस्कार तथा क्रिया अन्ततः नष्ट हो जाती है। तब वह ऊपर स्थिरता को प्राप्त हो जाता है। पर इस स्थिरता के समकाल ही पिण्ड में वर्तमान गुरुत्व के द्वारा अगले क्षण इसमें विपरीत दिशा की ओर क्रिया उत्पन्न हो जाती है तथा इसके पश्चात् वेग से पुनः क्रिया उत्पन्न होकर वह नीचे आ जाता है[2]।

ये ऊपर उठना, नीचे गिरना (उत्क्षेपण, अवक्षेपण) जैसी क्रियाएँ सीधी दिशा में प्रवृत्त होती हैं। वेग बने रहने तक हाथ से फेंके गए बाण आदि इसके उदाहरण हैं। इनसे स्पष्ट है कि यदि कोई अतिरिक्त बल न लगाया जावे तो ये क्रियाएँ सीधी दिशा का ही अनुसरण करती हैं। बहते पानी आदि में रास्ता रोक कर अर्थात् अतिरिक्त बल लगाकर इनकी दिशा बदली जा सकती है।

प्रस्तुत सिद्धान्तों से वायु के गति-निरूपण में समस्याएँ— दर्शन में इन समस्याओं का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं है। हम केवल संकेत से यह जान सकते हैं कि दार्शनिकों को इनका अनुभव अवश्य होता रहा है। कुछ समस्याएँ इस प्रकार हैं—

१. किसी द्रव्य में स्थिरता की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति होते रहने पर भी आकाश में विशाल ग्रह, नक्षत्रादि किस प्रकार सदा चलते रहते हैं। खगोल शास्त्र के ग्रन्थों में इनके चलाने के लिये एक विशेष 'प्रवह' वायु की परिकल्पना की गई है[3]। पर इस पर भी प्रश्न है कि यह वायु क्यों सदा चलती रहती है, रुक क्यों नहीं जाती।

१. महर्षि कणाद के समय (लगभग ईसा पूर्व चौथी शताब्दी) में पिण्ड की स्वाभाविक स्थिरता तथा उसे गतिशील बनाए रखने के लिये बाहरी बल की आवश्यकता आदि विचार विश्व में प्रचलित थे। उस समय महान् दार्शनिक अरस्तू (384-322 B.C.) ऐसे ही विचार रखते थे। रोचक तुलना के लिये द्रष्टव्य है उनके विचार—

In the opinion of the philosopher, Aristotle, the natural state of a body is rest, of course, with respect to the earth. Every displacement of a body with respect to the earth must have a cause- a force. But if there is nothing causing a body to keep moving, it must hall, return to its natural state.

——Physics for every one, L.D. Landau, Book 1, Page 42.

२. संस्काराभावे गुरुत्वात् पतनम्। —वै०सू० ५.२.१८

३. भारत के महान् ज्योतिषी आर्यभट ने ४९९ ई. में अपने आर्यभटीय नामक ग्रन्थ में सबसे पहले यह बताया कि वास्तव में तारामण्डल स्थिर है तथा यह पृथिवी अपनी धुरी पर चक्कर लगाती है। तो भी जिस प्रकार नाव में बैठा मनुष्य तट की अचल वस्तुओं को उल्टी दिशा में जाता हुआ अनुभव करता है, उसी प्रकार पृथिवी पर बैठा मनुष्य तारामण्डल को 'प्रवह'

२. अन्य पिण्डों के समान स्थिर वायु को भी गतिशील बनाने के लिये बाहरी बल का प्रयोग आवश्यक है। पर आँधी आदि के चलते समय किसी बाहरी बल को प्रयुक्त होते हुए नहीं देखा जाता। अतः प्रश्न है कि यह किन कारणों से बार–२ गतिशील हो उठती है।

३. यदि परस्पर प्रतिघात से कोई वायु ऊपर चली गई[1] तो वह गतिशील होकर नीचे किस प्रकार आ सकती है। क्योंकि किसी भी क्रिया की उत्पत्ति के लिये ४ गुण ही कारण होते हैं[2]। जल में क्रिया के लिये द्रवत्व तथा चेतन में क्रिया के लिये प्रयत्न कारण होते हैं। इनसे भिन्न वायु को ऊपर से नीचे की ओर गतिशील बनाने के दो ही साधन हैं– या तो ऊपर से किसी अन्य बलशाली क्रियाशील पदार्थ का इसके साथ संयोग हो अर्थात् ऐसे पदार्थ की वायु के साथ टक्कर हो अथवा गुरुत्व के द्वारा इसमें नवीन क्रिया उत्पन्न हो। पर वायु में कोई भी अधः प्रेरक पिण्ड के साथ संयोग दृश्य नहीं है तथा दर्शन के अनुसार वायु में गुरुत्व भी स्वीकृत नहीं है। अतः प्रश्न है कि इनका अवक्षेपण किस प्रकार सम्भव होता है।

वायु द्वारा पूर्व से पश्चिम की ओर भगाया जाता हुआ अनुभव करता है। श्लोक इस प्रकार है–

अनुलोमगतिर्नौस्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत्।

अचलानि भानि तद्वत् समपश्चिमगानि लंकायाम्।

उदयास्तमयनिमित्तं प्रवहेण वायुना क्षिप्तः।

लंकासमपश्चिमगो भपंजरः सग्रहो भ्रमति। —आर्यभटीय गोलपाद श्लोक ९–१०

इससे प्रकट है कि अन्य ज्योतिषी पृथ्वी को स्थिर तथा 'प्रवह' वायु से तारामण्डल को चलता हुआ मानते थे। पर आर्यभट इसका प्रतिषेध करते थे। फिर भी भारत में अगले सैकड़ों वर्षों तक अनेक समस्याओं के कारण प्रवह वायु की अमान्यता का सिद्धान्त तथा भूभ्रमण सिद्धान्त स्थापित नहीं हो पाया। एक समस्या का विवरण ऊपर दिया गया है। इसीलिये वराहमिहिर (५००–५५०), भास्कराचार्य (जन्म १११४ ई.) आदि अनेक ज्योतिषियों ने नक्षत्रों को चलाने के लिये प्रवह वायु की स्थापना की तथा भूभ्रमण का विरोध किया। आर्यभट के लगभग १ हजार वर्ष पश्चात् कोपर्निकस (१४७३–१५४३ ई.) ने भूभ्रमण को पूरी स्पष्टता के साथ सुस्थापित किया।

१. वैशेषिक सूत्र २.१.१४ में दो विरोधी दिशाओं से आने वाली वायु की टक्कर से उसके ऊर्ध्वगमन का वर्णन है।

२. गुरुत्व– द्रवत्व– प्रयत्न– संयोगजत्वं कर्मत्वम्– प्रशस्तपादभाष्य, कर्मनिरूपण पृ. ६९७। इसके अनुसार गुरुत्व, द्रवत्व, प्रयत्न तथा क्रियाशील पिण्ड के संयोग– इन चार गुणों से ही किसी अन्य पिण्ड में कोई क्रिया उत्पन्न होती है।

अन्य उदाहरण में मान लीजिये वायु अपने वेग नामक संस्कार से गति कर रही है। इस परिस्थिति में उसे अपनी दिशा नहीं बदलनी चाहिये। जैसा कि ऊपर कहा गया– पृथिवी, जल में कोई क्रियाजनक वेग सीधी दिशा में ही क्रिया उत्पन्न करने का कारण देखा गया है। यदि एक ही वेग विपरीत दिशा में भी क्रिया का कारण हो तब तो ऊपर फेंकी गई गेंद उसी पहले वेग से नीचे भी आ सकेगी। तब ऊपर से नीचे लाने के लिये गुरुत्व गुण तथा उसके द्वारा नवीन क्रिया तथा नवीन वेग की उत्पत्ति मानने की आवश्यकता क्यों होती है। इससे सिद्ध है कि एक ही वेग विपरीत दिशा में क्रिया का हेतु नहीं हो सकता। ऐसी दशा में प्रश्न बना ही रहता है कि वायु की तिर्यग्गति किस प्रकार सम्भव होती है।

स्पष्टतः इन्हीं समस्याओं के कारण वैशेषिक तथा इसके पश्चात् भी वायु की तिर्यग्गति का 'अदृष्ट' कारण माना है। प्रशस्तपादभाष्य का कहना है कि जो कार्य जीवों के उपकार तथा अपकार को प्रभावित करे पर उसका कारण प्रत्यक्ष या अनुमान से देखा न जा सके, उसे अदृष्ट से उत्पन्न माना जाता है[1]। वायु की तिर्यग्गति आदि इसी प्रकार के हैं।

आधुनिक विज्ञान के द्वारा प्रस्तुत समस्याओं का समाधान– १. महान् वैज्ञानिक न्यूटन ने अपने जड़त्व–नियम द्वारा यह सिद्ध किया है कि कोई भी पिण्ड यदि वह स्थिर अवस्था में है तो उसी अवस्था में रहेगा तथा यदि वह चल रहा है तो उसी दिशा में उसी वेग से चलता रहेगा, यदि उसमें कोई बाहरी बल न लगाया जाय[2]। इस सिद्धान्त से प्रकट है कि स्थिर पिण्ड में स्थिरता के साथ–२ गतिशील पिण्ड में गतिशीलता भी उस वस्तु का स्वाभाविक गुण है। किसी कारण से कुछ समय के लिये आरोपित नहीं– जैसा कि प्राचीन विद्वान् सोचते थे। वस्तुतः विश्व के किसी भी गतिशील पिण्ड में जड़त्व के अनुसार समान वेग से चलते रहने की अद्भुत क्षमता है[3]। इस प्रकार किसी गतिशील पिण्ड की क्रिया उस पिण्ड का स्वरूप है। उसे बनाए रखने के लिये किसी बाहरी कारण खोजने की आवश्यकता नहीं[4]।

१. यत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यामनुपलभ्यमानकारणमुपकारापकारसमर्थं च भवति तदप्यदृष्टकारितम्।
—प्रशस्तपादभाष्य, कर्मनिरूपण पृ. ७४०

2. An object in motion tends to remain in motion in a straight line unless acted upon some outside force. ----- Newton's first law of motion.

3. Inertia is an inalienable property of each particle in the universe.
----------Physics for every one, Page 45.

4. You cannot separate matter and motion. Motion, said Engels, is the mode of existence of matter. —Dialectical materialism, Page 36.

वस्तुतः इसीलिये आकाश में किसी प्रतिबन्धक के अभाव में गतिशील ग्रह, नक्षत्रादि किसी 'प्रवह' की सहायता के बिना ही निरन्तर गतिशील रहते हैं।

२. पर सामान्य दैनिक जीवन में हम सदा यह देखते हैं कि किसी पिण्ड को गतिशील बनाने के लिये निरन्तर अतिरिक्त बल का प्रयोग करना पड़ता है। यह अतिरिक्त बल वस्तुतः उसे निरन्तर गतिशील बनाए रखने के लिये नहीं, अपितु प्रतिबन्धक बल के निवारण के लिये लगाना पड़ता है।

किसी पिण्ड की स्थिर दशा में भी उस पर अनेक बल कार्यशील होते हैं। फिर भी उनसे कार्य उपलब्ध नहीं होता। क्योंकि उनका परिणामी बल शून्य होता है। किसी मैदान पर पड़ी हुई गेंद में प्रयुक्त पृथिवी का गुरुत्वाकर्षण बल गेंद को ऊपर उठंने से रोकता है। पृथ्वी के अणुओं का आपसी अन्तराणविक बल गेंद का प्रतिकर्षण करते हुए उसे नीचे नहीं धँसने देता। अगर कोई भारी गेंद किसी लचीली वस्तु में धँसती है तो मानना होगा कि गुरुत्व बल ने उस सीमा तक प्रतिकर्षण बल पर विजय प्राप्त की है[1]। परन्तु सभी उदाहरणों में जहाँ गेंद स्थिरता प्राप्त करती है वहाँ इन बलों का सन्तुलन (equilibrium) रहता है। यहाँ प्राचीन विद्वानों का कहना है कि किसी क्रिया न होने से बल का प्रयोग शून्य है। पर न्यूटन का गति–विज्ञान बताता है कि यहाँ वास्तव में परिणामी बल (resultant force) का प्रयोग शून्य है[2]। इस प्रकांर यह सर्वथा सम्भव है कि बल रहते हुए भी कोई कार्य न हो।

इस दशा में किसी स्थिर पिण्ड को गतिशील बनाने के लिये यह आवश्यक है कि इसके परिणामी बल को बढ़ा दिया जाय अथवा बलों के सन्तुलन को भंग कर दिया जाय। यह कार्य अनेक प्रकार से हो सकता है। या तो पिण्ड में धक्का देकर घर्षण बल के विरोध में उससे अधिक यान्त्रिक बल प्रयुक्त कर दिया जाय। तब वह गेंद आगे भागने लगेगी। अथवा गड्ढा खोदकर पृथ्वी की ऊपरी सतह के अणुओं द्वारा गेंद पर लगने वाले प्रतिकर्षण बल को हटा दिया जाय। तब नीचे की सतह का गुरुत्वीय बल स्वतः कार्यशील हो उठेगा तथा उससे गेंद नीचे गिरने लगेगी। इस प्रकार स्पष्ट है कि किसी विरोधी बल को बढ़ा कर अथवा अन्य विरोधी बल को घटा कर भी गेंद को गतिशील बनाया जा सकता है।

---

1. When compressing bodies, we overcome the forces of repulsion of molecules. —Physics, Page 74.
2. If two equal forces opposite in directions are acting on a body, then the resultant of the forces is equal to zero. —Physics, Page 68.

वायु की गतिशीलता के लिये किसी बाहरी बल से वायु को धक्का देने वाला पहला उपाय नहीं, अपितु दूसरा उपाय काम में लाया जाता है। इस उपाय से किसी स्थान–विशेष की वायु के घनत्व या दबाव कम करते हुए इनके पारस्परिक दबाव के सन्तुलन को अथवा किसी क्षेत्रविशेष (area) में आपसी गैसीय बलों के सन्तुलन को भंग कर दिया जाता है। यह कार्य सूर्य के द्वारा सम्पन्न होता है। सूर्य अपनी भयंकर ऊष्मा से वायु को गर्म क़रके इसके घनत्व को कम बनाता है। इससे वायु हल्की होकर ऊपर उठती है। तब इस स्थान में वायु के लिये जगह खाली होने पर इस सतह का गुरुत्वीय बल तुरन्त अन्य स्थान की घनी वायु को अपनी ओर खींचता है। इससे वह घनी वायु गतिशील होकर शीघ्रता से वहाँ पहुँचती है। वायुदाब जितना कम होता है, उतनी ही तीव्र गति से वायु अन्य स्थान से आकर उस स्थान को भरती है। इस प्रक्रिया को हम दैनिक जीवन में आँधी, तूफ़ान कह कर पुकारते हैं।

चक्रवात आदि में २००–३०० किलोमीटर प्रति घण्टा चलने वाली महाभयंकर आँधी इस सूर्य की ऊष्मा का ही परिणाम है। अतः इस परिच्छेद के प्रारम्भ में उल्लिखित उपनिषद् के अनुसार यदि यह कहें कि ऐसी भयंकर हवा किसी के डर से चलती है तो विज्ञान के अनुसार यह मानना होगा कि यह डर सूर्य का ही है!!

३. प्रस्तुत विवेचन से वायु की तिर्यग्गति की भी व्याख्या की जा सकती है। इस विस्तृत वातावरण में वर्तमान वायु में ऊष्मा का असमान वितरण होता है। अतः कोई भी छोटा से छोटा वायुखण्ड भी अन्य वायुखण्ड की ऊष्मा तथा उस से जनित विरलता से प्रभावित होकर गुरुत्व बल द्वारा उस ओर मुड़ सकता है। जल आदि की अपेक्षा वायु में घनत्व बहुत कम होने से इसमें किंचित् गुरुत्व बल भी प्रभावित कर देता है। वेग द्वारा सीधी दिशा में गति सम्पन्न होती है। पर प्रतिबन्ध होने पर उसका मुड़ना प्राचीन विद्वानों को भी मान्य है ही। यहाँ असमान वितरित ऊष्मा के द्वारा विविध वायुखण्डों पर लगने वाले असमान बलों का प्रभाव ही सीधी दिशा में चलने के लिये प्रतिबन्ध है। इस दशा में वायु का हर समय दिशा बदलना अत्यन्त स्वाभाविक है[1]।

---

१. सांख्य दर्शन में प्रकृति के विविध गुणों की विषमता से क्रिया तथा नवीन पदार्थों का आविर्भाव माना गया है। द्रष्टव्य–'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। प्रकृतेर्महान्......' –सांख्य सूत्र तथा सांख्यकारिका श्लोक १६ इत्यादि।
प्रस्तुत प्रसंग के द्वारा परिणामी बलों के असन्तुलन से वायु की तिर्यग्गति की सुन्दर व्याख्या की जा सकती है।

७. चिड़िया कैसे उड़ती है तथा चाँद कैसे टिकता है

(वायु का विधारकत्व तथा निर्वात में ग्रहों का प्रतिष्ठितत्व)

अति प्राचीन काल से पक्षी का उड़ना लोगों में कुतूहल का विषय रहा है। इनके समान पंख लगा कर उड़ने की इच्छा भी बलवती रही है। 'विमान' जैसे शब्द इसी भावना को प्रकट करते हैं। इसका मौलिक अर्थ 'पक्षी के समान आकार धारण करना' यह है। साथ ही ग्रहों के आकाश में टिकने को सनातन आश्चर्य का विषय माना जाता रहा है। महाभाष्य में एक उद्धरण का अर्थ यह है कि 'गजब है कि कहीं से भी न बंधे हुए ये नक्षत्र गिरते नहीं'!![1] अथर्ववेद में सूर्य, चन्द्र तथा वायु आदि की अवस्थिति या आधार के लिये किसी 'खम्भे' के विषय में पूछा गया है[2]। बाइबिल आदि धर्मग्रन्थों में भी ईश्वर के विशाल खम्भों की परिकल्पना की गई है[3]।

दर्शनशास्त्र में इन घटनाओं के कारणों पर निरन्तर विचार किया जाता रहा है। इसके अनुसार विविध वस्तुओं में इन घटनाओं के अलग–२ कारण होते हैं। इन्हें क्रमशः इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है–

ऊपर उड़ने या नीचे न गिरने के विविध कारण (दर्शन)

१. पत्ता, रुई, विमान आदि का उड़ना– पत्ता आदि जो जड़ पदार्थ आकाश में लगभग स्थिर जैसे उपलब्ध होते हैं, उनके धारण कर्म में वेग–पूर्ण वायु–संयोग कारण होता है[4]। इस प्रकार आकाश में वायु–संयोग ही इनका विधारक बनता है। दर्शन में नियम है कि वेग या प्रयत्न गुण से विहीन पदार्थ किसी विधारक के बिना आकाश में टिक नहीं सकते। अपितु ये स्पर्श वाले किसी द्रव्य में ही अवस्थित हो सकते हैं। आकाश में उड़ने वाले पत्ते का पृथिवी, जल, तेज विधारक नहीं होते। अतः इनसे भिन्न स्पर्श वाला वेगपूर्ण वायु द्रव्य ही इनका

---

१. आश्चर्यमन्तरिक्षेऽबन्धनानि नक्षत्राणि न पतन्ति– अष्टाध्यायी ६.३.१४७ सूत्र पर महाभाष्यकार ने इसे सदा बने रहने वाले आश्चर्य के रूप में उद्धृत किया है।

२. यत्राग्निश्चन्द्रमा सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यर्पिताः।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ।। —अथर्व १०.७.१२

3. For the pillars of the earth are the lord's, and he hath set the world upon them.
—Holy Bible-Samuel 1.2.8

४. तृणे कर्म वायु–संयोगात्। – वैशेषिक सूत्र ५.१.१४

विधारक सिद्ध होता है[१]। यही विधारकत्व वायु का अनुमापक भी बनता है[२]।

दर्शन के अन्य विद्वानों का मानना है कि तिनका, रुई, आकाशीय बिजली, विमान आदि वेगपूर्ण वायु में ही टिक सकते हैं। उनका अनुमान प्रयोग यह है कि जो द्रव्य हम लोगों के प्रयत्न आदि से उठाए गए न हों, वे अवश्य ही स्पर्श वाले तथा वेग वाले द्रव्य द्वारा विधारित किये जाते हैं। तिनका आदि उठाने में हम लोगों के विधारक न बनने की स्थिति में वायु ही इनका विधारक सिद्ध होती है[३]।

२. पक्षी का उड़ना– पक्षी आदि चेतन प्राणियों के उड़ने में अथवा नीचे न गिरने में उनका विधारक प्रयत्न कारण होता है[४]। पक्षी उड़ते समय अपने पंखों को फैला लेते हैं। यह कार्य उनके आत्मनिष्ठ प्रयत्न से सम्भव होता है। अतः यहाँ इस प्रयत्न को कारण कहा गया है। इस प्रयत्न द्वारा वायु–संयोग न होने पर भी पक्षियों का उड़ना सम्भव हो सकता है[५]।

३. गतिशील बाण का नीचे न गिरना– फेंके गए बाण आदि के नीचे न गिरने देने में गति से उत्पन्न वेग नामक संस्कार प्रतिबन्धक हेतु होता है। इसीलिये वे इस वेग के क्षीण होने पर अपने गुरुत्व के द्वारा नीचे गिर पड़ते हैं[६]।

४. पृथिवी तथा अन्य ग्रहों का नीचे न गिरना– इनके नीचे न गिरने में प्रयत्न गुण वाले ईश्वर का संयोग कारण होता है[७]।

---

१. तृणे कर्म वायु– संयोगादिति वचनात् वायौ संस्कारो दर्शितः। वेग– रहित– द्रव्य– संयोगस्य कर्महेतुत्वानुपलम्भात्। —प्रशस्तपादभाष्य, कन्दली, वायु–प्रकरण, पृ. ११२

२. पर्णादीनां धृतिरवस्थितिः स्पर्शवद्द्रव्य– संयोगकार्या, प्रयत्नवेगादिकारणाभावे सति धृतित्वाज्जलोपरि स्थितपर्णादिवत्। —वही पृ. ११७

३. नभसि तृणतूलस्तनयित्नुविमानादीनां धृतिः स्पर्शवद्वेगवद्द्रव्य– संयोगहेतुका अस्मदाद्यनधिष्ठित द्रव्यधृतित्वात् नौकाधृतिवत्। —मुक्तावली प्रत्यक्षखण्ड वायुनिरूपण में दिनकरी पृ. १३८,

४. विहंगमादौ तु विधारकः प्रयत्नः पतनप्रतिबन्धकः। —वैशेषिक सूत्र ५.१.७ पर उपस्कार।

५. टिप्पणी नं. २ में उल्लिखित अनुमान की व्याख्या में कन्दली में कहा है कि बाण तथा पक्षियों की आकाश में स्थिति में 'स्पर्शवद्द्रव्य– संयोग– कार्यत्व' अर्थात् स्पर्श वाले वायु–संयोग के निवारण के लिये उस अनुमान में 'प्रयत्नवेगादि– कारणाभावे' यह कहा है। द्रष्टव्य– 'इषोः पक्षिणाञ्च स्थिति– व्यवच्छेदार्थं प्रयत्नादिकारणाभावः'—कन्दली, वायु–प्रकरण, पृ. ११७

६. संस्काराभावे गुरुत्वात् पतनम् —वैशेषिक सूत्र ५.१.१८ तथा काण्डादौ क्षिप्ते संस्कार एवं पतनप्रतिबन्धकः। वै०सूत्र ५.१.७ पर उपस्कार।

७. प्रयत्नवदीश्वर– संयोगात् प्रतिबन्धादेव भूरादिलोकानां न पतनम्—वै.सू.५.१.७ पर विवृति।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि दर्शन–शास्त्र के अनुसार ईश्वर–संयोग तो हर घटना का साधारण कारण होता है। पर उसके साथ ही कोई विशेष भौतिक कारण भी अवश्य होता है। दर्शन में प्रायः सर्वत्र ऐसे कारणों की खोज तथा उनका निरूपण किया जाता है। पर यहाँ ऐसे किसी विशेष कारण का उल्लेख न करते हुए ईश्वर–संयोग को ही कारण मान लिया गया है। यहाँ पूर्वोक्त गति अथवा वेग को भी ग्रहों के पतन के प्रतिबन्ध में हेतु नहीं बताया है। क्योंकि दर्शन में इसके निरूपण में भी अनेक बाधाएँ उपस्थित थीं। दर्शन में इन समस्याओं का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। अनेक प्रसंगों के अनुशीलन के आधार पर इन्हें इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है–

ग्रहों के अपतन के निरूपण में अनेक समस्याएँ–

I किसी भी ऊपर फेंके गए पिण्ड में क्षणिक क्रिया तथा स्थायी गुरुत्व होता है। अतः किसी पिण्ड की गति पर उसका गुरुत्व अनिवार्यतः विजय प्राप्त करते हुए उसे नीचे ले आता है। ऊपर रहने वाले ग्रह के साथ भी ऐसा ही होना चाहिये। थोड़ी देर के लिये मान भी लें कि उसकी गति से उसका पतन बाधित होता है, तो भी उस गति को धीरे–२ क्षीण होना चाहिये तथा अन्त में इस ग्रह को नीचे आ जाना चाहिये। ऐसा क्यों नहीं होता?

II गुरुत्व सदा एकल होता है। ईसा की चौथी शताब्दी में महान् दार्शनिक प्रशस्तपाद ने कहा कि यह गुरुत्व गिरने वाले पिण्ड में समवाय या अनिवार्य सम्बन्ध से अवस्थित होता है तथा यही इसके धरती या जल में गिरने का कारण होता है[1]। अतः प्रश्न है कि ऊपर दिखने वाले ग्रह अपने गुरुत्व के प्रभाव से पृथ्वी पर क्यों नहीं गिर जाते।

भारत के महान् वैज्ञानिक भास्कराचार्य (१११४ ई.) ने सर्वप्रथम यह बताया था कि कोई भी पिण्ड उसके गुरुत्व से नहीं गिरता, अपितु पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से उसकी अधोदिशा की ओर खींचा जाता है। यह खींचा जाना हमें गिरने के रूप में प्रतीत होता है[2]। यह पृथिवी अपनी शक्ति से आस–पास के पिण्डों को अपनी ओर खींचते हुए अपनी जगह व्यवस्थित रहती है। इसी प्रकार ग्रह भी

---

१. गुरुत्वं जलभूम्योः पतन–कर्म–कारणम् —प्रशस्तपादभाष्य, गुरुत्वनिरूपण, पृ. ६४०

२. आकृष्ट– शक्तिश्च मही तया यत् स्वस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत् पततीव भाति समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे।
—सिद्धान्तशिरोमणि में भुवनकोश नामक तृतीय अध्याय, श्लोक–६

अपने–२ स्थान पर टिके रहते हैं। क्योंकि यदि पृथिवी या ग्रह को अपने–२ स्थान से गिरता हुआ मानें तब तो इस विस्तृत आकाश में 'वह कहाँ गिरेगी, वे किस पर गिरेंगे'– इस प्रकार के प्रश्नों का कभी अन्त ही नहीं होगा। इसे ही दर्शन में 'अनवस्था दोष' कहते हैं। इससे बचने के लिये यही मानना श्रेयस्कर है कि धरती तथा ग्रह अपने आस–पास के पिण्डों को अपनी ओर खींचते हैं। पर ये स्वयं किसी के द्वारा नहीं खींचे जाते। वे वहीं व्यवस्थित रहते हैं। वस्तुओं का ऐसा ही विचित्र स्वभाव है। (मरुच्चलो भूरचला स्वभावतो यतो विचित्रा बत वस्तुशक्तयः –भुवनकोश, श्लोक ५)

यह सिद्धान्त लोकप्रिय नहीं हुआ। अतः भास्कराचार्य के पश्चात् भी महान् वैज्ञानिक गेलिलियो (Galileo 1564-1642) से पूर्व विश्व में यह माना जाता रहा कि धरती पर किसी पतनशील पिण्ड की अधोदिशा में गति उस पिण्ड के गुरुत्व के कारण होती है[1]।

भारत में १३वीं शताब्दी में तर्क भाषा कार तथा १७वीं शताब्दी में मुक्तावलीकार ने भी गुरुत्व का यह लक्षण माना कि किसी पिण्ड के आद्य–पतन का असमवायिकारण उस पिण्ड में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला गुरुत्व गुण होता है[2]।

इस मान्यता की उपस्थिति में गुरुत्व वाले ग्रहों के पतन के समाधान के लिये यह मान लिया गया कि ईश्वर–संयोग ही इनके पतन का प्रतिबन्धक होता है।

ऊपर उड़ने या नीचे न गिरने के कारण (विज्ञान)

१. विभिन्न पदार्थों का उड़ना– किसी भी उड़ते हुए या तैरते हुए पदार्थ में नीचे से ऊपर की ओर क्रमशः वायु तथा जल का उछाल बल (buoyant force) लगता है। इसे ही दर्शनशास्त्र में वायु का 'विधारकत्व' कहा गया है।

पर इतनी व्याख्या से हम यह नहीं जान पाते कि किन परिस्थितियों में वायु का 'विधारकत्व' अथवा उसका 'उछाल बल' सफल नहीं हो पाता। दर्शन की भाषा में यह पूछ सकते हैं कि उपरिवर्णित अनुमान के अनुसार जहाँ विधारकत्व है, वहाँ वायु–संयोग होता है। पर इसके साथ ही जहाँ–२ वायु–संयोग है, वहाँ

---

1. It was believed until that time that the speed with which a falling object struck the ground from any height depended on the weight of the object.

—Tell me why, London, Page 83

२. गुरुत्वमाद्यपतनासमवायिकारणम्। ——तर्कभाषा, प्रमेयनिरूपण पृ. २०४

प्रत्येक जगह विधारकत्व क्यों नहीं देखा जाता। विमान के समान सुई हवा में क्यों नहीं टिकती। कोई भी पक्षी अपने पंखों को सिकोड़ कर हवा में टिका नहीं रह सकता। इसका विधारक प्रयत्न पंख फैलाने पर ही क्यों सफल हो पाता है। अन्य दशा में क्यों नहीं। इसके पंख फैलाने का विधारण से क्या सहसम्बन्ध है। इन सब प्रश्नों के उत्तर के लिये विधारकत्व का कोई अलग ही नियम अपेक्षित है।

आर्किमिडीज का नियम– आज से लगभग सवा दो हजार वर्ष पूर्व महान् वैज्ञानिक आर्किमिडीज (Archimedes 287-212 B.C.) ने इस विषय में जल तथा वायु में समान रूप से लागू होने वाले एक प्रसिद्ध भौतिक नियम की खोज की थी। यह नियम आज भी पानी के जहाज के तैरने तथा हवाई जहाज के उड़ने की उतनी ही सटीक व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

वायु में प्रक्षिप्त पिण्ड में दो प्रकार के बल विपरीत दिशा में कार्यशील होते हैं। प्रथम–पृथिवी का गुरुत्वीय बल पिण्ड को नीचे लाने की चेष्टा करता है। द्वितीय –वायु का उछाल बल उसे ऊपर रोकना चाहता है।. विविध परिस्थितियों में जो बल विजयी होता है, वही क्रिया सम्पन्न होती है। इन परिस्थितियों का निरूपण इस प्रकार है–

I कभी पिण्ड के अधिक घनत्व तथा कम आयतन के कारण उस (पिण्ड) का भार उसके द्वारा हटाए गए वायु के भार से अधिक होता है। इस दशा में पिण्ड नीचे गिर जाता है। यहाँ पिण्ड द्वारा हटाई गई वायु का भार उस पिण्ड के भार की अपेक्षा कम होता है। अतः सापेक्षतः कम भार वाली विस्थापित वायु में लगे कम उत्प्लावन बल पर सापेक्षतः अधिक भार वाले पिण्ड पर लगा अधिक गुरुत्वीय बल विजय प्राप्त करते हुए उसे नीचे ले आता है।

II कभी वस्तु के कम घनत्व तथा अधिक आयतन के कारण उसका भार उसके द्वारा हटाए गए वायु के भार से कम होता है। इस दशा में वस्तु हवा में तैरती रहती है। ऐसी वस्तु काफी अधिक वायु को विस्थापित करती है, जिसका (विस्थापित वायु का) भार उस वस्तु के भार की अपेक्षा अधिक होता है। ऐसी दशा में सापेक्षतः अधिक भार वाली विस्थापित वायु का उत्प्लावन बल सापेक्षतः कम भार वाली वस्तु पर लगे गुरुत्वीय बल पर विजय प्राप्त करते हुए उसे ऊपर तैरांता रहता है।

उदाहरण के लिये हाइड्रोजनं गैस का भरा गुब्बारा हवा में तैरता रहता है।

सामान्य वायु–दाब में 1 क्यूबिक मीटर हाइड्रोजन 0.9N. भार रखती है, जबकि 1 क्यूबिक मीटर हवा 13N. वजन रखती है। इस प्रकार 1 क्यूबिक मीटर आयतन का हाइड्रोजन का गुब्बारा अपने भार से कहीं अधिक भार वाली वायु को विस्थापित करेगा[1]। ऐसी दशा में गुब्बारे के भार के सापेक्ष अधिक भार वाली विस्थापित वायु का अधिक उत्प्लावन बल इस गुब्बारे को ऊपर तैराता रहता है।

इसी प्रकार हवाई छतरी या पैराशूट (parachute) अपने बहुत बड़े आयतन के द्वारा अपने भार से अधिक वायु को विस्थापित करता है। अतः इस पर वायु का उछाल बल बहुत बढ़ जाता है तथा यह हवा में तैरते हुए बहुत धीरे–२ नीचे आता है।

तिनके, पत्ते, कपास के गुच्छे आदि हवा में उड़ते हुए सामान्यतः यही प्रक्रिया अपनाते हैं। इन गुच्छों में भरे बीज गुच्छों से कहीं अधिक भारी होते हैं। फिर भी ये पैराशूट के समान अपने विस्तृत आकार के द्वारा इन बीजों सहित हवा में उड़ते रहते हैं। चमेली, गोखरू या थिस्ल् (thistle) आदि के बीज इसी प्रकार के होते हैं। प्रकृति ने इन्हें अन्यत्र पहुँचाने तथा इस प्रकार अन्यत्र पनपने के लिये कितना बढ़िया रास्ता अपनाया है!

ये गुच्छे, पत्ते इत्यादि अपने इसी विस्तृत आकार के द्वारा हवा में आसानी से उड़ पाते हैं। अगर इन्हें दबा कर एक पिण्ड का रूप दे दिया जाय तो ये सामान्यतः हवा में अपनी वह गति नहीं रख पाते। स्पष्टतः इन सबमें पैराशूट का सिद्धान्त लागू होता है।

धूल के उड़ने में भी यही सिद्धान्त उपयोगी है। सामान्यतः हम यह कहने के अभ्यस्त हैं कि धूल हल्की होने के कारण हवा में उड़ती रहती है। पर यह कहना सही नहीं है। धूल के कण वायु की अपेक्षा बहुत अधिक भारी होते हैं। पत्थर के कण १,५००गुना तथा लोहे के कण ६,०००गुना अधिक भार रखते हैं। पर धूल–कणों के सतह–भार का अनुपात अन्य बड़े पिण्डों के इस अनुपात से कहीं अधिक होता है। अन्य शब्दों में कहें तो बड़े पिण्डों में जो विस्तार तथा भार का अनुपात है, उसकी अपेक्षा धूल–कणों की सतह का विस्तार उसके भार से कहीं

---

1. At normal pressure, 1 cubic metre of hydrogen weighs only 0.9N----whereas 1 cubic metre of air weighs 13 N. Hence it follows that a baloon 1 cu m in volume, filled with hydrogen, is acted upon; in the air, by a buoyant force equal to the weight of 1 cu m of air, i.e. 13 N, and such a balloon can lift a load that weighs 13 N- 0.9N = 12.1 N. —Physics, A.V. Peryshkin, Moscow, Page 122

अधिक होता है[1]। स्पष्टतः यह स्थिति पैराशूट जैसी है। क्योंकि वहाँ भी उस छतरी की बाहरी गोलाकार परिधि का विस्तार बीच की डण्डी की अपेक्षा कहीं अधिक होता है। अतः यह कहना अधिक सही है कि धूल–कण अपनी सतह के अधिक विस्तार के द्वारा अपने भार की तुलना में अधिक भार वाली वायु का विस्थापन करते हैं। इस प्रकार ये वायु की अपेक्षा हल्के होने से नहीं, अपितु इनके द्वारा विस्थापित वायु की अपेक्षा हल्के होने से विस्थापित वायु के उछाल बल के द्वारा उड़ते रहते हैं।

पर धरती पर टिके हुए पत्ते या धूल–कण तेज हवा चलने पर ही उपर उड़ना शुरू करते हैं। इस प्रक्रिया में महान् वैज्ञानिक 'बरनौली' (Burnoully) का द्रव तथा गैस में समान रूप से क्रियाशील सिद्धान्त लागू होता है। उनके अनुसार जब किसी तरल पदार्थ का वेग अधिक होता है तो उसका दाब कम हो जाता है तथा जब वेग कम होता है तो दाब अधिक हो जाता है। आँधी चलने पर ऊपर की वायु का दबाव काफी कम हो जाता है। अतः यह वायु धरती के इन पत्तों को पहले के समान नहीं दबा पाती। परिणामतः ये उड़ने लगते हैं।

प्रायः यह देखा जाता है कि आँधी चलने पर छप्पर या टीन की छत आदि उड़ जाती है। जब कि बाकी मकान सुरक्षित रहता है। प्राचीन काल से ही इस प्रकार की आँधी लोगों को बहुत कष्ट देती रही है। महावैयाकरण पाणिनि ने पाथे हुए कण्डे वाले छप्पर उड़ाने वाली भीषण आँधी के लिये 'करीषंकषा वात्या' इस विशिष्ट प्रयोग की सूचना दी है[2]। इसके उड़ने का भी कारण यही है कि छप्पर के ऊपर बहने वाली हवा का दबाव कम हो जाता है। जब कि कमरे के अन्दर की हवा का दबाव लगभग उतना ही बना रहता है। अतः यह अधिक दबाव वाली हवा इसे ऊपर उठा देती है।

विमान उड़ने में भी यही सिद्धान्त क्रियाशील होता है। यद्यपि विमान का भार वायु की अपेक्षा अत्यधिक है। विमान के पंखों की आकृति इस प्रकार बनाई जाती है कि इनकी ऊपरी सतह पर हवा का वेग अधिक तथा नीचे की सतह पर कम रहे। हवा का वेग बढ़ाने के लिये विभिन्न चलित्र या प्रोपेलर (Propeller) का

---

1. But all of these materials are hundreds and thousands of times heavier than air; stone is 1500 times heavier; iron 6,000 times. —The point is that for small specks the surface - to - weight ratio is larger than for large bodies. Stated another way, the particles' surfaces are relatively large for their weight.

—Fun with maths and physics, Y.I. Perelman Moscow, Page 68.

२. सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः। —अष्टाध्यायी ३.२.४२

उपयोग किया जाता है। छोटे जहाज को उठाने के लिये हवा का घेग कम से कम ६० कि.मी. प्रति घण्टा होना चाहिये। इस वेग से ऊपर की हवा का दाब कम तथा नीचे का अधिक होने पर यह ऊपर उठने को विवश हो जाता है। डैनों को नीचे से टेक मिलने से तथा ऊपर की ओर खींचने वाले सम्मिलित बलों से यह ऊपर उठता जाता है।

२. पक्षियों का उड़ना– पक्षियों के पास ऊपर की हवा को विरल बनाने के लिये कोई चलित्र या प्रोपेलर नहीं होता। अतः ये ऊपर उड़ने के लिये अपने पंखों को जोरों से फड़फड़ाते हुए नीचे की हवा को दबाते हैं। ऐसी दशा में न्यूटन के गति विषयक तृतीय नियम के अनुसार हवा भी इनके पंखों पर प्रतिक्रिया करते हुए अपने परिणामी बल से पक्षी को ऊपर की ओर उठाती है। यह बल पक्षी के गुरुत्व केन्द्र पर लगे गुरुत्वीय बल का विरोध करता है। पक्षी की ऊर्ध्वाधर दिशा में पक्षी के ठीक बीचोबीच इन बलों का सन्तुलन स्थापित होने पर यह हवा में टिक जाता है तथा परिणामी बल के बढ़ने के साथ–२ यह और ऊँचा उठता चला जाता है। खुले पंखों वाला आकाश में मंडराता पक्षी आर्किमिडीज के नियम के अनुसार अपने से अधिक भार वाली वायु को विस्थापित करता हुआ आकाश में टिका रहता है।

इस विवेचन से यह सर्वथा स्पष्ट है कि पक्षी का पंख फैलाने के लिये प्रयत्न अन्ततः वायु के परिणामी बल द्वारा सन्तुलन प्राप्त करने के लिये अथवा अधिक भार वाली वायु के विस्थापन के लिये है। वायु की अनुपस्थिति में वह ऐसा नहीं कर सकता। अतः वायु के सहयोग के बिना कोई भी पक्षी या कोई भी विमान नहीं उड़ सकता। चन्द्रमा के निर्वात आकाश में पक्षी के पंख बिल्कुल बेकार होंगे। इस प्रकार हवाई जहाज से चन्द्रमा की यात्रा नहीं की जा सकती। उसके लिये रॉकेट जैसी कोई अन्य विधि अपनानी होगी। महान् दार्शनिक काण्ट का मानना है कि इस विश्व में जो वस्तु किसी का प्रतिरोधक बन कर सामने आती है, वही उसका सही उपयोग होने पर परम सहायक होती है। जो हवा प्रारम्भिक क्षणों में चिड़िया के उड़ने का विरोध करती है, वही उसकी प्रत्येक उड़ान के लिये अनिवार्य शर्त सिद्ध होती है[1]।

३. गतिशील बाण के नीचे न गिरने में महर्षि कणाद का सिद्धान्त आधुनिक विज्ञान के समकक्ष– महर्षि कणाद तथा उनके व्याख्याकारों ने माना है कि गतिशील बाण या पिण्ड के पतन में उसकी गति ही प्रतिबन्धक होती है।

1. The very element that offers the opposition to flying is at the same time the condition of any flight whatever. —Immanuel Kant

उसकी क्षैतिज गति उसके अधोदिशा में पतन का विरोध करती है। यह सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह निर्वात में भी लागू होता है। अतः इसकी विस्तृत व्याख्या से ग्रहों के भी नीचे न गिरने की व्याख्या की जा सकती है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार इसकी व्याख्या यह है कि किसी पिण्ड के ऊपर फेंकने पर पिण्ड की गतिज ऊर्जा पृथ्वी के आकर्षण बल के विरुद्ध कार्य करने में व्यय होती है। वायु आदि के प्रतिरोध से इसकी गति तथा गतिज ऊर्जा भी निरन्तर क्षीण होती रहती है। अतः अन्ततः इस पर पृथ्वी का गुरुत्व बल विजय प्राप्त कर लेता है तथा इसके परिणामस्वरूप नीचे की ओर पतन क्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

किसी धनुष से फेंका गया बाण अपनी गति के द्वारा गुरुत्व बल का विरोध करते हुए अपने मेहराबी पथ में पहले ऊपर जाता है। ऊपर जाने तक इसकी गति पृथ्वी के गुरुत्व बल का प्रतिबन्धक होती है। उसके पश्चात् गुरुत्व बल के विजयी होने पर यह नीचे आने लगता है। इस समय दो दिशाओं में दो गतियाँ एक साथ सम्पन्न होती हैं। प्रथम–बाण की क्षैतिज दिशा में गति। दूसरी– पृथ्वी के गुरुत्व बल से ऊर्ध्वाधर दिशा में गति। वायु आदि इसकी क्षैतिज दिशा में गति का तीव्र से तीव्रतर विरोध करते हैं। इससे बाण की मन्दायमान क्षैतिज गति गुरुत्व बल से प्रयुक्त ऊर्ध्वाधर गति का विरोध करने में मन्द पड़ती जाती है। इस दशा में गुरुत्व बल इसकी क्षैतिज गति या चाल का विरोध न करते हुए भी ऊर्ध्वाधर दिशा में बाण की तीव्र से तीव्रतर गति सम्पादित करता जाता है। यह ध्यान देने योग्य है कि ये दोनों गतियाँ अलग–२ हैं। यदि थोड़ी देर के लिये वायु के प्रतिरोध को उपेक्षित मान लें तो कहना होगा कि बाण उसी वेग से क्षैतिज दिशा में चलता रहेगा पर गुरुत्व बल से ऊर्ध्वाधर दिशा में एक सेकेण्ड में ५ मीटर, दो सेकेण्ड में ४ X ५ मीटर तथा तीन सेकेण्ड में ६ X ५ मीटर का रास्ता तय करेगा। इस प्रकार तय किया गया फैसला समय के वर्ग के अनुक्रमानुपात में बढ़ता है[1]। अगर कोई पिण्ड बिना रुकावट के १०० सेकेण्ड के लिये गिर सके तो वह इस पूरे समय में लगभग ५० किलोमीटर का रास्ता तय करेगा। जबकि पहले १० सेकेण्डों में केवल आधा किलोमीटर ही चल पावेगा[2]।

1. If a body travels 5 m in one second, then in two seconds it wil travel 4 x 5m, in three seconds 9 x 5 metre. The distance travelled grows in proportion to the square of the time. —Physics for everyone, Book 1, L.D. Landau, Page 61
2. If a body could fall without hindrance for some 100 S, it would cover an enormous distance from the beginning of its fall - about 50 km. Moreover only a mere 0.5 km. would be covered in the first 10 S. —Ibid - Page 61

इस प्रकार बाण तीव्र से तीव्रतम गति से नीचे की ओर जाता है। पृथ्वी का स्पर्श करने पर उसके घर्षण बल से इसकी क्षैतिज गति तुरन्त ही रुक जाती है। इससे प्रकट है कि गतिशील बाण में जिस समय जो बल अधिक प्रबल हो, वह अपने से विरोधी दिशा में लगे बल के कार्य का प्रतिबन्धक होता है। पर अविरोधी दिशा की गति का प्रतिबन्ध न करते हुए अपने बल की दिशा में गति का सम्पादक होता है। बाण अपने प्रथम क्षणों में ऊपर जाते हुए ऊर्ध्वाधर दिशा में लगे गुरुत्व बल का प्रतिरोध करता है। पश्चात् गुरुत्व बल क्षैतिज दिशा में गति या चाल का विरोध न करते हुए ऊर्ध्वाधर दिशा में गति को निरन्तर वर्धमान वेग से सम्पन्न करता है।

४. पृथिवी तथा अन्य ग्रहों का नीचे न गिरना—पिछले उपवर्ग में यह कहा जा चुका है कि कणाद के अनुसार किसी पिण्ड की गति उसके पतन का प्रतिबन्धक होती है। वास्तव में यही सिद्धान्त अपने परिष्कृत रूप में यहाँ लागू है।

इसके लागू होने में दर्शन की समस्याओं का वर्णन ऊपर किया गया है। संक्षेपतः किसी पिण्ड की स्थिरता की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति है। पर पिछले परिच्छेद में न्यूटन के प्रथम नियम के अनुसार बताया गया है कि गतिशील पिण्ड की गतिशीलता भी उतनी ही स्वाभाविक है। अतः वायु आदि किसी प्रतिबन्ध के अभाव में यह सर्वथा सम्भव है कि ये ग्रह सर्वदा गतिशील बने रहें तथा अपनी इस गति से गुरुत्व बल का विरोध करते रहें।

दूसरा दर्शन का सिद्धान्त यह है कि गुरुत्व पिण्ड में अवस्थित होता है तथा यह पिण्ड की अधोदिशा में ही पतन का स्वभावतः प्रेरक होता है। यहाँ यह नहीं सोचा जा सका कि पिण्ड में अनिवार्यतः स्थित यह गुरुत्व जो कि गुण या बल है, इसकी प्रेरणा आखिर अधोमुखी ही क्यों होती है। इस बल के किसी विशेष दिशा में न लगने की स्थिति में इसे सभी दिशाओं में प्रसृत होने के लिए स्वतन्त्र होना चाहिये। अतः इसके प्रभाव से इस पिण्ड की गति ऊर्ध्वमुखी क्यों नहीं हो जाती? यह सुविदित है कि महान् वैज्ञानिक न्यूटन के सामने सेव गिरने पर इसी प्रश्न के उठने पर उनके द्वारा पृथिवी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के सिद्धान्त की खोज सम्भव हुई थी। यह सिद्धान्त कहता है कि विश्व का प्रत्येक पिण्ड एक दूसरे को आकर्षित करता है। किन्हीं दो पिण्डों के मध्य आकर्षण बल उनके द्रव्यमानों के गुणनफल का अनुक्रमानुपाती तथा उनके बीच की दूरी के वर्ग का व्युत्क्रमानुपाती होता है[1]। बल सदा युग्म में उपलब्ध होता है। हम क्रिया तथा

1. 'The force of attraction between two bodies is directly proportional to the product of their masses and inversely proportional to the square of the distance between them.
—Newton's law of universal gravitation.

प्रतिक्रियाशील दोनों पिण्डों में विपरीत दिशा में बल को लगा हुआ पाते हैं[2]।

इस सिद्धान्त के अनुसार पृथिवी पिण्डं को नीचे की ओर आकर्षित करती है तथा साथ ही ऊपर फेंका गया पिण्ड पृथिवी को अपनी ओर आकर्षित करता है। इस प्रकार दोनों में परस्पर विपरीत दिशा में बल लगे हैं। पर पिण्ड की तुलना में पृथिवी का द्रव्यमान अत्यधिक है। अतः वह पिण्ड को अपनी ओर खीचनें में सफल हो जाती है। पृथिवी तथा अन्य ग्रहों की तुलना में सूर्य का द्रव्यमान लाखों गुना अधिक है। अतः सूर्य के द्वारा पृथिवी आदि को अपनी ओर आकर्षित कर लेने की प्रवृत्ति होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार ग्रहों के पृथिवी में पतन की नहीं अपितु पृथिवी सहित सभी ग्रहों के सूर्य में पतन की सम्भावना बनती है।

यहाँ पृथ्वी की निरन्तर स्वाभाविक गति ही पृथ्वी के सूर्य में पतन का प्रतिबन्धक सिद्ध होती है। गति अवस्था के जड़त्व के नियम (Law of Inertia of motion) के अनुसार पृथ्वी समान वेग से अपनी सीधी दिशा में गति करना चाहती है। सूर्य अपनी आकर्षण शक्ति द्वारा इसे अपनी ओर ऊर्ध्वाधर दिशा में मुड़ने को बाध्य करता है। पृथ्वी की चाल तथा सूर्य के गुरुत्वाकर्षण से प्रयुक्त बलों का सन्तुलन ही पृथ्वी को सूर्य में गिरने नहीं देता। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि सूर्य का आकर्षण बल पृथ्वी की गति का नहीं, अपितु इसका दिशा का सन्तुलित विरोध करता है।

इस प्रक्रिया को समझने के लिये मान लें कि पृथ्वी से कोई उपग्रह अन्तरिक्ष में फेंका गया है। कलन बताते हैं कि यदि इसे कम से कम ८ किलोमीटर प्रति सेकेण्ड का वेग प्रदान करते हुए ३०० किलोमीटर की ऊँचाई पर पृथ्वी की वृत्तीय कक्षा में भेज दिया जाय तो यह नीचे पृथ्वी पर नही गिरेगा, अपितु पृथ्वी के चारों ओर परिभ्रमण करने लगेगा। यह उपग्रह अन्तरिक्ष में जडत्व नियम के अनुसार समान वेग से समान दिशा में गति करना चाहता है। पर पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण इसके पथ को अपने ऊर्ध्वाधर दिशा में वक्रित करता है। उपग्रह के इस वेग में यह आकर्षण पृथ्वी तल की वक्रता के बराबर ही वक्रित कर पाता है, इससे अधिक नहीं। मान लीजिये यह उपग्रह A. बिन्दु से एक सेकण्ड में ८ कि. मी. दूर B. बिन्दु पर पहुँचता है। इस एक सेकेण्ड में पृथ्वी इसको ५ मीटर नीचे की ओर वक्रित करती है। ५ मीटर वही दूरी है, जिसे पृथ्वी में गिरने वाला कोई

2. **Therefore, forces possess a remarkable property : they are always found in pairs and are moreover equal in magnitude and opposite in direction. It is these two forces which are usually called 'action and reaction'.**

— Physics fore every one, Page 27

भी पिण्ड आकर्षण के प्रभाव से अपने प्रथम सेकेण्ड में तय करता है (देखें पृष्ठ ५१) इस एक सेकेण्ड के पश्चात् ८ कि.मी. दूर B. बिन्दु पर ५ मीटर नीचे गिरने पर भी उपग्रह की पृथ्वी से उतनी ही ऊँचाई रह जाती है,जितनी एक सेकेण्ड पहले थी। क्योंकि पृथ्वी के गोल होने से उसका धरातल हर बिन्दु पर वक्रिमा धारण करता या झुकता जाता है। इस दशा में उपग्रह नीचे नहीं गिरता, अपितु पृथ्वी की परिक्रमा करता रहता है। पर बाण शीघ्र ही धरती पर गिर जाता है। क्योंकि इसके न्यून वेग के कारण क्षैतिज दिशा में तय की गई कम दूरी के बीच पृथ्वी अपनी ओर अधिक दूरी तक आकर्षित कर लेती है। इस प्रकार ऊर्ध्वाधर दिशा में इसके पथ की वक्रता धरातल की वक्रता से कहीं अधिक होती है। इस दशा में बाण का पृथ्वी पर गिरना अनिवार्य है।

यह पृथ्वी २६.२ कि.मी. प्रति सेकेण्ड की गति से परिभ्रमण करती हुई सरल रेखा में भागना चाहती है। पर सूर्य अपने गुरुत्वाकर्षण बल से इसे अभिकेन्द्रीय बल (Centripetal force) प्रदान करते हुए इसे इसकी स्पर्श रेखा से प्रति सेकेण्ड ३ मि.मी. का विचलन प्रदान करते हुए इसके पथ को वक्रित करता है तथा इस प्रकार इसे अपने चारों ओर परिभ्रमण के लिये विवश करता है। पृथ्वी तथा सूर्य के दोनों बल सुनिश्चित दूरी में सुनिश्चित अनुपात में लगे रहते हैं। यदि पृथ्वी की गति रुक जाय तो यह सीधे सूर्य की ओर खिंचने लगेगी तथा लगभग २ मास में सूर्य में समा जावेगी। इसके विपरीत यदि सूर्य की आकर्षण शक्ति समाप्त हो जाय तो यह सूर्य का परिभ्रमण बन्द कर देगी तथा सीधी रेखा में अन्तरिक्ष की गहराइयों में चल देगी[1]!!

इस विवेचन से सिद्ध है कि ग्रहों का सूर्य में अपतन इनकी अतिसुनिश्चित गति, अति सुनिश्चित दूरी तथा इनके बलों के अतिसुनिश्चित अनुपात के कारण सम्भव होता है। दर्शनशास्त्र में ईश्वर–संयोग द्वारा जो ग्रहों के अपतन की बात कही गई है, उसका अर्थ यही कि सर्वव्यापक ईश्वर की भौतिक शास्त्रविषयक महानृतम सूक्ष्मेक्षिका के द्वारा यह सम्भव हो सका है। इन भौतिक सिद्धान्तों को जानकर हम उसकी सूक्ष्मेक्षिका को कुछ अच्छी प्रकार समझ सकते हैं। जिस ईश्वर–संयोग से गति, दूरी आदि का यह अनुपात सुनिश्चित हुआ है, सचमुच वह महानृतम भौतिक वैज्ञानिक ईश्वर है!!

---

१. तारे मनुष्य और परमाणु, प्रथम भाग – हींज हैबर – अध्याय ६ गोलों का संगीत पृ. ६०

८. हवा का कितना दबाव!
(वायु का सम्पीडकत्व)

पिछले परिच्छेद के विवरण से प्रकट है कि दर्शनशास्त्र में अनेक भौतिक घटनाओं की व्याख्या के लिये वायु के विधारकत्व को स्वीकार किया है। इससे ही वायु का सम्पीडकत्व अथवा दबाव भी सिद्ध हो सकता है। जो वायु नीचे से ऊपर की ओर उछाल बल लगाते हुए आकाश में स्थित पक्षी को विधारित करती है, वही धरती पर रहने वाले पक्षी को सम्पीडित भी करती है। पृथिवी आदि हर स्पर्श वाले विधारक द्रव्य में ऐसा ही देखा गया है। अतः दर्शन की भाषा में इसका सम्पीडकत्व इस अनुमान से सिद्ध हो सकता है– 'वायु में सम्पीडकत्व या दबाव है, स्पर्श वाली होकर विधारक होने के कारण, पृथिवी आदि के समान'।

फिर भी सामान्य जीवन में हम हवा के दबाव को आसानी से उपलब्ध नहीं कर पाते। इसका कारण यह है कि वायु प्रत्येक वस्तु में हर समय दबाव डालती रहती है। हमें इससे भिन्न स्थिति कभी उपलब्ध नहीं हो पाती। हम किसी भी वस्तु को उससे भिन्न वस्तु की पीठिका में जान पाते हैं। महाकवि श्रीहर्ष ने एक सुन्दर उक्ति में कहा है कि–

सिते हि जायेत शितेः सुलक्ष्यता!

अर्थात् सफेद चादर में काले अक्षर साफ दिखाई पड़ते हैं। सांख्य दर्शन में कहा है कि 'समानाभिहार' अर्थात् दो वस्तुओं में समानता की दशा में हम उसे अतिरिक्त या विशिष्ट रूप में उपलब्ध नहीं कर पाते। जैसे मेघ से तालाब में गिरी पानी की बूँदों को अलग से नहीं जानते[1]। आधुनिक विज्ञान में भी इसके बहुत से उदाहरण दिये जाते हैं। जैसे हरी घास पर हरे रंग के टिड्डे को सामने चीखते रहने पर भी आसानी से नहीं देख पाते। इसी प्रकार जो भौतिक घटना हर जगह हर समय निरन्तर एक ही प्रकार के प्रभाव को उपलब्ध कराती है, उसकी विशिष्टता या अतिरिक्तता हमारी आँखों से सदा के लिये ओझल हो जाती है। हवा के दबाव की अनुपलब्धि का यही रहस्य है।

पर इतने से हम इस दबाव की उपेक्षा नहीं कर सकते। क्योंकि इस विश्व में सभी वस्तुओं पर पड़ने वाला हवा का दबाव सचमुच बहुत अधिक है। १६५४ ई.

१. समानाभिहारात् (अनुपलब्धिः) – यथा तोयदविमुक्तानुदबिन्दून् जलाशये न पश्यति।
—सांख्यकारिका ७ पर तत्त्वकौमुदी।

में जर्मनी के रेंसबर्ग शहर में ओटो वान गैरिक ने हवा के इस कल्पनातीत दबाव को बड़े ही नाटकीय ढंग से दिखाया था। उस प्रदर्शन के लिये ताँबे के दो अर्धगोले लिये गए। इन्हें एक गोल छल्ले से जोड़ा गया। इन अर्धगोलों में ४ कड़े लगाए गए। इनमें रस्सा फँसा कर घोड़ों के साथ बाँधा गया। एक अर्धगोले में एक नल लगाया गया। इस नल को वायु–चूषण पम्प के साथ जोड़ कर गोले के भीतर की पूरी हवा बाहर निकाल ली गई। अब इन गोलों को अलग–२ करने के लिये १–२ नहीं, अपितु ८–८ घोड़े दोनों तरफ जुतवाए गए। तब जाकर इनकी सम्मिलित शक्ति से गोली छूटने जैसी धमाकेदार आवाज के साथ वे गोले अलग हो पाए। पर नल की मूठ घुमा कर हवा के अन्दर जाने का रास्ता खोल देने पर हाथों से ही इन गोलों को अलग किया जा सकता था।

इस प्रयोग से सिद्ध हुआ कि गोले के बाहरी सतह वाली हवा गोले पर १६ घोड़ों के बल के समतुल्य जबर्दस्त दबाव डालती है। पर इसके अन्दर की हवा विपरीत दबाव डालते हुए इस बल को निष्प्रभावी करती है अथवा दोनों बलों को सन्तुलन में ला देती है। इस अन्दर की हवा निकाल देने पर केवल बाहरी हवा ही दबाव डालती है, अन्दर वाली विपरीत दबाव नहीं। तब हम इसके अकल्पनीय प्रभाव का अनुभव कर पाते हैं।

अन्य सभी वस्तुओं के साथ–२ स्वयं हमारे ऊपर भी हवा का ऐसा ही जबर्दस्त दबाव पड़ता है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार धरती के १ वर्ग सेंटीमीटर क्षेत्रफल को वातावरण का लगभग ३०० किलोमीटर ऊँचा वायुस्तम्भ १ किलोग्राम वजन के बल से दबाता है। इस प्रकार प्रत्येक वर्गमीटर पर यह लगभग १०००० किलोग्राम वजन के बल से दबाव डालता है। यदि मनुष्य के शरीर का औसत क्षेत्रफल १.५ मीटर^{२} मानें तो इस पर सभी ओर से कुल मिलाकर १५,००० किलोग्राम का दबाव पड़ता है। फिर भी हम इस दबाव से सदा प्रभावित होने के कारण इसका अनुभव नहीं कर पाते। यह दबाव आगे, पीछे, ऊपर, नीचे सब तरफ से समान रूप से क्रियाशील होकर हमें सन्तुलन में ला देता है। हमारे सामने वाली हवा पीछे की ओर वैसा और उतना ही दबाव डालती है, जितना पीछे वाली हवा आगे की ओर। इसी प्रकार शरीर के अन्दर रहने वाली वायु बाहर की ओर समान दबाव डालते हुए शरीर पर ऊपर से पड़ने वाले वायु–दाब को निष्प्रभावी बनाती है। इस प्रकार हम दबने से बच जाते हैं। हमारे शरीर में अनगिनत रोमकूपों से तथा श्वास के उपाय से हवा अन्दर प्रविष्ट होती रहती है। यह अन्दर की हवा बाहरी वायु–दाब को साधे रहती है। पर इस सन्तुलन के भंग होने पर हम इसके

जबर्दस्त दबाव का अनुभव कर सकते हैं। पहाड़ों पर बाहरी वायुदाब कम होने पर अन्दर की नसों में अधिक वायुदाब से उन नसों के फटने तथा उनसे खून निकलने की स्थिति पैदा हो जाती है।

ऐसे ऊँचे स्थानों पर वायुदाब की कमी के अन्य अनेक प्रकार के प्रभाव देखे जा सकते हैं। वहाँ आग की अच्छी आँच पर भी खुले बर्तन में दाल बहुत मुश्किल से गलती है। उस समय ही हम यह भली प्रकार अनुभव कर पाते हैं कि दाल गलने में वायुदाब का कितना बड़ा योगदान है! वायुदाब कम होने पर दाल न गलना मुहावरा नहीं, वरन् सचाई है! वास्तव में नीचे से आग की गर्मी के साथ–२ ऊपर से हवा के दबाव के सम्मिलित प्रभाव से ही कोई 'दाल' गलती है।

वायु–दाब तथा निर्वात के अनेक उपयोग

साइफन में दोनों का उपयोग– किसी मुड़ी हुई नली अथवा साइफन (siphon) के द्वारा टब के पानी को नीचे लाना वायुदाब तथा निर्वात का एक बहुप्रचलित उपयोग है। सामान्य दशा में किसी आधे भरे ड्रम के पानी को बाल्टी में उँडेलने के लिये वैसे ही झुकाना पड़ता जैसे किसी चायदानी को झुकाते हैं। पर साइफन के प्रयोग से यह कार्य बहुत आसान है। इसके लिये साइफन के एक सिरे को ड्रम के पानी में तथा दूसरे सिरे को बाल्टी में डालते हैं। इसमें डालने से पहले साइफन के अन्दर की हवा को चूस लेते हैं। अब इससे ड्रम का पानी तब तक बाल्टी में गिरता रहता है, जब तक ड्रम तथा बाल्टी के पानी का स्तर बराबर न हो जाय। इसके कार्यशील होने का कारण ड्रम के पानी की सतह पर पड़ने वाला वायुदाब तथा साइफन के अन्दर निर्वात होना है। यहाँ बाहरी वायुदाब पानी को ऊपर ठेल देता है तथा साइफन का निर्वात वायु के अधोगामी बल को निष्प्रभावी बनाता है। अगर पानी की सतह पर वायुमण्डलीय दाब न होता तो पानी की धारा मोड़ पर टूट जाती तथा यह बाल्टी में न गिर पाती। साथ ही अगर नाली में वायु बनी रहती तो वह अपने नीचे की ओर लगे बल से पानी को ऊपर न उठने देती।

धमनियों में रक्त के उत्क्षेप के लिये निर्वात का उपयोग– आधुनिक युग में निर्वात उत्पन्न करके दैनिक जीवन के अनेकानेक कार्य सम्पन्न किये जाते हैं। ट्रेनों में निर्वात बॉक्स (vacuum box) के द्वारा इन्हें नियन्त्रित करना इसका एक बहुप्रचलित उपयोग है।

हमारे शरीर में धमनी रूपी बन्द नालियों से रस, रक्त को ऊपर चढ़ाने के

लिये प्रकृति इसी निर्वात की अनूठी विधि को अपनाती है। शास्त्रों में इस प्रकार के मार्गों को नाली या नाडी नाम दिया है। संस्कृत में ड तथा ल अक्षरों में अभेद माना जाता है। एक ही वस्तु के दो छोटे–२ उपभेदों को अलग–२ इन अक्षरों से प्रकट किया जाता है। सांख्य में बाहरी रूप, शब्द आदि को इन्द्रिय की ओर पहुँचाने वाले मार्ग को 'इन्द्रिय–प्रणालिका' नाम दिया है। अमरकोश, वैद्यक शास्त्र आदि में नाली के समान रस, रक्त आदि को अन्यत्र पहुँचाने वाली धमनी को नाडी कहा है[1]।

दर्शन–ग्रन्थों में कहा है कि 'नाडी में 'व्यान' वायु अवस्थित होती है'। अथवा यह 'व्यान वायु गर्भ–नाडी में रस को पहुँचाती है'[2]। वैद्यक–ग्रन्थों में स्पष्ट कहा है कि 'विक्षेप' क्रिया वाली 'व्यान' वायु से रस–धातु सम्पूर्ण देह में एक साथ भेजा जाता है। रस स्वच्छ होकर वहाँ (फुफ्फुस या फेफड़े में) अवस्थित होता है। उसके पश्चात् 'व्यान' वायु से विक्षिप्त होकर सम्पूर्ण देह में पहुँचता है[3]।

इस विवरण से प्रकट है कि प्राचीन काल में धमनी में वायु द्वारा रस, रक्त का ऊपर पहुँचना माना जाता था। 'धमनी' शब्द की व्युत्पत्ति तथा इसकी व्याख्या भी इसी अर्थ को परिपुष्ट करती है[4]। यह ध्यान देने योग्य है कि उस समय अन्य देशों में भी धमनी को वातपूर्ण मानने की अवधारणा प्रचलित थी। इंग्लिश में इसके लिये artery शब्द प्रचलित है। कोश के अनुसार यह 'वायु–वृद्धि' अर्थ वाले दों शब्दों के मेल से निर्मित है[5]।

पर आधुनिक वैज्ञानिक प्रयोगों से सर्वथा स्पष्ट है कि धमनी अथवा संकुचन, प्रसरण आकार वाली नाडी में सर्वथा निर्वात होता है। वहाँ वायु का लेश–मात्र भी नहीं रह सकता। हमारा हृदय रक्त के साथ पहुँचे वायु–कण को

---

१. नाडी तु धमनिः शिरा। —अमरकोश २.६.६५
नाडीव यद् वहति तेन मता तु नाडी। —सुश्रुत, निदान–स्थान, १० वीं अध्याय
२. नाडीमुखेषु वितननाद् व्यानः। –श्लोक ४३ की मुक्तावली वायु–प्रकरण पर दिनकरी टीका
रसस्य गर्भनाडी– वितननाद् व्यानः। —प्रशस्तपादभाष्य, वायु–प्रकरण पर कन्दली।
३. व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा। युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा।
रसो यः स्वच्छतां यातः स तत्रैवावतिष्ठते। ततो व्यानेन विक्षिप्तः कृत्स्नं देहं प्रपद्यते।।
—अष्टांगहृदय सू. १२ (सर्वांग सुन्दरा)
४. ध्मानाद् धमन्यः। —चरक, सूत्रस्थान ३० वाँ अध्याय
5. Artery- f. Gk arteria, Prob. f. airo raise. —Oxford English Dictionary.

बिल्कुल सहन नहीं कर पाता। आज कल अन्तःशिरा सूचीवेध (intravenous injection) लगाते समय सावधानीपूर्वक यह देख लिया जाता है कि सुई में द्रव ओषधि के साथ लेशमात्र भी हवा न रह गई हो। अन्यथा रोगी की तत्काल मृत्यु की सम्भावना हो जाती है।

उपरिलिखित साइफन के उदाहरण से स्पष्ट है कि धमनी रूपी बन्द नाली में वायु की उपस्थिति रस रक्त के ऊपर उठने में सहायता नहीं कर सकती। केवल गतिशील वायु ही किसी कण को अपने साथ भगा सकती है। पर नाली में बन्द वायु तो अपने अधोदिशा की ओर लगने वाले दबाव से रस, रक्त को ऊपर उठने से रोकने का ही काम करेगी। इसीलिये प्रकृति ने इस धमनी में सर्वथा निर्वात उपस्थित किया है।

रक्त को पम्प करने अथवा दबाव प्रदान करने के लिये हृदय के रक्त से भरे हुए आलिन्द (auricle) बड़ी जोर से आकुंचन करते या सिकुड़ते हैं। इससे रक्त निलयों (ventricle) में धकेल दिया जाता है। पश्चात् निलयों में आकुंचन होने पर यह महाधमनी की ओर धकेला जाता है। इस समय महाधमनी कपाट (aortic valve) रक्त को शिथिलित आलिन्द में लौटने से रोक देते हैं। इन धमनियों की भित्तियाँ लचीली होती हैं। अतः धमनियों में रक्त धकेले जाने के क्षण ये विस्तारित हो जाती हैं। इसके पश्चात् निलय के अनुशिथिलन के समय ये भित्तियाँ पूर्व अवस्था में लौट आती हैं।

धमनियों की यह स्थिति—स्थापकता या लचीलापन रक्त के दबाव को बनाए रखने के लिये बहुत उपयोगी है। भौतिक विज्ञान के नियम के अनुसार द्रव के प्रवाह का वेग नालिका के क्षेत्रफल के विपरीत अनुपात में होता है। अर्थात् नालिका का क्षेत्रफल अधिक होने पर द्रव का वेग कम तथा क्षेत्रफल कम होने पर उसका वेग बढ़ जाता है। इस प्रकार रक्त कम होने के क्षण ये धमनियाँ सिकुड़ कर भित्तियों द्वारा रक्त में प्रतिरोध उपस्थित करके इसमें दबाव बनाकर इसे वेगपूर्ण बनाए रखने में सफल होती हैं[१]।

अब कल्पना करें कि इन धमनियों में हवा भरी हो। ऐसी दशा में ये रक्त

---

१. धमनी दबाव को ऊँचा तथा कायम रखने के लिये पूर्वाकांक्षित शर्तें ये हैं— क. सबल पम्प (ख) धमनी तन्त्र की लचीली भित्तियाँ (ग) केशिकाओं में रक्त के बहाव के प्रति अपेक्षया उच्च प्रतिरोध। इस प्रतिरोध के बिना अर्थात् विवृत परिवहन में एक सबल पम्प भी दबाव को खास ऊँचा नहीं कर सकता।

—प्राणि शरीर का क्रियाविज्ञान, नटश्मिट नील्सन, द्वितीय अध्याय पृ. ३६–३७

की सतह तक नहीं सिकुड़ सकेंगी। जैसे आधे पानी तथा आधी हवा से भरा गुब्बारा पानी की सतह से भी अधिक फूला रहता है। ऐसा होने पर धमनी की अवकाशपूर्ण भित्तियाँ रक्त के ऊपर उठने के लिये अपने प्रतिरोध से उसमें दबाव नहीं बना सकेंगी। इसके विपरीत वायु नीचे की ओर दबाव बनाकर उसे नीचे जाने को प्रेरित करेगी। इस प्रकार रक्त का उत्क्षेप सम्भव नहीं हो सकेगा।

इस विवरण से सिद्ध है कि हृदय द्वारा प्रदान किये गए दबाव को दूर तक बनाए रखने के लिये धमनियों का निर्वात होना परम आवश्यक है। अतः प्रकृति ने रक्त के उत्क्षेप के लिये इसी विधि का उपयोग किया है।

विविध मौसम के लिये वायु–दाब का उपयोग– इस धरती के विविध मौसम बहुत कुछ वायु–दाब पर निर्भर होते हैं। सूर्यदेव की कृपा से हवा गर्म तथा हल्की होकर ऊपर उठती है। यदि इस प्रकार वायु–दाब अचानक एकदम कम हो जावे तो आँधी, तूफान आने की सम्भावना प्रबल हो जाती है। इसके एकदम कम होने का अर्थ आंशिक रूप से निर्वात उत्पन्न होना है। इस स्थान को भरने के लिये आस–पास की हवा बहुत तेजी से वहाँ पहुँचती है, जिसे हम 'आँधी' कहते हैं। यदि वायुदाब धीरे–२ कम हो रहा हो तो गर्मी आने की तथा निकट भविष्य में वर्षा आने की सूचना प्राप्त होती है। वायुदाब के धीरे–२ बढ़ने पर वायु की शुष्कता तथां निकट भविष्य में वर्षा न होने का संकेत प्राप्त होता है।

आजकल वायुदाब को नापने का बहुत आसान उपाय बैरोमीटर (barometer) का प्रयोग है। इसका आविष्कार इटली के महान् वैज्ञानिक टौरिसेली (Torricelli) ने किया था। उन्होंने यह सिद्ध किया कि धरती के हर वर्ग सेंटीमीटर क्षेत्रफल पर पड़ने वाला वायुदाब ७६ सेंटीमीटर ऊँचे पारे के स्तम्भ के बराबर होता है। 1 cm^2 क्षेत्रफल पर इतने ऊँचे पारे के स्तम्भ का भार 1 kg f. तथा ठीक ठीक 1.033 kg.f. होता है। अतः एक वर्ग सेंटीमीटर क्षेत्रफल पर मानक वायुमण्डलीय दाब उतना होता है जितना १ कि.ग्राम वजन इतने ही क्षेत्रफल में उपस्थित करता है[1]।

इस बैरोमीटर द्वारा किसी स्थान के वायुदाब का मान ज्ञात करके उस

1. A 76-cm column of mercury presses down on the support with the same force as the atmosphere. This mercury column with a cross-sectional area of 1 cm^2 presses down with a force of 1.033 KG f.

—— The average atmospheric pressure that is exerted on everything on the Earth is close to the pressure that 1 K.G. weight exerts on an area of 1 cm^2

—Physics for every one, Page 229

स्थान की समुद्र–तल से ऊँचाई आसानी से जानी जा सकती है। पहाड़ों पर ऊपर जाने पर वायु का घनत्व तथा दबाव लगातार कम होता जाता है। अतः किसी स्थान पर बैरोमीटर में वायुदाब के पाठ की समुद्र–तल के दाब से तुलना करके उसकी ऊँचाई का कलन किया जा सकता है। विश्व के सर्वोच्च पर्वत शिखर माउण्ट एवरेस्ट में वायुदाब समुद्र–तल के दाब का लगभग एक तिहाई है। इसके अनुसार इसकी ऊँचाई ८.८४८ कि.मी. तय की गई है।

इस विवरण से प्रकट है कि विश्व की प्राकृतिक घटनाओं में हवा के दबाव का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रभाव होता है।

---

६. हवा में कितना वजन!

(वायु का गुरुत्व)

पिछले परिच्छेद में वायु के सम्पीडकत्व अथवा इसके दबाव को विस्तार से सिद्ध किया गया है। इससे ही इसके गुरुत्व को भी आसानी से सिद्ध किया जा सकता है। क्योंकि कोई भी सम्पीडन उसके गुरुत्व का परिणाम या फल है। अथवा यों कहें कि गुरुत्व उस सम्पीडन का कारण है। अतः यह व्याप्ति आसानी से बन सकती है कि जहाँ–जहाँ सम्पीडन होता है, वहाँ–२ गुरुत्व होता है। फिर भी दर्शनशास्त्र में वायु के सम्पीडकत्व के उपलब्ध न होने की स्थिति में इसके गुरुत्व का भी प्रतिषेध किया जाता रहा है।

गुरुत्व का अर्थ (दर्शन और विज्ञान)– दर्शन के अनुसार गुरुत्व पिण्ड में नित्यसम्बन्ध से रहने वाला एक गुण है। इसके फलस्वरूप ऊर्ध्व दिशा में फेंका गया कोई पिण्ड वेग तथा क्रिया के क्षीण होने के पश्चात् पहले से विपरीत अधोदिशा में पतन क्रिया के लिये विवश होता है तथा इसी दिशा में किसी वस्तु पर दबाव डालता है। इस प्रकार यह पिण्ड के पहले क्षण के अधःपतन का प्रेरक अथवा उसका कारण होता है[1]।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार गुरुत्व एक बल है। किसी पिण्ड के अधःपतन की दशा में पृथ्वी का गुरुत्वीय बल पिण्ड की ओर लगा होता है। यही इसके पतन का प्रयोजक होता है। पृथ्वी जिस बल से पिण्ड को अपनी ओर आकर्षित करती है, उसे उसका गुरुत्वीय बल कहते हैं[2]। इस बल के परिणामस्वरूप कोई पिण्ड जिस बल से किसी अवलम्ब पर प्रभाव डालता है, उसे उस पिण्ड का भार कहते हैं[3]।

इन परिभाषाओं से सर्वथा स्पष्ट है कि दर्शनशास्त्र में 'गुरुत्व' शब्द से पृथ्वी के गुरुत्वीय बल का नहीं, अपितु 'गुरुत्व गुण' के रूप में पिण्ड के भार का निरूपण अभिप्रेत है।

गुरुत्व का अनुभव (दर्शन और विज्ञान)– दोनों शास्त्र इस तथ्य को

---

१. गुरुत्वम् आद्यपतनासमवायिकारणम् ——तर्कभाषा, प्रमेयनिरूपण, पृ.२०४

2. The force with which the earth attracts a body is called the force of gravity.
—Physics, A.V. Peryshkin, Page. 59

3. The force with which a body acts on the support or suspension, as a result of attraction by the earth, is called the weight of the body. —Ibid, Page 60

समान रूप से स्वीकार करते हैं कि इस गुरुत्व को अनुमान से जाना जाता है। तराजू के किसी पलड़े पर किसी वस्तु को रखने पर वह झुक जाता है। इससे अनुमान होता है कि उस पलड़े पर दबाव डालने अथवा उसकी 'विशेष अवनति' का कारण कोई गुरुत्व गुण मौजूद है[1]। इसे तौलने के लिये किसी बाट को अन्य पलड़े पर रखते हैं। इससे वह वस्तु 'तुला के सदृश' अथवा 'तुल्य' बन जाती है। समान अर्थ में प्रयुक्त होने वाले 'तुल्य' शब्द का यही मौलिक अर्थ है[2]। इसे 'तुल्य' बनाने के लिये तोला, माषा, रत्ती आदि अनेक बाट काम में लाए जाते हैं। ये ही गुरुत्व के मात्रक हैं[3]।

इसी प्रकार किसी वस्तु को हांथ से उठाते समय हाथ के नीचे गिरने की ओर प्रवृत्ति होती है। इसे रोकने के लिये हाथों के तेजस् का उपयोग करना पड़ता है। इससे भी हाथ के ऊपर अवस्थित वस्तु में गुरुत्व गुण का अनुमान होता है[4]। कुछ दर्शनशास्त्री कहते हैं कि हाथों के स्पर्श से ही गुरुत्व का प्रत्यक्ष हो जाता है। पर न्याय में इसका तत्परता से खण्डन करते हुए इसे अनुमेय बताया हैं[5]।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी गुरुत्व बल तथा इससे निष्पन्न पिण्ड के भार को कमानीदार तुला (Spring balance) के माध्यम से अनुमान से जानते हैं। वस्तु में प्रयुक्त बल उसके द्रव्यमान के समानुपाती होता है। अर्थात् जिस वस्तु का द्रव्यमान जितना अधिक होता है, उसमें उतना ही अधिक गुरुत्वीयं बल प्रयुक्त होता है। इससे वह उतना ही अधिक भारी होता है[6]। तुला में उसके सन्तुलन के लिये उतने ही अधिक भारी मात्रकों का उपयोग करना पड़ता है। आजकल इस बल का मात्रक (unit) न्यूटन (newton) है तथा द्रव्यमान का मात्रक मानक

---

१. द्रष्टव्य– न्यायकन्दली, गुरुत्वनिरूपण पृ. ६४१

२. नौवयोधर्म– – – (अष्टाध्यायी ४.४.९१) के अनुसार 'तुलया सम्मितं= सदृशम्, इस अर्थ में तुल्य शब्द को सिद्ध किया गया है।

३. गुरुत्वं रक्तिक– माषक– तोलकत्वादिभेदेन नानाविधं बोध्यम्।
— मुक्तावली पर किरणावली टीका पृ. १०३

४. यत्तूपरि स्थितस्य गुरुत्वं प्रतीयते तद्धस्तादीनाम् अधोगमनानुमानात्।
—न्यायकन्दली, गुरुत्व–प्रकरण, पृ. ६४०

५. ये तु त्वगिन्द्रियग्राह्यं गुरुत्वमाहुः, तेषामधःस्थितस्य द्रव्यस्य स्पर्शोपलम्भवद् गुरुत्वोपलम्भप्रसंगः।
—वही पृ. ६४०

6. Experiments show that the force of gravity is directly proportional to the mass of the body..........Therefore we say that a body having a large mass is heavy.
—Physics, Page 59.

किलोग्राम (standard kilogram) माना जाता है।

उपकरणों के बिना भी इस गुरुत्व का अनुमान होता है। किसी बोझ को लेकर ऊपर चलने पर गुरुत्व बल के विरुद्ध कार्य करना पड़ता है। इसमें हमारी मांसपेशीय ऊर्जा व्यय होती है। इससे भी हम इस बल का अनुमान करते हैं।

वायु में गुरुत्व नहीं है (दर्शन)– इन अनुमानों से उपलब्ध न होने के कारण दर्शन में वायु में गुरुत्व को स्वीकार नहीं किया जाता है। वहाँ केवल पृथिवी तथा जल में गुरुत्व मान्य है। अतः रस गुण वाले पृथिवी, जल में गुरुत्व का साधर्म्य बताया गया है[1]। आगे चलकर यह स्पष्ट किया गया है कि जिन द्रव्यों का जिन गुणों के साथ साधर्म्य है, उनका उनसे भिन्न गुणों के साथ विरुद्ध धर्म है[2]। इस प्रकार गुरुत्व केवल पृथिवी तथा जल में समान रूप से परिव्याप्त है, उनसे भिन्न द्रव्यों में नहीं, यह सिद्ध होता है। इसीलिये वायु के ६ गुणों को गिनाने के प्रसंग में व्याख्याकारों ने इनके अन्तर्गत गुरुत्व का नाम नहीं लिया है[3]। यह माना गया है कि इस प्रसंग में द्रव्य में जितने गुण बताए गए हैं, उनमें उनसे एक भी कम या अधिक नहीं है। अतः वायु में ६ गुणों के अलावा १०वाँ गुरुत्व गुण नहीं रह सकता।

इसे सिद्ध करने में प्रमाण है कि दर्शनशास्त्र में वर्णित वायु के गुरुत्व से विहीन होने की मान्यता भारत के अलावा विश्व के अन्य भागों में भी हजारों वर्षों तक प्रचलित रही है। अनेक अवसरों पर इसके गुरुत्व को जानने के लिये अनेक प्रयोग किये गए। सभी प्रयोगों में इसकी गुरुत्वहीनता ही सिद्ध हुई। ग्रीस के महान् दार्शनिक अरस्तू का एक प्रयोग बहुत प्रसिद्ध है। इसके लिये उन्होंने चमड़े की मशक अथवा गुब्बारे में हवा भरी तथा उसे सावधानीपूर्वक तौला। उन्होंने हवा से खाली तथा पिचके हुए गुब्बारे का भी वजन लिया। उन्होंने यह पाया कि फूले तथा पिचके गुब्बारे के वजन में कोई अन्तर उपलब्ध नहीं होता। तब उन्होंने यह संघोषित कर दिया कि साधारण हवा द्रव्य के महत्त्वपूर्ण गुण 'गुरुत्व' को धारण नहीं करती[4]।

---

१. गुरुणी द्वे रसवती। ——कारिकावली श्लोक २८

२. यदुक्तं यस्य साधर्म्यं वैधर्म्यमितरस्य तत्। —— कारिकावली श्लोक २६

३. वायोर्नवैकादश तेजसो गुणाः।
——कारिकावली की किरणावली व्याख्या में उद्धृत प्राचीन श्लोक।

4. About two hundred and fifty years ago, it was generally thought that air was useless as a source of power, because it has no weight. An experiment of Aristotle was

इसमें सन्देह नहीं कि भारत में भी इस प्रकार के अनेक प्रयोग किये गए होंगे तथा यह पाया गया होगा कि वायु गुरुत्व के तोला, माषा, रत्ती आदि मात्रकों से विभाजित नहीं होती। साथ ही वायु को उठाने में किसी बल के प्रयोग का भी अनुभव नहीं होता। इस प्रकार सभी अनुमानों के द्वारा गुरुत्व की उपलब्धि न होने पर दर्शनशास्त्र में यह तय मान लिया गया कि वायु में गुरुत्व नहीं होता।

गुरुत्व का जो कार्य अथवा फल है, उसकी भी वायु में उपलब्धि न होने के कारण इसे इस गुण से विहीन माना जाता रहा है। ऊपर कहा गया है कि ऊपर फेंके गए द्रव्य का अधोदिशा में पतन का कारण गुरुत्व होता है। पर हम देखते हैं कि वायु का अधःपतन नहीं, अपितु तिर्यग्गमन (lateral motion) होता है। अतः मान्य है कि इसमें अधः पतन का कारण गुरुत्व नहीं, अपितु तिर्यग्गमन का कारण कोई 'अदृष्ट' गुण वर्तमान होता है। अथवा सांख्य के अनुसार इसमें गुरुत्व के प्रतिद्वन्द्वी अथवा गुरुत्वाभावरूपी लाघव के द्वारा वायु की तिर्यग्गति सम्पन्न होती है[1]।

वायु में गुरुत्व है (विज्ञान)– आधुनिक विज्ञान इस विषय में सर्वथा असन्दिग्ध है कि पृथिवी के गुरुत्वीय बल के परिणाम–स्वरूप सभी पिण्डों के समान वायु में भी अवश्य ही भार होता है। विश्व में कोई ऐसा द्रव्य–कण नहीं जो अन्य कण को अपने बल से आकर्षित न करता हो। महान् वैज्ञानिक न्यूटन का एक स्वर्णिम नियम यह है कि किन्हीं दो कणों या उनके पिण्डों का आकर्षण–बल उनके द्रव्यमानों के गुणनफल का अनुक्रमानुपाती तथा उनके बीच की दूरी के वर्ग का व्युत्क्रमानुपाती होता है[2]। ऐसी दशा में वायु–द्रव्य कणों पर अतिविशाल द्रव्यसंहति वाली पृथ्वी का आकर्षण बल लगना तथा इसके परिणामस्वरूप वायु का किसी अवलम्ब पर दबाव आदि प्रभाव उत्पन्न करना तथा इस प्रकार 'भार'

---

supposed to have decided the matter. The Greek philosopher filled a bladder with air, and then carefully weighed it; he also weighed the bladder when it was empty and collapsed. Finding that there was no difference in weight between the inflated skin and the collapsed skin, he included that ordinary air was lacking in the chief property matter.—Hermsworth popular science, London Volume-4, Page 2639

१. तत्र कार्योद्गमने हेतुर्धर्मो लाघवं गौरवप्रतिद्वन्द्वि। .... तदेव लाघवं कस्यचित्तिर्यग्गमने हेतुर्भवति यथा वायोः। —सांख्यकारिका १३ पर तत्त्वकौमुदी।

लाघव के गुरुत्वाभाव अर्थ के लिये द्रष्टव्य—मुक्तावली, तैजसनिरूपण में रामरुद्री पृ.१३३

2. The force of attraction between two bodies is directly proportional to the product of their masses and inversely proportional to the square of the distance between them. —Physics for everyone, book-1, Page 190

प्रदर्शित करना अनिवार्य है। विश्व के किसी भी द्रव्य (matter) की यह स्पष्ट पहचान है तथा यह उसका अवियोजनीय धर्म है। इसके बिना हम उसे द्रव्य–कण के रूप में निरूपित नहीं कर सकते। वायु द्रव्य होने से उसमें भी यह पहचान अनिवार्यतः लागू है। आधुनिक विज्ञान में वायु के प्रत्येक घटक के छोटे से छोटे अंश का द्रव्यमान, इसका दबाव, भार आदि निर्धारित किया जा चुका है। यह कहा जा चुका है कि पृथ्वी के 1 cm^2 क्षेत्रफल पर लगभग 1 Kg f. के बराबर वायुमण्डलीय दबाव प्रयुक्त होता है। अतः स्पष्ट है कि १ वर्ग सेंटीमीटर क्षेत्र में वर्तमान वायुस्तम्भ का भार १ किलोग्राम के लगभग होता है।

इस विवरण से दर्शनशास्त्रियों की उस मान्यता का भी समाधान हो जाता है, जिसके अन्तर्गत वे लोग कहते हैं कि वायु में जो भी गुरुत्व है, वह उसमें मिश्रित धूल–कणों का है। इसमें प्रथम तो यह कहना है कि दर्शनशास्त्र का विवरण सामान्य वायु के लिये ही है तथा सामान्य दैनिक जीवन में वायु को धूल–कणों से सर्वथा विरहित करना आसान नहीं है। यदि यह मान भी लें कि दर्शन का विवरण धूल–रहित वायु के लिये है, तो भी उस धूल–रहित वायु को भी गुरुत्वहीन नहीं माना जा सकता। क्योंकि, जैसा कि ऊपर कहा गया, वायु के अलग–२ घटकों का भी द्रव्यमान आदि जाना जा चुका है। ऑक्सीजन के एक अणु का द्रव्यमान $१०^{-२५}$ किलोग्राम होता है। अर्थात् १० के आगे २४ शून्य रखने से ज़ो संख्या बनती है, १ किलोग्राम के उतने हिस्से में से केवल एक हिस्सा ऑक्सीज़न अणु का द्रव्यमान होता है। इस प्रकार वायु के सभी घटकों में स्पष्टतः गुरुत्व वर्तमान है।

अरस्तू का प्रयोग असफल क्यों हुआ– फिर भी यह जानना बहुत रोचक है कि भारत तथा ग्रीस में हजारों वर्षों तक वायु में गुरुत्व जानने के प्रयोग क्यों असफल होते रहे। अरस्तू के पूर्वोक्त प्रयोग में पिचके गुब्बारे में भी हवा वही तथा उतना ही दबाव उपस्थित कर देती थी, जो हवा से भरे हुए गुब्बारे में। अन्तर केवल यह होता था कि पिचके गुब्बारे में हवा ऊपर से दबाव डालती थी तथा भरे हुए गुब्बारे में अन्दर से[1]। गुब्बारे में से हवा को निकाल देने पर भी उसके ऊपर वाली हवा को तो हटाया नहीं जा सकता था। अतः गुब्बारे की दोनों दशाओं में तराज़ू के ऊपर वर्तमान हवा की मात्रा में कोई अन्तर नहीं आता था। अतः समान

1. Aristotle's experiment was really ridiculous. When the skin of the bladder was being weighed, the same amount of air pressed on the scales as when the filled bladder was used. The only difference was that in one case nearly all the air was outside the collapsed skin, and in the other case a little of it was inside the filled bladder. —Hermsworth popular science, London, Volume 4, Page 2639

वजन उपलब्ध होता था। हवा के वजन में अन्तर केवल तभी उपलब्ध हो सकता था, जब किसी दशा में हवा की मात्रा में अन्तर उपस्थित किया जा सकता।

ऐसे किसी प्रयोग के अभाव में आज से लगभग ३५० वर्ष पूर्व तक यही माना जाता रहा कि हवा में कोई वजन नहीं होता। १६५० ई० में ऑटो वान गैरिक ने इस प्रयोग के लिये चमड़े के सिकुड़ने वाले गुब्बारे के स्थान पर काँच का मजबूत गोला लिया तथा उसमें से हवा को निकाल कर खाली ग्लोब का वजन लिया। उसके पश्चात् उसमें हवा भर कर पुनः इसका वजन किया। ऐसा करने पर दोनों के वजन में स्पष्ट अन्तर उपलब्ध हुआ[1]। ऐसा इसलिये सम्भव हो सका, क्योंकि मजबूत गोले से हवा निकाल देने पर भी वह पिचका नहीं। इस प्रकार गोले के अन्दर के अवकाश में हवा अपने वजन का प्रभाव नहीं दिखा सकी। इस रीति से वायु में भार को स्पष्ट सिद्ध किया जा सका।

यह ध्यान देने योग्य है कि पिचकने वाले गुब्बारे में भी यदि वातावरण में हवा के घनत्व से अधिक हवा को पम्प द्वारा भर दिया जाय तो भी यह अतिरिक्त हवा अपने वजन को प्रदर्शित कर सकती है। इसीलिये भौतिक विज्ञान की प्रचलित पाठ्य पुस्तकों में हवा के भार को जानने के लिये 'फुटबाल के ब्लैडर' का प्रयोग लिखा जाता है। अरस्तू के समय ब्लैडर में संघनित हवा को न भरे जा सकने की स्थिति में इसका वजन उपलब्ध नहीं हो सका था।

भौतिक विज्ञान के अन्य ग्रन्थों में strong glass bulb अर्थात् मजबूत काँच के गोले के द्वारा इसे सिद्ध किया जाता है। इसे प्रदर्शित करने के लिये ऐसे गोले से हवा निकाल कर उसका वजन लेते हैं। इसके पश्चात् पाहू अथवा clamp को खोलकर इसके अन्दर हवा जाने देने के पश्चात् उसका वजन लेने पर हम देखते हैं कि तुला का वह सन्तुलन नहीं रहता। इसे पुनः सन्तुलन में लाने के लिये दूसरे पलड़े पर अधिक बाट रखना पड़ता है। इससे हवा में वजन सिद्ध होता है[2]।

---

1. ibid, page 2639,
2. The weight of air can be measured by way of an experiment. For that purpose, we must take a strong glass bulb closed with a stopper with a clamped rubber tube inserted into it. We pump the air out of the bulb and weigh it on a balance. If now we open the clamp and let air into the bulb, the balance will be disturbed. To attain the equilibrium again we must put weights on the other pan of the balance equal to the weight of the air in the volume of the bulb.

———Physics, A.V. Peryshkin, Page 97

इसके पश्चात् इसे स्पष्ट सिद्ध करने के लिये अनेक प्रयोग विकसित होते गए। आज पृथ्वी के सम्पूर्ण वातावरण के भार को जाना जा चुका है। वैज्ञानिकों के कलन के अनुसार भूमण्डल में सामान्यतः ५ पद्म १० नील टन हवा का दबाव है[२]! सचमुच, इतने जबर्दस्त भार को क्या हम आसानी से सोच भी सकते हैं!!

वायु में गुरुत्व मानने पर दर्शन के प्रश्नों का समाधान– इस प्रकार १७वीं शताब्दी में वायु में गुरुत्व की स्थापना से पूर्व तक भारत में इसके गुरुत्व पर अनेक प्रश्न उपस्थापित किये जाते थे। एक प्रश्न यह था कि यदि वायु में गुरुत्व है तो ऊपर वाली वायु नीचे क्यों नहीं गिर पड़ती। आँधी में ऊपर उठी वायु नीचे किस प्रकार आती है– यह एक अलग प्रश्न था, जिसका विवरण पिछले परिच्छेद में दिया है। पर सामान्य दशा में वायु के अधःपतन न होने से वायु में गुरुत्व न होने के सिद्धान्त की स्थापना की जाती थी।

इस प्रश्न का समाधान संकेत से प्रशस्तपादभाष्य द्वारा प्राप्त हो जाता है। वहाँ गुरुत्व–निरूपण के अवसर पर कहा है कि यह गुरुत्व संयोग द्वारा बाधित होता है। अर्थात् किसी स्थिर पिण्ड के साथ संयोग की स्थिति में गुरुत्व जनित क्रिया सम्पन्न नहीं होती। जैसे किसी पालकी पर बैठे मनुष्य का स्थिर पालकी से संयोग के कारण गुरुत्व द्वारा अधःपतन नहीं होता[१]।

---

२. इसे सिद्ध करने के लिये या० पेरेलमान विरचित 'मनोरंजक बीजगणित' पृ. १३ का एक अंश उद्धृत करते हैं–

"धरातल के हर वर्ग सेंटीमीटर क्षेत्र को हवा करीब 1 किलोग्राम के बल से दाबती है। इसका मतलब है कि $1\ cm^2$ क्षेत्र पर खड़े वायुस्तम्भ का भार 1 Kg है। पृथ्वी के पूरे वातावरण (वात + आवरण) को ऐसे ही वायु–स्तम्भों को सटा सटा कर रखने से बना हुआ माना जा सकता है। इन वायु–स्तम्भों की कुल संख्या उतनी होगी, जितने वर्ग–सेंटीमीटर पृथ्वी की सतह (धरातल) पर होंगे। किसी ज्ञानकोश में देखकर जान सकते हैं कि धरातल का कुल क्षेत्रफल 51 करोड़ वर्ग किलोमीटर अर्थात् $51.10^7\ Km^2$ है। अब देखें कि एक वर्ग किलोमीटर में कितने वर्ग सेंटीमीटर होंगे। रैखिक किलोमीटर में 1000 मीटर होते हैं और हर मीटर में 100 सेंटीमीटर होते हैं। अतः रैखिक किलोमीटर में 10^5 सेंटीमीटर हुए। वर्ग किलोमीटर में $(10^5)^2=10^{10}$ वर्ग सेंटीमीटर हुए। अतः धरातल पर वर्ग सेंटीमीटरों की कुल संख्या होगी– $=51.10^{17}$। पृथ्वी का वातावरण इतना ही किलोग्राम भारी है। इसे टन में व्यक्त करने पर मिलेगा– $=51.10^{14}$ टन। .... वातावरण का द्रव्यमान पृथ्वी के द्रव्यमान का लगभग दस लाखवाँ अंश है।

१. संयोगप्रयत्न– संस्कार– विरोधि। ——प्रशस्तपादभाष्य, गुरुत्व–निरूपण पृ. ६४

तथा च दोलारूढस्य संयोगेन प्रतिबन्धादपतनम्। ——वहीं पर न्यायकन्दली।

ठीक इसी कारण से स्थिर वायु में गुरुत्व होने पर भी उसका अधःपतन नहीं होता। धरती पर ऊपर नीचे के सभी स्तरों पर वायु वर्तमान है। अतः ऊपर के स्तर वाली वायु नीचे वाली वायु से संयुक्त होकर उसके अणुओं से प्रतिकर्षित होती हुई गुरुत्व होने पर भी अधःपतित नहीं होती। यह वैसे ही है जैसे किसी बर्तन में ऊपर की सतह का पानी नीचे तलहटी पर नहीं ग़िरता। पर इसे गर्म करने पर 'संवहन' (convection) क्रिया से नीचे वाले पानी के ऊपर जाने पर ऊपर का ठण्डा पानी तुरन्त नीचे आ जाता है। इसी प्रकार हवा के भी गर्म होकर ऊपर जाने की स्थिति में तुरन्त ही पास की हवा आँधी के रूप में उस स्थान पर आ गिरती है। लालटेन में भी शीशे की हवा के हल्की होने पर तुरन्त ही पास की हवा छिद्रों से वहाँ उपस्थित होती है।

आधुनिक युग में हवा के भार तथा दबाव आदि के विषय में इतने सुस्पष्ट परीक्षण हो चुके हैं कि अब इन पर कोई भी प्रश्न इतिहास की बात हो गई है।।

---

१०. त्वगिन्द्रिय तथा स्पर्श।

वेदों में 'त्वक्' शब्द मनुष्य या पशु के चर्म अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। एक मन्त्र में मनुष्य के काले रंग के त्वक् या चर्म का वर्णन है[1]। अन्य मन्त्र में– 'गाय के चर्म पर निचोड़ा जाता हुआ सोम आवाज करता हुआ इन्द्र के स्थान पर जाता है' यह कहा है[2]।

इसके पश्चात् प्राणियों के अलावा वृक्षों की छाल या पपड़ी के लिये भी 'त्वक्' शब्द का प्रयोग होने लगा। ऐसे कुछ वल्कल तथा त्वक् कही जाने वाली छाल पहनने के काम में भी आती थी। अतः वल्कल के साथ–२ त्वक् का वस्त्र अर्थ भी हो गया। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट ही त्वक् को वस्त्र कहा गया है[3]। इस अर्थ में त्वक् का प्रयोग परवर्ती संस्कृत साहित्य में भी प्राप्त है। महाकवि कालिदास ने कहा है कि उस रघु ने त्वक् को धारण करके पिता से अस्त्र विद्या सीखी[4]।

दर्शनशास्त्र में स्पर्श ग्रहण कराने वाली इन्द्रिय को त्वक् कहा जाता है। इस अर्थ में प्राचीन प्रयोग बृहदारण्यक उपनिषद् में उपलब्ध है[5]। दर्शन में यह स्वीकार किया है कि इस शब्द का चर्म अर्थ ही मौलिक है। पश्चात् इसमें वर्तमान इन्द्रिय को भी उपचार या लक्षणा से त्वक् कहा गया[6]। इस प्रकार 'त्वचा ज्ञानम्' जैसे प्रयोगों में अन्वयानुपपत्ति से लक्षणा द्वारा इन्द्रिय अर्थ में प्रयोग हुआ। इसके पश्चात् निरूढलक्षणा से सभी प्रकार के प्रयोगों में इस 'त्वक्' शब्द का 'इन्द्रिय' अर्थ होने लगा। 'निरूढलक्षणा' किसी शब्द के गौण अर्थ की मुख्य अर्थ के रूप में बदल जाने की शास्त्रीय स्वीकृति होती है। काव्यशास्त्र में भी इस प्रक्रिया से यह मान लिया गया है कि 'त्वक्' शब्द 'इन्द्रिय' इस मुख्य वाच्यार्थ के रूप में प्रयुक्त होने लगा है।

---

१. मनवे शासदव्रतान् त्वचं कृष्णामरन्धयत्। —ऋ. १.१३०.८

२. अव्यो वारेभिः पवते सोमो गव्ये अधि त्वचि। —ऋ. ६.१०१,१६

३. त्वक् हि वासः। —शतपथ ब्राह्मण ४.३.४.२६

४. त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवीमशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत्। —रघुवंश ३.३१

५. त्वचा हि स्पर्शान् वेदयते। —बृहदारण्यक उपनिषद् ३:२.६

६. त्वगिन्द्रियमिति समाख्या, त्वचि स्थितम् इन्द्रियं त्वगिन्द्रियमित्युच्यते, तत्स्थे तदुपचारात्। — प्रशस्तपादभाष्य, वायु–प्रकरण में न्यायकन्दली, पृ. ११४

त्वगिन्द्रिय वायु से निर्मित है (दर्शन)– इसकी परिभाषा के अनुसार सम्पूर्ण शरीर में परिव्याप्त स्पर्श–ग्राहक इन्द्रिय ही त्वक् है[1]। यह अन्य इन्द्रियों के समान अतीन्द्रिय अर्थात् अतिसूक्ष्म होने से अदृश्य है। इसे इन्द्रिय–विषयक एक विशिष्ट मान्यता के अनुसार वायु से निर्मित माना गया है। इसका निरूपण इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड के तृतीय परिच्छेद में विस्तार से किया गया है। न्याय में इसे वायवीय सिद्ध करने के लिये अलग से भी अनुमान प्रस्तुत किया है। उसका आशय यह है कि *जो पदार्थ रूपादि गुणों में से केवल स्पर्श का अभिव्यंजन करता हो, वह अवश्य ही वायु से निर्मित होता है, जैसे अंग में लगे हुए जल की शीतलता का अभिव्यंजन करने वाली पंखे की हवा स्पष्टतः वायु–कणों से निर्मित है। इसी प्रकार केवल स्पर्श का अभिव्यंजन करने वाली त्वगिन्द्रिय भी अवश्य ही वायु से निर्मित है*[2]।

इस अनुमान को सही सिद्ध करने का आधार यह तर्क है कि जो वस्तु जिस गुण का प्रकाशक हो, उसे उसी गुण वाली वस्तु से निर्मित होना चाहिये। कथासरित्सागर में एक सुन्दर उक्ति यह है–

यादृशास्तन्तवः कामं तादृशो जायते पटः!

अर्थात् जिस प्रकार का तन्तु होता है, वैसा ही कपड़ा बन कर तैयार होता है। अतः सफेद रंग को प्रकाशित करने वाला कपड़ा उसी रंग वाले तन्तु से निर्मित होता है। इस प्रकार शीत, उष्ण स्पर्श को प्रकाशित करने वाली इन्द्रिय ऐसे ही द्रव्य से निर्मित होनी चाहिये जो स्पर्शत्व जाति के अन्तर्गत समशीतोष्ण गुण धारण करती हो। इसे शीत गुण वाले जल से निर्मित मानने पर यह उष्ण गुण वाले तेज को तथा तेज से निर्मित मानने पर जल को प्रकाशित नहीं कर सकेगी। अतः इसे इन दोनों से भिन्न अनुष्णाशीत स्पर्श गुण वाले वायु से निर्मित स्वीकार किया गया है।

त्वगिन्द्रिय वायु से निर्मित नहीं है (विज्ञान)– आधुनिक विज्ञांन में त्वचा तथा शीत और उष्ण की संवेदना प्रदान करने वाले त्वचीय शीत बिन्दु (cold spots) उष्ण बिन्दु (warm spots) आदि का भली प्रकार अध्ययन किया गया है। इन स्थानों में रस, रक्त, सूक्ष्म रक्तवाहिनियाँ इत्यादि के अलावा वायु की

---

१. शरीरव्यापकं स्पर्शग्राहकमिन्द्रियं त्वक्। ——मुक्तावली, वायुनिरूपण पृ. १३६

२. तच्च (त्वक् च) वायवीयं रूपादिषु मध्ये स्पर्शस्यैवाभिव्यंजकत्वात्, अंगसंगिसलिल–शैत्याभिव्यंजक–व्यजनपवनवत्। –कारिकावली श्लोक ४३ पर मुक्तावली, वायु–प्रकरण, पृ.१४०

सविशेष या प्रबल उपस्थिति को नहीं देखा गया है। अतः इसका वायु उपादान कारण (material cause) होना सिद्ध नहीं होता।

यहाँ दर्शन के तर्कों तथा अनुमानों की समीक्षा करते हैं। दर्शन का यह कहना बिल्कुल सही है कि कोई द्रव्य अपने जिस गुण को प्रकाशित करता है, वह उसी गुण वाले उपादान कारण से निर्मित होता है। पर दूसरे द्रव्य के अन्य गुण को प्रकाशित करने वाले उपकरणों का उस अन्य गुण वाले द्रव्य से निर्मित होना आवश्यक नहीं, अपितु उसके प्रति संवेदनशील या ग्रहणशील होना अपेक्षित है। अन्य इन्द्रियों के प्रसंग में इसे विस्तार से सिद्ध किया जा चुका है। (देखें प्रथम खण्ड पृ. १८–१६)। आँखों से अन्य पदार्थ के रूप–ग्रहण के लिये आँखों का रूप वाले तेजस् से निर्मित होना नहीं, अपितु उसका रूप के प्रति ग्रहणशील होना अपेक्षित है। इसी प्रकार त्वगिन्द्रिय द्वारा अन्य पदार्थों के शीत, उष्ण स्पर्श को ग्रहण करने के लिये उसका उन गुणों के प्रति संवेदनशील होना आवश्यक होता है, वायु से निर्मित होना नहीं।

प्रस्तुत प्रसंग में दर्शन–प्रोक्त अनुमान का उदाहरण भी अपने साध्य के अनुरूप नहीं है। दर्शन में यह मान लिया गया है कि जल में शीत–स्पर्श नित्यसम्बन्ध से वर्तमान होता है। अतः पंखे की हवा से शरीर में लगे जल के शीत स्पर्श का अभिव्यंजन (manifestation) होता है। विज्ञान का मानना है कि जल–अणुओं के प्रकम्पन–आयाम का कम होना ही उसकी सापेक्ष शीतलता है। यह उनकी गतिज ऊर्जा में ह्रास के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। पंखे की हवा से जल में इस प्रकार का शीतल स्पर्श उत्पन्न होता है। जबकि त्वचा द्वारा इस शीतल स्पर्श को प्रकाशित किया जाता है। इस प्रकार वायु द्वारा शीतल स्पर्श को उत्पन्न करने वाले उदाहरण से स्पर्श को प्रकाशित करने वाली त्वगिन्द्रिय को वायवीय सिद्ध नहीं कर सकते।

कदाचित् उत्पत्ति और अभिव्यक्ति के इस मतभेद को दार्शनिक सैद्धान्तिक समस्या मान सकते हैं। अतः यदि थोड़ी देर के लिये मान भी लें कि पंखे की हवा से शीतल स्पर्श अभिव्यक्त होता है, तो भी यह अनुमान ठीक नहीं बन पाता। क्योंकि इसमें प्रस्तुत हेतु की साध्यगत एक विशेष दशा के साथ ही व्याप्ति होने से अभीष्ट साध्य की सिद्धि नहीं हो पाती।

प्रस्तुत अनुमान में यह व्याप्ति मानी गई है कि जो–२ पदार्थ केवल स्पर्श के अभिव्यंजक हों; वे अवश्य ही वायवीय होते हैं। जैसे अंग में लगे जल के शीतल स्पर्श का अभिव्यंजक पवन वायवीय है। यहाँ वास्तविकता यह है कि पवन का

मात्र वायवीय होना शीतल स्पर्श के अभिव्यंजन में कारण नहीं, अपितु इसकी वाष्पीकरण क्रिया इसमें कारण है। अतः स्पर्श के अभिव्यंजकत्व की इसके वाष्पीकरण के साथ व्याप्ति है। इस प्रकार जहाँ केवल स्पर्श का अभिव्यंजन हो, वहाँ केवल वायवीयत्व नहीं, अपितु उसका वाष्पीकरण कारण अवश्य उपस्थित होता है, यह सिद्ध होता है। जबकि हम इस अनुमान से त्वचा में वायवीयत्व सिद्ध करना चाहते हैं, उसका वाष्पीकरण नहीं। इस प्रकार यह अनुमान स्पष्टतः अपने अभीप्सित साध्य को सिद्ध करने में सक्षम नहीं है।

शीतल स्पर्श के लिये वाष्पीकरण की कारणता को स्पष्ट करने के लिये यहाँ इसकी वैज्ञानिक विधि का संक्षिप्त निरूपण करते हैं। हम जानते हैं कि द्रव के अणु अपनी गतिज ऊर्जा के द्वारा पूरे द्रव में विभिन्न दिशाओं में गति करते रहते हैं। इनकी गतिज ऊर्जा एक दूसरे से कुछ कम अधिक हो सकती है। अब यदि कोई अधिक गतिज ऊर्जा वाला अणु द्रव की सतह पर आ जाता है तो अन्य पास वाले अणुओं में इतना आकर्षण बल नहीं होता कि वे उसे नीचे ला सकें। अतः यह अणु असन्तृप्त गर्म हवा द्वारा खींच लिया जाता है तथा यह वाष्प बन जाता है। इस प्रक्रिया से अधिक गतिज ऊर्जा वाले अणुओं के बराबर खींचे जाने या वाष्पन होने की स्थिति में उस द्रव के अणुओं की मध्यमान गतिज ऊर्जा लगातार कम होती जाती है। यह घटना हमें शीतलता के रूप में उपलब्ध होती है।

घड़े या सुराही में इसी सिद्धान्त से पानी ठण्डा होता है। इनमें वर्तमान पानी के अधिक गतिज ऊर्जा वाले अणु घड़े के सूक्ष्म छेदों से सतह पर आ जाते हैं जो कि समीपवर्ती गर्म हवा द्वारा उड़ा लिये जाते हैं। वर्षा के दिनों में वाष्प से सन्तृप्त वायु द्वारा यह प्रक्रिया तीव्र गति से नहीं चल पाती। अतः उन दिनों पानी अधिक ठण्डा नहीं हो पाता।

इस शीतलीकरण के लिये यह आवश्यक है कि इस प्रक्रिया के द्वारा वाष्पीकरण हो, पर बाहर से ऊष्मीय ऊर्जा का प्रवेश न हो। यदि किसी बर्तन में पानी को खुला रख दें तो वाष्पीकरण की अपेक्षा उनके अणुओं को बाहर से अधिक ऊष्मीय ऊर्जा प्राप्त होती है। फलतः, पानी अधिक गर्म होता जाता है।

इस विवेचना से सिद्ध है कि जल के शीतल स्पर्श में वायु के द्वारा वाष्पीकरण कारण है। प्रस्तुत अनुमान से इस वाष्पीकरण की सिद्धि हो सकती है, केवल वायवीयत्व की नहीं। पर त्वचा से स्पर्श की उपलब्धि में कोई भी इसकी उपस्थिति को कारण नहीं मानते। ऐसा नहीं होता कि त्वचा से ठण्डा या गर्म का अनुभव करते समय त्वचा में अनिवार्यतः सामान्य से अधिक वाष्पीकरण होता हो।

इस प्रकार यह अनुमान अनभीष्ट को सिद्ध करता है तथा अभीष्ट को सिद्ध नहीं कर पाता। अतः आधुनिक विज्ञान में स्पर्श की उपलब्धि में त्वचा का वायवीय होना नहीं, अपितु उसके रस, रक्तीय होते हुए उसकी स्पर्श के प्रति संवेदनशीलता को कारण माना है।

प्रस्तुत विवेचन के अनुसार दर्शन तथा विज्ञान में संक्षिप्त मतभेद इस प्रकार है–

दार्शनिक	वैज्ञानिक
१. हवा लगने पर अंग में लगे जल का शीतल स्पर्श अभिव्यक्त होता है।	१. हवा लगने पर अंग में लगे जल या घड़े आदि के जल के अधिक गतिज ऊर्जा वाले अणुओं के ह्रास से उसमें शीतल स्पर्श उत्पन्न होता है।
२. इस शीतल स्पर्श में वायवीय द्रव्य कारण होता है।	२. इस शीतल स्पर्श में वायवीय द्रव्य का वाष्पीकरण कारण होता है।
३. त्वचा से स्पर्श की उपलब्धि में भी उस त्वचा का वायवीय होना कारण है।	३. त्वचा से स्पर्श की उपलब्धि में इसके रसरक्तीय विविध स्पर्श–बिन्दुओं की स्पर्श के प्रति संवेदनशीलता कारण है।

स्पर्श किसका होता है– न्याय शास्त्र के अनुसार पृथिवी, जल, तेज तथा वायु में रहने वाला स्पर्श एक गुण है। इसके शीत, उष्ण तथा अनुष्णाशीत उपभेद हैं। साथ ही केवल पृथिवी में रहने वाला कठिन, मृदु भी स्पर्श के अन्तर्गत मान्य है[1]।

त्वचा के द्वारा स्पर्श के इन्हीं उपभेदों–गुणों का प्रत्यक्ष होता है। जिस प्रकार शुक्ल, नील आदि गुणों वाला रूप होता है। सुगन्ध का रूप नहीं हो सकता। इसी प्रकार शीत, उष्ण आदि गुणों वाला स्पर्श होता है। अन्य किसी का स्पर्श नहीं हो सकता। हम लोग दैनिक जीवन में यह सोचते हैं कि किसी द्रव्य का स्पर्श हो सकता है। महाकवि कालिदास राजा दुष्यन्त के मुख से यह कहलाते हैं कि जिस शकुन्तला को हम अग्नि समझते थे, वह तो स्पर्श–योग्य रत्न है[2]!! पर न्याय के अनुसार कोई भी 'शकुन्तला' न तो स्पर्श योग्य हो सकती है, न ही हम

१. अनुष्णाशीतशीतोष्णभेदात् स त्रिविधो मतः।
काठिन्यादि क्षितावेव। ——कारिकावली, गुणनिरूपण, श्लोक १०४

२. आशंकसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्। ——अभिज्ञान– शाकुन्तलम् १,२८

उसका स्पर्श कर सकते हैं।

यहाँ सावधानी के साथ मान्यताओं को अलग–२ कर लेना आवश्यक है। हम केवल शीत, उष्ण आदि उपभेदों का स्पर्श कर सकते हैं, द्रव्य का नहीं। हम इन गुणों के माध्यम से त्वचा द्वारा द्रव्य का प्रत्यक्ष भी कर सकते हैं[1]। पर इसे द्रव्य प्रत्यक्ष कहा जावेगा, स्पर्श प्रत्यक्ष नहीं। हम लोग आरोप द्वारा इसे भी स्पर्श–प्रत्यक्ष कह देते हैं। तात्त्विक दृष्टि से यह भ्रम है। रत्न द्रव्य का प्रत्यक्ष रत्न के स्पर्श का प्रत्यक्ष नहीं है। रत्न के मृदु, कठोर गुणों का प्रत्यक्ष ही उसके स्पर्श का प्रत्यक्ष है।

कुछ लोगों का कहना है कि रत्न का मृदु, कठोर गुण संयोग का उपभेद है, स्पर्श का नहीं। अतः इन गुणों के प्रत्यक्ष को भी स्पर्श का प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता। पर मुक्तावलीकार ने इसका खण्डन करते हुए मृदु, कठोर स्पर्श का प्रत्यक्ष स्वीकार किया है[2]। न्याय की द्रव्य गुण की परिभाषा के अन्तर्गत यह मान्यता समीचीन है।

स्पर्श कैसे होता है– आधुनिक विज्ञान में स्पर्श संवेदना को शीत, उष्ण, पीडा तथा दबाव के अन्तर्गत विभाजित किया जाता है। त्वचा में थोड़ी–२ दूर पर इन संवेदनाओं के बिन्दु अवस्थित होते हैं। कोई एक विशेष बिन्दु अपनी विशेष संवेदना को प्रदान करने में ही सक्षम होता है। किसी धातु की बनी कील की नोक को अलग–२ स्थानों में छुलाने से उन अलग संवेदनाओं के उत्तरदायी बिन्दुओं की स्पष्ट अनुभूति होती है।

शीतलता की संवेदना प्रदान करने वाले बिन्दुओं को शीत बिन्दु तथा (cold spots) उष्णता वाले बिन्दुओं को उष्ण बिन्दु (warm spots) कहा जाता है। त्वचा के इस प्रकार के बिन्दुओं के मध्य सर्वत्र अति सूक्ष्म रक्तवाहिनियों का जाल बिछा है। किसी ठण्डी वस्तु के संस्पर्श से शीत–बिन्दु के समीपस्थ रक्तवाहिनियों में एक प्रकार का आकुंचन या संकोच तथा गर्म वस्तु से इनमें विस्तार या फैलाव उत्पन्न होता है। इस घटना की सूचना नाडीय विक्षोभ द्वारा मस्तिष्क तक पहुँचाई जाती है। हमारा मस्तिष्क इसकी क्रमशः शीतल तथा उष्ण स्पर्श के रूप में व्याख्या करता है।

किसी नोक से विविध बिन्दुओं को छूने पर दबाव की संवेदना प्राप्त होती

---

१. उद्भूतस्पर्शवद् द्रव्यं गोचरः सोऽपि च त्वचः।—कारिकावली, प्रत्यक्ष– खण्ड, श्लोक ५६

२. कठिनसुकुमारस्पर्शौ पृथिव्यामेव। कठिनत्वादिकं तु न संयोगनिष्ठो जातिविशेषः, चक्षुर्ग्राह्यत्वापत्तेः। ——कारिकावली श्लोक १०४ गुणनिरूपण पर मुक्तावली।

है। इन बिन्दुओं को स्पर्शांकुरिकाएँ (sensitive papillae) कहा जाता है। इनमें पतली स्पर्शांकुरिका को tactile corpuscles तथा मोटी को pacinian corpuscles कहते हैं। यह दूसरी मोटी स्पर्शांकुरिका मन्द दबाव को ग्रहण करती है। इनसे नाडीय सूत्र संयुक्त होते हैं तथा ये उत्तेजित होकर दबाव की सूचना मस्तिष्क को भेजते हैं।

त्वचा में पीडा– बिन्दु सर्वाधिक होते हैं। इन्हें अपेक्षाकृत अधिक पतले नाडीय सूत्रों के मुक्त छोर ग्रहण करते हैं।

इन बिन्दुओं के नोक के बीच एक मिली मीटर से भी कम का अन्तर होता है। इसलिये हम आसानी से नहीं बता सकते कि कब किस बिन्दु से उत्तेजना प्राप्त हुई। हमें प्रायः इन बिन्दुओं से सम्मिलित सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। इन्हें हम अलग स्पर्श के रूप में जानना चाहते हैं। चिकनापन, खुरदुरापन इत्यादि ऐसी ही स्पर्शानुभूतियाँ हैं।

चतुर्थ खण्ड

जल एवं रसना विज्ञान

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन।
महे रणाय चक्षसे।।

—ऋग्वेद १०.६.१

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्। —अथर्ववेद १.४.४

Little drops of water
little grains of sand;
Make the mighty ocean
and the beauteous land.

-'Little things' by julia A. Carney.

१. प्राणी का सबसे पहला उत्पत्ति–स्थान

ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा है कि किसी समय इस धरती में घोर अँधेरा छाया था। घने अन्धकार से ढका घुप्प अन्धकार! इस समय चारों तरफ था पानी, केवल पानी! सब ओर यही पानी ठाठें मार रहा था!! मन्त्र इस प्रकार है–

तम आसीत् तमसा गूढमग्रे अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।

– ऋग्वेद १०.१२६.३

ब्राह्मण–ग्रन्थों में इस अवधारणा का समर्थन करते हुए आगे के विकास का निरूपण किया है। शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि इस समय जलस्वरूप ईश्वर ने सोचा कि जीवधारी प्राणी कैसे उत्पन्न करें। इसके लिये उसने तप किया। इस तप से उसने इंस जल में विशाल सोने का अण्डा उत्पन्न किंया[1]। इस चमकदार हिरण्मय अण्डे में प्राणियों की उत्पत्ति के लिये प्रजापति का ही निवास था। अतः प्रजापति को 'हिरण्यगर्भ' नाम प्रदान किया गया[2]।

मनुस्मृति में कहा है कि ईश्वर ने प्रजाओं को उत्पन्न करने की इच्छा से सबसे पहले जल उत्पन्न किया तथा उसमें बीज–रूपी अण्डे को डाल दिया। यह विशाल सोने का अण्डा जल के अतिविशाल समुद्र में एक वर्ष तक तैरता रहा। इस बीच हजारों किरणों की दीप्ति वाले इस अण्डे के भीतर सम्पूर्ण लोकों को उत्पन्न करने वाले ब्रह्मा उत्पन्न हुए। इन्होंने एक परिवत्सर के पश्चात् अपने ध्यान से इस अण्डे को फोड़ दिया। तब ऊपर औंधा दिखाई पड़ने वाला द्युलोक तथा नीचे धरती का निर्माण हुआ[3]। इस प्रकार यह अण्डा अन्ततः ब्रह्मा का ही था। अतः इससे उत्पन्न होने वाले द्यावापृथिवी का 'ब्रह्माण्ड' यह सार्थक नाम पड़ा।

मनुस्मृति में इस कहानी के द्वारा ईश्वर के 'नारायण' नाम का कारण भी

---

१. आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास। ता अकामयन्त, कथं नु प्रजायेमहि। तास्तपोऽतप्यन्त। तासु तप्यमानासु हिरण्मयमाण्डं सम्बभूव।.......... तदिदं हिरण्यमाण्डं यावत् संवत्सरस्य वेला तावत् पर्यप्लवत्। –शतपथ ब्राह्मण ११.१.६.१

२. हिरण्मयस्याण्डस्य गर्भभूतः प्रजापतिर्हिरण्यगर्भः। –तै. ब्रा. ५.५.१.२

३. सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः। अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्। तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्। तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः। स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद् द्विधा। ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे।। –मनुस्मृति १.८–६,१२–१३

स्पष्ट किया है। उनके अनुसार 'नार' का मूल अर्थ जल है। इस शब्द से नाल > नालिका तथा दर्शन–शास्त्र के 'प्रणालिका' आदि शब्दों को समझाया जा सकता है। सृष्टि के प्रारम्भ में प्रजापति के निवासभूत हिरण्मय अण्ड का आश्रय विशाल जल ही था। इस प्रकार उस समय 'नार' या जल को 'अयन' अर्थात् आश्रय बना कर रहने वाले प्रजापति को नारायण कहा गया। मनुस्मृति का श्लोक इस प्रकार है–

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।

ता तदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः।। —मनुस्मृति १.१०

इन वर्णनों का मौलिक आशय यह है कि जल ही प्राणिमात्र के जीवन का आधार रहा है तथा इसके पश्चात् ही प्राणियों का उद्भव सम्भव हो सका है। आखिर जो नार अथवा जल प्रजापति का आश्रय बना, वह नर या प्राणियों का आधार कैसे न बनता।

इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए हमारे शास्त्रों में यह माना है कि प्राणिमात्र की जल से उत्पत्ति हुई है, जल में ही अवस्थिति है तथा जब भी कभी इसका संहार होगा तो वह जल में विलीन होकर ही होगा। संस्कृत में पूर्ण विनाश के अर्थ में 'प्रलय' शब्द मूलतः जल में विलय का वाचक है। उपनिषदों में उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार करने वाले ब्रह्म को 'जलान्' नाम दिया है[1]। इसकी 'जल' शब्द के साथ समानता आकस्मिक नहीं है।

आधुनिक विज्ञान में भी दीर्घकालीन चिन्तन के पश्चात् जल को ही प्राणिमात्र की उत्पत्ति का मूल आधार माना गया है। उनके अनुसार धरती के ठण्डा होने के क्रम में जो सरलतम यौगिक सबसे पहले बने, उनमें सबसे प्रमुख जल ही था। करोड़ों वर्षों के बीच निरन्तर विशाल होते समुद्र में ही सबसे पहले जीवन जैसी हलचल शुरु हुई। जीवन के विकास के लिये सबसे पहली आवश्यकता पोषण की थी। अतः समुद्रों में वृक्षों के अतिसरलीकृत रूप नील–हरित शैवाल (blue green algae) इत्यादि उत्पन्न हुए जो प्रकाश और जल की सहायता से भोजन बना सकते थे। जन्तु जगत् (animalia) के अन्तर्गत अतिसरल एककोशिकीय (protozoa) जीव भी वनस्पति से पहले नहीं हुए होंगे। क्योंकि इन सबको ऊर्जा के लिये भोजन चाहिये तथा यह वनस्पति के बिना नहीं मिल सकता। इस विश्व में केवल वनस्पति

---

१. सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। —छान्दोग्य उपनिषद् ३.१४.१

ही सीधे सूर्य से ऊर्जा प्राप्त करके भोजन निर्माण कर सकते हैं[1]।

इस प्रकार लाखों वर्षों तक समुद्र में जीवन की हलचलें निरन्तर प्रगति में होने पर भी धरती अभी ऑक्सीश्वसन (aerobic) वाले जीवों से वीरान ही थी। क्योंकि एक तो यह समुद्र की अपेक्षा बहुत धीरे–२ ठण्डी हो पा रही थी। दूसरे, इस पर सूर्य से निरन्तर पहुँचने वाली उच्च ऊर्जा वाली पराबैगनी किरणें भी जीवन के लिये बहुत घातक सिद्ध हो रही थीं। धरती पर श्वास लेने के लिये ऑक्सीजन भी नहीं थी। वनस्पति के उद्भव के पश्चात् ही सबसे पहले वातावरण में ऑक्सीजन मुक्त हो सकी। इससे तीन ऑक्सीजन परमाणुओं से बनने वाला ओजोन (ozone) नामक अणुसमूह वातावरण के ऊपर पहुँच कर सूर्य की घातक किरणों से रक्षा–कवच का कार्य करने लगा। साथ ही दो परमाणुओं से निर्मित सामान्य ऑक्सीजन धरती पर प्राणी के श्वसन–जीवन को सम्भव बना सकी[2]। इस प्रकार स्पष्ट है कि जल में जीवन के पर्याप्त विकास के पश्चात् ही प्राणवायु तथा भोजन की सुविधा मिलने के उपरान्त धरती पर जीवन प्रारम्भ हो पाया है।

धरती से पूर्व जल में जीवन प्रारम्भ होने की अन्य अनेक प्रमाणों से पुष्टि की जा सकती है। हम बहुकोशिकीय अतिविकसित प्राणियों की कोशिकाएँ भी अपनी रचना तथा आकार में उन एककोशिकीय प्राणियों से समानता रखती हैं, जो समुद्र में बहुत पहले विकसित हुए थे। इनके चारों ओर पतली झिल्ली के अन्दर इनके जीवन–श्वसन के लिये उत्तरदायी केन्द्रक (nucleus) मितकेन्द्र (mitochondria) आदि अंग अवस्थित होते हैं। ये अंग समूची कोशिका में वर्तमान जीवद्रव्य (protoplasm) नामक अर्धद्रव पदार्थ से घिरे होते हैं। समुद्र से प्राप्त यह द्रव स्वाद में खारा होता है। यह एककोशिकीय प्राणी इसके माध्यम से ही पोषक आहार ग्रहण करता है तथा यहीं मलोत्सर्जन करता है।

हम स्थलचारी प्राणियों की कोशिकाओं में भी सामान्यतः ये अंग पाए जाते हैं। इनके भी चारों ओर खारा अर्धद्रव का एक बड़ा घेरा पाया जाता है, जिसमें ये निरन्तर मलोत्सर्जन आदि क्रियाएं करते रहते हैं। इस प्रकार हम विकसित कहे जाने वालों की कोशिकाएं अपनी दैनिक क्रियाओं के लिये उन आदिम कोशिकाओं

---

1. The first forms of life must necessarily have been plantlike in this fundamental respect that they could live upon materials, not made by any pre-existing life. At some later stage the first animal forms must have been produced able to live because their plant predecessors and contemporaries provided them with nourishment. —Harmsworth popular science, London, valume I, Page 157
2. विस्तार के लिये द्रष्टव्य– 'आधुनिक जन्तु–विज्ञान' पृ० २७–३४

से आगे नहीं बढ़ सकी हैं। समुद्र के इस एककोशिकीय प्राणी के चारों ओर खारा पानी ही होता था। अतः वह अपनी झिल्ली के अन्दर इसी पानी का घेरा बना कर अपना काम चलाने के लिये मजबूर था। आज हम विकसित प्राणी मीठे पानी से अपनी प्यास बुझाते हैं। पर हमारी कोशिका अब भी उस पुराने स्वभाव को न छोड़ते हुए समुद्र की आदिम कोशिका की तरह खारे पानी की ही मांग करती है। इसीलिये रोगी के शरीर में पानी की कमी होने पर लवण–मिश्रित जल (saline) का ही इंजेक्षन दिया जाता है[1]। हमारी कोशिका को सामान्य जल बिल्कुल स्वीकार्य नहीं होता। इससे प्रतीत होता है कि हमारी कोशिका उस आदिम कोशिका से सम्बद्ध है, जो पहले कभी समुद्र में विकसित हुई थी।

समुद्र से धरती पर वनस्पतियों तथा प्राणियों के विकास के प्रत्येक कदम पर इनकी जल पर निर्भरता जरा भी कम नहीं हुई है। सभी वनस्पतियाँ वायु से कार्बन डाइ ऑक्साइड तथा धरती से जल को प्राप्त करके प्रकाश–संश्लेषण (photosynthesis) की अद्भुत विधि से जल–अणुओं का अपघटन करते हुए इनसे हाइड्रोजन परमाणु प्राप्त करते हैं तथा कार्बन के विविध संख्या वाले परमाणुओं के साथ विविध अनुपात में संयोग करते हुए असंख्य यौगिक तयार करते हैं। जो कोयला आदि कार्बनिक पदार्थ भोजन की दृष्टि से हमारे लिये व्यर्थ हैं, इनके दहन से निर्मित जो कार्बन डाइ ऑक्साइड गैस हमारे लिये घातक है, जो लालटेन का धुआँ हमारे लिये विषैला है, उसी गैस के साथ जल के एक घटक हाइड्रोजन का संयोग करके ये वृक्ष अपने कारखाने में शर्करा (glucose) के यौगिक तयार करते हैं तथा ऑक्सीजन मुक्त करते हैं। इनके द्वारा रासायनिक प्रतिक्रिया का क्रम इस प्रकार है[2]–

कार्बन डाइ ऑक्साइड+जल+ऊर्जा → शर्करा+ऑक्सीजन
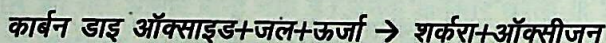
इससे स्पष्ट है कि इन यौगिक पदार्थों के निर्माण के लिये जल अनिवार्य है।

इसके साथ ही ये वृक्ष अपने खाद्य पदार्थों में अनेक कैलशियम, फॉस्फोरस इत्यादि खनिजों (minerals) के यौगिकों के मिश्रण के लिये सीधे यौगिक जल का भी भारी मात्रा में उपयोग करते हैं। इन भोज्य पदार्थों में सामान्यतः ३० से ६० प्रतिशत तक जल वर्तमान होता है। उदाहरण के लिये आलू में लगभग ८० प्रतिशत, गाजर में ८८ प्रतिशत तथा टमाटर में ६० प्रतिशत तक जल रहता है।

---

१. सैलाइन (saline) शब्द का विस्तृत अर्थ physiological salt solution अर्थात् 'शरीरोपयोगी लवणमिश्रित जल' यही होता है।

२. द्रष्टव्य– परमाणु और ज़ीवन, भाग १, –अर्नेस्ट बोरेक, पृ० १४

ये वृक्ष भोजन निर्माण की प्रक्रिया में अपने को ठण्डा रखने के लिये अत्यधिक मात्रा में जल को वाष्पीकृत करते हुए वातावरण में भेजते रहते हैं। एक भूर्ज–पत्र गर्मी के दिनों में अपनी दो लाख पत्तियों द्वारा लगभग ५०० बोतल पानी प्रतिदिन हवा में उड़ा देता है। इस प्रकार इनसे किसी यौगिक उत्पन्न होने में उससे सैकड़ों गुना अधिक पानी खर्च होता है। जैसे केवल १ किलो गेहूँ उत्पन्न करने में औसतन १५०० लीटर पानी तथा केवल १ किलो चावल पर लगभग ४००० लीटर पानी का खर्च आता है।

वृक्षों द्वारा उत्पादित ये भोज्य पदार्थ हमारे लिये ऊर्जा के पैकेट सिद्ध होते हैं। हम इन पैकेटों को खोलने, ढीला करने आदि के लिये अर्थात् इन्हें पका कर भोजन का रूप देने के लिये पुनः जल का उपयोग करते हैं। इन्हें इस रूप देने में इन पदार्थों से लगभग दुगुना जल खर्च होता है।

इन भोज्य पदार्थों से ऊर्जा प्राप्त करने के लिये इन्हें अपघटित करने हेतु हम सीधे तथा परम्परा से–दोनों उपायों से जल प्राप्त करते हैं। हम इन पदार्थों को और ढीला करने के लिये इसे पी कर सीधे ग्रहण कर लेते हैं। स्वस्थ मनुष्य प्रतिदिन औसतन दो लीटर पानी पीते हैं। साथ ही औसतन एक लीटर जल को भोज्य पदार्थों याने परम्परा से प्राप्त करते हैं।

इस जल के द्वारा भोज्य पदार्थ को रस–रक्त का रूप देकर इसमें छिपी रासायनिक ऊर्जा को श्वसन के द्वारा ऑक्सीजन रूपी चाभी से खोलते हैं। हमारे कारखाने में इस प्रक्रिया से इन यौगिकों के ऑक्सीजन के साथ संयोग से पुनः कार्बन डाइ ऑक्साइड तथा जल निर्मित हाता है। इस प्रकार इस ऑक्सीकरण की प्रक्रिया से भी हमें किंचित् जल उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ एक ग्राम द्राक्षा–शर्करा के ऑक्सीकरण से ०.६ ग्राम जल प्राप्त होता है। इसका क्रम इस प्रकार है[1]–

$C_6H_{12}O_6$ *(द्राक्षा शर्करा)* + $6O_2$*(आक्सीजन)*→$6CO_2$ *(कार्बन डाइ आक्साइड)*+ $6H_2O$*(जल)*+ *ऊर्जा*
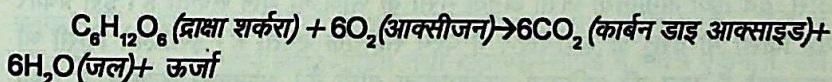
हम देखते हैं कि यहाँ विलोम रासायनिक प्रतिक्रिया के द्वारा जल तथा वायु का यह चक्र पूर्ण किया गया है।

हम इन उपायों से उपलब्ध जल को निःश्वसन, वाष्पीकरण के द्वारा तथा अनावश्यक पदार्थों के उत्सर्जन की प्रक्रिया में व्यय कर डालते हैं। पूरे शरीर में

---

१. द्रष्टव्य– 'प्राणि–शरीर का क्रिया विज्ञान,' नट श्मिट, नील्सन पृ० ७० तथा 'परमाणु और जीवन' पृ० १५

फैले रोमकूपों से निरन्तर संस्वेदन तथा वाष्पीकरण के उपायों से हम उपलब्ध मात्रा का लगभग दो तिहाई लीटर जल तथा उत्सर्जन के माध्यम से लगभग एक लीटर जल बाहर कर देते हैं[1]।

इस विवरण से प्रकट है कि हमारे जीवन के लिये जल के अलावा भोजन तथा प्राणवायु–ऑक्सीजन भी अनिवार्य है। पर इन दोनों का मूल स्रोत जल ही तो है। यदि केवल जल उपलब्ध हो तो हम वनस्पति की सहायता से इन्हें प्राप्त कर सकते हैं। पर जल न होने पर इन्हें प्राप्त करने का कोई उपाय नहीं। सम्भवतः इसीलिये ब्राह्मण–ग्रन्थों में प्राणवायु को जल का रस बताया है[२]। अन्य प्रसंगों में कहा है कि यह जल प्राण वाला नहीं, अपितु स्वयं प्राण ही कहे जाने के योग्य है[३]।

इस दृष्टि से देखा जाय तो प्राणियों के लिये जल तथा केवल द्रव अवस्था वाला जल ही सबसे अनिवार्य है। हिम दशा वाले जल में प्राणी के लिये जीवन की क्रियाएं बनाए रख पाना सम्भव नहीं होता। बैक्टीरिया हिम में ६ महीना जिन्दा तो रह लेता है, पर प्रजनन नहीं कर पाता। हम गर्म खून वाले प्राणी जमाव बिन्दु वाले तापमान में शरीर को जिन्दा नहीं रख सकते। हमारी उष्ण अर्धद्रव वाली कोशिका इस परिस्थिति की अनुमति नहीं देती। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि अगर पृथ्वी का औसत तापमान कुछ डिग्री कम होता तो हमारी कोशिकाएँ इस जल द्रव से निर्मित न होकर शायद द्रव अमोनिया से निर्मित होतीं[४]। तब यहाँ सदा हिम–युग बना रहता। उस समय हमारे लिये हिम दशा स्वाभाविक होती तथा द्रव–जल ताप से निर्मित होने वाला, कहीं–२ उपलब्ध होने वाला नैमित्तिक पदार्थ होता!!

वर्तमान परिस्थिति में इस जल में कुछ ऐसी प्रमुख विशेषताएँ हैं, जो विश्व के किसी अन्य पदार्थ में नहीं पाई जातीं। उनमें से प्रथम है– इसका विलायक होना। विज्ञान में जल को सबसे बढ़िया विलायक (solvent) माना जाता है। यह ठोस, द्रव तथा अमोनिया जैसी अनेक गैसों के साथ भी घुल सकता है। इस प्रकार यह किसी भी वस्तु के रूपान्तरण में परम सहायक बनता है। इसीलिये किसी भी कारखाने में जल की अनिवार्य आवश्यकता होती है। आजकल उद्योगों के लिये

---

1. In the course of a day, the average adult loses about two thirds of a litre of water through perspiration and excretes about a litre of water to get rid of waste products.
—Tell me why, London, Page 267

२. एष (वायुः) वा अपां रसो योऽयं पवते। –शतपथ ब्राह्मण ५.१.२.७

३. प्राणो वा आपः। –तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.२.५.२
तुलनीय–नात्र भवन्तः प्राणिनः, प्राणा एवात्र भवन्तः।
–अष्टाध्यायी–सूत्र १.२.६३ पर महाभाष्य।

४. परमाणु और जीवन, अर्नेस्ट बोरेक पृ० ४६

इसका उपयोग उल्लेखनीय है। एक मीट्रिक टन स्टील बनाने में २७० मीट्रिक टन पानी खर्च होता है। सामान्यतः प्रतिदिन काम आने वाले २३–२४ पृष्ठ के अखबारी कागज के निर्माण में लगभग ५७० लीटर पानी का उपयोग होता है।

पौधे, वनस्पति आदि प्रकृति के कारखानों में भी जल की इस विशेषता का अनिवार्य उपयोग किया जाता है। ये पौधे धरती में घुले खनिज लवणों को खींचते हुए जल से कुली जैसा काम लेते हैं। पुनः ये इसी जल की सहायता से अनेक प्रकार के रासायनिक घोलों को निर्मित करके अपने यौगिकों में समाहित रखते हैं।

इसकी दूसरी विशेषता सामान्य दाब पर तथा दैनिक जीवन में उपलब्ध ताप पर इसका द्रव, ठोस तथा वाष्प तीनों दशाओं में प्राप्त होना है। विश्व के अन्य पदार्थ इतने सामान्य ताप पर विविध अवस्थाओं में उपलब्ध नहीं होते। अतः जल को इन तीनों अवस्थाओं का बढ़िया प्रतिनिधि माना जाता है। जल की इस विशेषता के कारण इस विश्व में जल का यात्रा–चक्र चलता रहता है। समुद्र का जल वाष्प बन कर ऊपर उड़ता है। यह इस रूप में सुदूर भागों की यात्रा करते हुए अनुकूल तापमान में वर्षा की द्रव बूँदें बन कर नीचे गिर पड़ता है। यह ऊँचे पहाड़ों में हिम का रूप धारण करके काफी समय तक वहाँ सुरक्षित रहता है। पुनः उचित तापमांन में क्रमशः द्रवीभूत होकर नदी के रूप में प्रवाहित होते हुए अन्ततः समुद्र में मिल जाता है। यह चक्र निरन्तर परिचालित रहता है।

हमारे शरीर में भी यह जल द्रव रूप में रह कर अपने में रक्त–कणिकाओं को तैराता है। अपद्रव्यों को अपने में घुला कर शरीर से बाहर निकालता है। अर्धद्रव रूप में सभी कोशिकाओं का आवश्यक अंग बनता है। अपने स्नेहन रूप में भोजन को चिकना, गीला पिण्ड बनाता है। यह वाष्प रूप में हमारे शरीर के ताप को नियन्त्रित करता है। हमारे शरीर में लगभग ७० प्रतिशत जल वर्तमान होता है। यह उल्लेख बहुत रोचक है कि इस धरती में भी जल तथा स्थल भाग का लगभग यही अनुपात है। आधुनिकतम खोजों के अनुसार धरती का ७०.८ प्रतिशत भाग जल से आच्छादित है। इस प्रकार शरीर–पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड–भाण्ड में सर्वत्र एकमात्र जल का साम्राज्य है। हमारे रहने के लिये शेष २९.२ प्रतिशत स्थल भाग में भी धरती के नीचे द्रव, पहाड़ों के ऊपर हिम तथा वातावरण की वायु में वाष्प के रूप में यह अनिवार्यतः प्राप्त होता है। यह गर्मी के दिनों में वाष्प तथा अन्य ऋतुओं में नन्हीं बूँदें, कोहरे आदि अनेक रूपों में उपस्थित होकर उस भाग की सापेक्ष आर्द्रता के लिये उत्तरदायी होता है।

इस विश्व में मानव जाति का इतिहास एक दृष्टि से जल की उपलब्धता का

इतिहास है। विश्व की प्रमुख सभ्यताएँ सदानीरा नदियों के तट पर विकसित हुई हैं। नील नदी के पास मिश्र की सभ्यता, ह्वांग हो या पीली नदी के तट पर चीन की सभ्यता तथा सिन्धु नदी के समीप सिन्धु सभ्यता इसके प्रमुख उदाहरण हैं। संस्कृत में 'समीप' शब्द का प्रयोग सबसे पहले 'जल के निकट' अर्थ को प्रकट करने के लिये ही प्रचलित हुआ था[1]।

जल को मानव–सभ्यता का मूल मानते हुए ऋषियों ने बार–२ इस मन्त्र का पारायण किया था–

उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्।

धिया विप्रो अजायत। –यजुर्वेद २६.१५

अर्थात् पर्वतों की ऊँचाइयों में तथा नदियों के संगमों में विप्रजन उच्च बुद्धि से ओत–प्रोत हुए थे।

वेद में जल को एक देवी का रूप दिया गया है तथा उससे शान्ति की इस प्रकार प्रार्थना की गई है–

शन्नो देवीरभिष्टये आपो भवन्तु पीतये

शंयोरभिस्रवन्तु नः। –यजुर्वेद ३६.१२

हमारे शास्त्रों में जल तथा नदियों की प्रशंसा में इतने अधिक वचन हैं कि उनकी गिनती नहीं की जा सकती। निरुक्तकार यास्क ने जल के १०० नामों के अन्तर्गत भूत, भुवन तथा भविष्यत् इन पर्याय नामों की गणना करते हुए परोक्ष रूप से यह माना कि यह विश्व जलस्वरूप है। इस दुनियाँ में मानव का इतिहास जल का इतिहास है तथा इसका भविष्य भी सर्वथा जल पर अवलम्बित है।

यह आकस्मिक नहीं है कि हमारे देश के सबसे महान् संस्कृत कवि अपने नाटक का प्रारम्भ जल को सृष्टि की आद्य रचना बताते हुए उसकी प्रार्थना से करते हैं[2]। हमारे धर्मशास्त्र नदियों की प्रशंसा करते अघाते नहीं हैं तथा सिन्धु को गंगा से तथा गंगा–जल को कावेरी के जल से जोड़ने को अपना परम कर्तव्य बताते हैं–

---

१. द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् (अष्टाध्यायी सूत्र ६.३.९७) के अनुसार 'सम्+अप्' से यह शब्द विकसित है।

२. या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री।
–महाकवि कालिदास विरचित अभिज्ञानशाकुन्तल का प्रथम मंगल श्लोक।

गंगा च यमुना चैव गोदावरी सरस्वती।

नर्मदा सिन्धु कावेरी जले ऽस्मिन् सन्निधिं कुरु।

उनके इस वचन से तो ऐसा लगता है मानों नदियों में मानव के प्राण बसते हों तथा इन नदी–जलों को जोड़ कर वे सब के प्राणों को एक साथ जोड़ रहे हों। नदियों के स्पन्दन के साथ हृदय के स्पन्दन को प्रकट करने का इससे बढ़िया क्या उपाय हो सकता है!

हो सकता हैं, आज ये उपाय किन्हीं को व्यर्थ प्रतीत होते हों। क्योंकि कहने को आज हम जल के विषय में पहले से अधिक जानते हैं। पर जल के प्रति हमारी संवेदनाएँ उतनी ही कम हो चुकी हैं। आज हम जल को एक 'वस्तु' से अधिक कुछ नहीं मानना चाहते। हम अर्थशास्त्र के नियमों के द्वारा दुर्लभता के आधार पर इसका मूल्य तय करना चाहने लगे हैं, उपयोगिता के आधार पर नहीं। ऐसे में यह जल हमारी संवेदनाओं को नहीं जगा पाता। अतः हम अधिक से अधिक जल को मल का रूप देने लगे हैं। आज अनेक छोटी बड़ी नदियाँ नालियाँ बन चुकी हैं। जल के घुलनशील गुण का फायदा उठा कर हम कारखाने आदि का अधिकाधिक अपद्रव्य इसमें झोंक रहे हैं।

इस परिस्थिति को रोकने के लिये प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर जल के प्रति संवेदना जागृत करनी होगी। हमें यह भली प्रकार अनुभव करना होगा कि मानव का भूत और भविष्य दोनों जल पर अवलम्बित है। आज यह भली प्रकार समझ लेने की जरूरत है कि अगर विश्व में ऊर्जा का स्रोत एकमात्र सूर्य है तो प्रकृति ने समूचे प्राणि–जगत् की छोटी से छोटी कोशिका के निमित्त इस ऊर्जा को निरन्तर उपलब्ध कराने के लिये जो सबसे बढ़िया माध्यम चुना है, वह है– द्रव अवस्था का जल!

---

२. पानी से आग या आग से पानी

अग्नि से जल (दर्शन)

I सृष्टि के प्रारम्भ में– पिछले परिच्छेद में सृष्टि के प्रारम्भ में सबसे पहले जल उत्पन्न होने की चर्चा की गई है। पर अन्य प्राचीन ग्रन्थों में सृष्टि उत्पत्ति का अन्य प्रकार से निरूपण उपलब्ध होता है। उपनिषदों तथा वेदान्त के अनुसार जल से भी पूर्व अग्नि या तेजस् तत्त्व वर्तमान था। इस अग्नि से ही जल उत्पन्न हुआ। तैत्तिरीय उपनिषद् में इसका विस्तृत विवरण देते हुए कहा है कि सूक्ष्म पञ्चभूतों में सबसे पहले आकाश, इससे वायु, इससे अग्नि, इससे जल तथा इस जल से पृथिवी विवर्तभाव को प्राप्त हुई है[1]। इसका ही समर्थन करते हुए वेदान्त में माना है कि जहाँ भी जल को आद्य सृष्टि बताया है, वह इसके पश्चात् आविर्भूत पृथिवी आदि की अपेक्षा से है। पर जल से भी सूक्ष्म पदार्थों के सन्दर्भ में यह मानना होगा कि इससे भी पूर्व अग्नि था तथा यही जल की उत्पत्ति में उपादान कारण है।

सांख्य दर्शन में भी सृष्टि का यही क्रम स्वीकार करते हुए अग्नि के पश्चात् जल का आविर्भाव स्वीकार किया है। पर इस जल का अग्नि नहीं, अपितु जल के गुणों वाला तामस अहंकार उपादान कारण है। उनके अनुसार तन्मात्र नामक सूक्ष्मभूत सभी पदार्थों का उपादान कारण तामस अहंकार ही है, उनसे पूर्ववर्ती पदार्थ नहीं[2]। इस प्रकार जल–तन्मात्र के आविर्भाव में पूर्ववर्ती अग्नि–तन्मात्र निमित्त कारण के रूप में सहायक तो हो सकता है, पर उसका उपादान कारण तो 'अहंकार' ही होगा। स्थूल जल के आविर्भाव में सूक्ष्म जल–तन्मात्र उपादान कारण होगा।

न्याय शास्त्र में जल की उत्पत्ति जल परमाणुओं से तथा उसके पश्चात् अग्नि की उत्पत्ति तेजः परमाणु से मानी है। इस जल की उत्पत्ति के समय पूर्ववर्ती वायु को इसका सहयोगी या निमित्त कारण माना जा सकता है।

II वर्षा सम्पन्न होने में– सृष्टि उत्पत्ति के पश्चात् उसकी अवस्थिति काल में तो सभी दर्शन–सम्प्रदायों में अग्नि के सहयोग या निमित्त कारण से वर्षा के रूप में जल उत्पत्ति को स्वीकार किया है। ब्राह्मण–ग्रन्थों में विस्तार से कहा है कि

---

१. तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी, पृथिवीभ्योऽन्नम्। –तैत्तिरीय उपनिषद् २.१

२. भूतादेस्तन्मात्रः, स तामसः, तैजसादुभयम्। –साख्य कारिका, श्लोक २५

अग्नि से धूम उत्पन्न होता है, उससे बादल बनते हैं तथा उनसे अन्ततः वृष्टि होती है[1]। यहाँ यह बताना अभिप्रेत है कि गर्मी में सूर्य की प्रचण्ड ऊष्मा से समूचे वातावरण में धूल इत्यादि के कण छा जाते हैं। इसी ऊष्मा से बनने वाला समुद्र का जल–वाष्प आसमान में जल–शीकर का रूप धारण करके इन्हीं धूल–कणों में अभ्र या बादल बन कर टिक जाता है। पुनः यह बादल अधिक संघनित होकर वर्षा की बूँदों के रूप में नीचे गिर पड़ता है।

वैशेषिक सूत्र तथा उसके भाष्य के सुन्दर विवरण में कहा है कि प्रंखर नाडी[2] अर्थात् सूर्य–किरणें वायु को ऊष्म करती हुई ज़ल को वाष्प के रूप में ऊपर उड़ाती हैं। पुनः आसमान में किसी समय अल्प तेज से उत्पन्न विशेष शीतलता के होने पर यह वाष्प से निर्मित मेघ द्रवीभूत होता है। बड़ी बूँदें बनने पर धूलि–कण भी इसका विधारण नहीं कर पाते। तब आसमान में किसी विधारक संयोग के न रहने की दशा में यह अपने गुरुत्व से धरती पर परिपतित हो जाता है[3]। इस व्याख्या के अनुसार स्पष्टतः अग्नि या सूर्य का तेजस् तत्त्व जल–वृष्टि का निमित्त सिद्ध होता है।

अग्नि से जल (विज्ञान)

I **सृष्टि के प्रारम्भ में**– आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी सृष्टि के प्रारम्भ में सविशेष अग्निपुञ्ज की उपस्थिति के पश्चात् ही जल उत्पन्न हुआ होगा। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि किसी समय सूर्य से छिटक कर अलग होने वाली यह धरती सूर्य के समान अग्निमय गैस का गोला थी। इस समय इसके परमाणु मुक्त दशा में अतितीव्र गति से घूम रहे थे। सूर्य से काफी दूर अवस्थित हो जाने के कारण धीरे–२ यह ठण्डी होने लगी। तब इसके परमाणु संयोजित होकर अणु का रूप लेने लगे। जब इस धरती का १२०० डिग्री सेंटीग्रेड जितना तापमान हुआ तब इसमें पपड़ी पड़ने लगी। पुनः धीरे–धीरे ३७० डिग्री सेंटीग्रेड से भी न्यून तापमान होने पर लोहा, निकिल जैसे भारी अणुओं से बनने वाले पदार्थ अपनी गैसीय दशा छोड़ कर

---

१. अग्नेर्वै धूमो जायते, धूमादभ्रम्, अभ्राद् वृष्टिः। —शतपथ ब्राह्मण ५.३.५.१७

२. महाकवि कालिदास ने कहा है कि जिस प्रकार मनुष्य की नाडी से रस–रक्त का संवहन होता है, उसी प्रकार सूर्य–किरणों से भी जल का संवहन किया जाता है। अतः इन किरणों को भी नाडी कहा गया है। द्रष्टव्य– रघुवंश १०.५८।

३. नाड्यो वायुसंयोगादारोहणम् —वैशेषिक सूत्र ५.२.५
तेजश्चैतन्मेघगताभिः शैत्यविशेषात् संहताभिरद्भिः संसृज्यमानं तासां विलयनं करोति, विलीनाश्चापो वृष्टिभावेन पतन्ति। —वै० सू० ५.२.११ पर भाष्य।
अपां संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम्। —वै० सू० ५.२.३

द्रव अवस्था में बदलने लगे। तब गर्म लावा के रूप में इन पदार्थों की भयंकर वर्षा होने लगी। ये धीरे–२ पृथ्वी के कठोर भाग का अंग बनते गए[1]।

इस समय इस गोले के हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, ऑक्सीजन आदि हल्के तत्त्वों के परमाणु भी आपस में अभिक्रिया करके अणुओं तथा यौगिकों के रूप में प्रकट होने लगे। इस प्रक्रिया में हाइड्रोजन के दो तथा ऑक्सीजन के एक परमाणु के संयोजन से जल का और हाइड्रोजन के तीन तथा नाइट्रोजन के एक परमाणु के संश्लेषण से अमोनिया आदि गैसों का निर्माण होने लगा।

इस समय भी इतनी प्रचण्ड गर्मी थी कि जल आदि के ये अणु द्रव रूप में नहीं, अपितु गैस रूप में ही रह सकते थे। धीरे–२ धरती के और ठण्डा होने पर यह वाष्परूपी जल अन्य भारी गैसों के दबाव से बादल का रूप लेने लगा तथा बूँदों के रूप में परिवर्तित होकर नीचे गिरने लगा। पर अब भी धरती इतनी गरम थी कि ये बूँदें धरती पर गिरते ही तुरत भाप बन कर उड़ जाती थीं। अन्ततः धरती के १०० डिग्री सेंटीग्रेड से भी न्यून तापमान होने पर यह सम्भव हो सका कि वर्षा की बूँदें धरती पर भी द्रव बनी रह सकें। इस प्रकार जल की अधिकाधिक वर्षा होने पर समुद्र का निर्माण होने लगा।

विज्ञान की यह व्याख्या दर्शनशास्त्र के उपरिलिखित विवरण के सन्निकट है। विज्ञान तथा वेदान्त दोनों यह मानते हैं कि अग्नि के पश्चात् जल का आविर्भाव हुआ। यहाँ वेदान्त का कहना है कि अग्नि ही जल–रूप में विवर्तभाव को प्राप्त हुआ। अतः यह अग्नि ही जल का उपादान कारण है। पर विज्ञान का मानना है कि अग्नि के पश्चात् हाइड्रोजन, ऑक्सीजन के नित्य परमाणुओं से जल उत्पन्न हुआ। अतः ये ही इस जल के उपादान कारण हैं।

इस दृष्टि से यह व्याख्या सांख्य के सर्वाधिक सन्निकट है। इसकी न्याय से भी केवल इस अर्थ में समानता हो सकती है कि न्याय ने जल की उत्पत्ति में अग्नि को नहीं, अपितु जल के परमाणुओं को ही इसके समवायिकारण (material cause) के रूप में स्वीकार किया है।

II वर्षा सम्पन्न होने में– वृष्टि के सन्दर्भ में न्याय का विवरण आधुनिक विज्ञान के सर्वथा समतुल्य है। न्याय में जल के वाष्पीकरण, द्रवीकरण इत्यादि का जो

---

1. When the temperature was lowered sufficiently to enable them to pass from gaseous to a liquid state, metals and other substances would fall down in a fiery rain on the terrestrial lava.

—Harmsworth popular science, London, Part I, Page 22

विवरण दिया है, उसकी ही विज्ञान विस्तार से व्याख्या करता है। सूर्य की प्रचण्ड ऊष्मा के प्रभाव से समुद्र तालाब आदि के जल का वाष्पीकरण होता रहता है। इस प्रक्रिया में असन्तृप्त वायु जलाणुओं को अपनी ओर खींचते हुए अपने से हल्की इस वाष्प को अपने में धारण करते हुए ऊपर उड़ाती रहती है। इस समय वायु की सन्धारण–क्षमता भी प्रबल होती है। पर वायु में आर्द्रता बढ़ने के साथ–२ अथवा तापमान में न्यूनता के साथ–२ यह क्षमता क्रमशः न्यून होती जाती है। इस प्रकार गर्मी के दिनों में वातावरण में अधिक जलवाष्प धारण करने की शक्ति के सापेक्ष आर्द्रता (relative humidity) कम होने की स्थिति तक या वायु के सन्तृप्त होने तक वाष्पीकरण होता रहता है। यह वाष्प ऊपर जाकर ठण्डे वातावरण से मिलती है। यहाँ शीतलता के कारण इसका संघनन प्रारम्भ हो जाने से यह वाष्प सापेक्षतः भारी होकर नन्हीं बूँदों या जल–शीकर के रूप में बदलने लगती है। वायु के इस तापमान को ओस–बिन्दु (dew point) कहते हैं। इस तापमान में वायु में वाष्पीकरण सर्वथा क्षीण होता है तथा संघनित बूँदों के वाष्प से भारी होने के कारण वायु उतनी सन्धारण–क्षमता भी नहीं रखती। अतः अधिकांश सूक्ष्म जल–शीकर विशाल वातावरण में उड़ते हुए धूलि कणों पर टिक जाते हैं। इन धूलि–कणों के प्रभाव से ये शीकर काले, गहरे काले बादलों का रूप धारण करते हैं। ये ही कभी–२ गतिशील वायु के प्रभाव से भागते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इन्हें ही प्रकट करते हुए ब्राह्मण–ग्रन्थों में धूम अर्थात् धूलि–कणों से अभ्र अर्थात् बादल बनने की बात कही गई है। अब यदि वातावरण का तापमान ओस–बिन्दु से भी अधिक ठण्डा होता है तो इनकी संघनन क्रिया बढ़ जाती है। तब बड़ी बूँदें बनने लगतीं हैं। इन भारी बूँदों को वायु के धूलि–कण भी धारण नहीं कर पाते। अतः ये पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से नीचे गिर पड़ती हैं। इसे ही जल–वृष्टि कहा जाता है। इस व्याख्या के अनुसार भी जलवृष्टि के लिये सूर्य की ऊष्मा द्वारा सम्पन्न वाष्पीकरण अनिवार्य निमित्त कारण है।

जल से अग्नि–आकाशीय विद्युत् में (दर्शन)– न्याय शास्त्र में जल से मेघ–विद्युत् के रूप में तेजस् तत्त्व उत्पन्न होने का वर्णन किया है। इस विद्युत् को तेजस् के अनेक उपभेदों में से दिव्य तेज के अन्तर्गत रखा गया है। इसे 'अबिन्धन' कहते हुए 'जल ही इसका ईंधन है' इस रूप में परिभाषित किया गया है[1]। जिस प्रकार लकड़ी की आग का निमित्त कारण उसका ईंधन लकड़ी होती है, उसी प्रकार इस मेघ की बिजली का निमित्त कारण उसका ईंधन जल सिद्ध होता है। अतः यहाँ जल से अग्नि की उत्पत्ति स्वीकार्य है।

---

१. दिव्यमबिन्धनं सौरविद्युदादि। —प्रशस्तपादभाष्य, तेजः प्रकरण पृ० १०१

महाकवि कालिदास ने पुराणों की मान्यतानुसार इसका सुन्दर निरूपण करते हुए कहा है कि समुद्र–जल ईंधन बन कर अपने में अग्नि को धारण करता है तथा आह्लाद देने वाली चन्द्र की ज्योति को उत्पन्न करता है–

अबिन्धनं वह्निमसौ बिभर्ति प्रह्लादनं ज्योतिरजन्यनेन। –रघुवंश १३.४

इस प्रकार यह समुद्र की महान्ता ही तो है कि यह स्वयं कष्ट सह कर भी लोगों को आनन्द प्रदान करता है।

दर्शन तथा काव्यशास्त्र को यह प्रेरणा वेद के काव्यात्मक मन्त्रों से प्राप्त हुई है। यजुर्वेद के एक मन्त्र में अग्नि को सम्बोधित करते हुए कहा है कि तुम ओषधियों, वनस्पतियों तथा सभी प्राणियों में अन्तर्भूत हो तथा तुम्हीं समुद्र–जल के गर्भ में निवास करते हो[1]। इसी मान्यता के अनुसार मेघ की बिजली को 'अपांनपात्' यह आलंकारिक नाम प्रदान किया है। इसका मूल अर्थ 'जल का नपात् अर्थात् पौत्र' यह है। समुद्र–जल से मेघ तथा इससे बिजली उत्पन्न होने के कारण यह जल का पौत्र सिद्ध होती है।

इस प्रकार वेद में जल को इस बिजली का निमित्त कारण तो माना है। पर एक मन्त्र में इसके ईंधन होने का प्रतिषेध किया है। वहाँ कहा है कि जो जल को ईंधन बनाए बिना ही मेघ–जलों में चमकती है, उसकी विद्वान् लोग यज्ञ में स्तुति करते हैं[2]।

यहाँ दृष्टिभेद से दोनों मान्यताएँ समीचीन हैं। दर्शनशास्त्र में यह माना है कि अग्नि का जो सांयोगिक आधार होता है, वह उसका ईंधन भी अवश्य होता है। जैसे लकड़ी में आधारित अग्नि का ईंधन लकड़ी होती है, उसी प्रकार जल में अवस्थित दिव्य तेज का ईंधन जल सिद्ध होता है।

पर यहाँ वेद का मानना यह है कि अग्नि का जो आधार ईंधन बनता है, वह अवश्य ही अग्नि द्वारा विनाश को प्राप्त होता है। पर यहाँ इस विद्युत् का आधार जो जल है, वह विद्युत् से विनष्ट तो होता नहीं। अतः यह जल विद्युत् का ईंधन नहीं हो सकता।

इन दृष्टियों से इस जल को विद्युत् का ईंधन मानें या न मानें। पर इतना तो सर्वथा स्पष्ट है कि इस जल से विद्युत् उत्पन्न होती हैं तथा यह सांयोगिक रूप

१. गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम्।
गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भो अपामसि। –यजुर्वेद १२.३७

२. यो अनिध्मो दीदयदप्स्वन्तर्यं विप्रास ईडते अध्वरेषु। –ऋग्वेद १०.३४.४

से जल में ही निवास करती है। वैशेषिक सूत्र में बताया है कि मेघ—जल के भयंकर संयोग विभाग से दिव्य तेज रूपी विद्युत् परिदृश्य होती है[1] तथा इसी प्रक्रिया से 'विस्फूर्जथु' अर्थात् भयंकर गर्जन होता है। यह गर्जन विद्युत् उत्पन्न होने का लिंग अर्थात् पहचान होता है[2]। इस प्रकार यदि कभी दिन में बिजली की चमक न भी दिखाई दे, तो भी गर्जन—ध्वनि द्वारा इसके अवश्यं उत्पन्न होने का अनुमान किया जा सकता है। वैशेषिक सूत्र विवृति में स्पष्ट कहा है कि पहले बिजली की चमक उत्पन्न होती है। उसके पश्चात् ही मेघ—गर्जन होता है[3]।

जल से अग्नि— आकाशीय विद्युत् में (विज्ञान)— आधुनिक विज्ञान में भी मेघ—जल से आकाशीय बिजली के रूप में प्रकाश ऊर्जा का उत्पन्न होना स्वीकार्य है। वैसे तो किसी भी पदार्थ के संघर्षण से प्रकाश ऊष्मा ऊर्जा उत्पन्न हो सकती है। जैसा कि अरणि—मन्थन से अग्नि उत्पत्ति को प्राचीन विद्वान् भी मानते हैं। पर यहाँ मेघ—विद्युत् के प्रसंग में वैशेषिक का यह कहना बिल्कुल सही है कि मेघ—जल के भयंकर संयोग विभाग से तेज चमक एवं गर्जन ध्वनि उत्पन्न होती है।

लकड़ी की ज्वाला उस लकड़ी के अणुओं के तीव्र गति से प्रकम्पन(vibration) से प्रकट होती है। जब कि आकाशीय बिजली वायु में धूल, जल—शीकर आदि से बनने वाले मेघों के जबर्दस्त संयोग विभाग के परिणाम—स्वरूप किसी आवेशित मेघ—खण्ड के मुक्त एलेक्ट्रोन के अन्य मेघ के अणुओं के साथ भयंकर टक्कर (collision) से उत्पन्न होती है।

आकाश में तीव्र गतिशील वायु के द्वारा विविध दिशाओं की ओर भागने वाले मेघ परस्पर संयोग विभाग करते हैं। इस रगड़ से बादलों के विविध भाग आवेशित हो जाते हैं। प्रायः बादलों के ऊपरी हिस्से या एकदम निचले भाग धन आवेशित होते हैं। अर्थात् उनके परमाणुओं के मुक्त एलेक्ट्रोन न्यून हो जाते हैं। इसके बीच के भाग ऋण आवेशित होते हैं। अर्थात् उनके परमाणुओं के मुक्त एलेक्ट्रोन बढ़ जाते हैं। जब यह आवेश बहुत अधिक हो जाता है तथा वे भाग इस आवेश को सहन नहीं कर पाते तो भौतिक शास्त्र के नियमों के अनुसार धन आवेश अत्यन्त तीव्रता से ऋण आवेश को आकर्षित करता है। इससे ऋण आवेशित भाग के मुक्त एलेक्ट्रोन धन आवेशित भाग की ओर आकर्षित होकर उसे उदासीन करने

---

१. अपां संयोगाद्विभागाच्च स्तनयित्नोः। —वैशेषिक सूत्र ५.२.११
२. तत्र विस्फूर्जथुर्लिंगम्। —वैशेषिक सूत्र ५.२.६
३. आदौ विद्युत्प्रकाशस्ततो विस्फूर्जथुः। —उक्त सूत्र पर विवृति।

के लिये उस ओर भागने लगते हैं[1]। इस प्रक्रिया में इन एलेक्ट्रोनों की मार्ग में पड़ने वाले अणुओं के साथ जबर्दस्त टक्कर होती है। इससे प्रकाश ऊर्जा मुक्त होती है। जिसे हम बिजली की लकीर के रूप में देखते हैं। साथ ही इस घटना से वायु के अणु अतितीव्र गति से फैलते तथा संकुचित होते हैं। ध्वनि ऊर्जा से सम्पन्न इस भयंकर प्रकम्पन के प्रभाव को हम गर्जन के रूप में सुनते हैं।

यह घटना उसी प्रकार की है जैसे कोई पहाड़ी उफनती नदी अपने तीव्र प्रवाह से रास्ते के पत्थरों को भी तोड़ डालती है। वैसे एलेक्ट्रोन की तीव्रता के आगे यह उदाहरण बहुत मन्द है। अणुओं में गैसीय दशा में सर्वाधिक तेज चलने वाला हाइड्रोजन अणु १ मील प्रति सेकण्ड की चाल से यदृच्छ गति करता है[2]। हाइड्रोजन परमाणु के १०००वाँ हिस्सा द्रव्यमान रखने वाले एलेक्ट्रोन १९००० मील प्रति सेकेण्ड की चाल से भागते हैं[3]। इससे यह आभास मिल सकता है कि ऐसे एलेक्ट्रोनों की अणुओं के साथ कितनी भयंकर टक्कर होती होगी। इससे बिजली के धरती पर गिरने पर पेड़ टूट जाते हैं तथा मकानों में दरारें पड़ जाती हैं।

इतना भयंकर 'दिव्य तेज' रखने वाली बिजली केवल एक सेकेण्ड के कुछ हजारवें अंश तक ही जीवित रहती है। इससे संस्कृत में इसका एक विशिष्ट नाम 'आकालिकी' सार्थक होता है, जिसका अर्थ 'जन्म के साथ ही विनष्ट होने वाली' यह होता है।

---

1. Electrons start moving from the region of the negative charge to the positive.
—Lots more tell me why, London, Page 30
2. The fastest gaseous molecule is the hydrogen molecule in gaseous condition and it flies only about a mile a second. ——Harmsworth popular science, Page 1027
3. They (electrones) have only thousandth the mass of a hydrogen atom.......... They fly at the rate of about nineteen thousand miles per second.
—Harmsworth popular science,volume II, London, Page 1028

३. ओ पानी, तेरे कितने नाम

(जल के पर्याय)

प्राचीन क़ाल से ही जीवन के रूप में समझे जाने वाले जल के अनेक नाम प्रचलित रहे हैं। भारत के सबसे प्राचीन शब्दकोश 'निघण्टु' में इसके पूरे एक सौ नाम गिनाए हैं। ये नाम इसकी अनेक प्रकार की विशेषताओं को प्रकट करते हैं।

आजकल इसके लिये एक़ अतिप्रचलित नाम 'जल' है। कोशकार यास्क ने अपने निघंण्टु में इसका उल्लेख किया है। पर लगता है, वैदिक युग में यह शब्द उतना प्रचलित़ नहीं था। क्योंकि पैप्पलाद संहिता में एक स्थान के अलावा इसका प्रयोग उपलब्ध नहीं होता।

वैयाकरणों ने इस शब्द की अनेक प्रकार से सि़द्धि की है। कुछ का मानना है कि इसके द्वारा प्यास मिटाने के कारण विनाश अर्थ वाली 'जल' धातु से यह शब्द सिद्ध होता है। अन्य वैयाकरण कहते हैं कि इस धातु का अर्थ 'शीतल होना' है तथा जल में स्वाभाविक शीतलता के कारण यहाँ इस अर्थ वाली धातु का प्रयोग है।

कुछ कोशकारों का मानना है कि यह स्थिर अर्थ वाले 'जड' शब्द से बना है[१]। संस्कृत में ड तथा ल अक्षर में अभेद माना गया है। अतः इससे जल बनना सम्भावित है। इस प्रक़ार तालाब, कुआँ आदि के स्थिर पानी के लिये यह शब्द मूलतः प्रचलित हुआ होगा।

काव्य—शास्त्र के विद्वानों ने भी इसे जड से निर्मित मानते हुए अनेक सुन्दर रचनाएं की हैं। एक श्लोक में किसी रमणी को सम्बोधित करते हुए कहा है कि समुद्र सुन्दर पूर्णचन्द्र को देख कर ज्वार भाटा के रूप में हलचल में आ जाता है। पर तुम्हारा मुख तो इससे भी अधिक सुन्द्रर है। पर अचरज है कि तुम्हारे मुख को देख कर यह सविशेष हलचल में नहीं आता। अतः मानना होगा कि 'जलधि' नाम वाला यह समुद्र सचमुच जड गुणों वाले जल को धारण करते हुए स्वयं भी सर्वथा जड है[२]!!

---

१. द्रष्टव्य—Hybrid Buddhist English Dictionary में 'जल' शब्द।

२. लावण्यकान्ति—परिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्, स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि!
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये, सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः!!
—दशरूपक, चतुर्थ परिच्छेद में उद्धृत विजयवर्धन विरचित श्लोक।

अन्य अनेक शब्द इसकी प्रवाहशीलता के आधार पर विकसित हुए हैं। इस प्रकार का एक शब्द 'सरिर' या सलिल है। यह शब्द प्रवाह अर्थ वाली सृ धातु से निर्मित होकर नदी आदि के जल को संसूचित करता है। 'संसार' शब्द इसी धातु से निर्मित होते हुए यह संकेत देता है कि यह विश्व भी नदी की जलधारा के समान निरन्तर प्रवाहशील है।

प्रवाहपूर्ण जल के लिये एक अन्य शब्द 'नीर' है। यह नि उपसर्ग के साथ गति अर्थ वाली 'ईर' धातु से विकसित है। किसी समय यह शब्द यमुना नदी के जल–प्रवाह को प्रमुख रूप से प्रकट करता था। अतः यमुना–जल के नीले रंग के लिये एक अक्षर का मामूली परिवर्तन करके 'नील' शब्द का प्रयोग होने लगा। पश्चात् अर्थ–विस्तार के नियम के अनुसार प्रत्येक पदार्थ के इस रंग के लिये तथा बाद में काले रंग के लिये भी 'नील' का प्रयोग चल पड़ा। यह उल्लेख रोचक है कि न्याय शास्त्र में रंगों के उपभेदों के वर्णन में कृष्ण की नहीं, अपितु नील की गणना की गई है[१]। यह मान लिया गया है कि नील में कृष्ण भी सम्मिलित है। अतः संस्कृत में काले तथा नीले रंग के लिये बहुत घाल–मेल देखा गया है। काले मेघ को 'नीलमेघ' कहते हैं तथा नीले आसमान के लिये भी 'नीलं नभः' इस प्रकार प्रयोग करते हैं।

वर्षा के जल के लिये एक प्रसिद्ध शब्द 'अप्' है। यह नित्यस्त्रीलिंग तथा नित्यबहुवचनान्त रूप में प्रयुक्त होता है। वेद में इस शब्द से प्रयुक्त होने वाले जल को देवी का रूप दिया है तथा उससे शान्ति की प्रार्थना की गई है[२]। अतः यह शब्द स्त्रीलिंग हो गया। साथ ही इसके द्वारा सदा वर्षा की करोड़ों बूँदों को प्रकट करने के कारण इसका केवल बहुवचन में प्रयोग होने लगा।

एक अन्य शब्द अम्बु का भी मुख्यतः वर्षा की बूँदों के लिये प्रयोग होता है। अतः इन्हें प्रदान करने वाले मेघ को अम्बुद तथा अर्बुद कहा जाता है। इसकी बूँदें एक साथ करोड़ों की संख्या में होती हैं। अतः इस समानता से अर्बुद शब्द बाद में दस करोड़ संख्या का वाचक बन गया[३]।

जल का एक प्रमुख कार्य किसी पदार्थ को गीला करना है। इस विशेषता को प्रकट करने के लिये 'गीला करना' अर्थ वाली 'उन्दी' धातु से उद, उदक, उदन् जैसे अनेक शब्द विकसित हुए हैं। इस प्रकार के जल को धारण करने के कारण

---

१. रूपं शुक्लनीलपीतरक्तहरितकपिशचित्रभेदात् सप्तविधम्। —तर्क–संग्रह, रूपनिरूपण।

२. शन्नो देवीरभिष्टये आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभिस्रवन्तु नः। —यजुर्वेद ३६.१२

३. अर्बुदो मेघो भवति।..........स यथा महान् बहुर्भवति वर्षस्तदिवार्बुदम्। —निरुक्त ३.१०

समुद्र को उदधि, उदन्वान् इत्यादि कहा जाता है। वृक्षों द्वारा फलों के निर्माण के क्रम में इन्हें जल से अवश्य गीला किया जाता है। इस प्रकार निर्मित फलों के गाढ़े रस में उनका सत्त्व वर्तमान होता है। अतः ब्राह्मण–ग्रन्थों में कहा है कि वृक्षों द्वारा निर्मित जो गीलापन है, वही ओषधि है। जब वृक्ष अपने उत्पादन को भिगोते हुए अवस्थित होते हैं, तभी ओषधियाँ बनती हैं[1]।

वैदिक युग में इसके प्रचलित नाम 'जलाष' तथा 'जलाषभेषज' भी है। निघण्टु में उदक नामों के अन्तर्गत इनकी गणना की गई है। वेद में ये दोनों शब्द रुद्र के विशेषण के रूप में प्राप्त हैं[2]। अतः 'जलाष' का अर्थ उपशामक जल वाले तथा 'जलाषभेषज' का अर्थ 'जल से निर्मित ओषधि वाले रुद्र' यह है। इससे प्रकट है कि जल से व्याधियों की चिकित्सा काफी विकसित हो गई थी तथा रुद्र इसके विशेषज्ञ थे। अथर्ववेद के एक अन्य मन्त्र में 'जालाष' को जीवनदायी तीव्र ओषधि बताया है[3]। इस प्रकार अनेक रोगों को दूर करने के लिये जल–चिकित्सा के महत्त्व को अनेक स्थानों में भली भाँति स्पष्ट किया गया है।

संस्कृत में जल की क्रियाओं को प्रकट करने के लिये अलग धातुओं के प्रयोग की परम्परा रही है। इस प्रकार जल बहने के लिये 'वहति' पर हवा चलने के लिये 'वाति' का प्रयोग होता है। इसी प्रकार पानी से सींचने के लिये 'जलेन सिञ्चति', पर आग से किसी वस्तु को जलाने के लिये 'अग्निना ज्वलयति' यह प्रयोग होता है।

ऐसा लगता है कि किसी युग में इन प्रयोगों में घालमेल होने लगा था। तब लोग आग से जलाने को सींचना मानते हुए 'अग्निना सिञ्चति' जैसे प्रयोग करने लगे थे। इसके निवारण के लिये नव्य वैयाकरणों ने बड़े–२ नियम बनाए। उन्होंने बताया कि किसी वाक्य के विविध शब्दों में परस्पर 'योग्यता' होना आवश्यक है। इसके न होने की स्थिति में 'अग्निना सिञ्चति' जैसे वाक्यों से परस्पर कोई अन्वय–बोध नहीं होता[4]। अन्य विद्वानों ने कहा कि अन्वय ही नहीं, यह कहना चाहिये कि कोई अर्थ–बोध नहीं होता। इस पर इन विद्वानों में भयंकर शास्त्रार्थ पाया जाता है।

---

१. ओषधयो वा अपामोदम। यत्र ह्याप उन्दन्त्यस्तिष्ठन्ति तदोषधयो जायन्ते।
—शतपथ ब्राह्मण ७.५.२.४७

२. शन्नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः —ऋग्वेद ७.३५.६

३. जालाषमुग्रं भेषजं तेन नो मृड जीवसे। —अथर्ववेद ६.५७.२

४. योग्यता च परस्परान्वय–प्रयोजक–धर्मवत्त्वम्।..... अत एव वह्निना सिञ्चतीति वाक्यमयोग्यम्। .... एतादृशस्थलेषु नान्वयबोधः। —परमलघुमञ्जूषा, पृ० ४१

पर क्या कहें सामान्य आदमियों की बुद्धि को! इन लोगों ने विद्वानों के लम्बे शास्त्रार्थ पर कोई ध्यान नहीं दिया। ये लोग 'पानी सींचता है' के समान 'रोटी सेंकता है' प्रयोग करने लगे। स्पष्टतः 'सेंकता है' क्रिया 'सिञ्चति' से विकसित है, जिसका यहाँ वैयाकरणों के अनुसार प्रयोग नहीं होना चाहिये। यहाँ प्राकृत लोगों ने बता दिया कि वे व्याकरण के डण्डे से नहीं हाँके जा सकते! महाकवि श्री हर्ष ने कहा है कि वैयाकरणों के दर्प–दलन के लिये इतना काफी है कि लोग चन्द्रमा के लिये 'शशी' का प्रयोग तो करते हैं। पर उसे 'मृगांक' मानते हुए भी उसके लिये 'मृगी' का प्रयोग नहीं करते!

यह विवरण केवल यह झाँकी देने के लिये है कि जल–विषयक अनेक प्रयोग भी समाज में काफी हलचल पैदा करते रहे हैं।

४. ओ पानी, तेरे कितने रूप

(जल की अवस्थाएँ)

सामान्य दैनिक जीवन में जल की द्रवरूप में उपलब्धि सर्वाधिक प्रसिद्ध है। कल् कल् बहती नदियों में झर् झर् गिरते झरनों में तथा उत्तुंग तरंगों वाले समुद्र में हम इसके द्रव गुण के दर्शन करते हैं।

द्रव की पहचान तथा उसका प्रत्यक्ष (दर्शन)– हम देखते हैं कि किसी द्रव्य में किसी अन्य क्रियाशील या वेगपूर्ण वस्तु से धक्का दिये बिना उसमें क्रिया उपलब्ध नहीं होती। पर जल को ऊपर धरती पर अवस्थित करने मात्र से उसमें नीचे की ओर स्यन्दन या बहना क्रिया होने लगती है। यह किसी अतिरिक्त कारण के द्वारा ही सम्भव है। अतः वैशेषिक में माना है कि द्रव गुण के कारण ही जल में स्यन्दन होता है[1]। परवर्ती न्याय–ग्रन्थों में भी जल की प्रथम क्षण की बहना क्रिया के असमवायिकारण के रूप में इसमें द्रव गुण को स्वीकार किया है[2]। इस प्रथम क्रिया से जल में 'वेग' उत्पन्न हो जाता है। अतः आगे का स्यन्दन वेग द्वारा सम्पन्न होता है। पर प्रथम क्रिया इस विलक्षण गुण के कारण ही होती है। अतः इस क्रिया के कारण के रूप में द्रव गुण की पहचान की जाती है।

उल्लेखनीय है कि न्याय–शास्त्र में ऊपर फेंके गए पिण्ड में पहले क्षण की अधःपतन क्रिया के असमवायि कारण के रूप में उसमें 'गुरुत्व' गुण को माना गया है। वर्षा की बूँदें भी मेघ से नीचे गिरती हैं। अतः इसके आद्यपतन के कारण के रूप में जल में गुरुत्व भी स्वीकार्य है। वैशेषिक में स्पष्ट कहा है कि मेघ के जलों के परस्पर संयोग के प्रभावी न रहने की दशा में उनके गुरुत्व से बूँदों का अधःपतन हो जाता है[3]। कोई ऊपर रखी हुई गेंद भी जब धरती को छूती हुई नीचे लुढ़कने लगती है तब उसकी आद्य क्रिया का कारण भी गुरुत्व ही होता है। पर जब पानी धरती को छूते हुए नीचे आता है तो उसकी स्यन्दन क्रिया सर्वथा विलक्षण होती है। अतः इस विलक्षण अतिरिक्त क्रिया के लिये जल में 'द्रव' नामक अतिरिक्त गुण को स्वीकार किया जाता है।

---

१. द्रवत्वात् स्यन्दनम्। —वैशेषिक सूत्र ५.२.४

२. द्रवत्वमाद्यस्यन्दनासमवायिकारणम्। —तर्कभाषा, प्रमेयनिरूपण पृ० २०५

३. अपां संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम्। —वैशेषिक सूत्र ५.२.३

किसी पिण्ड के गुरुत्व का प्रत्यक्ष नहीं होता। पर जल के द्रवत्व का चक्षु तथा त्वचा दोनों इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है[1]। हाथ को पानी में डालने पर यह आसानी से पानी के अन्दर घुसता चला जाता है। पर उतनी आसानी से नहीं, जितना हवा में हाथ घुमाने से वायु के मध्य घुसता है। इस प्रकार जल में वायु की अपेक्षा जो अतिस्वल्प रुकावट होती है, वही द्रवत्व है। इसे मृदु–स्पर्श की अनुभूति नहीं माना जा सकता। क्योंकि कठिन मृदु स्पर्श केवल पृथिवी के गुण हैं, अन्य किसी जलादि के नहीं[2]। मृदु–स्पर्श का उदाहरण नवनीत का स्पर्श है। जल में रुकावट की अनुभूति इससे सर्वथा विलक्षण है। अतः इसे स्पर्श से भिन्न 'द्रव' की अनुभूति समझा जाता है।

काव्य के विद्वानों ने कहा है कि हृदय की गहराइयों में किया गया निश्चय तथा तालाब की गहराइयों में किये गए स्नान की विद्वान् लोग प्रशंसा करते हैं–

ह्रदे गभीरे हृदि चावगाढे शंसन्ति कार्यावतरं हि सन्तः!

–नैषधीय–चरितम् ३.५३

यहाँ न्याय के अनुसार ऐसे गहरे जल में स्नान करते समय इसके मृदु–स्पर्श का नहीं, अपितु 'द्रव' अनुभूति का सुख उपलब्ध होता है।

द्रव की पंहचान तथा उसका प्रत्यक्ष (विज्ञान)– आधुनिक विज्ञान के अनुसार द्रव वह है I जिसका आयतन निश्चित होता है, पर आकृति अनिश्चित होती है। इस प्रकार वह जिस पात्र में रखा जाय, उसी पात्र का आकार धारण कर लेता है II इस अवस्था में पदार्थ के अणुओं की दूरी ठोस की अपेक्षा कुछ अधिक होती है। III इन अणुओं के मध्य लगने वाला आकर्षण बल ठोस की तुलना में कम होता है। अतः ये किसी पात्र में कहीं भी गति करने के लिये स्वतन्त्र होते हैं, पर उस द्रव को छोड़ कर नहीं जा सकते।

इस प्रकार के द्रव में स्यन्दन या बहना अवश्य ही उपलब्ध होता है। इस स्यन्दन का भी ठीक वही कारण है जो पतन का होता है। स्यन्दन और पतन के केवल नाम में अन्तर है, प्रकृति में नहीं। दोनों में विविध पदार्थों का नीचे गिरना होता है। न्याय में भी 'अवक्षेपण' के अन्तर्गत दोनों का समावेश माना है[3]। अतः हम

---

१. संख्यादिरपरत्वान्तो द्रवत्वं स्नेह एव च।
एते तु द्वीन्द्रियग्राह्याः ....। –कारिकावली, गुणनिरूपण श्लोक ६२
२. काठिन्यादि क्षितावेव नित्यतादि च पूर्ववत्। –कारिकावली, गुणनिरूपण श्लोक १०४
३. उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि। –वैशेषिक सूत्र १.१.७

समान कार्य के लिये अतिरिक्त कारण की कल्पना नहीं कर सकते। न्याय शास्त्र में इसके लिये 'विनिगमना–विरह' है, अथवा किसी एक को सिद्ध करने के लिये युक्ति दृष्टिगोचर नहीं कि धरती को छूती हुई गेंद के नीचे गिरने में गुरुत्व को कारण मानें, पर उसी धरती को छूते हुए जल के नीचे गिरने में गुरुत्व को कारण क्यों न मानें? इससे सिद्ध है कि जल के स्यन्दन में भी पृथिवी का गुरुत्व ही कारण है। इस प्रकार स्यन्दन के कारण के रूप में नहीं, अपितु उपरिलिखित विशेषताओं द्वारा द्रवत्व की पहचान होती है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी इस प्रकार का द्रव गुण सर्वथा प्रत्यक्ष–सिद्ध है। हम बहते हुए जल की निरन्तर बदलती हुई आकृति को देख कर इसके द्रव गुण का आँखों से तथा इसके मृदुतर स्पर्श का त्वचा से द्रव रूप में प्रत्यक्ष करते हैं।

यहाँ न्याय का मानना है कि त्वचा से यह द्रव अनुभव किसी 'स्पर्श' का अनुभव नहीं है। पर आधुनिक विज्ञान त्वचीय संवेदनाओं में 'द्रव' अनुभूति को अलग उपभेद के अन्तर्गत नहीं, अपितु 'दबाव' नामक अनुभूति के अन्तर्गत मानता है[1], जो कि मृदु, कठोर स्पर्श के समकक्ष है। त्वचा से द्रव का अनुभव करते समय इसी जाति वाले किसी स्पर्श का अनुभव होता है। किसी पदार्थ के अणुओं की सापेक्ष दूरी बढ़ने पर उसमें दबाव या कठोरता कम होती जाती है। हम नवनीत में इस दशा को मृदु स्पर्श के रूप में अनुभव करते हैं। अणुओं की सापेक्ष दूरी और बढ़ने पर जल द्रव रूप में उपलब्ध होता है। इसमें जल अणुओं के परस्पर न्यूनतर आकर्षण बल से प्रयुक्त स्वल्पतर दबाव को हम त्वचा से मृदुतर स्पर्श के रूप में अनुभव करते हैं। यही द्रव की त्वचीय संवेदना है। यहाँ न्याय में इसके लिये 'विनिगमना–विरह' है, अर्थात् किसी एक को सिद्ध करने के लिये युक्ति उपलब्ध नहीं कि पृथिवी के अधिक तथा स्वल्प दबाव की संवेदना को क्रमशः कठोर तथा मृदु–स्पर्श का अनुभव मानें, पर जल की द्रव के रूप में स्वल्पतर दबाव की अनुभूति को 'मृदुतर स्पर्श' क्यों न मानें? जल में दबाव या रुकावट की अनुभूति नवनीत से विलक्षण तो है। पर इन दबावों की प्रकृति में नहीं, अपितु मात्रा में भिन्नता है। इससे सिद्ध है कि जल का 'द्रव' एक प्रकार का स्पर्श ही है।

जल में द्रवत्व स्वाभाविक है तथा अन्य अवस्थाएँ आरोपित हैं (दर्शन)– प्रशस्तपादभाष्य से लेकर सभी न्याय–ग्रन्थों में माना गया कि जल में सांसिद्धिक

---

१. सभी जटिल त्वचीय संवेदनाओं को शीत, उष्ण, पीडा और दबाव में से किसी एक या अधिक का रूप माना जा सकता है। अब इन्हीं को चार मूलभूत त्वचीय अनुभूतियाँ माना जाता है।
—मनोविज्ञान, नारमन एल० मन, पृ० ४६६

साथ ही द्रष्टव्य है–इस ग्रन्थ के तृतीय खण्ड का १० वाँ परिच्छेद।

अर्थात् स्वाभाविक द्रवत्व होता है[१]। किसी वस्तु में किसी गुण के स्वाभाविक होने का अर्थ यह है कि वह उस गुण को छोड़ नहीं सकता। जैसे अग्नि में उष्णता स्वाभाविक है। इसी प्रकार जल में स्वाभाविक द्रवत्व के होने से वह कभी उससे विरहित नहीं हो सकता। अतः हिम तथा वाष्प अवस्था के जल में भी द्रवत्व यथावत् वर्तमान है।

इस पर प्रमुख प्रश्न यह है कि यह हिम दशा में अपने द्रवत्व से विरहित किस प्रकार उपलब्ध होता है। इस पर न्याय के विद्वानों का मानना है कि इस समय विशेष 'अदृष्ट' कारण से इसमें द्रवत्व होते हुए भी छिप जाता है[२]। यहाँ अदृष्ट का मौलिक अर्थ तो यही कि इसका कारण स्पष्ट नहीं है। पुनः उनका कहना है कि इस समय जल से मिले हुए पार्थिव–कणों की कठोरता प्रकट होने लगती है। सामान्य मनुष्य इन कणों की कठोरता को जल में आरोपित करके हिम को कठोर कह देते हैं। यह भ्रम है[३]। शास्त्रीय भाषा में कहें तो यहाँ कठोर गुण का जल के साथ परम्परागत स्वसमवायि–संयुक्त सम्बन्ध है। (स्व=कठिन गुण, उसका समवायी=पृथिवी, उससे संयुक्त जल)। इसे जल के साथ सीधे समवाय सम्बन्ध से समझ लेना भ्रम है। वास्तविक दृष्टि से तो हिम–जल में भी द्रवत्व यथावत् वर्तमान होता है।

ऐसा मानने में तर्क भी है। न्याय का नियम है कि जो द्रव्य जिस द्रव्य के विनाश से उत्पन्न हो, वह उसके उपादान= समवायिकारण से उपादेय=निर्मित होता है[४]। यहाँ पर हिम जल के ध्वंस से उत्पन्न होता है, अतः यह हिम अन्ततः जल के समवायिकारण–द्रव गुण वाले परमाणुओं से ही निर्मित होगा। सरल शब्दों में कहें तो हिम का कारण जिससे उत्पन्न होगा, हिम भी अन्ततः उसी से उत्पन्न माना जावेगा[५]। अब क्योंकि हिम का कारण जल अपने जल–परमाणु से निर्मित है तथा उस परमाणु में नित्य द्रवत्व है, अतः उससे उत्पन्न हिम में भी द्रवत्व सिद्ध होता है।

---

१. स्नेहोऽम्भस्येव सांसिद्धिकश्च द्रवत्वम्। —प्रशस्तपाद भाष्य, जल–प्रकरण, पृ० ६३

२. अदृष्टविशेषेण द्रवत्वप्रतिरोधात्। —कारिकावली श्लोक ४० पर मुक्तावली

३. करकादीनां काठिन्य–प्रत्ययस्य भ्रान्तित्वात्। —वहीं पर मुक्तावली

४. यद् द्रव्यं यद् द्रव्यध्वंस–जन्यं (तत्तदुपादानोपादेयम्)इति व्याप्तेर्जलोपादानोपादेयत्वसिद्धेः। —वहीं पर मुक्तावली

५. इसे ज्यामितीय रीति से यों कह सकते हैं कि अगर क (जल–परमाणु) से उत्पन्न ख (जल)हो तथा ख से उत्पन्न ग (हिम) हो तो वह ग भी क से उत्पन्न होता है। यह यूक्लिड की ज्यामिति के प्रथम प्रमेय से तुलनीय है।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि महर्षि कणाद ने जल को केवल द्रव कहा है[१], सांसिद्धिक द्रव नहीं। इसके परमाणु में रूप, रस, स्पर्श को नित्य कहा है, द्रव को नहीं[२]। इस जल में विलक्षण तेजः संयोग से संहनन की बात कही है[३], जो कि हिम दशा तथा उसकी कठोरता का हेतु है। अतः हो सकता है, कणाद का अपना अभिमत जल में अनित्य द्रव मानने का रहा हो। यदि यह मान लें तो कणाद के अनुसार हिम की व्याख्या यह होगी कि तापमान की न्यूनता होने पर वैशेषिक के 'पीलूपाकवाद' के समान जल के अणुओं का द्रवत्व नष्ट होकर तथा उनमें कठोर गुण उत्पन्न होकर इनसे उत्पन्न हिम में वास्तविक कठोरता उत्पन्न होती है। पर प्रशस्तपाद द्वारा जल में 'सांसिद्धिक द्रवत्व' तय कर देने पर यह सब सोचने का अवकाश ही नहीं था। अतः नित्य द्रव गुण वाले अणुओं से उत्पन्न हिम में कठोरता की प्रतीति को भ्रान्त बता दिया गया।

फिर भी न्याय के कुछ विद्वान् प्रशस्तपाद के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी हिम में कठोरता को वास्तविक सिद्ध करना चाहते थे। अतः उनका कहना था कि मेघ में जल से ओला बनने की प्रक्रिया में जल के द्रव परमाणुओं से दिव्य तेज के बल से कठिन गुण वाला स्थूल हिम क्रमशः उत्पन्न होता है। इस प्रक्रिया में जल के द्व्यणुक आदि में द्रव गुण उत्पन्न नहीं होता। अतः हिम में कठोरता की प्रतीति भ्रान्त नहीं, वरन् सचाई है[४]।

पर प्रशस्तपाद के मत तथा पृथिवी में कठोर गुण के नैयत्य को मानते हुए इसे सिद्ध करना आसान नहीं था। इस पर अनेक प्रश्न उठते थे। प्रथम यह कि जल के परमाणु नित्य द्रव गुण रखते हुए भी किस प्रकार अपने कार्य में अपने से विपरीत गुण उत्पन्न करने लगते हैं। दूसरे, कठोर स्पर्श के केवल पृथिवी में नियत होने की स्थिति में यह जल में किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है। इन प्रश्नों के कारण अधिकांश विद्वानों ने इस मत को नहीं माना तथा इसमें अरुचि दिखाई है[५]।

जल की वाष्प दशा में तो सभी विद्वानों को द्रवत्व मान्य है। इस समय जलाणुओं के सूक्ष्म होने के कारण इनका द्रवत्व उपलब्ध नहीं होता। पर इनमें

१. रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः। —वैशेषिक सूत्र २.१.२
२. अप्सु तेजसि वायौ च नित्या द्रव्यनित्यत्वात्। —वैशेषिक सूत्र ७.१.४
३. अपां संघातो विलयनं च तेजः संयोगात्। —वैशेषिक सूत्र ५.२.८
४. केचित्तु दिव्यतेजःसंयोगात् जलपरमाणुभ्यां द्व्यणुकं, तैश्च त्रसरेण्वादिकं क्रमेण हिमादौ जायते। तादृशद्व्यणुकादिकं च द्रवत्व–रहितं कठिनमेवेति हिमादौ काठिन्यप्रतीतिर्न भ्रान्तिरित्याहुः। —वैशेषिक सूत्र २.१.२ पर कणादसूत्र–विवृति, पृ० ६६
५. यहाँ 'इत्याहुः' के द्वारा इस मत में अरुचि दिखाई है।

द्रवत्व की स्वरूप–योग्यता है। ये अवसर मिलने पर स्थूल दशा को धारण करके अपने द्रवत्व को प्रदर्शित कर सकते हैं। जिस प्रकार डिब्बे में बन्द बीज में अंकुर उत्पन्न करने की स्वरूप–योग्यता है। वह जल, भूमि आदि कारणों के मिलने पर यह क्षमता दिखा सकता है। इसी प्रकार यहाँ भी है।

इस प्रकार द्रव गुण वाले जल के अन्तर्गत आने वाली यह वाष्प तिर्यग्गति नहीं करती। क्योंकि तिर्यग्गति केवल वायु की विशिष्टता है। यह इस पर आधारित होकर ऐसा करती प्रतीत होती है। सामान्य मनुष्य वायु की इस विशिष्टता को वाष्प में आरोपित करके इसे ही तिर्यग्गतिशील कह देते हैं। यह भ्रान्ति है।

जल की प्रत्येक अवस्था अपनी–२ परिस्थिति में स्वाभाविक तथा वास्तविक है (विज्ञान)– आधुनिक विज्ञान का मानना है कि जल की तीनों अवस्थाओं में उपलब्ध अलग–२ गुण उस समय उस वस्तु की वास्तविकता होती है। जल एक सुनिश्चित तापमान में द्रव रूप में उपलब्ध होता है। इस तापमान के भीतर इसका द्रवरूप इसकी वास्तविकता है। तापमान में न्यूनता के साथ–२ इसका संहनन प्रारम्भ हो जाता है। किसी वस्तु का तापमान कम करने से सामान्यतः उसका आयतन घटता है तथा घनत्व बढ़ता जाता है। इसके विपरीत तापमान बढ़ाने से उसका आयतन बढ़ता है तथा घनत्व कम होता जाता है। दोनों ही प्रक्रियाओं में से जब पदार्थ के एक अणु से दूसरे अणु के बीच की दूरी कम होती है, उनका परस्पर आकर्षण बल बढ़ता है, उनकी गतिज ऊंर्जा कम होती है तो वस्तु कठोर होती चली जाती है।

जल के अणुओं में ४°C तापमान तक इसका आयतन घटता है तथा घनत्व बढ़ता है। इस तापमान में इसका घनत्व सर्वाधिक १.०० ग्राम प्रति घन सेंटीमीटर होता है। इसके पश्चात् ०°C तापमान तक इसका विचित्र असामान्य प्रसार होता है। तब इसका आयतन बढ़ने तथा घनत्व घटने लगता है। हिम दशा में पहुँचने पर इसका घनत्व ०.६ ग्राम सेमी³ हो जाता है तथा इसका आयतन पहले की अपेक्षा १/११वाँ भाग बढ़ जाता है। अतः हिम के तैरने पर इसका इतना भाग पानी की सतह के ऊपर रहता है। इस हिम के बनते समय इसके अणु गोल मणिभ आकृति धारण करने लगते हैं। इस आकृति के बीच खाली स्थान बढ़ने से आयतन बढ़ता है। पर इस प्रक्रिया में एक अणु से दूसरे अणु के बीच की दूरी कम होती चली जाती है। अतः इनके परस्पर आकर्षण बल बढ़ने से हिम में सचमुच द्रव विलुप्त होता है तथा उसमें सचमुच कठोरता उत्पन्न हो जाती है।

यहाँ हम यह नहीं कह सकते कि जल की इस हिम दशा में द्रवत्व रहते

हुए भी छिप गया है। क्योंकि हम यह नहीं बता सकते कि इसके रहते हुए भी छिप जाने के क्या कारण हो सकते हैं। दर्शन में भी इसका 'अदृष्ट' कारण कहा है। हम यह भी नहीं कह सकते कि यहाँ जल से संयुक्त पार्थिव कणों की कठोरता प्रकट हो गई है। क्योंकि आज की प्रयोगशालाओं में धूलिकणों से सर्वथा विरहित, केवल H_2O वाले विशुद्ध जल को भी हिम बना कर उसके कठोर स्पर्श का प्रत्यक्ष किया जा सकता है।

इस प्रकार इसका वाष्पीकरण होने पर इसकी तिर्यग्गति सर्वथा वास्तविक है। किसी भी तत्त्व या यौगिक के अणु परस्पर आकर्षण बल नगण्य होने पर अपनी गतिज ऊर्जा द्वारा यदृच्छ गति कर सकते हैं। इस प्रकार जल के अणु भी वाष्प रूप में होने पर वास्तविक रूप से तिर्यग्गति करते हैं। इस समय इनमें द्रवत्व से जनित स्यन्दन की स्वरूपयोग्यता भी नहीं है। क्योंकि जैसा कि ऊपर कहा गया, इनके अणुओं में द्रवत्व वास्तविक रूप से विलुप्त हो चुका है।

दर्शन तथा विज्ञान में मतभेद का कारण– दर्शन–शास्त्र के अनुसार पृथिवी, जल तथा वायु में क्रमशः कठोर–मृदु स्पर्श, स्वाभाविक द्रवत्व, तिर्यग्गति– ये विशिष्ट धर्म वस्तुनिष्ठ तथा निरपेक्ष रूप से माने गए हैं। उन–२ द्रव्यों में ही क्रमशः वे–२ धर्म रहते हैं, अन्य किसी में नहीं। साथ ही यह भी मान्य है कि उन–२ द्रव्यों में वे–२ धर्म रहते ही हैं, वे उन्हें कभी छोड़ नहीं सकते।

पर विज्ञान के अनुसार इनमें से कोई भी धर्म किसी पदार्थ–विशेष के अणुओं की अपनी निरपेक्ष विशिष्टता नहीं है। अपितु इन अणुओं की सापेक्ष दशा पर आधारित हैं। अणुओं में परस्पर दूरी या समीपता, इनमें कम या अधिक आकर्षण बल–इन्हें सापेक्ष दृष्टि से ही तय किया जा सकता है। इनकी परिस्थिति के अनुसार यह सापेक्ष दशा बदलती रहती है। अतः इन पर आधारित धर्म भी बदलते रहते हैं तथा वे परिस्थितिभेद से प्रत्येक पदार्थ में प्राप्त हो सकते हैं तथा उन्हें छोड़ भी सकते हैं।

किसी भी पदार्थ के अणु परस्पर सर्वाधिक समीप अवस्था में दृढ़ आकर्षण से बद्ध होकर कठोर गुण को धारण करते हैं। उसी पदार्थ के अणु सापेक्षतः कम आकर्षण में द्रव गुण को तथा उसी पदार्थ के अणु सापेक्षतः सर्वाधिक दूर तथा लगभग शून्य आकर्षण बल वाले होकर तिर्यग्गति वाले हो सकते हैं। इस प्रकार इन गुणों की हर परिस्थिति में नैयत्य नहीं, अपितु अणुओं की विविध परिस्थितियों में सांकर्य होता है।

जल के अणु ठोस पदार्थ के सापेक्ष अधिक दूरी तथा परस्पर कम आकर्षण बल रखते हुए द्रव अवस्था को धारण करते हैं। ऐसा एक सुनिश्चित तापमान के भीतर होता है। अतः हम अधिकतम यह कह सकते हैं कि जल में एक सुनिश्चित तापमान के भीतर सांसिद्धिक या स्वाभाविक द्रवत्व होता है। पर हिमांक (freezing point) में इसके अणुओं की स्थिति बदलने पर इसमें द्रव गुण नष्ट होकर कठोर गुण उत्पन्न हो जाता है। यह भ्रान्ति नहीं, अपितु वस्तुनिष्ठ सचाई है। साथ ही यह भी सर्वथा सच है कि क्वथनांक (boiling point) में यह वाष्प बन कर जलीय होकर भी तिर्यग्गति करता है।

दर्शन में जल में स्वाभाविक द्रवत्व की मान्यता विकसित होने का कारण– दर्शन की इस मान्यता का कारण हमारे चारों ओर वर्तमान परिस्थिति ही है। हम जिस परिवेश में रहते हैं, उसमें प्रायः द्रव जल ही देखने को मिलता है। वातावरण में अधिकाधिक गर्मी या सर्दी होने पर भी घर के अन्दर पात्र में स्थित जल द्रव ही बना रहता है। इस परिस्थिति में हमारी यह व्याख्या स्वाभाविक है कि जल में सांसिद्धिक द्रवत्व होता है।

इसमें सन्देह नहीं कि अगर हमारे जीवन की परिस्थिति भिन्न प्रकार की होती तो हमारी व्याख्या कुछ और होती। साहित्यकार 'बेरन' ने सही लिखा है कि मैं परिस्थितियों का दास हूँ तथा हर साँसों से बनने वाली उत्तेजनाओं या विचारों का, जो उन परिस्थितियों से उत्पन्न होती हैं–

I am the very slave of circumstance and impulse— borne away with every breath. —Lord Byron, Sardanapalus 4.1

हिम युग में या उत्तरी ध्रुव प्रदेश में सदा रहते हुए दर्शन–शास्त्रकारों की व्याख्या यह होती कि जल की हिम दशा स्वाभाविक है तथा इसका द्रवत्व नैमित्तिक है। पृथिवी की विविध परिस्थितियों में यह दशा असम्भव नहीं है। ब्रह्माण्ड के अनेकानेक ग्रह सूर्य से अलग–२ दूरी में अलग–२ प्रकार की परिस्थिति बनाए हुए हैं।

ब्रह्माण्ड की विविध परिस्थितियों के अध्ययन के पश्चात् हम इन गुणों को अलग–२ विशेष द्रव्यों में नियत नहीं मान सकते। आधुनिक युग में इस प्रकार का प्रश्न सदा के लिये शान्त हो चुका है। आज विश्व में ऐसा कोई पदार्थ शेष नहीं, जिसे विभिन्न ताप तथा दाब में इन तीनों अवस्थाओं में न बदला जा सके। आज ऑक्सीजन को –२१९°C के न्यून ताप पर तथा हाइड्रोजन को भी –२५९°C जैसे

अति न्यून ताप पर तरल बनने की ओर अग्रसर किया जा सकता है। साथ ही ताँबा जैसी धातु को भी +२५६७°C ताप पर तथा लोहा जैसी कठोर धातु को भी +२७५०°C भयंकर ताप पर उबाल कर उड़ाया जा सकता है। यह देखा गया है कि जो वस्तुएँ सामान्य दशा में गैस के रूप में उपलब्ध होती हैं, वे अत्यन्त कम तापमान पर द्रव बनती हैं। इसके विपरीत, सामान्य दशा में कठोर रूप में उपलब्ध धातुएँ अत्यधिक प्रवर्धित तापमान पर पिघलती तथा उड़ती हैं[1]।

इन तीनों अवस्थाओं के आसानी से उपलब्ध होने की दृष्टि से सबसे बढ़िया है– पानी, जो केवल ०°C तापमान पर कठोर रूप में तथा केवल १००°C तापमान पर वाष्प दशा में प्राप्त किया जा सकता है।

---

1. It can be seen that substances which are gases in ordinary conditions turn into liquids upon sufficient cooling and begin boiling at very low temperature. ....And conversely, the substances which are in a solid state in ordinary conditions turn into liquids upon melting and boil at very high temperature.—Physics, A.V. Peryshkin, Page 184.

५. पानी का रस और रंग

जल का रस (दर्शन तथा विज्ञान)– रसना अथवा स्वाद इन्द्रिय से जिस गुण का ग्रहण किया जाता है, उसे दर्शन में 'रस' कहा गया है। सामान्य भाषा में अच्छा लगने वाले रस को स्वाद कहते हैं। इस प्रकार के रस से सुख एवम् आनन्द की अनुभूति होती है। अतः लोक तथा शास्त्र में 'अर्थ–विस्तार' के द्वारा किसी वस्तु में आनन्द प्रदान करने वाले तत्त्व के लिये 'रस' के प्रयोग की परम्परा रही है। उपनिषदों में सर्वथा आनन्द–स्वरूप ब्रह्म को 'रस' नाम दिया है तथा इसी 'रस' को प्राप्त करके वास्तविक परिपूर्ण आनन्द वाला होने की बात कही गई है[१]। साहित्य शास्त्र में काव्य की आत्मा को 'रस' कहा गया है। इसी प्रकार स्फूर्ति अर्थ के लिये इसमें किंचित् एक अक्षर का परिवर्तन करके 'लस' का प्रयोग भी प्रचलित रहा है। पाणिनि ने इस शब्द की सूचना देते हुए कहा है कि इस स्फूर्ति न रखने वाले पुरुष को 'अलस' तथा इसके भाव को 'आलस्य' कहा जाता है[२]।

न्याय शास्त्र में जल का मधुर रस माना गया है। इसीलिये लोक में भी इसकी स्वादु रूप में प्रसिद्धि है। एक सुन्दर श्लोक का भाव यह है कि पानी कितना स्वादु, शीतल तथा सुगन्धित है, यह पानी से तृप्त व्यक्ति से नहीं, बल्कि यह तो प्यासे से पूछने से मालूम होता है!!–

अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा।

–नैषधीय–चरितम् ३.६.३

इसमें मधुर के अलावा कोई अन्य रस नहीं होता। अतः नीबू आदि के रस में इससे भिन्न अम्ल रस की उपलब्धि को जल में मिले पार्थिव अंश का परिणाम मानना चाहिये। कभी–२ यह अन्य रस का अभिव्यंजक अवश्य हो जाता है। जैसे सत्तू में पानी मिलाने से सत्तू का अपना रस प्रकट हो पाता है।

आधुनिक विज्ञान में विशुद्ध जल को किसी भी रस या स्वाद से रहित (testeless) माना गया है। 'रस के इस पारिभाषिक अर्थ तथा वैज्ञानिक मान्यता के सन्दर्भ में यह विचित्र विरोध है कि सबको रस (का अभिव्यञ्जन) प्रदान करने वाला जल सर्वथा 'नीरस' होता है!! इस प्रकार जल में किसी भी रस या स्वाद की प्रतीति उसमें पार्थिव अंश के मिश्रण के कारण होती है। इस प्रतीति से जल में मधुरता

१. रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। –तैत्तिरीयोपनिषद् २.७.१

२. न नञ्पूर्वात् तत्पुरुषादचतुरसंगतलवणवटबुधकतरसलसेभ्यः। –अष्टाध्यायी सूत्र ५.१.१२१

आरोपित होती है, वास्तविक नहीं।

जल का वर्ण (दर्शन)– न्याय शास्त्र में जल का शुक्ल वर्ण अर्थात् सफेद रंग माना गया है[1]। यह मान्यता वैदिक युग से चली आ रही है। इसीलिये सबसे प्राचीन वैदिक शब्दकोश 'निघण्टु' में 'शुक्र' शब्द का 'जल' नामों के अन्तर्गत पाठ किया है[2]। बाद में यह शब्द संस्कृत में र, ल अक्षरों में अभेद–नियम के द्वारा 'शुक्ल' रूप में परिवर्तित हो गया।

वेद में आग की लौ, सूर्य तथा सूर्य के रंग के लिये भी 'शुक्र' शब्द का प्रयोग हुआ है[3]। यह प्रयोग भी मूलतः श्वेत वर्ण का सूचक है। मध्याह्नकालीन अतितप्त श्वेत प्रकाश वाले सूर्य को 'शुक्र' कहना सर्वथा समुचित है।

न्याय शास्त्र में जल तथा अग्नि के शुक्ल वर्ण का उपविभाजन किया गया है। तेजस् या अग्नि का मूलतः भास्वर शुक्ल, पर जल का अभास्वर शुक्ल रूप माना गया है। इस प्रकार जल के शुक्ल में अग्नि से भिन्नता यह है कि उसका श्वेत वर्ण भास्वर या चमकदार नहीं होता।

शुद्ध जल में इसके अलावा अन्य कोई रंग नहीं पाया जाता। अतः यदि कभी अन्य रंग का जल उपलब्ध हो तो उसे पार्थिव अंश के मिश्रण का परिणाम मानना होगा। यह देखा गया है कि गंगा का शुद्ध जल सर्वथा शुक्ल, पर यमुना का नीले रंग का होता है। वैदिक युग से ही इस विचित्रता का अनुभव किया जाता रहा है[4]। यहाँ न्याय की रीति के अनुसार तो यमुना का जल भी शुक्ल ही है। इसमें नीले रंग की प्रतीति औपाधिक अथवा आरोपित है। इसीलिये इस पानी को आसमान में उछालने पर इसके शुक्ल रंग की उपलब्धि होती है[5]। टीकाकारों ने माना है कि गहरे समुद्र आदि के नीले रंग की भी यही स्थिति है।

---

१. वर्णः शुक्लो रसस्पर्शौ जले मधुरशीतलौ। —कारिकावली, श्लोक ३६

२. निघण्टु १.१२

३. प्रयस्वतीरीडते शुक्रमर्चिः। —ऋग्वेद ३.६.३
तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। —यजुर्वेद ३६.२४
प्र वः शुक्राय भानवे भरध्वम् —ऋग्वेद ७.४.१

४. ऋग्वेद के परिशिष्ट खिल सूक्त में प्रयाग का वर्णन करते हुए कहा है कि जहाँ शुक्ल–नील नदियाँ मिलती हैं, वहाँ जो लोग शरीर–त्याग करते हैं, वे अमृतत्व को प्राप्त करते हैं–
सितासिते सरिते यत्र संगथे तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति।
ये वै तन्वं विसृजन्ति धीरास्ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते।।
—ऋग्वेद १०.७५.५ में परिशिष्ट खिल सूक्त का मन्त्र।

५. कालिन्दीजले नील–प्रतीतिस्त्वाश्रयौपाधिकी। अत एव वियति विक्षेपे धवलिमोपलब्धिः।
—कारिकावली श्लोक ३६ पर मुक्तावली।

जल का वर्ण (विज्ञान)– आधुनिक विज्ञान में सर्वथा शुद्ध जल को किसी भी वर्ण या रंग से विरहित (Colourless) माना गया है। वस्तु का कोई रंग उसकी विशिष्ट क्षमता पर निर्भर होता है। किसी वस्तु में श्वेत प्रकाश आपतित होने पर वह वस्तु किसी विशेष रंग वाली किरण को परावर्तित तथा अन्य को अपने में अवशोषित करने की क्षमता रखती है। जो वस्तु जिस रंग वाली किरण को परावर्तित करती है, उसे उसी रंग वाला कहा जाता है।

प्रकाश किरणों के वायु से जल में अर्थात् विरल से सघन माध्यम में प्रवेश करते समय सभी रंगों वाली कुछ किरणें जल की सतह से परावर्तित होकर उसी वायु के माध्यम में लौट आती हैं तथा कुछ किरणें अपवर्तित होते हुए सघन जल के माध्यम में प्रविष्ट होती हैं। ये किरणें पानी के अन्दर पात्र की पेंदी तक पहुँच कर कुछ उस पेंदी में अवशोषित तथा कुछ वहाँ से परावर्तित होती हैं। अतः पेंदी विविध रंगों वाली दीखती है। अगर पानी में किसी रंग वाले पार्थिव कण मिले हों तो वहाँ से भी प्रकाश–किरण परावर्तित होकर पानी में उस रंग का आभास देती हैं। पर विशुद्ध जल के मध्य कुछ रंग वाली किरणों का अवशोषण तथा वहाँ से किसी विशिष्ट रंग वाली किरण का परावर्तन नहीं होता। अतः जल को रंग–विहीन माना जाता है।

जल की सतह से सभी रंगों वाली किरणों के परावर्तन के प्रभाव से हम इसे चमकीला देख सकते हैं। इसी प्रक्रिया से हम इसमें किसी वस्तु के प्रतिबिम्ब का दर्शन भी करते हैं। यह प्रक्रिया दर्पण के सदृश है। आधुनिक विज्ञान में दर्पण को अदृश्य माना जाता है। हम इसकी किनारी देख सकते हैं, फ्रेम देख सकते हैं। पर सर्वथा स्वच्छ दर्पण को 'देख' नहीं सकते। फिर भी इसकी पिछली वाली परावर्तक सतह के प्रभाव से इसमें किसी पदार्थ का प्रतिबिम्ब तो देखते ही हैं।

सामान्य दैनिक जीवन में सर्वथा विशुद्ध जल उपलब्ध नहीं होता। अतः जल में मिश्रित हिलते हुए पार्थिव कणों से परावर्तित प्रकाश किरणों द्वारा हम जल में रंग का आभास कर लेते हैं। इसीलिये दर्शन में इसे शुक्ल वर्ण का कहा गया है। पर वास्तव में जल में रंग की प्रतीति औपाधिक है।

यमुना–जल, समुद्र–जल आदि में नीलिमा का कारण कुछ भिन्न है। ऐसे गहरे जल में प्रकाश के प्रतिक्षिप्त होने पर जल के ऊपरी भाग में प्रकाश की कम तरंग–लम्बान वाली बैंगनी तथा नीली किरणों का प्रकीर्णन (scattering) हो जाता है तथा अधिकांशतः अधिक तरंग–लम्बानों वाली किरणें अन्दर प्रविष्ट होती हैं। इन नीले रंगों वाली प्रकीर्णित किरणों का जल के ऊपरी भाग से ही परावर्तन हो जाता है। अतः इसकी सतह नीली दिखती है।

ऊपर आसमान की नीलिमा का भी यही कारण है। दिन में सूर्य की नीली किरणें आसमान के धूलि–कणों में छितरा जाती हैं। वहाँ से इन विसरित किरणों के परावर्तन (diffused reflection) की प्रक्रिया द्वारा ये हमारे पास पहुँचती है। इस प्रकार आसमान से इस रंग वाली किरणें आकर नीले आसमान का बोध कराती हैं। प्रातः काल क्षितिज में सूर्य के आगमन से पूर्व हमें इन किरणों के परावर्तन के द्वारा ही प्रकाश उपलब्ध होता है।

इस प्रक्रिया के अनुसार समुद्र–जल तथा आसमान में नीलिमा की प्रतीति वास्तविक है। कोई वस्तु जिस समय, जिस रंग वाली किरण को परावर्तित करती है, दैनिक जीवन में उसे उसी रंग वाला मानना वास्तविकता है। यहाँ नीले रंग वाली किरण का वास्तविक परावर्तन हुआ है। अतः गहराई में पड़े समुद्र जल की ऊपरी सतह वास्तव में नीली है। इसके ऊपर उछालने पर जल वास्तव में नीरूप है।

पर दर्शन के अनुसार किसी वस्तु का वास्तविक रंग उसमें स्थायी रूप से रहना चाहिये। उस वस्तु के स्थायी रूप से बदले बिना उसे बदलना नहीं चाहिये। यमुना में पड़ा हुआ जल नीला प्रतीत होता है। यह उछालने मात्र से नील से शुक्ल रूप में बदल नहीं सकता। अतः इनमें से किसी एक प्रतीति को भ्रान्त मानना आवश्यक है। इसी प्रकार दर्शन के सिद्धान्त के अनुसार आकाश नीरूप होता है। उसमें नीलरूप नहीं रह सकता। आसमान के धूलिकणों में भी नीलिमा नहीं है। क्योंकि वे धूलि–कण हाथ में रखने पर नीले नहीं दिखाई देते। ये उड़ने मात्र से नीले रंग में नहीं बदल सकते। अतः आसमान में नीलिमा की प्रतीति भ्रान्त है। शंकराचार्य ने माना है कि आकाश में किसी रंग का वास्तविक प्रत्यक्ष न होने पर भी *'ओ, गजब नीला आसमान!* (अहो नीलं नभः!) इस प्रकार बच्चे या अज्ञानी लोग अचरज करते हैं[1]।

यहाँ स्थिति यह हो गई है कि जिस जल के रंग को वैज्ञानिक औपाधिक कहते हैं, उसे दार्शनिक वास्तविक बताते हैं। पर जिस यमुना के जल तथा आसमान की नीलिमा को वैज्ञानिक गण वास्तविक कहते हैं, उसे दर्शन के विद्वान् औपाधिक प्रतीति होने से भ्रान्त बताते हैं। रंग की उपलब्धि के सन्दर्भ में दर्शन तथा विज्ञान में गम्भीर तथा मौलिक मतभेद हैं। इसे इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में विस्तार से निरूपित किया गया है। अतः किसी रंग की भ्रान्ति या वास्तविकता को उन–२ सिद्धान्तों के आलोक में समझना चाहिये।

---

१. अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति। —ब्रह्मसूत्र १.१.१ पर शांकर भाष्य।

६. जल में शीतलता

जल में शीतलता स्वाभाविक है (दर्शन)– जल में 'शीत स्पर्श' नामक गुण नित्य–सम्बन्ध से निवास करता है। यह गुण इसे छोड़ कर अन्यत्र नहीं रह सकता। साथ ही जल भी अपने बने रहने तक इसे नहीं छोड़ सकता। जैसे अग्नि उष्ण गुण को नहीं छोड़ सकती। अतः अग्नि में यह गुण स्वाभाविक है। इसी प्रकार जल में शीत स्पर्श गुण स्वाभाविक रूप से मान्य है। इस तथ्य को प्रकट करते हुए महर्षि कणाद ने यह सूत्र कहा है–

अप्सु शीतता। –वैशेषिक सूत्र २.२.५

अर्थात् जल में स्वाभाविक शीतलता है। यही इसका लक्षण भी है[1]। परवर्ती ग्रन्थों में इसका यह लक्षण दिया गया– 'जो शीत स्पर्श से भिन्न स्पर्श वाला न हो तथा शीत स्पर्श वाला हो, वही जल है[2]।

इस लक्षण के स्थिर होने पर लोक में 'उष्ण जल' की प्रतीति औपाधिक सिद्ध होती हैं। पानी को गर्म करने पर इसमें अनेक तेजः कण मिश्रित होने लगते हैं। इन कणों में समवेत उष्ण गुण जल की शीतलता को दबा देता है। अतः लोग कणों से संयुक्त जल को ही उष्ण कह देते हैं। पर वास्तव में तो तेजः कणों में ही उष्ण गुण है। उनसे संयुक्त जल में शीत गुण अब भी यथावत् वर्तमान होता है। अतः जल में उष्ण गुण की उपलब्धि औपाधिक कही जाती है, वास्तविक नहीं[3]।

इस सिद्धान्त को लोक तथा काव्य में समर्थन प्राप्त है। महाकवि कालिदास ने एक सुन्दर श्लोक में कहा है कि जल में उष्णता तो अग्नि के जल के साथ संयोग से औपचारिक रूप से प्रतीत मात्र होती है। वास्तव में तो शीतलता वह है जो कि जल का स्वभाव है–

उष्णत्वमग्न्यातपसम्प्रयोगाच्छैत्यं हि यत् सा प्रकृतिर्जलस्य।–रघुवंश ५.५४

इस सिद्धान्त को स्वीकार करने में तर्क भी है। दर्शन के अनुसार पृथिवी जल, तेज, वायु इन चार द्रव्यों में ही स्पर्श गुण रहता है। इनमें से पृथिवी तथा वायु में अनुष्णाशीत–स्पर्श तथा तेज में उष्ण स्पर्श रहना सुनिश्चित है। अब शीत–स्पर्श

१. स्वाभाविकी शीतता अपां लक्षणम्। –उक्त सूत्र पर 'उपस्कार'।
२. शीतेतरस्पर्शवदवृत्ति–स्पर्शवद्वृत्ति–द्रव्यत्व–साक्षाद् व्याप्यजातिमत्त्वं (जलत्वम्)। –कारिकावली श्लोक ३६ पर मुक्तावली।
३. विस्तार के लिये देखें–इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड का १२वाँ परिच्छेद।

के लिये केवल–मात्र एक द्रव्य बचता है– जल। अतः आकाश में शब्द के समान पारिशेष्य हेतु से जल में शीत स्पर्श का समवेत होना सिद्‌ध है।

लौकिक उदाहरणों से भी यह तथ्य सुपुष्ट होता है। गर्मियों में नदी, तालाब तथा कुएं का जल भी शीतल होता है। गर्म वातावरण में भी शरीर में पानी लगने पर हवा करने से ठण्डक की उपलब्धि होती है। पानी को गर्म करने के पश्चात् वह स्वयं धीरे–२ ठण्डा होने लगता है। इससे सिद्‌ध है कि पानी में अपने गुण शीतलता को प्रकट करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है।

जल में शीतलता स्वाभाविक नहीं है (विज्ञान)– जल में उपलब्ध होने वाला शीतल धर्म परिस्थिति अनुसार जल में रहता है तथा उसे छोड़ भी देता है। विज्ञान में उष्ण गुण के लिये उत्तरदायी तेजः कणों को सर्वथा अमान्य घोषित किया जा चुका है। अतः किसी पदार्थ की शीतता या उष्णता उसके अणुओं की अपनी विशिष्टता है। किन्हीं अतिरिक्त कणों की देन नहीं है। इस प्रकार जल में शीतता के समान, उष्णता उपलब्धि के समय उसमें वास्तविक उष्णता होती है।

वैसे, गहराई से विचार करने पर किसी पदार्थ में वास्तविक शीतता, उष्णता जैसे प्रयोग बहुत सही नहीं है। ऐसे प्रयोग करते समय हम इनकी वस्तुनिष्ठ निरपेक्ष सत्ता मानते हैं। जब कि ये सापेक्ष प्रयोग हैं। दर्शन तथा विज्ञान में इनके अर्थों पर अलग–२ विचार करते हैं–

शीत, उष्ण प्रयोगों की सापेक्षता (दर्शन)– दर्शन शास्त्र में कम शीत–अधिक शीत, ऊँची आवाज–नीची आवाज जैसे सापेक्ष प्रयोग सर्वथा परिज्ञात रहे हैं। महाभाष्यकार पतंजलि ने मनोरंजक व्याख्या में कहा है कि *ऊँचा–नीचा आदि प्रयोग अनवस्थित–पदार्थक' हैं। किसी पाठ करने वाले छात्र से कोई बीमार आदमी कहता है 'क्या चिल्ला रहे हो, जरा धीमे पढ़ो। पर उसी स्वर से आवाज करने वाले छात्र से गुरु कहते हैं 'क्या दाँतों के अन्दर पढ़ रहे हो, जरा जोर से पढ़ो'*[1]। इस प्रकार छात्र का स्वर किसी की दृष्टि से ऊँचा है, पर वही उसी समय अन्य की दृष्टि से नीचा हो सकता है।

इस विवरण से स्पष्ट है कि विरोधी प्रतीत होने वाले दो विशेषण एक समय एक स्थान पर एक साथ रह सकते हैं। व्यक्तिभेद से विरोधी लगने वाली ऐसी दोनों प्रतीतियाँ सर्वथा वास्तविक होती हैं अशुद्‌ध नहीं। इन उदाहरणों में 'कम', 'अधिक' विशेषणों को सापेक्ष, पर 'शीत', 'उष्ण' आदि विशेष्यों को वस्तुनिष्ठ, निरपेक्ष

---

१. उच्चनीचमनवस्थितपदार्थकम्। तदेव हि कंचित्प्रत्युच्चैर्भवति, कंचित् प्रति नीचैः। एवं हि कश्चित्कंचिदधीयानमाह 'किमुच्चै रोरूयसे, शनैर्वर्तताम्। तमेव तथाऽधीयानमपर आह 'किमन्तर्दन्तकेनाधीषे, उच्चैर्वर्तताम्। —अष्टाध्यायी सूत्र १.२.३० पर महाभाष्य।

स्वीकार किया गया है। इस प्रकार ये विशेषण तो एक साथ रह सकते हैं, पर शीत, उष्ण जैसे विशेष्य नहीं। जो पदार्थ एक समय में शीत है, वह शीत ही होगा। व्यक्ति–भेद से वह उष्ण नहीं हो सकता। यदि ऐसी कोई प्रतीति हो, तो दोनों में से कोई एक भ्रान्त मानी जावेगी।

शीत, उष्ण प्रयोगों की सापेक्षता (विज्ञान)– अवधारणाओं में जबर्दस्त परिवर्तन तब आया, जब शीत, उष्ण विशेष्य को भी सापेक्ष मान लिया गया। इसे स्पष्ट करने के लिये शीत, उष्ण की संक्षिप्त वैज्ञानिक व्याख्या करते हैं। किसी पदार्थ को गर्म करने पर उसके अणु, परमाणु की गतिज ऊर्जा बढ़ने लगती है। फलतः वे सामान्य से अतितीव्र गति से प्रकम्पन करने लगते हैं। किसी गर्म लोहे के परमाणु एक सेकेण्ड में दस लाख बार प्रकम्पित होते हैं, जो कि अकल्पनीय है[1]। इसके विपरीत किसी पदार्थ को ठण्डा करने पर उसके अणुओं के प्रकम्पन की तीव्रता सापेक्षतः कम होती चली जाती है। यद्यपि हमारी कल्पना की दृष्टि से वह भी बहुत अधिक होती है। जैसे पिघलने वाली बर्फ के औसत तापमान पर एक ऑक्सीजन अणु लगभग ४२० मीटर प्रति सेकेण्ड की चाल से गति करता है[2]।

हमारा शरीर सामान्यतः ३७°C ताप बनाए रखता है। भयंकर गर्मी में स्वेदन या वाष्पीकरण के द्वारा तथा सर्दी में कम्पन या आकुंचन की विधि से इस ताप को बनाए रखने की प्रवृत्ति रखता है। अब इस ताप वाले हमारे अंग के साथ किसी अधिक उष्ण वस्तु का सम्पर्क हो तो हमारे अंग के अणु भी उतनी ही तीव्रता से प्रकम्पन करने लगते हैं। हमारा मस्तिष्क अपने सापेक्ष प्रकम्पन की इस अधिकता की उष्णता के रूप में तथा न्यूनता की शीतलता के रूप में व्याख्या करता है।

इस विवेचन से प्रकट है कि हमने अनजाने ही बाहरी पदार्थों के शीत, उष्ण की विभाजक रेखा या मध्य–बिन्दु तय कर रखा है। यह बिन्दु हमारे शरीर के ताप द्वारा निर्धारित होता है। हमारे ताप से अधिक ताप उष्ण ही तथा इससे न्यून ताप शीत ही होता है। हमारे शरीर की परिस्थिति के अनुसार यह मध्यबिन्दु बदलता भी रहता है। प्रयोग के लिये हम थोड़ी देर के लिये दाहिने हाथ को गर्म पानी में तथा बाएं हाथ को ठण्डे पानी में डालते हैं। इसके पश्चात् दोनों हाथों को समान ताप वाले सादे जल में डालने पर दाहिना हाथ ठण्डे पानी की तथा बायाँ गर्म पानी की सूचना देता है। हमें अपने शरीर की बदलती परिस्थितियों के द्वारा जैसी भी

---

1. **In a block of hot iron, the atoms vibrate perhaps a million times each second— that is extremely rapidly. —Lots more tell me why, Page 338.**
2. **At the temperature of melting ice, on the average, an oxygen molecule moves with a speed of about four hundred and twenty metres per second —Lots more tell me why, Page 339.**

सूचनाएं प्राप्त हों, उन सूचनाओं को वस्तु में आरोपित करके हम उसे वैसा ही समझते हैं। प्रत्येक परिस्थिति में हम शीत–उष्ण को ऐसा परस्पर–विरोधी मानते हैं जिनका एकत्र सहभाव नहीं हो सकता।

सामान्य दैनिक जीवन में इस प्रकार की मान्यता दोषपूर्ण नहीं है। क्योंकि इससे हमारे कार्य–व्यवहार में कहीं कोई अशुद्धि नहीं आती। अतः सामान्य मनुष्य से लेकर वैज्ञानिकों के द्वारा भी 'यह लोहा इस समय गर्म ही है, ठण्डा नहीं' इत्यादि प्रयोग सर्वथा सही माने जाते हैं।

पर उपरिलिखित भौतिक वैज्ञानिक व्याख्या के अनुसार तात्विक दृष्टि से शीत का अर्थ 'अणुओं का सापेक्षतः न्यून प्रकम्पन' तथा उष्ण का अर्थ 'अधिक प्रकम्पन' है। इसका कोई मध्यबिन्दु नहीं है। हमें यह अधिकार नहीं कि हम किसी बाहरी गुण का निर्धारण अपने शरीर की किसी विशेषता के आधार पर करें। अतः पदार्थ के अणुओं का किसी भी दशा का प्रकम्पन सापेक्ष दृष्टि से न्यून तथा अधिक दोनों तथा इस प्रकार वह शीत तथा उष्ण दोनों एक साथ कहा जा सकता है। इससे सिद्ध है कि किसी पदार्थ में शीत और उष्ण परस्पर निरपेक्ष, स्थिर तथा विरोधी धर्म नहीं। अपितु ये दोनों प्रत्येक पदार्थ में सापेक्ष दृष्टि से एक साथ पाए जाते हैं। इसीलिये भौतिक वैज्ञानिक शीत समझे जाने वाले पदार्थ के भी ताप का ही मान करते हैं। आज कल इसका मापन करने वाले उपकरण को तापमापी या थर्मोमीटर (thermo = ताप+ meter = मापक) कहा जाता है।

आज कल दो महान् वैज्ञानिकों–सेल्सियस (Celsius) तथा फारेनहाइट (Fahrenheit) के नाम पर विश्व में तापमान के पैमाने (scale of temperature) प्रचलित हैं। सेल्सियस ने इस मापन के लिये जल को प्रमुख आधार बनाया तथा इसे १०० भागों में विभाजित किया। उन्होंने जल के जमाव बिन्दु (हिमांक) का ०°C तापक्रम तथा उबाल बिन्दु (क्वथनांक) का १००°C तापक्रम सुनिश्चित किया। इस तापमापी में पदार्थों के उष्ण, अनुष्णाशीत तथा शीत कहे जाने वाले धर्मों को 'ताप' के ही विविध अंकों में दर्शाया गया है।

महान् वैज्ञानिक फारेनहाइट ने ऐसा तापमान का पैमाना बनाने का प्रयास किया, जिसमें मानव शरीर का औसत तापमान दाशमिक अंक पर स्थिर हो। ताकि इस बिन्दु को तापमान के एक बढ़िया पड़ाव के रूप में जाना जा सके। उन्होंने इस पैमाने पर ०°F तापमान को निर्धारित करने के लिये बर्फ तथा नमक के मिश्रण को आधार बनाया तथा इससे वर्धमान क्रम में १००°F अंक पर मानव शरीर का ताप स्थिर किया। सम्भवतः उन्होंने ऐसा करते हुए किसी बीमार व्यक्ति की सेवाएं लीं। क्योंकि सामान्य मनुष्य का औसत ताप ९८°F होता है। इस पैमाने पर ३२°F पर

पानी जमता है तथा २१२°F ताप पर यह उबलता है[1]। यहाँ भी क्वथनांक से नीचे प्रत्येक स्तर पर निरन्तर घटते हुए 'ताप' को ही प्रदर्शित किया जाता है।

इस दृष्टि से देखें तो विश्व के पदार्थों में नित्य उष्ण, नित्य शीत रहने जैसी अवधारणा सदा के लिये समाप्त हो चुकी है। इस खण्ड के चौथे परिच्छेद में कहा गया है कि पदार्थ की ठोस, द्रव आदि अवस्थाएँ अणुओं की सापेक्ष समीपता तथा दूरी पर आधारित हैं। इसी प्रकार पदार्थ की शीत, उष्ण दशा इसके अणुओं के सापेक्ष कम या अधिक प्रकम्पन पर आधारित हैं। इस सापेक्षता के अनुसार प्रत्येक पदार्थ हर दशा में शीत और उष्ण दोनों एक साथ है। किसी में ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक शीत, उष्ण गुण अवस्थित नहीं है। अतः जल में भी ऐसा स्वाभाविक शीत स्पर्श गुण मान्य नहीं है।

फिर भी जल में स्वाभाविक शीतलता सिद्धान्त के विकसित होने का कारण यह रहा है कि हम जिस परिवेश में रहते हैं, उसमें जल की स्वतः शीतल गुण धारण करने की प्रवृत्ति देखी जाती है। उसका प्रमुख कारण हमारे आस–पास का वातावरण ही है। नदी में प्रवाह के कारण इसका पानी ठण्डा रहता है। जल में किरासन तेल इत्यादि की अपेक्षा अधिक विशिष्ट ऊष्मा (specific heat) होती है। अतः वह देर से गर्म होता है तथा देर से ठण्डा होता है। अधिक मात्रा वाला तालाब का पानी भी इसी गुण के द्वारा काफी अधिक गर्मी को अपने में सोखने की प्रवृत्ति के कारण जल्दी गर्म नहीं होता[2]। इसीलिये समुद्र के समीपवर्ती स्थान भी अधिक गरम या ठण्डे नहीं होते। किसी तालाब में आसानी से किरणों के प्रवेश न हो पाने के कारण इसका गहरा जल और ठण्डा बना रहता है। गर्मी के दिनों में भी कुएँ का पानी ठण्डा होता है। क्योंकि वहाँ ऊपरी वातावरण का प्रभाव बहुत कम तथा बहुत धीरे–२ पड़ता है। धरती ताप की कुचालक होती है। शरीर में पानी लगने पर वाष्पीकरण की प्रक्रिया से वह ठण्डा उपलब्ध होता है। इसका निरूपण वाष्पीकरण के प्रसंग में विस्तार से किया जा चुका है।

---

1. Fahrenheit selected a mixture of ice and salt having approximately such a temperature and this temperature for his zero. In the words of the inventor the standard temperature of a human body was taken for 100° on this scale. However in order to determine this point, Fahrenheit probably made use of the services of a slightly feverish person. On the F. scale the average standard temperature of a human body is 98° F. On this scale, water freezes at +32°F and boils at 212°F.
—Physics for everyone, L.D. Landau, Page 75.
2. Note that water has a very great specific heat capacity, and, therefore, water in seas and oceans, being heated in summer, absorbs a large quantity of heat.
—Physics, A.V. Peryshkin, Page 166.

७. जल में स्नेह या श्यानता

जल में स्नेह (दर्शन)– आधुनिक युग में चिकना अर्थ में 'स्नेह' शब्द का प्रयोग देखा जाता है। पर प्राचीन काल में इसका अर्थ भिन्न था। वेद में 'स्निह' क्रिया प्रायः गीला करने अर्थ में प्रयुक्त होती रही है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा है कि सोम ने शत्रुओं को स्नेहित किया[1]। व्याख्याकारों ने इसका अर्थ 'गीला किया या द्रवीभूत करते हुए भगाया' यह अर्थ माना है[2]। इस प्रकार यहाँ स्नेह शब्द द्रव के समकक्ष है।

दर्शन शास्त्र में इसका विशेष पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग किया गया है। वैशेषिक में जल को 'स्निग्ध' कहा है[3]। इसकी व्याख्या करते हुए 'उपस्कार' ने कहा है कि स्नेह एक ऐसा गुण है, जो सत्तू, रेत आदि को पिण्ड बना देता है। इसमें द्रव गुण का सहयोग अनिवार्य है। इसलिये कठोर घी से ऐसा पिण्ड नहीं बनता[4]। इस प्रकार पारिभाषिक अर्थ में द्रव गुण स्नेह का सहयोगी तो है, पर द्रव ही स्नेह नहीं। अपितु इससे भिन्न अस्तित्व रखने वाला विशेष गुण है। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए इसकी यह परिभाषा स्थिर की गई–

चूर्णादिपिण्डीभावहेतुर्गुणः स्नेहः। –तर्क संग्रह, गुणलक्षण–प्रकरण।

अर्थात् चूर्ण आदि को पिण्ड बनाने का कारण गुण स्नेह होता है। इसे चक्षु तथा त्वचा दोनों इन्द्रियों से प्रत्यक्ष–योग्य माना गया है[5]।

न्याय शास्त्र में यह भी माना है कि यह गुण केवल जल की ही विशिष्टता है। अन्य किसी द्रव्य में यह नहीं पाया जाता[6]।अतः 'स्नेह गुण वाला होना' जल का लक्षण भी हो सकता है। न्याय की शास्त्रीय भाषा में कहा है कि स्नेह की

---

१. अस्वापयन्निगुतः स्नेहयच्चापामित्राँ अपाचितो अचेतः। –ऋग्वेद ६.६७.५४

२. स्नेहयत्=प्राद्रवयत् संग्रामाच्छत्रून्। –उक्त मन्त्र पर सायण–भाष्य।

३. रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः। –वैशेषिक सूत्र २.१.२

४. संग्रहो हि स्नेहद्रवत्वकारितः संयोगविशेषः।.... (स हि) नापि स्नेहमात्रकारितः, स्त्यानैर्घृतादिभिः संग्रहानुपपत्तेः। –उक्त सूत्र पर उपस्कार।

५. संख्यादिरपरत्वान्तो द्रवत्वं स्नेह एव च। एते तु द्वीन्द्रियग्राह्याः। –कारिकावली, गुण–निरूपण, श्लोक ६२

६. स्नेहोऽम्भस्येव। –प्रशस्तपाद्र भाष्य, जलनिरूपण।

समवायिकारणता की अवच्छेदक जलत्व जाति होती है[1]।

इस सिद्धान्त की उपस्थिति में जहाँ कहीं भी स्नेह देखा जाय, वहाँ जल अवश्य है, यह अनुमान होता है। घी, तेल आदि से भी आटा के पिण्ड आसानी से बन जाते हैं। अतः निश्चय ही इनमें भी जल है। इनमें वर्तमान जल में स्नेह गुण की अधिकता है। अतः इनके द्वारा पिण्ड बनाने में आसानी होती है। सामान्य लोग इनसे इस क्रिया को आसानी से होते देख कर तेल आदि में ही स्नेह मान लेते हैं, जल में नहीं। यह ठीक नहीं। वस्तुतः जल में ही स्नेह है, तेल में नहीं। जल में न्यून स्नेह जल्दी उपलब्ध नहीं होता। पर तेल में वर्तमान जल का अधिक स्नेह आसानी से उपलब्ध होता है।

ये तेल आदि पदार्थ अपने में जल के अधिक स्नेह की विशेषता के कारण ही दहनशील हो जाते हैं। जल में शीत गुण दहनविरोधी, पर स्नेह गुण दहनशील होता है। सामान्य जल का शीत गुण न्यून स्नेह की दहनशीलता को दबाते हुए आग को बुझा देता है। गर्म पानी भी इस कार्य में सर्वथा सक्षम होता है। संस्कृत की एक सुन्दर उक्ति में कहा है कि–

सुतप्तमपि पानीयं शमयत्येव पावकम्।

अर्थात् बढ़िया तप्त जल भी आग को बुझाता ही है। क्योंकि वस्तु का स्वभाव छूट नहीं सकता। छठे परिच्छेद में बताया गया है कि गर्म जल में भी इसका शीत गुण यथावत् बना रहता है। अतः इस दशा में भी इसका शीत गुण स्नेह को दबाते हुए अग्नि को बुझा देता है। पर घी, तेल आदि में रहने वाले जल का अधिक स्नेह गुण शीत गुण की दहनविरोधिता को दबा देता है। इससे ये पदार्थ दहनशील हो जाते हैं[2]।

जल में श्यानता (विज्ञान)– आधुनिक विज्ञान में स्नेह तथा उससे प्रयुक्त पदार्थों की श्यानता (viscosity) के अन्तर्गत व्याख्या की जाती है। इस शब्द का तरलता (mobility) के सापेक्ष प्रयोग होता है। इस प्रकार जो जितना अधिक तरल है, वह उतना कम श्यान है। इसके विपरीत तेल, घी आदि जितने अधिक श्यान हैं, उतने कम तरल हैं।

---

१. स्नेहसमवायिकारणतावच्छेदकतया जलत्वजातिः सिद्ध्यति।
–कारिकावली श्लोक ३६ पर मुक्तावली।

२. तैलान्तरे तत्प्रकर्षाद् दहनस्यानुकूलता। –कारिकावली श्लोक १५७
तैले उपलभ्यमानः स्नेहोऽपि जलीय एव। तस्य प्रकृष्टत्वादग्नेरानुकूल्यम्।
–उक्त श्लोक पर मुक्तावली।

द्रवों में लगने वाला वह आन्तरिक घर्षण बल जो द्रवों की विभिन्न सतहों के मध्य उनकी आपेक्षिक गति का विरोध करता है, उसे 'श्यानता' कहते हैं। ठोस पदार्थों में घर्षण बल के प्रभाव से गतिशील पिण्ड में रुकावट देखने में आती है। द्रवों में भी यह स्थिति देखी जा सकती है। अगर हम पानी को किसी बन्द बर्तन में घुमा कर छोड़ दें, तो वह धीरे-२ रुक जाता है। इससे प्रकट है कि पानी की विविध पर्तों में घर्षण बल लगता है, जो कि उसे विरामावस्था में लाने के लिये प्रेरित करता है। द्रवों की इस विशेषता को ही 'श्यानता' कहते हैं।

घी, तेल आदि में जल की अपेक्षा अधिक श्यानता होती है। अतः ये सापेक्षतः शीघ्र विरामावस्था को प्राप्त होते हैं। इनके सम्पर्क में गतिशील कण के आने पर वे भी शीघ्र ही वहाँ टिक जाते हैं। इस प्रकार इन कणों की स्वतन्त्र गति रुकने लगती है जो कि इनके पिण्ड बनने की आवश्यक शर्त है।

जल में भी उपरिलिखित विशेषता वाली श्यानता वर्तमान होती है। अतः यदि चूर्ण या धूलि-कण ऐसे जल के सम्पर्क में आते हैं तो वे अपनी स्वतन्त्र गति बनाए नहीं रख सकते। वायु में ये कण स्वतन्त्रतापूर्वक उड़ते हैं। पर वायु की अपेक्षा जल में श्यान-घर्षण लगभग ६० गुना अधिक होता है[1]। अतः ये कण जल के सम्पर्क में आने पर अपनी स्वतन्त्र गति को छोड़ कर विरामावस्था की ओर उन्मुख होते हैं तथा पिण्ड बनने की प्रवृत्ति रखने लगते हैं।

इसके अलावा जल का एक अन्य गुण भी पिण्ड बनाने में सहयोग प्रदान करता है। यह तो सर्वथा स्पष्ट है कि द्रव के अणुओं के मध्य परस्पर आकर्षण बल लगता है। यह बल दो प्रकार का होता है। एक ही पदार्थ के अणुओं के मध्य लगने वाले आकर्षण बल को संसंजक बल (cohesive force) कहते हैं तथा विभिन्न पदार्थों के अणुओं के मध्य लगने वाले आकर्षण बल को आसंजक बल (adhesive force) कहते हैं।

कुछ द्रव पदार्थों में आसंजक बल कम, पर संसंजक बल अधिक होता है। पारा ऐसा ही एक द्रव है। यह इस विशेषता के कारण उँगली में नहीं चिपकता। इसे काँच की प्लेट में गिराने पर यह काँच को गीला करते हुए बहता नहीं है। अपितु छोटी-२ बूँदों के रूप में बिखर जाता है।

---

1. It is quite understandable that air creates a negligible viscous friction, approximately 60 times less than water.
—Physics for everyone, Book 2, L.D. Landau, Page 165.

पर जल आदि द्रव पदार्थों में आसंजक बल अधिक तथा संसंजक बल कम होता है। इस कारण यह उँगली को गीला करते हुए उसमें चिपक जाता है। अपने इस गुण के द्वारा यह अपने सम्पर्क में आने वाले चूर्ण या धूलि–कणों को भी चिपका लेता है तथा इस प्रकार उन्हें पिण्ड का आकार देने में सक्षम होता है।

प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट है कि जल के श्यानता इत्यादि गुण पिण्डीभाव के लिये उत्तरदायी होते हैं। इस प्रकार दर्शनशास्त्र के अनुसार जल में स्नेह गुण को मानना तथा उसे पिण्डीभाव का कारण कहना सर्वथा विज्ञानसम्मत है।

पर विज्ञान में दर्शन के इस सिद्धान्त से मतभेद है कि स्नेह केवल जल की ही विशिष्टता है तथा इस प्रकार घी, तेल में भी जल है तथा उसके जल में ही स्नेह है। विज्ञान के अनुसार श्यानता उन सभी पदार्थों का गुण है, जहाँ इसका प्रभाव पाया ज़ाय। अतः घी, तेल में श्यानता मान्य है। इन पदार्थों में जल के होने या न होने का प्रश्न आधुनिक रसायन–शास्त्र में विविध पदार्थों के अलग–२ अणु सूत्रों (molecular formula)द्वारा सर्वथा स्पष्ट रीति से तय किया जा चुका है। यौगिक पदार्थों के बनने के क्रम में कुछ अणु अन्य प्रकार के अणुओं में परिवर्तित हो जाते हैं, कुछ बन्धन टूटते हैं, कुछ नए बनते हैं। तेल जैसे यौगिक सामान्यतः कार्बन, हाइड्रोजन तथा ऑक्सीजन अणुओं के मेल से बनते हैं। इसलिये इन्हें कार्बनिक यौगिक कहा जाता है। इनके बनने की प्रक्रिया में H_2o मुक्त होता है। इस प्रकार तेल में इस सूत्र वाला यौगिक जल उपस्थित नहीं होता। फिर भी इसमें श्यानता तो होती है। अतः इस गुण को तेल में मिश्रित किसी जल में नहीं, अपितु, सीधे तेल में ही समवेत होना मान्य है।

पानी से आग का बुझना(दर्शन तथा विज्ञान)– दर्शन शास्त्र में कहा है कि जल अपने शीत गुण से आग को बुझाता है तथा तेल में वर्तमान जल अपने अधिक स्नेह के द्वारा आग में वृद्धि करता है। विज्ञान इन घटनाओं की इस प्रकार से व्याख्या करता है–

पानी ज्वाला के संसर्ग में आने पर वाष्प में परिणत होने लगता है। इस प्रकार ज्वाला का अधिकांश ताप या ऊष्मा ऊर्जा को अपने वाष्पीकरण में खर्च करने लगता है। इससे ज्वाला का ताप तीव्र गति से घटता है। गर्म पानी भी वाष्पीकरण के लिये ताप को खर्च करता है। एक लीटर ठण्डे पानी को १०० डिग्री सेंटीग्रेड तक गर्म करने के लिये जितनी ऊष्मा ऊर्जा व्यय होती है, उससे पाँच गुनी ऊर्जा उस पूरे जल को वाष्प बनाने में होती है। यही कारण है कि पानी चाहे जितना गर्म हो, वह अपने वाष्पीकरण के लिये ताप को खींच कर आग बुझाने का

ही काम करता है।

पानी ज्वाला की अधिकांश ऊर्जा लेकर भी सन्तुष्ट नहीं होता। यह वाष्पीकृत होकर पानी से सैकड़ों गुना अधिक आयतन में ज्वाला के चारों ओर फ़ैल जाता है। इस प्रकार बाहर की हवा को वहाँ से विस्थापित कर देता है। हम जानते हैं कि ऑक्सीजन के बिना कोई भी ज्वलन चलता नहीं रह सकता। इस प्रकार यह वाष्प पहले से ही न्यून हुए ताप वाले ज्वलन के आगे चलने में रुकावट उपस्थित करके इसे सर्वथा बुझा देता है। स्थिति यह है कि यह जल अग्नि से ताप लेकर वाष्प प्राप्त करता है तथा उस वाष्प का अग्नि के विनाश के लिये ही प्रयोग करता है। इस प्रकार यह अग्नि के योग–क्षेम दोनों में विघ्न उपस्थित करके उसे नष्ट कर डालता है!!

---

८. शरीर में कितना पानी

जलीय तथा पार्थिव शरीर में पानी (दर्शन)– दर्शन शास्त्र में अनेक प्रकार के शरीर माने गए हैं। इनके उपादान कारणों की भिन्नता के आधार पर इनका विभाजन किया गया है। इस प्रकार पृथिवी, जल, तेज, वायु इन अलग–२ उपादान कारणों से निर्मित अलग–२ प्रकार के शरीर होते हैं। जो शरीर जिस उपादान कारण से निर्मित है, उससे अतिरिक्त शेष चार महाभूत उसके निमित्त कारण होते हैं। जैसे पार्थिव शरीर में जल, तेज, वायु, आकाश तथा जलीय शरीर में पृथिवी, तेज, वायु, आकाश निमित्त होते हैं। इस प्रकार पाञ्चभौतिक शरीर का सम्पूर्ण अर्थ 'एक उपादान कारण वाले तथा चार निमित्त कारण वाले महाभूत से निर्मित शरीर' यह होता है।

यह तो स्पष्ट है कि 'उपादान' वह अनिवार्य कारण है, जिसे उसका कार्य अपने विनाश पर्यन्त कभी नहीं छोड़ सकता। जैसे, मिट्टी घड़े का उपादान कारण है। पर निमित्त कारण को उसका कार्य छोड़ भी सकता है। जिस शरीर में जिस भूत की अधिकता देखी जाती है, उस एक को अनिवार्य उपादान कारण तथा शेष को निमित्त कारण माना जाता है। इस प्रकार पार्थिव शरीर में पृथिवी की अधिकता, जलीय शरीर में जल की प्रधानता मान्य है। अन्य महाभूत स्वल्प अंश में रह कर उस शरीर को उपभोग–योग्य बनाने में सहायता करते हैं[1]।

यहाँ शास्त्रीय तकनीकी कारणों से किसी भी शरीर के दो उपादान कारण नहीं माने गए हैं। मान लीजिये, अगर कोई शरीर पृथिवी, जल इन दो उपादान कारणों से निर्मित माना जावे तो उसमें पृथिवीत्व, जलत्व दो जातियाँ एक साथ रहने लगेंगी। पर जाति की परिभाषानुसार ऐसा नहीं हो सकता। पृथिवी तथा जल दो सर्वथा भिन्न–२ द्रव्य हैं। अतः पृथिवीत्व वाले में जलत्व या जलत्व वाले में पृथिवीत्व का रहना सम्भव नहीं है। ऐसा होने पर 'संकर' नामक दोष उपस्थित होगा। इसलिये कोई भी शरीर या तो पार्थिव ही अथवा जलीय ही है[2]।

---

१. जलीयतैजसवायवीयशरीराणां पार्थिवभागोपष्टम्भादुपभोगक्षमत्वम्। जलादीनां प्राधान्याज्जलीयत्वादिकम्। –कारिकावली, प्रत्यक्ष–खण्ड, श्लोक ४२ पर मुक्तावली।
पृथिवीशरीरे जलतेजोवाय्वाकाशानां स्वल्पांशतया निमित्तकारणतामात्रं बोध्यम्।
–कारिकावली श्लोक ३८ पर किरणावली।

२. न च क्लेदोष्मादेरुपलम्भादाप्यत्वादिकं स्यादिति वाच्यं, तथा सति जलत्वपृथिवीत्वादिना संकरप्रसंगात्। –कारिकावली श्लोक ३८ पर मुक्तावली।

इनमें जलीय शरीर का उदाहरण नालियों के वे कीड़े हैं, जिनके पूरे शरीर में जल भरा रहता है तथा चारों ओर केवल पतली पार्थिव झिल्ली से उनका आकार ढका रहता है। वे जल वाले होने से कोमल आकार वाले अपने शरीर को किसी भी ओर मोड़ते, सिकोड़ते रहते हैं[1]।

पार्थिव शरीर के अन्तर्गत I जरायुज–जरायु से उत्पन्न दो पैरों वाले मानव, चार पैरों वाले जानवर, II अण्डज–अण्डे से उत्पन्न होने वाले साँप आदि सरीसृप, पंखों वाले पक्षी, III स्वेदज–पसीने से उत्पन्न होने वाले कृमि, कीट तथा IV उद्भिज्ज–जमीन को फोड़ कर उत्पन्न होने वाले पेड़, पौधे इत्यादि आते हैं[2]। पानी में पाई जाने वाली मछलियाँ इत्यादि भी पार्थिव शरीरों में सम्मिलित हैं[3]।

इन सभी को पार्थिव शरीर मानने का कारण इनमें पार्थिव अंश की अधिकता तथा इस अंश की अनिवार्यता भी है। ऐसे किसी शरीर के शव के सूख जाने पर भी तथा इस प्रकार शरीर से जल, तेज, प्राण–वायु के निकल जाने पर भी हम इसके आकार तथा गन्ध से इसे पहचान लेते हैं। यह आकार तथा गन्ध स्पष्टतः पृथिवी का गुण–धर्म है। इससे सिद्ध है कि मृत शरीर में भी पृथिवी के गुण–धर्म बने रहते हैं। इस प्रकार पार्थिव अंश किसी शरीर का अनिवार्य तत्त्व है, जो उसे कभी नहीं छोड़ सकता। अतः ऐसे शरीरों को पार्थिव या पृथिवी उपादान कारणों से निर्मित मानना सर्वथा तर्कसंगत है[4]।

जलीय तथा पार्थिव शरीर में पानी (विज्ञान)–किसी शरीर को जलीय अथवा पार्थिव कहने का आधार यदि उस भूत की अधिकता है, तब तो उपरिलिखित सभी प्रकार के शरीर जलीय सिद्ध होते हैं, पार्थिव नहीं। विज्ञान का मानना है कि इस प्रकार के सभी शरीरों में जल की ही सर्वाधिकता है। कुछ प्राणि–शरीरों में जल का प्रतिशत इस प्रकार है[5]–

---

१. अल्पजले जलदर्शककाचयन्त्रद्वारा जलवत् कोमल–शरीरा प्रतिक्षणं ह्रस्वदीर्घभावमापद्यमानाः कीटादयो दृश्यन्ते...... ते जलीय–शरीर–प्रधानाः। –कारिकावली श्लोक ४० पर किरणावली।

२. योनिजं (देहं) द्विविधं जरायुजमण्डजं च। जरायुजं मानुषादीनाम्। अण्डजं सर्पादीनाम्। अयोनिजं स्वेदजोद्भिज्जादिकम्। स्वेदजाः कृमिदंशाद्याः। उद्भिज्जास्तरुगुल्माद्याः। –कारिकावली श्लोक ३८ पर मुक्तावली।

३. मत्स्यादयस्तु पार्थिवाः, न तु जलीयाः, जलान्तर्भागे एवोत्पन्नत्वात्। तज्जीवने जलं त्वसाधारण–सहकारि, मनुष्यजीवने श्वास इव बोध्यम्। –कारिकावली श्लोक ४० पर किरणावली।

४. न च तर्हि जलीयत्वादिकमेवास्तु न तु पार्थिवत्वमिति वाच्यं, क्लेदादीनां विनाशेऽपि शरीरत्वेन प्रत्यभिज्ञानात्, गन्धाद्युपलब्धेश्च पृथिवीत्वसिद्धेः। –कारिकावली श्लोक ३८ पर मुक्तावली।

५. विस्तृत तालिकाओं के लिये द्रष्टव्य –प्राणि शरीर का क्रिया विज्ञान, मट शिमट, नील्सन पृ०६०

प्राणी	शरीर–भार के सापेक्ष जल का प्रतिशत
केंचुआ	८० प्रतिशत
केकड़ा	७६ प्रतिशत
मेढ़क	७८ प्रतिशत
चिड़िया	७४ प्रतिशत

मानव–शरीर में ७० प्रतिशत जल है। बड़ा अचरज पूर्ण है यह!! इसके कुछ अंगों में जल का प्रतिशत इस प्रकार है–

रुधिर	८३ प्रतिशत
मस्तिष्क	८० प्रतिशत
पेशी	७५ प्रतिशत
त्वचा	७० प्रतिशत
अस्थि	३० प्रतिशत
वसा	१० प्रतिशत

वैज्ञानिकों का कहना है कि हमारे शरीर में घन और जल का वही अनुपात है जो अनुपात एक कप पानी में दस चम्मच चीनी मिलाने से बनता है। ऐसे एक कप में चीनी की अपेक्षा जल की अधिकता का जो प्रतिशत है, वही प्रतिशत मानव शरीर में पार्थिव भाग की अपेक्षा जल का है।

इस एक कप पानी में
10 चम्मच चीनी डालने पर
जो घन और जल का अनुपात है

इस मनुष्य में
घन तथा जल भाग का

वही अनुपात है =

ऐसा मानने पर हम सबके मन में वही प्रश्न उठता है, जो किसी जमाने में 'हेम्लेट' नामक राजकुमार के मन में उठा था। वैज्ञानिकों से यह विवरण सुन कर राजकुमार ने पूछा कि ओ! *तब हमारा शरीर इतना ठोस क्यों है? यह क्यों नहीं बह जाता है, बर्फ की तरह पिघल कर पानी बन जाता है, अथवा ओस की बूँदों की तरह बदल जाता है?*[1]।

वैज्ञानिकों के अनुसार इसका उत्तर यह है कि हमारा शरीर प्रोटीन से निर्मित है। इसकी विशेषता यह है कि यह जल की बहुत अधिक मात्रा को अपने में अवशोषित करके अर्ध–ठोस जेलियाँ बना सकता है। प्रोटीन से निर्मित जिलेटीन एक ऐसा ही द्रव्य है। पानी में केवल ३ प्रतिशत जिलेटीन घोल को जमा कर जेली बना देता है[2]। शरीर में भी प्रोटीन के द्वारा यह विशेषता प्राप्त होती है। इसके अलावा अनवशोषित जल भी नाडियों तथा ऊतकों में पर्याप्त मात्रा में वर्तमान रहता है, जो कि चारों ओर से घिरे होने के कारण नहीं बह सकता।

जैसा कि ऊपर कहा गया, दर्शन–शास्त्र में किसी शरीर के पार्थिव या जलीय होने का आधार उस–२ द्रव्य का अधिक परिमाण का होना है। इस आधार को मानते हुए ये सभी शरीर जलीय सिद्ध होते हैं, पार्थिव नहीं।

---

१. परमाणु और जीवन, अर्नेस्ट बोरेक, भाग १, पृ० ८
२. द्रष्टव्य 'जिलेटीन' के अन्तर्गत–हिन्दी विश्व कोश, खण्ड ४

६. पेड़ में पानी कैसे चढ़ता है।

वृक्षों में जल का ऊर्ध्वगमन (दर्शन)– हमारे दैनिक जीवन में वृक्षों के सन्दर्भ में एक अद्भुत तथ्य देखने में आता है। जहाँ हम लोग पानी को ऊपर से नीचे की ओर पीते हैं, वहीं पेड़ इसे नीचे से ऊपर की ओर ग्रहण करता है। इसके द्वारा पानी को ऊपर चढ़ाने की ऊँचाई तथा इसका विशाल क्षेत्रफल भी अपने आप में अकल्पनीय है। अन्य प्राकृतिक उपायों से कोई द्रव सामान्यतया इतना ऊँचा नहीं चढ़ता। वैज्ञानिक टौरीसेली ने बताया है कि किसी बन्द वायु–विहीन काँच की नली में पारा बाहरी वायुमण्डल के दबाव से ७६ सेमी० तक ऊपर चढ़ जाता है। पर इससे अधिक नहीं चढ़ सकता। इसी प्रकार की वायुविहीन शून्य बन्द नली में पानी अधिकतम १० मीटर ऊँचा चढ़ सकता है, इससे अधिक कदापि नहीं[1]। प्राणियों में हृदय रस–रक्त में दबाव डाल कर इसे सम्पूर्ण शरीर में परिभ्रमण कराता तथा ऊँचे भागों में चढ़ाता है। यह व्यवस्था अधिकतम १०० फीट लम्बे जन्तुओं तक में देखी गई है।

पर पेड़ के विशाल क्षेत्रफल तथा ऊँचाई में पानी भेजने की व्यवस्था के आगे प्राणियों की कोई तुलना नहीं है। ऐसे वृक्षों की विचित्रताएं प्रसिद्ध हैं। भारत में प्राचीन काल में पीपल के पेड़ के नीचे पूरी घुड़साल ही लग जाया करती थी। इसके लिये इसका नाम 'अश्वत्थ' पड़ गया। मध्यकाल में व्यापारी 'बनिया' लोग बरगद के पेड़ के नीचे पूरी बाजार ही लगा लिया करते थे। इसलिये इंग्लिश में वट वृक्ष का नाम banian tree पड़ गया[2]। इसकी ऊँचाई का बढ़िया उ़दाहरण अमेरिका के केलोफोर्निया का रेडवुड (redwood) पेड़ है। इसकी ऊँचाई ३०० फीट तक देखी गई है। इस प्रकार के विशाल वृक्षों द्वारा सबसे ऊँची फुनगी के पत्तों–२ के लिये धरती के नीचे से पानी की निरन्तर आपूर्ति करना सचमुच प्रकृति का एक चमत्कार है!

---

१. महान् वैज्ञानिक गेलिलियो के समय तक इस घटना का कारण स्पष्ट नहीं था। अतः उन्होंने इसका गोल मोल जवाब दिया था– 'प्रकृति शून्य से डरती है, पर एक निश्चित ऊँचाई तक ही'। द्रष्टव्य–
He answered that nature really dislikes vacuum, but only upto a certain point.
-physics for everyone. Book 1, L.D. Landau. page 232.

2. Banian tree= Indian fig, branches of which root themselves over wide area. Portuguese banian from gujarati vanio= man of trading caste.... applied originally to such tree under which banians had built pagoda. The Oxford English Dictionary.

पेड़ की इस विलक्षणता के कारण संस्कृत में इसे 'पादप' यह विशिष्ट नाम दिया गया, जिसका अर्थ 'पैरों से पानी पीने वाला' यह होता है। इसकी कुरूप जड़ें अँधेरे में रहती हुई निरन्तर यह कार्य करती हैं। इनके छिपाव तथा कुरूपता को देख कर शायद कभी कुछ लोगों ने इन्हें बुदधू माना हो! यह एक विचित्र संयोग है कि संस्कृत में जड के पर्याय शब्द मूर्ख के पर्यायवाची भी हैं। जड शब्द का बुद्धू अर्थ में खूब प्रयोग होता है। साथ ही 'मूल' शब्द भी र ल के अभेद से 'मूर' इस रूप में प्रचलित रहा है तथा वेद में मूर्ख अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[1]। फिर भी ऐसी मूर्ख जड़ निरर्थक है, ऐसा किसी ने भी नहीं माना है। इसके विपरीत जड़ से विहीन ही व्यर्थ है। इसीलिये 'निर्मूल' शब्द का 'निरर्थक' अर्थ में प्रयोग प्रचलित रहा है।

वृक्षों में इन जड़ों के माध्यम से पानी के ऊपर जाने की व्याख्या दर्शन शास्त्र की एक समस्या रही है। वैशेषिक में माना है कि आसमान में नन्हें जल–शीकरों के धूलि–कणों के साथ संयोग के कारण उनका नीचे न गिरना तथा इस प्रकार मेघ के रूप में ऊपर बने रहने के बाद संयोग नष्ट होने पर नीचे गिरने की प्रक्रिया स्पष्ट है[2]। इसी प्रकार गतिशील बलवान् वायु के 'आपीडन' या दबाव से झुकी हुई किरणों के द्वारा जल–वाष्प का ऊपर उड़ना भी सर्वथा तर्क–संगत है[3]। पर इन किरणों का सम्पर्क न होने पर वाष्प रूप धारण किये बिना जल का द्रव रूप में ही ऊपर चढ़ना एक समस्या है। सूत्र इस प्रकार है–

वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम्। –वैशेषिक सूत्र ५.२.७

अर्थात् जड़ में सींचे गए पानी का पेड़ के अन्दर चारों ओर चलते हुए ऊपर पहुँचना 'अदृष्ट' के द्वारा किया जाता है। अर्थात् इसका कारण स्पष्ट नहीं है। टीकाकारों ने परम्परानुसार इसका अर्थ किया है कि वृक्ष के बढ़ने से किसी प्राणी को सुख या दुख होता है तथा उससे प्रेरित होकर उसके द्वारा अनेक प्रकार के कार्य होते हैं। इससे उस प्राणी की आत्मा में उत्पन्न होने वाले 'अदृष्ट' नामक एक विशिष्ट गुण की महिमा से पानी ऊपर चलता जाता है।

पर वास्तव में यह व्याख्या डूबते को तिनका सहारा है! यदि विश्व में सभी भौतिक कार्य इसी प्रकार प्राणियों के अदृष्ट से होने लगें, तब फिर भौतिक–विज्ञान

१. मूरा अमूर न वयं चिकित्वो महित्वमग्ने त्वमङ्ग वित्से। –ऋग्वेद १०.४.४
अर्थात्– हे अमूढ अग्नि! हम मूढ हैं, जो तुम्हारी महिमा को नहीं जानते। द्रष्टव्य–'अमूर=अमूढ, मूराः=मूढाः' –उक्त मन्त्र पर सायण–भाष्य।

२. अपां संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम्। –वैशेषिक सूत्र ५.२.३

३. नाड्यो वायुसंयोगादारोहणम्। –वैशेषिक सूत्र ५.२.५
नोदनापीडनात् संयुक्तसंयोगाच्च। –वै० सू० ५.२.६

के नियमों की क्या जरूरत! संस्कृत की एक बढ़िया सूक्ति में कहा है–

यदि स्याद् वाक्यमात्रेण निर्जितेयं वसुन्धरा!

अर्थात् अगर बोलने भर से सब काम हो जाय, तब सेनाओं की क्या जरूरत! तब तो हमने धरती जीत ही लिया! अतः केवल 'अदृष्ट' कहने भर से सब काम नहीं हो सकता। मीमांसा में भी माना है कि अगर किसी कार्य का फल दृष्ट हो तो वहाँ अदृष्ट फल की कल्पना नहीं करना चाहिये[1]। इसी प्रकार किसी कार्य के भौतिक कारण देखे जा सकने की स्थिति में भी 'अदृष्ट' नहीं माना जाता। पर कारण के अज्ञात रहने तक तो इसे मानना ही पड़ता है।

पेड़ों से पानी के ऊपर जाने में समस्या यह है कि यह कार्य भौतिक नियमों का उल्लंघन करता प्रतीत होता है। जल में पाए जाने वाले गुरुत्व तथ द्रवत्व गुणों का कार्य अधःपतन ही होता है। बलवान् वायु के दबाव से झुकी हुई किरणों के साथ संयोग से इसका उर्ध्वगमन होता है। पर यहाँ इसके उर्ध्वगमन कराने वाला कोई गुण दृष्ट नहीं है। अतः इसका कारण अदृष्ट ही है।

पेड़ों में पानी का चढ़ना (विज्ञान)–आधुनिक विज्ञान का मानना है कि यह बिल्कुल भी आवश्यक नहीं कि द्रव का कोई गुण या बल ऊर्ध्व दिशा से अधोदिशा की ओर प्रसृत होने के लिये नियत हो। अपितु यह द्रव अधिक दबाव से प्रेरित होकर कम दबाव की ओर बहता है, चाहे दिशा कोई भी हो। वायु का दबाव प्रत्येक उससे संयुक्त वस्तु पर पड़ता है। पात्र में रखे द्रव में लगे बलों तथा दबावों में जब तक सन्तुलन या साम्यावस्था स्थापित रहती है, तब तक वह स्थिर रहता है। पर इस साम्यावस्था के भंग होते ही यह उस ओर गतिशील हो उठता है, जिस ओर कम दबाव होता है। सांख्य दर्शन में भी साम्यावस्था में पदार्थ की स्थिरता तथा गुणों या बलों की विषमता अथवा इनकी गुणप्रधान–रूपी न्यूनाधिकता होने पर इनमें प्रवृत्ति अथवा विरूप–परिणाम माना है[2]। विज्ञान में इसके अनेक उदाहरण दिये जाते हैं। अभी ऊपर जिस बन्द नली में १० मीटर से ऊपर पानी न चढ़ने की बात कही गई है, उसका कारण उस ऊँचाई पर साम्यावस्था का स्थापित हो जाना है। अगर इस बन्द नली के मुँह का क्षेत्रफल १ सेमी² हो तो आधुनिक विज्ञान के

---

१. लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्टफलकल्पना।

–सर्वदर्शन–संग्रह, जैमिनि दर्शन पृ० ५३१ में उद्‌धृत श्लोक।

२. प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च। –सांख्य–कारिका १६

समुदयश्च गुणानां न गुणप्रधानभावमन्तरेण सम्भवति। न च गुणप्रधानभावो वैषम्यं विना...... इति महदादिभावेन प्रवृत्तिर्द्वितीया। –उक्त कारिका पर तत्त्वकौमुदी।

अनुसार इस पर लगभग १ किग्रा० बल का वायु–मण्डलीय दाब पड़ेगा। नली में निर्वात उपस्थित करके यह दाब हटा दिया गया है। अतः पात्र के पानी पर पड़ने वाला बाहरी वायुमण्डलीय दाब पानी को नली के ऊपर चढ़ा देता है। यह तब तक ऊपर चढ़ता रहता है, जब तक १ सेमी०² क्षेत्रफल वाले पानी के स्तम्भ का भार १ किग्रा० के बराबर नहीं हो जाता। इतना चढ़ने पर पानी की ऊँचाई १० मीटर हो जाती है[1]। इस दशा में दोनों दबावों में साम्यावस्था स्थापित हो जाने पर अब पानी ऊपर नहीं चढ़ता।

इस प्रयोग में पानी चढ़ाने के लिये नली के बाहर पानी पर पड़ने वाले दबाव को बढ़ाए बिना नली के अन्दर की वायु को अवचूषित करके वायु–दाब के सन्तुलन को भंग किया गया है। अन्य उदाहरणों में बाहर से दबाव बढ़ा कर भी ऐसा कर सकते हैं। किसी पानी भरे गुब्बारे में बाहर से हाथ का दबाव डाल कर उसके पानी को ऊपर की ओर फेंक सकते हैं। हमारे हृदय के द्वारा भी रक्त में दबाव बढ़ा कर शरीर के ऊपरी भागों सहित इसे सर्वत्र भेजा जाता है।

वृक्षों में भी जल के एक भाग में दबाव बढ़ा कर उसे कम दबाव वाले ऊर्ध्व भाग की ओर जाने के लिये विवश किया जाता है। यह कार्य जिस दबाव के द्वारा सम्पन्न होता है, उसे परासरणीय दाब (osmotic pressure) तथा इस क्रियाविधि को परासरण (osmosis) कहते हैं। इसका संक्षिप्त निरूपण इस प्रकार है–

अगर पानी में शक्कर या नमक डाल दिया जाय तो यह जल में तब तक विसरित होता रहता है, जब तक जल के सम्पूर्ण आयतन में इसका समान वितरण नहीं हो जाता। इस प्रक्रिया में शक्कर के अणु जल के अणुओं के बीच वाले खाली स्थान में बैठ जाते हैं। ऐसा होने से इनका घोल तयार हो जाता है। इससे हम शक्कर को पानी से अलग बिल्कुल नहीं देख पाते।

शक्कर के अणु पानी के अणु से बड़े होते हैं। ये पानी के अणुओं के बीच बैठ कर अपनी सान्द्रता बढ़ाते रहते हैं। इसके प्रभाव से पानी के अणुओं की दूरी कुछ और बढ़ जाती है। अर्थात् इनका सान्द्रण सापेक्षतः कुछ कम हो जाता है। पानी गर्म करने पर यह स्पष्टतः और कम हो जाता है। इसीलिये गर्म पानी में शक्कर की बड़ी मात्रा घोली जा सकती है।

---

1. **This motion will continue until the column of water with an area of 1cm² acquires a weight of 1 Kgf. Such a column of water will have a height of 10 m.**
—Physics for everyone, Book 1, L.D. Landau Page 233

अब इस प्रकार के घोल को किसी पात्र के बीच में अर्धपारगम्य झिल्ली (semipermeable membrane) लगा कर आधे स्थान पर रोक लिया जाय तथा शेष आधे स्थान पर शुद्ध जल भर दिया जाय तो शुद्ध जल के अणु उस झिल्ली में से होकर घोल के अन्दर प्रविष्ट होने लगते हैं। ऐसा इसलिये होता है, क्योंकि घोल में वर्तमान जल की सान्द्रता की अपेक्षा शुद्ध जल में अधिक सान्द्रता तथा इस प्रकार सापेक्षतः अधिक दबाव है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि घोल में वर्तमान जल की अपेक्षा शुद्ध जल में अधिक सान्द्रता, पर घोल में शक्कर के अणुओं की अपेक्षा शुद्ध जल में कम सान्द्रता है। अतः यह सही है कि इस उदाहरण में शक्कर के अधिक सान्द्र अणु शुद्ध जल में प्रविष्ट होना चाहते हैं। पर वह झिल्ली अर्धपारगम्य होने से शक्कर के बड़े अणुओं को प्रविष्ट नहीं होने देती। इस दशा में अधिक दबाव वाला शुद्ध जल घोल के कम दबाव वाले जल की ओर तब तक बहता रहता है, जब तक इन दोनों का दबाव साम्यावस्था में न पहुँच जाय[1]।

इस तथ्य को एक सामान्य प्रयोग द्वारा स्पष्ट करते हैं। इसके लिये दो बड़े आलू लेते हैं। इसके नीचे और ऊपर का थोड़ा भाग चाकू से काट कर सपाट कर लेते हैं। इसके पश्चात् ऊपर की ओर से चाकू चलाते हुए इसका गूदा निकाल कर इसे कटोरी का रूप दे देते हैं। अब एक थाली में पानी लेकर उसमें कुछ सींक के टुकड़े रख कर उसके ऊपर आलू की दोनों कटोरियाँ इस प्रकार रखते हैं, जिससे आलू की नीचे वाली पेंदी पानी लेने के लिये खुली रहे। अब एक आलू की कटोरी में कुछ शक्कर डालते तथा दूसरी को खाली रखते हैं। हम देखते हैं कि शक्कर वाली कटोरी के अन्दर उसकी नीचे वाली पेंदी से पानी रिसने लगता है। यह कटोरी शीघ्र ही पानी से भर जाती है तथा इसके ऊपरी तल से पानी गिरने भी लगता है। पर दूसरी कटोरी खाली ही पड़ी रहती है। इससे स्पष्ट है कि थाली का सापेक्षतः अधिक सान्द्र तथा अधिक दबाव वाला पानी आलू की कटोरी के अन्दर शक्कर के प्रभाव से बने सापेक्षतः कम सान्द्र तथा कम दबाव वाले पानी में प्रविष्ट होने लगता है। इसी प्रकार किशमिश या सूखे मुनक्के को पानी में डालने पर इसी दबाव से पानी इनके अन्दर घुसने लगता है। इससे ये थोड़ी देर में फूल कर बड़े हो जाते हैं।

---

1. But the door is open only for the water, and equilibrium in the presence of the semipermeable partition is established...... when the pressure of the pure water is equal to the 'water' portion of the pressure of the solution.

—Physics for everyone, Book 1, L.D. Landau. Page 157

प्राणिशरीर का क्रियाविज्ञान, नटश्मिट, नील्सन पृ० ६१ भी द्रष्टव्य।

वृक्षों में जल के परिसंचरण के लिये ठीक यही विधि अपनाई जाती है। पेड़, पौधों के अंग हम प्राणियों की तरह असंख्य कोशिकाओं या कोष्ठकों से निर्मित होते हैं। इन कोष्ठकों के चारों ओर लिपटी झिल्लियाँ अर्धपारगम्य होने से बाहर के जल को अपने अन्दर प्रविष्ट कर सकती हैं। पर अन्दर के गाढ़े द्रव को आसानीं से बाहर नहीं जाने दे सकतीं। इन पौधों के मूल अपने सूक्ष्म रोमों के द्वारा अपनी कोशिकाओं में धरती से जल को खींचते हैं। किसी कोशिका द्वारा इस प्रकार जल खींचते रहने पर एक समय ऐसा आता है, जब कोशिका के अन्दर तथा बाहर के जल का दबाव बराबर होने लगता है। पर इस समय आस–पास की कोशिकाओं में जल के दबाव का असन्तुलन बढ़ जाता है। क्योंकि अब इन कोशिकाओं में पिछली सन्तृप्त कोशिका की अपेक्षा शुद्ध जल की सान्द्रता का दबाव काफी कम हो गया रहता है। अतः अब पिछली कोशिकाओं का जल ऊर्ध्व स्थित इन कोशिकाओं में परासरित होने लगता है। इस प्रकार यह जल निरन्तर ऊपर की ओर संचरण करता है। वृक्षों में जल की ऊर्ध्वगति का यही रहस्य है!!

---

१०. रसनेन्द्रिय से रस–प्रत्यक्ष

द्रव्यों के रस का प्रत्यक्ष कराने वाली इन्द्रिय को रसनेन्द्रिय कहा जाता है। इसका जिह्वा में निवास माना गया है। इस जिह्वा में 'रसना' नामक ज्ञानेन्द्रिय के अलावा वाक् नामक कर्मेन्द्रिय भी अवस्थित है। मस्तिष्क में सूचना सम्प्रेषित करने वाली इन्द्रिय को ज्ञानेन्द्रिय तथा उन विविध सूचनाओं के आधार पर मस्तिष्क से आदिष्ट कार्यों को सम्पादित करने वाली इन्द्रिय को कर्मेन्द्रिय कहते हैं। इनमें मस्तिष्क को सूचना प्रदान करने के कार्य को अधिक महत्त्व देते हुए सामान्यतया ज्ञानेन्द्रियों को प्रमुख माना जाता है। पर प्रस्तुत प्रसंग में रसना की अपेक्षा वाणी को प्रमुख माना है। अथर्ववेद के एक सुन्दर मन्त्र में विविध इन्द्रियों के लिये प्रार्थना के क्रंम में सबसे पहले मुख में वाणी के बने रहने की प्रार्थना की गई है[1]। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि रसनेन्द्रिय का अपना विशिष्ट महत्त्व है।

इस प्रकार की रसनेन्द्रिय का किसी रसपूर्ण द्रव्य के साथ संयोग होने पर उसके रस का प्रत्यक्ष होता है। यह इन्द्रिय जलीय अथवा जल तत्त्व से निर्मित होने के कारण रस–प्रत्यक्ष कराने में समर्थ होती है। जो वस्तुएँ गन्ध आदि का व्यंजक न होने के साथ–२ केवल रस का व्यंजक हों, वे अवश्य ही जलीय होती हैं। जिस प्रकार सत्तू के रस का अभिव्यंजक पानी जलीय ही होता है। रसनेन्द्रिय भी ठीक इसी प्रकार की होने से जलीय सिद्ध होती है[2]।

इस विषय में विज्ञान का मन्तव्य चक्षुरिन्द्रिय आदि के निरूपण के अवसर पर विस्तार से प्रकट किया जा चुका है[3]। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रसनेन्द्रिय जल के प्रति आसानी से ग्रहणशील तथा इस जल के माध्यम से ही किसी रस के प्रति संवेदनशील होती है। यह तथ्य जिह्वा की बनावट से स्पष्ट है।

जिह्वा में बहुत से छोटे–२ उभरे दाने उपलब्ध होते हैं। इन्हें अंकुर (papillae) कहते हैं। जीभ की नोक तथा उसके पास छत्रकाकार अंकुर (fungiform papillae) तथा अन्य जगह इस ^ आकार के प्राकारांकुर (circumvallate papillae)

---

१. वाङ्म असन्नसोः प्राणः चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः
अपलिता केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्... —अथर्ववेद १६.६०.६

२. रसनं जलीयं गन्धाद्यव्यंजकत्वे सति रसव्यंजकत्वात्, सक्तुरसाभिव्यंजकोदकवत्।
—कारिकावली, श्लोक ४०, प्रत्यक्ष खण्ड पर मुक्तावली।

३. देखें, इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड का तृतीय परिच्छेद।

उपस्थित होते हैं। इन अंकुरों में कई स्वाद–कलिकाएँ (taste buds) होती हैं। इनके अपने विशिष्ट विन्यास के कारण इन्हें 'स्वाद के प्याज' कहा जाता है। हर कलिका में कई स्वाद–कोशिकाएँ होती हैं। जीभ के नोक में अवस्थित अंकुरों की स्वाद–कोशिकाएँ मधुर रस के प्रति तथा किनारे की कोशिकाएँ खट्टे के प्रति संवेदनशील होती हैं। दर्शन शास्त्र में यहीं पर रसनेन्द्रिय का निवास–स्थान बताया है[1]। अन्यत्र बिखरी हुई कोशिकाएँ नमकीन रस को ग्रहण करती हैं।

जिह्वा की इस बनावट के कारण कोई रसीला पदार्थ पहले अंकुरों के दराजों में तथा पश्चात् स्वाद–कलिका के छिद्र में रिसता है। इसके उपरान्त ही यह स्वाद–कोशिकाओं में पहुँचता है। ये कोशिकाएँ किसी रस के संसर्ग से उत्पन्न प्रभावों को नाडीय आवेगों के माध्यम से मस्तिष्क तक पहुँचाती हैं। मस्तिष्क इन प्रभावों की रस–अनुभूति के रूप में व्याख्या करता है।

इस प्रक्रिया से यह सर्वथा स्पष्ट है कि कोई तरल पदार्थ ही स्वाद कोशिकाओं तक पहुँच सकता है। किसी ठोस या पिसे पदार्थ की जल–मिश्रण के बिना रसानुभूति नहीं हो सकती। इसलिये दर्शन–शास्त्र का यह कहना सर्वथा समुचित है कि जल सत्तू आदि के रस का अभिव्यंजक है। हमारे शरीर में रस का अभिव्यंजक रसनेन्द्रिय है। इस रसना के कार्यशील होने का साधन जल है। अतः परम्परा से जल भी रस का अभिव्यंजक है।

दर्शन–शास्त्र की यह भी मानना है कि इस रसनेन्द्रिय से रस–गुण का ही प्रत्यक्ष होता है, रस वाले द्रव्य का नहीं। द्रव्य का प्रत्यक्ष केवल चक्षु और त्वचा से होता है। अतः रसना से नीबू के रस को चख कर हम आँखों से नीबू द्रव्य को जान सकते हैं। अथवा आँखें बन्द करके नीबू द्रव्य का स्मरण कर सकते हैं। पर रसना से उसका प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। क्योंकि हम केवल रस को चख कर यह नहीं बता सकते कि यह नीबू कितना छोटा, बड़ा अथवा कितना गोल है। इससे सिद्ध है कि हम रसना से विविध आकार वाले द्रव्य को जानने में असमर्थ होते हैं। पर समान रसों में एकता तथा अनेक प्रकार के रसों में विभेद स्थापित करना रसना का ही कार्य है। 'यह रस नीबू का है, इमली का नहीं', इस प्रकार का विभेदीकरण इसके द्वारा सर्वथा सम्भव है। अतः न्याय की शास्त्रीय भाषा में कहा है कि रसना से रस तथा रसत्व का प्रत्यक्ष होता है[2]।

---

१. रसोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं रसनम्। जिह्वाग्रवर्ति। —तर्कभाषा, प्रमेयनिरूपण, पृ० १६७

२. 'तथा रसो रसज्ञायाः'। — कारिकावली प्रत्यक्ष–खण्ड, श्लोक ५३।
रसनेन्द्रियस्य प्रत्यक्ष–विषयो रसो, रसत्वं, रसाभावो, रसत्वाभावश्चेत्यर्थः।
—उक्त श्लोक पर किरणावली।

आधुनिक विज्ञान भी इस मन्तव्य से सर्वथा सहमति रखता है। इस विभेदीकरण में रसना के साथ–२ घ्राणेन्द्रिय का योगदान भी हम अनजाने ही प्राप्त कर लेते हैं। गन्धग्राही नासापुटों को बन्द करके हम इस प्रकार की पहचान पाने में बहुत कम सफल हो पाते हैं। ऐसी दशा में जबान में नीबू की एक बूँद डालने पर हम केवल यही जान पाते हैं कि 'यह नीबू कुछ खट्टा है'। नासापुटों को खोलने पर ही यह 'खट्टा' 'नीबू का रस' बन पाता है।

इस रसनेन्द्रिय से विश्व में उपलब्ध सभी तरह के रसों का अनुभव होता है। दर्शन–शास्त्र में मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय ये छः प्रकार के रस माने गए हैं। विज्ञान में मीठा, खट्टा, नमकीन और कड़वा ये ४ मौलिक रस माने गए हैं। अन्य सभी स्वाद इन चारों रसों के विविध मिश्रण हैं। हम मिश्रित रसों को अलग–२ न पहचान पाने के कारण इस मिश्रण को अतिरिक्त रस समझते हैं। लाल मिर्च इत्यादि में इन रसों के साथ–२ चुभन या जलन जैसी कुछ अनुभूतियाँ होती हैं। इन सब को मिला कर हम इसे अलग से 'तिक्त' रस का नाम देते हैं।

पञ्चम खण्ड

पृथिवी एवं गन्ध-विज्ञान

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां
ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती

—अथर्ववेद १२.१.४५

Land of our birth, we pledge to thee
Our love and toil in the years to be;
When we are grown and take our place
As men and women with our race.

-Rudyard Kipling

१. प्राणी का सबसे पहला आधार

वेदों में धरती का सबसे बढ़िया परिचय 'धारण करने वाली' के रूप में दिया है। प्राणियों को धारण करने के कारण यजुर्वेद में इसे 'धरित्री' कहा है[1] तथा बहुमूल्य खनिज पदार्थों को गर्भ में धारण करने के कारण अथर्ववेद में इसे 'वसुधानी' शब्द से सम्बोधित किया है[2]। निरुक्तकार ने इसका 'गौ' इस विशेष नाम पड़ने का कारण यह बताया है कि इस पर सभी प्राणी चलते फिरते हैं[3]।

इस प्रकार इसकी सबसे बड़ी विशेषता आधार प्रदान करने में निहित है। इसने अपने गोलाकार सतह के स्थल भाग में स्थलचारी प्राणियों को, मिट्टी के अन्दर अनेक प्रकार के सरीसृपों को, जल भाग में जलचारी प्राणियों को, सतह से ऊपर आसमान में ऑक्सीजन, नाइट्रोजन आदि अनेक प्रकार की गैसों को, अन्दर गहराई में सोना, चाँदी इत्यादि बहुमूल्य धातुओं को तथा अपने क्रोड में भयंकर ऊष्मा एवं उत्तर से दक्षिण तक विशाल दण्ड–चुम्बक को धारण कर रखा है। इस प्रकार इसने धारण क्रिया को ही अर्थ प्रदान किया है। इसके बिना हम नहीं जान सकते कि 'धारण करना' किसे कहते हैं। अतः परवर्ती साहित्य में इसे धरा, धरणी, धरती जैसे शब्दों से विभूषित करना तथा इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिये 'मही' जैसे शब्दों से आदरणीय बताना सर्वथा सुसंगत है।

धरती के प्रति हमारी आदर की भावना तब बढ़ जाती है जब हम एक ओर इस धरा में प्राणियों की बहुविधता को तथा दूसरी ओर अन्य ग्रहों में निर्जनता को देखते हैं। इस धरती में असंख्य प्रकार के प्राणी निवास करते हैं। इनकी प्रजातियों तक की पूरी संख्या को गिन पाना आसान काम नहीं है। विश्व में मछलियों, साँपों जैसे एक–२ प्राणी की प्रजातियों के लिये विश्वकोश बन चुके हैं। आधुनिक जन्तु–विज्ञान में लाखों की संख्या में इनके नाम दिये जा चुके हैं। फिर भी इनकी गिनती पूरी नहीं हो पाई है।

प्राणियों की इतनी बड़ी संख्या कुछ निश्चित शर्तों के अधीन ही जीवन धारण कर पाती है। इस सौरमण्डल के अन्य ग्रहों में ये शर्तें पूरी नहीं हो पातीं। अन्तरिक्ष में बुध जैसे कुछ ऐसे ग्रह हैं, जिनके सूर्य के सामने वाले भाग में ४००°C तक

---

१. ध्रुवासि धरित्री। —यजुर्वेद १४.२२

२. विश्वम्भरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी। —अथर्ववेद १२.१.६

३. गौरिति पृथिव्या नामधेयम्, यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति। —निरुक्त २.५.२

तापमान चला जाता है। यह इतनी भयंकर गर्मी है कि कलई भी पिघल जाय। इसके दूसरी ओर घने अँधेरे से आवृत भाग में शून्य से भी १५०°C नीचे तक तापमान पहुँच जाता है।

चन्द्रमा में दो हफ्ते लम्बे दिन में तापमान २००°C तक पहुँच जाता है। इतने लम्बे दिन में यहाँ के पत्थर इतने तप जाते हैं कि इनके ऊपर बर्तन रख कर खाना पकाया जा सकता है। लेकिन दो हफ्ते लम्बी रातों में चट्टानें इतनी ठण्डी हो जाती हैं कि तापमान शून्य से १५०°C नीचे तक चला जाता है। यहाँ गुरुत्वाकर्षण कम होने से वस्तु का भार पृथ्वी की तुलना में छठा अंश रह जाता है। इससे यह चन्द्रमा ऑक्सीज़न आदि गैसों को पकड़े नहीं रह सकता। अतः वहाँ कोई गैस उपस्थित नहीं होती।

शुक्र के वातावरण में पृथ्वी की वायु से दसियों गुना अधिक घनी, जहरीली गैस चारों ओर छाई हुई है। उसे ऑक्सीजन में बदलने के लिये वनस्पतियाँ नहीं हैं। वहाँ वर्तमान भयंकर ऊष्मा इन्हें पनपने की अनुमति नहीं देती। इसके वातावरण में ४७०°C तापक्रम पर बिल्कुल भट्टी जैसी भयंकर गर्मी पड़ती है।

बृहस्पति नामक विशाल ग्रह हमारी पृथ्वी की अपेक्षा ३ गुना अधिक आकर्षण शक्ति रखता है। अतः यहाँ प्राणीं अपने भार से ही दबने लगेंगे। यहाँ तो खड़े होना भी मुश्किल होगा। शरीर के भार से ही घुटने मुड़ने लगेंगे। किसी सामान उठाने का तो प्रश्न ही नहीं है।

प्लूटो तथा नेपच्यून जैसे ग्रह सूर्य से इतनी दूर हैं कि उन तक सूर्य की आवश्यक गर्मी नहीं पहुँच पाती। अतः वे भयंकर ठण्ड के बीच मिथेन, अमोनिया जैसी जहरीली गैसों से ढके रहते हैं। प्लूटो का परिभ्रमण–पथ इतना विशाल है कि उसे सूर्य की एक परिक्रमा करने में इस पृथ्वी के २५० वर्ष लगते हैं।

जीवन की अवस्थिति तथा अभिवृद्धि के लिये ऐसे ग्रह की आवश्यकता होती है I जिसका द्रव्यमान सन्तुलित हो। ताकि उसमें इतना गुरुत्व अवश्य हो कि वह समूचे मण्डल के चारों ओर लिपटी गैसों को पकड़े रह सके। साथ ही गुरुत्व इतना अधिक भी न हो कि हम अपने शरीर का भार न उठा सकें। II उसकी सूर्य के चारों ओर परिभ्रमण की गति सन्तुलित हो। उसकी गति इतनी अधिक न हो कि वह सूर्य से अतिदूर होकर आवश्यक ऊष्मा प्राप्त न कर सके। साथ ही गति इतनी कम भी न हो कि वह सूर्य के पास आकर भयंकर ऊष्मा से घिर जाय। III उसकी अपनी धुरी पर परिभ्रमण की गति भी सन्तुलित हो। ताकि उचित अवधि के बीच दिन रात सम्भव हों। जिससे सर्दी, गर्मी का उचित अनुपात बना रहे। IV उसमें जल की

प्रभूत मात्रा हो। ताकि वहाँ वनस्पतियाँ पनप सकें। जिससे ऑक्सीजन तथा कार्बन डाइ ऑक्साइड गैसों का विनिमय-चक्र निरन्तर परिचालित रह सके।

इस सौरमण्डल में इन सभी शर्तों का परिपालन करने वाला एक ही ग्रह है–हमारी पृथिवी, हमारी धरती! अतः केवल यहीं पर जीवन की प्रतिष्ठा सम्भव है। हमारी धरती गर्मी–सर्दी की अत्यधिकता के बीच बहुत छोटे सीमान्तर को हमारे लिये उपलब्ध कराती है। पृथ्वी में अधिकतम ५७°C तापमान को केलोफोर्निया की 'मृत्यु–घाटी' में देखा गया है। ध्यान रहे, यह छाया में नापा गया तापक्रम है[1]। धरती में इससे अधिक गर्मी नहीं हो पाती। क्योंकि इससे पूर्व ही आँधी या वर्षा होने लगती है, जो कि तापमान को निम्न स्तर पर ले आती है। इस धरती का न्यूनतम तापमान दक्षिणी ध्रुव में अंटार्कटिक (Antarctic region) में देखा गया है। यहाँ सर्दी के दिनों में –२३ से –३५ डिग्री सेंटीग्रेड तक तापमान चला जाता है[2]। पृथ्वी के अन्य सभी स्थानों का तापमान इन्हीं अतियों के बीच कहीं अवस्थित होता है।

हमारा जीवन इन अतियों के भी संकीर्णतम सीमान्तर में सुरक्षित रह पाता है। जहाँ एक ओर सूर्य के क्रोड का तापमान ३८० लाख डिग्री फारेनहाइट है, दूसरी ओर बुध आदि ग्रहों की भयंकर ठण्ड का तापक्रम परम शून्य तापमान (Absolute zero temperature) के लगभग सन्निकट है, वहाँ प्राणियों का जीवन न्यूनतम –१°C से लेकर अधिकतम ५०°C तापमान के बीच ही सुरक्षित रह पाता है। जरा सोचिये, कोई तुलना है हमारी सुकुमारता की!! इस सीमा से अधिक तापमान पर जीवन सर्वथा असम्भव है। कतिपय दर्शन के विद्वानों नें सूर्य में तैजस शरीर की कल्पना की है। उन्होंने यह भी माना है कि पार्थिव अवयवों के सहयोग से वह उपभोग में सक्षम होता है[3]। पर अब यह सर्वथा स्पष्ट है कि ५०°C से अधिक तापक्रम में जीवन का कोई भी लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होता। सूर्य जैसी भयंकर गर्मी में जहाँ हाइड्रोजन आदि तत्त्वों के परमाणुओं का निरन्तर विखण्डन तथा विस्फोट हो रहा हो, वहाँ किसी पार्थिव अवयव के बचने तथा उसके सहयोग से किसी जीवन के प्रतिष्ठित होने को तो सोचा भी नहीं जा सकता।

प्राणियों के जीवन के लिये तापमान की जो अवधि ऊपर बताई गई है, उसके सीमान्त पर बहुत छोटे मच्छर के डिम्भों जैसे कुछ प्राणी ही अवस्थित रह पाते हैं। हम दो पैरों वाले मनुष्य, चार पैरों वाले पशु अथवा पक्षी जैसे समतापी प्राणी

१. मनोरंजक भौतिकी, या.इ.पेरेलमान, भाग–२, पृ० १६५।
२. And in the winter, the south pole averages from -23 to-35 degrees centigrade.
Tell me why, London, Page 85
३. शरीरमयोनिजमेवादित्यलोके। पार्थिवावयवोपष्टम्भाच्चोपभोगसमर्थम्।
–प्रशस्त पाद भाष्य, तेजः प्रकरण, पृ० ६६

(Homothermic animals) तो इसके भी बीच में एक नियत तापमान बनाए रखते हैं। मनुष्य जैसे स्थलचारी का तापमान ३७°C के आस–पास होता है तथा नभचारी पक्षी ४०°C से ४३°C के बीच अपना तापक्रम सुनिश्चित रखते हैं। हम अनेक उपायों का प्रयोग करते हुए अपने शरीर पर वातावरण के अधिक या कम तापमान का प्रभाव पड़ने नहीं देते, अपितु प्रत्येक दशा में समान तापक्रम को बनाए रखने की प्रवृत्ति रखते हैं। इसके लिये हम शरीर की प्रस्वेदन, प्रकम्पन आदि विधियों का अथवा बाहरी वस्त्र आदि उपायों का प्रयोग करते हैं। यदि किसी असमर्थतावश हम अपने सुनिश्चित तापक्रम को न बनाए रख सकें तो थोड़े ही तापमान की अधिकता में ज्वर की तथा न्यूनता में निर्बलता की स्थिति पैदा हो जाती है।

हमारे लिये इस सुनिश्चित तापक्रम का सम्पूर्ण प्रबन्ध करने वाली आखिर हमारी धरती ही तो है। यह भूतधारिणी[1] बन कर हमें निवास अथवा आश्रय प्रदान करती है, वसुन्धरा बन कर अनेक खनिजों को धारण करते हुए अन्नोत्पत्ति में सहायक बनती है तथा विश्वम्भरा[2] बन कर हमारा भरण–पोषण करते हुए तथा वस्त्रादि को उपलब्ध कराते हुए तापमान को नियन्त्रित करने का सामर्थ्य प्रदान करती है। इस प्रकार यह तो सम्पूर्ण जगत् को अपने पर रखने वाली परम प्रतिष्ठा है[2]!!

धरती की इन विशेषताओं के कारण वेद में इसके लिये अत्यन्त प्रेमपूर्ण, मार्मिक मन्त्र उपलब्ध होते हैं। एक मन्त्र में कहा है कि धरती मेरी माँ है तथा मैं धरती का पुत्र हूँ–

माता भूमिःपुत्रोऽहं पृथिव्याः

—अथर्व १२.१.१२

एक अन्य मन्त्र में माना है कि सभी दो पैर तथा चार पैर वाले प्राणी धरती से उत्पन्न हुए हैं, इसकी गोद में जीवन भर विचरण करते हैं तथा यही उन सबका भरण–पोषण करती है। हमें जन्म देने वाली पहली माँ जननी है, पर उससे भी बड़ी माँ जन्मभूमि है। क्योंकि यह तो जीवन भर अपने पुत्रों के लिये अन्नरूपी दूध प्रदान करती है!!–

सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः।

—अथर्व १२.१.१०

एक अन्य अतिमार्मिक मन्त्र में कहा है कि यह धरती अनेक धर्मों वाले तथा अनेक भाषा बोलने वाले लोगों का घर के समान धारण तथा भरण–पोषण करती

---

१. धरणीभूतधारिण्योर्भव भर्ता शरच्छतम्। —मालविकाग्निमित्र १.१५

२. विश्वम्भरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी। —अथर्ववेद १२.१.६

है तथा गोमाता के समान धन–सम्पत्ति की हजारों धाराएँ बहाती है–

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती।।

–अथर्व १२.१.४५

इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के स्वर्णिम मन्त्र सभी प्रकार के लोगों को परस्पर प्रेम से रहने का सन्देश प्रदान करते रहे हैं। इनसे प्रेरणा प्राप्त करके लोग अपने परिश्रम से इसे सुन्दर तथा कल्याणकारी बनाने के लिये प्रयत्नशील रहे हैं। इस पर निवास करने से क्षि धातु से विकसित धरती का एक नाम 'सुक्षिति' है। इसके साथ मानव–श्रम के सम्मिलित होने पर यह कल्याण अर्थ वाली 'सुक्षेमा' बन सकी है!

धरती पर श्रम के मेल से इसके कल्याणकारी स्वरूप प्रकट होने का एक बढ़िया उदाहरण कृषि है। महाभारत के एक प्रसंग में बताया है कि पहले यह धरती 'अकृष्टपच्या' अर्थात् बिना जोते बोए फल प्रदान करती थी। तब लोग अयत्नोपनत, अमृततुल्य स्वादु फलों का उपभोग करते थे[1]। बाद में अधिक भोज्य पदार्थों की माँग होने लगी। तब वेन के पुत्र राजा पृथु ने बड़े परिश्रम से कृषि–कार्य को प्रवर्तित किया। इससे राजा का यश लोक में प्रथित हुआ तथा यह धरती भी सही अर्थों में पृथिवी बनी! आगे विवरण में अलंकार से बताया है कि इस समय मनुष्यों ने सस्य आदि कृषि–पदार्थों का दोहन किया तथा स्वयं पृथु दूध दुहने वाले दोग्धा बने[2]। इनका अनुसरण करते हुए असुर आदि ने भी पृथिवी का दोहन किया। यह विवरण प्राचीन काल में धरती पर श्रम के मेल से कृषि–कार्य के प्रारम्भ तथा विकास की एक झलक प्रस्तुत करता है।

विश्व में अनेक विद्याएँ मूलतः भूमि पर कार्य करने से प्रारम्भ हुई हैं। भारत में भूमि पर अनेक प्रकार की विशाल यज्ञवेदियों के निर्माण के लिये अंकगणित, रेखागणित का विकास हुआ। इन वेदियों की रचना वर्गाकार, आयताकार आदि प्रकार की होती थी। इनके मापन के लिये विशेष प्रकार की शुल्व अर्थात् रज्जु का प्रयोग होता था। इससे सम्बन्धित गणित को शुल्व–सूत्रों में वर्णित किया गया। अतः इस गणित को शुल्व–गणित या रज्जु–गणित का नाम दिया गया। बाद में

---

१. अकृष्टपच्या पृथिवी आसीद् वैन्यस्य कामधुक्।
— फलान्यमृतकल्पानि स्वादूनि च मधूनि च। –महाभारत, द्रोण–पर्व ६६.३.६

२. कृषिं च सस्यं च नराः दुदुहुः पृथिवीतले। स्वायम्भुवो मनुर्वत्सस्तेषां दोग्धाऽभवत् पृथुः।।
–महाभारत, द्रोण–पर्व ६६.२१

रज्जु का रेखा सदृश आकार होने से इसके लिये रेखा–गणित नाम का प्रचलन हुआ[१]। यूरोप में प्रमुखतः भूमि–मापन के लिये इस गणित का विकास हुआ। यह इसके लिये वहाँ प्रचलित 'geometry' नाम से प्रकट है[२]।

पृथिवी का सही स्वरूप जानने के लिये भी विश्व में अनेक विद्याओं की नींव पड़ी। पर इनके विकास के मार्ग में अनेक बाधाएँ उपस्थित हुईं। सामान्यतः समाज में इनसे सम्बन्धित प्रश्नों के समाधान के लिये विविध कल्पनाएँ, गाथाएँ या कहानियाँ प्रचलित हो जाती थीं, जो समाज में विश्वसनीय स्थान प्राप्त कर लेती थीं। इस दशा में उन कल्पनाओं से हट कर किसी समाधान खोजने के मार्ग में बाधा पहुँचती थी। कभी–२ खगोलशास्त्र या दर्शनशास्त्र के विद्वान् सही समाधान भी खोज निकालते थे। पर उनसे अनेक नए प्रश्न उठ खड़े होते थे। स्पष्ट प्रेक्षण के अभाव में लोगों में सन्देह बना ही रहता था तथा सभी लोग उस पर पूर्ण विश्वास नहीं कर पाते थे। परिणामत; वह सही समाधान पीछे छूट जाता था तथा पुरानी कल्पनाएँ पुनः लोगों के मन में घर कर लेती थीं। इस प्रकार विश्व में हजारों वर्षों तक पृथ्वी के सही स्वरूप को जानने का इतिहास वास्तव में आगे बढ़ने तथा पीछे हटने का इतिहास है!!

इसके लिये एक उदाहरण प्रस्तुत है। प्राचीन काल से ही लोगों के मन में यह स्वाभाविक प्रश्न उठता था कि अगर धरती हम लोगों का आधार है तो इस धरती का क्या आधार है। अथवा ये ग्रह धरती पर नीचे क्यों नहीं गिर पड़ते। अथवा इस धरती की नाभि या मध्यबिन्दु क्या है। विश्व के अनेक प्रमुख धर्मग्रन्थों में धरती तथा ग्रहों को गिरने से रोकने के लिये विशालकाय खम्भों की अथवा देवताओं की कल्पना की गई है तथा किसी विशिष्ट वस्तु या स्थानं को विश्व की नाभि या मध्य–बिन्दु बताया है।

इस विषय में बौद्ध दर्शन का कहना यह है कि ग्रहों के आधार–शून्य होकर भ्रमण देखने से यह अनुमान होता है कि इसी प्रकार की पृथिवी भी है। इसमें गुरुत्व भी है तथा गुरुत्व वाली वस्तु सदा नीचे गिरती है। इससे स्पष्ट है कि यह धरती आकाश में भयानक वेग से नीचे गिरती चली जा रही है[३]। इस पर प्रश्न था कि

---

१. द्रष्टव्य– प्राचीन भारतीय गणित, डा.ब.ल. उपाध्याय, पृ० २१२

२. यह शब्द धरती अर्थ वाले ग्रीक शब्द geo तथा metry शब्द के मेल से बना है।
द्रष्टव्य– geometry from Gk. (as geo; metry)— Oxford English Dictionary.

३. भपञ्जरस्य भ्रमणावलोकादाधारशून्या कुरिति प्रतीतिः
स्वस्थं न दृष्टं गुरु च क्षमातः खेऽधः प्रयातीति वदन्ति बौद्धाः।
–सिद्धान्तशिरोमणि, भुवनकोश नामक ३सरा अध्याय, श्लोक ७

वे ग्रह आधार–शून्य होने से नीचे क्यों नहीं गिरते तथा यह धरती नीचे गिरती हुई किसी से टकरा कर चूर–चूर क्यों नहीं हो जाती?

वेदान्त दर्शन में उपनिषदों के प्रमाण से माना कि जल तत्त्व से पृथिवी उत्पन्न हुई है[1]। इस पर प्रश्न था कि पृथिवी को उत्पन्न करने वाले जलतत्त्व का क्या आधार था। यदि प्रत्यक्ष प्रमाण तथा अथर्ववेद के प्रमाण से[2] यह मानें कि जल का आधार पृथिवी है तो प्रश्न था कि इस पृथिवी का आधार कौन है। इस प्रकार जल का आधार पृथिवी तथा पृथिवी के आधार जल को मानने पर दर्शन के अनुसार इतरेतराश्रय दोष का प्रसंग उपस्थित होता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में गार्गी वाचक्नवी ने याज्ञवल्क्य से पूछा था कि विश्व के सम्पूर्ण पदार्थ अगर जल में ओत–प्रोत हैं तो वह जल किस पर ओत–प्रोत है। इसके उत्तर में उन्होंने बार–२ अन्य–२ पदार्थों को गिनाया। पर वे जिस पदार्थ का नाम लें, उस पर प्रश्न था कि वह किस पर ओत–प्रोत है। अन्त में याज्ञवल्क्य गुस्से में आ गए तथा बोले– *'आगे मत पूछ गार्गी! कहीं तेरा सर नीचे न गिर जाय! तू अतिप्रश्न न करने योग्य देवता के प्रति इतने प्रश्न कर रही है। अब बन्द कर अपने अतिप्रश्न!!'* तब जाकर गार्गी चुप हुई[3]। यहाँ गार्गी को धमका कर चुप तो कर दिया गया, पर प्रश्नों की परम्परा शान्त नहीं हुई। दर्शन के अनुसार इस प्रकार के प्रश्न अनवस्था दोष के अन्तर्गत आते हैं।

४७६ ई० में जन्मे भारत के महान् वैज्ञानिक आर्यभट्ट ने सबसे पहले स्पष्ट शब्दों में यह क्रान्तिकारी अवधारणा उपस्थित की कि पृथिवी आकाश में बिना किसी आधार पर टिके हुए अपनी धुरी का चक्कर लगाती है, जिससे दिन रात होते हैं[4]।

उस समय यह सिद्धान्त लोकप्रिय नहीं हुआ। क्योंकि लोग किसी उदाहरण के बिना यह समझ पाने में असमर्थ थे कि आखिर किस प्रकार कोई पिण्ड बिना

---

१. अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी......। —तैत्तिरीय उपनिषद् २.१.१

२. यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः सम्बभूवुः। —अथर्ववेद १२.१.३

३. अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ, याज्ञवल्क्येति होवाच। यदिदं सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च, कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति... स होवाच गार्गि मातिप्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपप्तदनतिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि। गार्गि मातिप्राक्षीरिति। ततो ह गार्गी वाचक्नव्युपरराम।
—बृहदारण्यक उपनिषद् ३.६.१

४. वृत्तभपंजरमध्ये कक्ष्या–परिवेष्टितः खमध्यगतः।
मृज्जलशिखिवायुमयो भूगोलः सर्वतो वृत्तः।।
—आर्यभटीय, गोलपाद, श्लोक ६

आधार के टिक सकता है अथवा किस प्रकार कोई पिण्ड दूसरे को स्पर्श किये बिना खींच सकता है? इससे अनेक ज्योतिषियों ने आर्यभट की निंन्दा की। ब्रह्मगुप्त (६२८ई०) ने कहा कि आर्यभट गणित, काल, खगोलविज्ञान आदि कुछ नहीं जानता। अतः मैं इसके दोषों की अंलग से गणना नहीं करना चाहता[1]।

पर इनसे पहले दूसरे महान् खगोल–वैज्ञानिक वराहमिहिर (५०५ई०) पृथ्वी के बिना आधार के टिकने के लिये एक बढ़िया उदाहरण प्रस्तुत कर चुके थे। उनका कहना था कि जिस प्रकार चुम्बक से घिरा हुआ लोहा आकाश में ही टिक जाता है, उसी प्रकार पाँच महाभूतों से बनी पृथिवी आकाश में टिकी हुई है[2]। श्लोक इस प्रकार है–

पंचभूतमयस्तारागणपञ्जरे महीगोलः।
खेऽयस्कान्तान्तःस्थो लोह इवावस्थितो वृत्तः।।
–पञ्चसिद्धान्तिका, त्रैलोक्य–संस्थान नामक १३वाँ–अध्याय १ श्लोक।

इस पर भी लोगों में यह प्रश्न उठता था कि पृथ्वी को चारों ओर से घेरने वाला चुम्बक कौन है तथा पृथ्वी में वह लोहा कहाँ है? इन सबके समाधान न हो सकने की स्थिति में मध्य काल में पुराण–प्रोक्त यही मान्यता प्रचलित रही कि पृथिवी क्रमशः बैल, हाथी, कछुआ पर टिकी है तथा यह कछुआ पानी पर तथा पानी धरती पर टिका है। अब यदि फिर कोई पूछे कि वह धरती किस पर? इसका जवाब फिर वही–बैल पर..... हाथी पर......। दर्शन–शास्त्र की दृष्टि से यहाँ चक्रक या अनवस्था दोष उपस्थित होता है।

११५०ई० में इस देश के अन्य महान् वैज्ञानिक भास्कराचार्य ने बताया कि इस धरती का कोई आधार नहीं है। यह अपनी शक्ति से स्वभाव वश आकाश में सदा अवस्थित रहती है तथा इस पर मनुष्य, दानव आदि सभी आधारित रहते हैं[3]।

---

१. ज्ञानात्येकमपि यतो नार्यभटो गणितकाल–गोलानाम्।
न मया प्रोक्तानि ततः पृथक् पृथक् दूषणान्येषाम्। –ब्राह्मस्फुटसिंद्धान्त।

२. यह विवरण श्रीपति (१०३९ई०) द्वारा विरचित इस श्लोक से तुलनीय है–
नभस्ययस्कान्तमहामणीनां मध्ये स्थितो लोहगुडो यथास्ते।
आधारशून्योऽपि तथैव सर्वाधारो धरित्र्या ध्रुवमेव गोलः।।
श्रीपति ज्योतिषी के समय इस प्रकार की मूर्ति प्रसिद्ध सोमनाथ मन्दिर में प्रतिष्ठित थी। पर वराहमिहिर के स्पष्ट वर्णन से ऐसा लगता है कि उनके समय भी ऐसी चुम्बक द्वारा आकर्षित निराधार मूर्ति कहीं प्रतिष्ठित रही होगी।

३. नान्याधारः स्वशक्त्या वियति च नियतं तिष्ठतीहास्य पृष्ठे।
निष्ठं विश्वञ्च शश्वत् सदनुजमनुजादित्यदैत्यं समन्तात्।।
–सिद्धान्तशिरोमणि, भुवनकोश नामक ३सरा अध्याय, श्लोक २

भास्कराचार्य ने दर्शन–शास्त्र के अनुसार अनवस्था दोष का निवारण करते हुए इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। दर्शन में माना है कि यदि कहीं अनवस्था मूलक प्रश्न उपस्थित हो तो उसे प्रथम कोटि में ही समाप्त कर देना चाहिये। अतः भास्कराचार्य ने कहा कि यदि धरित्री का धारण करने वाली कोई मूर्त वस्तु है तो उसका धारण करने वाला कौन, उसका कौन.........' इस अनवस्था से बचने के लिये यदि अन्त में 'अपनी शक्ति से स्वभावतः टिका है' ऐसा कहना पड़े तो उसे शुरू में ही क्यों न मान लिया जाय। श्लोक इस प्रकार है–

> मूर्तो धर्ता चेद्धरित्र्यास्तदन्यस्तस्याप्यन्योऽप्येवमत्रानवस्था।
> अन्त्ये कल्प्या चेत् स्वशक्तिः किमाद्ये किं नो भूमेः साष्टमूर्तेश्च मूर्तिः।।
>
> –सिद्धान्तशिरोमणि, भुवनकोश नामक ३सरा अध्याय, श्लोक ४

इस प्रकार यहाँ अनवस्था दोष से बचने के लिये धरती को निराधार माना गया।

अन्य देशों में भी धरती के आधार तथा इसके स्वरूप को जानने की निरन्तर खोज जारी रही। ११वीं शताब्दी के पश्चात् इस विषय में काफी प्रगति हुई। १५वीं शताब्दी में कोपर्निकस की खोजों तथा १६वीं शताब्दी में कोलम्बस की यात्राओं से काफी जानकारियाँ प्राप्त हुईं। ६ सितम्बर १५२२ ई० को एडमिरल फेर्नान मेगलॉन ने पहली बार विश्व की परिक्रमा पूरी की। इन घटनाओं से उत्साहित होकर १५७० ई० में गेरेडस मर्केटर ने पहला विशाल मानचित्रों का संग्रह प्रकाशित किया। इतना होने पर भी पुरानी मान्यताओं का जादू देखिये! उसने इस मानचित्र के कवर पेज पर 'एटलस' (Atlas) नामक देवता का विशाल चित्र बना दिया। इसके सम्बन्ध में माना जाता है कि वह स्वर्ग को धारण करने वाले खम्भों को अपनी पीठ पर उठाए रखता है[1]। उसकी यादगार में आज भी हम मानचित्र को 'एटलस' कहकर पुकारते हैं[2]।

यह विवरण केवल इस तथ्य की झलक दिखा सकता है कि पृथ्वी के सही स्वरूप जाननें तथा समाज में बद्धमूल विचारों को तोड़ने के लिये विश्व के विद्वानों को कितना परिश्रम करना पड़ा है! भारत में जहाँ आर्यभट जैसे सही दिशा में आगे बढ़ने वाले वैज्ञानिकों को अगले हजार वर्ष तक तिरस्कार झेलना पड़ा, वहाँ दूसरी

1. Atlas=Name of a god, who was supposed to hold the pillars.......... of the mountain in Libya that was fabled to support the heavens.
   —Oxford English Dictionary on historical principles.
2. The first large collection of maps was published by Abraham Ortelius of Antwerp in 1570.... Geradus mercator became the father of modern map-making. On the title page of his book there was a drawing of the giant Atlas, and that is why a collection of maps has come to be known as an Atlas! —Tell me why, Page 143.

ओर यूरोप में गेलिलियो जैसे वैज्ञानिक को मृत्यु–दण्ड का भागी बनना पड़ा!! सत्रहवीं शताब्दी में जब केपलर ने सभी ग्रहों के सूर्य के चारों ओर एक दीर्घ–वृत्ताकार कक्षा में भ्रमण को तथा सर आइजक न्यूटन ने कलन के आधार पर गुरुत्वाकर्षण का नियम प्रतिपादित किया तो भी लोगों को इस पर जल्दी विश्वास नहीं हुआ। लोगों ने वही प्रश्न पूछा जो लोग देश–विदेश में हजारों वर्षों से पूछ रहे थे। उस समय महान् दार्शनिक जॉन लॉक ने न्यूटन को एक पत्र लिखा कि 'मेरी समझ में नहीं आता कि किस प्रकार कोई पदार्थ किसी के सम्पर्क में आए बिना उसे प्रभावित कर सकता है! फिर भी कलन से सिद्ध होने से यह तो मानना ही होगा कि आकर्षण निरन्तर हो रहा है'[1]।

आधुनिक युग में हम पृथ्वी के निराधार गतिशील होने को भली प्रकार जानते हैं। भौतिक विज्ञान के इन सिद्धान्तों के बल पर पृथ्वी की निराधार परिक्रमा करने वाले उपग्रहों के प्रक्षेपण में समर्थ हैं। पर हम स्वयं अपने आधार तथा भरण–पोषण के लिये अब भी पृथ्वी पर उतने ही अवलम्बित हैं, जितना पहले कभी थे। इसलिये केनोपनिषद् की तर्ज पर कह सकते हैं कि जो किसी प्राणी पर आधारित नहीं, पर जिस पर सभी प्राणी आधारित हैं, वही यह मेरी धरती है[2]। अतः मानवमात्र के लिये वेद–मन्त्र की यह प्रार्थना आज भी उतनी ही प्रासंगिक है कि–

सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु।

–अथर्व १२.१.२२

हे ईश्वर! यह भूमि मुझे प्राण तथा आयु प्रदान करे।

---

१. द्रष्टव्य– पश्चिमी दर्शन, डा० दीवानचन्द्र, उ०प्र० हिन्दी संस्थान, पृ० १३४

२. तुलनीय– यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।
–केनोपनिषद् १.८

२. गुणवती पृथिवी

न्याय शास्त्र के अनुसार पृथिवी सर्वाधिक गुण रखने वाले द्रव्यों में से एक है। जल तथा जीवात्मा नामक द्रव्य के अलावा पृथिवी में भी कुल १४ गुण समवेत होते हैं। इनमें चार विशेष गुण तथा अन्य दस सामान्य गुण माने गए हैं। इस पृथिवी में बाहरी ज्ञानेन्द्रियों से ग्रहण किये जाने वाले सर्वाधिक चार–स्पर्श, रूप, रस, गन्ध नामक विशेष गुण प्राप्त होते हैं। ये सभी चारों विशेष–गुण अन्य किसी एक द्रव्य में नहीं पाए जाते।

इन चार विशेष गुणों के सर्वाधिक उपभेद भी पृथिवी में समवेत होते हैं। एक ओर जहाँ जल, तेज तथा वायु में केवल एक–एक प्रकार का स्पर्श, तेजस् में केवल एक प्रकार का रूप, जल में केवल एक प्रकार का रस पाया जाता है, वहाँ पृथिवी में पाकज अनुष्णाशीत, कठिन तथा मृदु ये तीन तरह के स्पर्श; शुक्ल, नील आदि सातों प्रकार के रूप; मधुर, अम्ल आदि छहों प्रकार के रस तथा सौरभ, असौरभ के भेद से दोनों प्रकार के गन्ध उपलब्ध होते हैं।

वेदान्त शास्त्र के अनुसार अन्य महाभूतों के समान पृथिवी में शब्द गुण भी समवेत होता है। धरती के फटने पर इसकी कड़कडा जैसी ध्वनि पृथिवी की ही है[1]। इस प्रकार इस मत में पृथिवी में कुल ५ विशेष गुण पाए जाते हैं तथा पाँचवीं ज्ञानेन्द्रिय श्रोत्र से भी इसके विशेष–गुण का प्रत्यक्ष किया जाता है।

पृथिवी में इतने अधिक गुणों के समवेत होने पर भी कुछ विशेष–गुण ऐसे हैं, जो इसमें नहीं पाए जाते। जैसे स्पर्श का उपभेद शीत गुण केवल जल में तथा उष्ण गुण केवल तेजस् में मान्य होने से पृथिवी में नहीं रह सकता। इसी प्रकार स्नेह तथा सांसिद्धिक द्रवत्व केवल जल की विशिष्टता है। अतः यह भी पृथिवी में स्वीकार्य नहीं है।

इस दशा में यदि किसी पदार्थ में पृथिवी के उपरिलिखित गुणों तथा शीत, उष्ण आदि प्रस्तुत विशेष गुणों का सहभाव दीख पड़े तो उन्हें अलग–२ द्रव्यों में समवेत समझना चाहिये। सामान्य लोग ऐसे गुणों को भी एक ही द्रव्य में मानते हुए समानाधिकरण प्रयोग करने लगते हैं, जो कि भ्रान्ति है। इस प्रकार 'गरम, द्रव लोहा' 'ठण्डी, कठोर बर्फ' जैसे प्रयोग तात्त्विक दृष्टि से सही नहीं है। लोहा द्रव

१. भूमौ कडकडाशब्दः काठिन्यं स्पर्श इष्यते।
नीलादिकं चित्ररूपं मधुराम्लादिको रसः। ———पञ्चदशी २.५

होता है, पर वह गर्म नहीं होता, अपितु लोहा से संयुक्त तेजस् तत्त्व उष्ण होता है। इसी प्रकार जल से निर्मित हिम शीत होता है, पर वह कठोर नहीं होता। अपितु हिम से संयुक्त पृथिवी कठोर गुण वाली होती है।

इस प्रकार लोहा के साथ अत्यधिक उष्ण गुण वाले तेजस् द्रव्य के संयोग के कारण लोहा में नैमित्तिक द्रवत्व उत्पन्न होता है, स्वयं लोहा के उष्ण होने के कारण नहीं। धमन भट्ठी का बहता हुआ लोहा भी पार्थिव होने से अनुष्णाशीत ही है। इसी प्रकार अत्यधिक शीत स्पर्श गुण वाले जल के साथ संयोग के द्वारा उस संयुक्त पार्थिव भाग में कठोरता उत्पन्न होती है, स्वयं जल में नहीं। क्योंकि हिम जलीय होने से अब भी द्रव ही है। इससे सिद्ध है कि उष्ण तथा शीत गुण का क्रमशः द्रव, कठोर रूपी प्रभाव तद्वान् द्रव्य में नहीं, अपितु उससे भिन्न संयुक्त द्रव्य पर पड़ता है। उष्ण गुण वाले तेजस् से भिन्न लोहा आदि में द्रवत्व उत्पन्न होता है तथा शीत गुण वाले जल से भिन्न पृथिवी में कठोर स्पर्श उत्पन्न होता है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि आखिर क्यों शीत गुण अपने आधार जल को नहीं, अपितु संयुक्त पार्थिव भाग को कठोर बनाता है तथा तेज का उष्ण गुण अपने आधार से संयुक्त लोहा आदि को द्रव बनाता है। ऐसा क्यों है कि शीत, उष्ण गुण क्रमशः जिन जल तथा तेजस् में समवेत हैं, उनमें इन गुणों के प्रभाव से नवीन रूप, स्पर्श आदि उत्पन्न नहीं होते, पर उससे संयुक्त जिस पृथिवी में शीत, उष्ण गुण समवेत नहीं है, उसमें ये नवीन गुण उत्पन्न होते हैं। इसका वैशेषिक में उत्तर यह है कि जल, तेज, वायु के परमाणुओं के यथाप्राप्त रूप, रस, स्पर्श विशेष गुण नित्य होते हैं। केवल पृथिवी के ही अपने गुण अनित्य होते हैं[1]। अतः जल का शीत गुण बदल नहीं सकता। प्रशस्तपाद भाष्य के अनुसार जल का द्रवत्व भी नित्य है।[2]। अतः उसमें कठोर गुण भी उत्पन्न नहीं किया जा सकता। इनसे संयुक्त पृथिवी में ही नए गुण उत्पन्न हो सकते हैं। इस प्रकार दर्शन में मान्य है कि विश्व में रासायनिक परिवर्तन (Chemical reaction) केवल पृथिवी में हो सकते हैं, अन्य किसी में नहीं[3]।

वैशेषिक में पाकज प्रक्रिया के अन्तर्गत इस रासायनिक परिवर्तन का विस्तार से उल्लेख किया है। घड़े को पकाने पर कठोर होते समय तथा आम्र–फल को पकाने पर मृदु–स्पर्श वाला होते समय तेजस् के नोदन तथा अभिघात के द्वारा

---

१. अप्सु तेजसि वायौ च नित्या, द्रव्यनित्यत्वात्। —वैशेषिक सूत्र ७.१.४

२. स्नेहोऽम्भस्येव, सांसिद्धिकञ्च द्रवत्वम्। —प्रशस्तपादभाष्य, जल–प्रकरण पृ० ६३।

३. एतेषां पाकजत्वं तु क्षितौ नान्यत्र कुत्रचित्। — कारिकावली, गुण–निरूपण, श्लोक १०५

क्रमशः अवयव के संयोग–नाश से अवयवी तथा उसके गुणों का नाश होता जाता है। अन्त में द्व्यणुक नाश हो जाने के पश्चात् पृथिवी–परमाणु के पूर्व गुणों का नाश तथा उनमें अन्य गुणों की उत्पत्ति होती है। पर जल आदि परमाणुओं के गुण नित्य होने से पहले जैसे यथावत् बने रहते हैं। इसके पश्चात् परिवर्तित गुणों वाले पार्थिव परमाणुओं के संयोग द्वारा द्व्यणुकादि क्रम से अतिशीघ्र नवीन गुणों वाला अवयवी घट उत्पन्न हो जाता है। यहाँ घट का परमाणु–पर्यन्त विनाश तथा उसकी नवीन उत्पत्ति इतनी शीघ्र होती है कि हम बीच में बनने वाले विनष्ट घट को नहीं जान पाते[1]। इस प्रक्रिया को पीलूपाकवाद कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि तेजस् का कोई प्रभाव जल–वायु के परमाणुओं के गुणों में कोई परिवर्तन नहीं ला सकता।

न्याय–शास्त्र के अनुसार इस प्रक्रिया में द्रव्य का द्व्यणुक–पर्यन्त विनाश नहीं होता। अपितु अवयवी के नाश हुए विना ही पृथिवी के परमाणु में पिछले गुण का नाश तथा नए गुण की उत्पत्ति होकर उस नए गुण के द्वारा क्रमशः अपने अवयवी में भी उस नए गुण की उत्पत्ति हो जाती है। इसे पिठरपाकवाद कहते हैं। इस प्रक्रिया में भी केवल पृथिवी परमाणु के गुणों का नाश होता है, जलादि परमाणु के गुणों का नहीं। अतः इस वाद में भी केवल पृथिवी में ही कठोर आदि गुणों की उत्पत्ति तथा जल आदि में शीतादि गुणों की नित्यता सिद्ध होती है।

आधुनिक विज्ञान में ऐसी कोई नित्यता मान्य नहीं है। अपितु पृथिवी, जल, वायु तीनों में सापेक्ष उष्ण तथा शीत गुण रह सकते हैं तथा इन गुणों के प्रभाव से सभी पदार्थों में कठोर, द्रव तथा तिर्यग्गति नामक धर्म निवास कर सकते हैं। आधुनिक विज्ञान का यह डिण्डिम उद्घोष है कि विश्व में ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जिसके ठोस, द्रव तथा गैस उपभेद न हो सकते हों! इसे प्रस्तुत ग्रन्थ के जल–वायु–विषयक खण्डों में विस्तार से सिद्ध किया जा चुका है। इस दशा में पृथिवी, जल, वायु को क्रमशः ठोस, द्रव, वाष्प का बढ़िया प्रतिनिधि मान सकते हैं, नियत रूप से इन गुणों वाले पदार्थ नहीं।

---

१. वह्निनसंयोगेनावयविषु विनष्टेषु स्वतन्त्रेषु परमाणुषु पाकः, पुनश्च पक्वपरमाणु–संयोगाद् द्व्यणुकादिप्रक्रमेण पुनर्महावयवि–पर्यन्तमुत्पत्तिः, तेजसामतिशयवेगवशात् पूर्वव्यूहनाशो झटिति व्यूहान्तरोत्पत्तिश्च। —श्लोक १०५ पर मुक्तावली, गुणनिरूपण।

३. पृथिवी की पहचान

दर्शन–शास्त्र में बाहरी ज्ञानेन्द्रियों से ग्रहण किये जाने वाले विशेष गुणों के आधार पर पाँच महाभूतों का लक्षण अथवा पहचान बताई गई है[1]। पिछले परिच्छेद में कहा गया है कि पृथिवी में विविध गुण तथा उनके उपभेद अधिकतम संख्या में रहते हैं। पर इसकी पहचान बन सकने वाले कुछ विशिष्ट गुण ही हैं। किसी द्रव्य की पहचान वे ही गुण बन सकते हैं, जो किसी अन्य द्रव्य मे न पाए जायँ। ऐसे विशिष्ट गुणों के आधार पर पृथिवी के कतिपय लक्षण इस प्रकार हैं–

पृथिवी के कुछ लक्षण (दर्शन)' १. पृथिवी का एक अत्यन्त विशिष्ट गुण गन्ध है[2], जो अन्य किसी द्रव्य में नहीं पाया जाता। अतः इस आधार पर 'गन्ध वाला होना' यह पृथिवी का सुनिश्चित लक्षण है[3]।

यह गुण पृथिवी में अवश्य पाया जाता है। जिन पत्थर आदि में गन्ध उपलब्ध नहीं होती, उनमें भी यह अवश्य होती है। क्योंकि उन्हें जलाने से उनके गन्ध का अनुभव होता है। न्याय में एक नियम का भाव यह है कि किसी द्रव्य का जो उपादान कारण होता है, उस द्रव्य के विनाश से उत्पन्न वस्तु का भी वही कारण होता है[4]। इस प्रकार पत्थर का जो पाषाण–परमाणु उपादान कारण है, वही पत्थर से विनष्ट भस्म का भी कारण है। भस्म में गन्ध अपने कारण से ही आना सम्भव है। क्योंकि न्याय के सुनिश्चित सिद्धान्त के अनुसार कारण में वर्तमान गुणों से ही कार्य में गुण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार भस्म में गन्ध से उसके कारण पाषाण–परमाणु में गन्ध होना तथा इसीलिये उसका पृथिवी होना सिद्ध है। इन परमाणुओं से पाषाण के उत्पन्न होने से उसमें भी गन्ध तथा उसका पृथिवीत्व वाला होना स्पष्ट होता है[5]।

२. स्पर्श गुण में से मृदु–कठोर स्पर्श केवल पृथिवी में उपलब्ध होते हैं, अन्यत्र

---

१. तच्च (भूतत्व) बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेष–गुणवत्त्वम्। —कारिकावली श्लोक २६ पर मुक्तावली।
२. पृथिवी के विशिष्ट गुण गन्ध होने का संकेत वेद में प्राप्त है – यस्ते गन्धः पृथिवि सम्बभूव – अथर्ववेद १२.१.२३
३. तत्र गन्धवती पृथिवी। – तर्क संग्रह, द्रव्य–लक्षण–प्रकरण।
पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात्। –वही अनुमान–खण्ड।
४. यद्द्रव्यं यद्द्रव्यध्वंसजन्यं तत्तदुपादानोपादेयमिति व्याप्तेः। —कारिकावली श्लोक ३५ पर मुक्तावली।
५. इत्थं च पाषाण–परमाणोः पृथिवीत्वात्तज्जन्यस्य पाषाणस्यापि पृथिवीत्वम्। —वहीं पर मुक्तावली।

कहीं नहीं[1] अतः इस आधार पर 'मृदु–कठोर स्पर्श में से किसी गुण वाला होना' यह भी पृथिवी का लक्षण है।

पृथिवी का यह स्पर्श जल के शीत के प्रभाव से अथवा तेजस् के उष्ण गुण अर्थात् 'पाक' के प्रभाव से बदलता रहता है। जैसे आम गर्मी में पक कर मृदु हो जाता है तथा जल–संयुक्त पार्थिव कण हिम दशा में कठोर स्पर्श वाले हो जाते हैं। यह परिवर्तित स्पर्श भी अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता। अतः इस आधार पर लक्षण इस प्रकार होगा– 'पाक से उत्पन्न स्पर्श वाले में रहने वाली द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जाति वाली पृथिवी है[2]। पकाने से उत्पन्न मृदु स्पर्श वाले आम्र–फल में रहने वाली द्रव्यत्व से ठीक छोटी जाति पृथिवीत्व ही है। आम्रत्व जाति पृथिवीत्व से भी छोटी है, अतः उसमें पृथिवीत्व का लक्षण नहीं जाएगा।

३. रूप में से केवल भास्वर शुक्ल तथा अभास्वर शुक्ल रूप क्रमशः तेजस् तथा जल में उपलब्ध होते हैं। शेष अन्य सभी रूप केवल पृथिवी में पाए जाते हैं। इसमें वर्तमान ये रूप पाक के द्वारा बदलते भी रहते हैं। जैसे कच्चे घड़े को पकाने से इसका पिछला 'कपिश' रूप नष्ट होकर रक्त रूप उत्पन्न हो जाता है। अतः इस विशेषता के आधार पर इसका लक्षण यह हो सकता है– 'द्रव्यत्व के अन्तर्गत रहने वाली वह साक्षात् व्याप्य जाति जो पिछले नष्ट रूप के अभाव वाले तथा नवीन रूप वाले घट आदि पदार्थों में समवेत हो, वह पृथिवीत्व है'[3]।

४. रस में से मधुर को छोड़ कर शेष सभी केवल पृथिवी में समवेत होते हैं। इसमें मधुर सहित अनेक रस एक साथ उपलब्ध होते हैं। अतः इसका यह भी लक्षण सम्भव है– 'द्रव्यत्व के अन्तर्गत रहने वाली वह साक्षात् व्याप्य जाति जो दो रस वाले आम्रफल आदि पदार्थों में रहती है, उसे पृथिवीत्व कहते हैं'[4]।

पदार्थों के कुछ ऐसे गुण जो अन्य द्रव्यों की विशिष्टता या लक्षण माने गए हैं, वे पृथिवी की पहचान नहीं बन सकते। जैसे तिर्यग्गति नामक धर्म वायु की विशिष्टता है। वह वायु के अलावा अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता। अब यदि कोई पार्थिव कण तेजस् के प्रभाव से ऊपर उड़ने लगे तो मानना होगा कि उसमें स्वतः तिर्यग्गति नहीं है, अपितु वह वायु के प्रभाव से तिर्यग्गति के लिये विवश है। इस प्रकार तिर्यग्गति के आधार पर धूलि–कणों को पार्थिव सिद्ध नहीं किया जा

१. काठिन्यादि क्षितावेव नित्यतादि च पूर्ववत्। —कारिकावली श्लोक १०४
२. पाकजस्पर्शवद् वृत्ति द्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं (पृथिव्याः लक्षणम्)। —कारिकावली श्लोक ३६ पर मुक्तावली।
३. रूपनाशवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं (पृथिव्याः लक्षणम्)। —वहीं श्लोक ३५ पर मुक्तावली।
४. रसद्वयवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं (पृथिव्याः लक्षणम्)। — वहीं पर मुक्तावली।

सकता, अपितु उपर्युक्त लक्षण के अनुसार ये पार्थिव हैं।

पृथिवी के लक्षणों की समीक्षा (विज्ञान)– आधुनिक युग में अनेक नए रासायनिक पदार्थों की उपस्थिति में इन लक्षणों में अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति दोनों देखी जा सकती है। जैसे 'गन्ध वाली पृथिवी' इस लक्षण को मानने पर 'क्लोरीन' जैसी विकट गन्ध वाली गैसों में अतिव्याप्ति होती है। यह गैस सामान्य ताप तथा दाब में मृदु–कठोर स्पर्श वाली न होने से पृथिवी नहीं कही जा सकती। फिर भी गन्ध वाली होने से इसमें पृथिवीत्व की आपत्ति होती है। यहाँ हम यह नहीं कह सकते कि क्लोरीन में पृथिवी के अणु मिले हुए हैं। क्योंकि क्लोरीन एक तत्त्व है तथा इस सर्वथा विशुद्ध तत्त्व में भी गन्ध पाई जाती है[1]।

पृथिवी के उक्त लक्षण की ताँबा, लोहा तथा कार्बन आदि तत्त्वों के कुछ ठोस रूपों में अव्याप्ति है। ये तत्त्व सापेक्षतः मृदु–कठोर स्पर्श वाले होने से पृथिवी के अन्तर्गत माने जाते हैं। पर इनमें गन्ध उपलब्ध न होने से उक्त लक्षण की अव्याप्ति होती है।

किसी पदार्थ के अणु वहाँ से अलग होकर जब हमारी नासिका में गन्ध की संवेदना उत्पन्न करते हैं, तो हम उस पदार्थ को गन्धपूर्ण मानते हैं। पदार्थों के द्रव तथा गैसीय रूपों में यह प्रक्रिया आसानी से देखने में आती है। फूलों के सूक्ष्म पराग–कण इस प्रक्रिया से हमारे पास आकर नासिका को प्रभावित करते हैं। हम इस प्रभाव को इन कणों के उद्भव स्थान–फूलों में आरोपित करके उन्हें सुगन्धित कहते हैं। कुछ ठोस पदार्थ भी द्रव में बदले बिना पर्याप्त वाष्पीकरण करते हुए गन्ध की उपलब्धि कराते हैं। जैसे फिनायल (nephthalene) सामान्य तापमान पर अच्छी वाष्पीकरण की क्षमता रखता है। ठोस पदार्थों में इस प्रक्रिया को ऊर्ध्वपातन (sublimation) कहते हैं। इससे यह कीड़ों को असहनीय गन्ध प्रदान करता है।

अन्य ताँबा, लोहा जैसे ठोस पदार्थों में इस प्रकार का ऊर्ध्वपातन अत्यल्प होता है। अतः इनमें यह केवल सिद्धान्ततः मान्य है। व्यवहार में इन पदार्थों से उत्पन्न वाष्प का अतिन्यून घनत्व हमारी नासिका में कोई प्रभाव उत्पन्न नहीं करता[2]। अतः इन्हें गन्धपूर्ण नहीं माना जाता।

यहाँ न्याय का कहना है कि इन ठोस पदार्थों को जलाने से इनके धुँआँ या

---

१. विस्तार के लिये देखें— प्रस्तुत ग्रन्थ का तृतीय खण्ड, पृ. १६–१७

२. **In principle, any solid (yes, any, even iron or copper) evaporates. If we do not detect sublimation, this merely means that the saturated vapour density is very negligible.** —**Physics for everyone, book-2, page 128.**

भस्म में गन्ध उपलब्ध होती है। इससे ज्ञात होता है कि इनके कारणभूत ठोस पदार्थों में भी अवश्य ही गन्ध है। विज्ञान के अनुसार स्थिति यह है कि किसी तत्त्व के जलने की प्रक्रिया में ऑक्सीजन के साथ मिल कर अनेक यौगिक तैयार होते हैं। इन यौगिकों के अणु उड़ कर हमारी नासिका में गन्ध की संवेदना उत्पन्न करते हैं, तत्त्वों के अणु नहीं। कार्बन के एक अतिकठोर तथा अति विशुद्ध रूप हीरा को ७००°C से अधिक ताप में जलाने से इसकी गैस प्राप्त की जा सकती है। पर इस गैस में हम कार्बन तत्त्व के अणु उपलब्ध नहीं करते। अपितु वही यौगिक कार्बन डाइ ऑक्साइड गैस प्राप्त करते हैं, जो कोयला को जलाने से प्राप्त होती है[1]। इसी यौगिक गैस के अणु हमारी नासिका में प्रभाव डालते हैं। इससे हम इस यौगिक गैस में गन्ध सिद्ध कर सकते हैं। कार्बन तत्त्व वाले हीरा में नहीं। इस प्रकार स्थिति यह है कि जब तक ये ठोस पदार्थ अपने तत्त्वरूप में है, तब तक ये कोई गन्धपूर्ण प्रभाव उत्पन्न नहीं कर पाते तथा जब ये ऐसा करने में सक्षम होते हैं, तब ये स्वयं तत्त्व नहीं रह जाते। इससे इन तत्त्वों में गन्ध सिद्ध नहीं हो पाती।

न्यायशास्त्र में अपने सिद्धान्त के समर्थन में पाषाण का जो उदाहरण दिया है, वह बहुत मन्द है। क्योंकि पाषाण स्वयं एक यौगिक है, तत्त्व नहीं। पत्थर अनेक कार्बनिक यौगिकों तथा खनिजों के मिश्रण से निर्मित होता है। विशुद्धतम पत्थर संगमरमर भी एक खनिज कैल्साइट (calcite) से निर्मित होता है[2]। जो कि स्वयं कैल्शियम कार्बोनेट $CaCO_3$ नामक यौगिक का क्रिस्टलीय रूप है। इनके जलाने से निर्मित गन्धवान् गैस भी यौगिक है। इस गैस के उदाहरण से अधिकतम यौगिक पत्थर में गन्ध सिद्ध हो सकती है, किसी तत्त्व में नहीं।

यहाँ यह स्पष्ट उल्लेखनीय है कि पृथिवी के गन्ध–लक्षण पर अव्याप्ति दोष तत्त्वों को लेकर है, यौगिकों के सन्दर्भ में नहीं।

पृथिवी के 'मृदु कठोर स्पर्श वाला होना' इस लक्षण की हिम–जल में एवं लौह वाष्प तथा ठोस हवा (iron vapour and solid air[3]) जैसे उदाहरणों में अतिव्याप्ति तथा पृथिवी के द्रव–वाष्प रूपों में अव्याप्ति होती है। इसे जल–वायु के खण्डों में विस्तार से सिद्ध किया जा चुका है।

---

1. The material of diamond is carbon and nothing but carbon. ......The diamond is combustible at high temperature, and when it is burnt, it produces carbon dioxide, just as charcoal does.
   —Harmsworth popular science, Volume II, Page 911
2. Rocks composed of definite minerals may be either simple or composed; for example the purest marble is formed entirely of the one mineral calcite.
   —Van Nostrand's scientific Encyclopedia, New York U.S.A.
3. Physics for everyone, Book II, Page-96

इन समस्याओं के कारण अब द्रव्यों का वर्गीकरण ज्ञानेन्द्रियों से उपलब्ध गुणों के आधार पर नहीं, अपितु इनके रासायनिक संघटन के आधार पर किया जाता है। प्रमुख वर्गीकरण इस प्रकार है–

तत्त्व (element) – जो किसी भी रासायनिक विधि से दो या इससे अधिक असमान गणु वाले द्रव्यों में विभाजित नहीं किया जा सकता, उसे तत्त्व कहते हैं[1]। इसके अन्तर्गत सोना, चाँदी, ताँबा जैसे ठोस पदार्थ, पारा जैसे द्रव तथा ऑक्सीजन, नाइट्रोजन जैसी निर्गन्ध गैसें तथा क्लोरीन जैसी गन्धपूर्ण गैसें भी सम्मिलित हैं। सोना, चाँदी आदि में ऊष्मा, विद्युत् धारा प्रवाहित करने जैसे किसी भी उपाय का प्रयोग करने पर इनका परमाणु पर्यन्त कोई भी भाग क्रमशः सोना आदि से विपरीत गुण, विपरीत बनावट या विपरीत भार को प्रदर्शित नहीं करता। अतः ये द्रव्य तत्त्व हैं। इसी प्रकार पारा में से होकर विद्युत् धारा प्रवाहित करने पर इसमें कोई रासायनिक परिवर्तन नहीं होता। अतः यह भी तत्त्व है।

यौगिक (Compound) – जो दो या दो से अधिक तत्त्वों के निश्चित अनुपात में रासायनिक संयोग से निर्मित होता है उसे यौगिक कहते हैं[2]। इसके अन्तर्गत चीनी, चाक जैसे ठोस पदार्थ, पानी जैसे द्रव तथा कार्बन डाइ ऑक्साइड जैसी अनेक गैसें सम्मिलित हैं। इसकी कुछ प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१. तत्त्वों के परमाणु सुनिश्चित अनुपात में रासायनिक बन्धन स्थापित करके यौगिक का अणु बनाते हैं।

२. कोई भी यौगिक वैद्युत अपघटन (electrolysis) आदि विधियों के प्रयोग से असमान गुण वाले तत्त्वों में विभाजित हो जाता है। जैसे जल को हाइड्रोजन, ऑक्सीजन गैस के रूप में विभाजित किया जा सकता है।

यह सच है कि द्रव्य की अवस्था–परिवर्तन करने वाले सामान्य भौतिक उपायों से इस प्रकार का विभाजन नहीं होता। पानी को उबालने पर इसके अणु अलग २ होकर वाष्प रूप में हवा में मिल जाते हैं। इस समय जल के अणुओं के मध्य लगने वाला आकर्षण बल लगभग शून्य हो जाता है। पर ऐसी प्रत्येक दशा में ये जल के ही अणु बने रहते हैं। इन अणुओं में जल के सभी गुण वर्तमान होते हैं। पर आधुनिक युग में रासायनिक विधियों से जल के अणु का असमान गुण वाले ऑक्सीजन आदि गैसों के परमाणुओं के रूप में विभाजन सम्भव है। अतः जल को

1. An element is that substance which cannot be split up into two or more dissimilar substances.
2. A compound is that form of substance which is obtained by the chemical combination of two or more elements in a definite ratio by weight.

यौगिक माना जाता है।

३. किसी भी यौगिक में उसके मूल–तत्त्वों से सर्वथा भिन्न गुण उपलब्ध होते हैं। ये यौगिक रासायनिक क्रियाओं द्वारा विभाजित अपने घटक–तत्त्वों के गुणों का अनुसरण नहीं करते।

उदाहरण के लिये जल अपने गुणों से आग बुझाने का सामर्थ्य रखता है। पर इसके घटक तत्त्व ऑक्सीजन दहन में अनिवार्य सहायक है। इसी प्रकार जल सामान्य ताप पर द्रव होता है। पर ऑक्सीजन सामान्य ताप तथा दाब पर गैस रूप में उपलब्ध होती है। इन विशेषताओं के कारण दर्शन में भी इन दोनों के गुणों को परस्पर सर्वथा भिन्न माना है तथा इसीलिये वायु तथा जल को अलग २ मूल द्रव्य के रूप में स्थान दिया है।

विज्ञान में जल तथा ऑक्सीजन के गुणों को सर्वथा भिन्न मानते हुए भी जल को मूल तत्त्व नहीं माना जाता। क्योंकि ऑक्सीजन तथा हाइड्रोजन के मेल से जल की उत्पत्ति प्रमाणित हो चुकी है। अतः जल यौगिक है, जब कि वायु में मिश्रित ऑक्सीजन एक तत्त्व है।

मिश्रण (mixture) – दो या दो से अधिक तत्त्वों या यौगिकों को किसी भी अनुपात में मिलाने पर जो द्रव्य निर्मित होता है उसे मिश्रण कहते हैं[1]। जैसे पत्थर अनेक यौगिकों के मिश्रण का ठोस रूप, दूध और पानी मिश्रण का द्रव रूप है। दर्शन में मूल द्रव्य के रूप में मान्य वायु को विज्ञान में ऑक्सीजन, नाइट्रोजन आदि गैसों का मिश्रण माना जाता है।

यह मिश्रण कभी २ सर्वथा एकाकार प्रतीत होता है। जैसे पानी में चीनी या नमक का घोल बिल्कुल अलग २ प्रतीत नहीं होता। इससे इस घोल के आयतन में भी बहुत कम परिवर्तन होता है। पर इसे सामान्य भौतिक उपायों से अलग २ किया जा सकता है। ऐसे घोल को उबालने पर पानी वाष्प बन कर उड़ जाता है तथा चीनी या नमक नीचे बैठ जाता है। इस प्रकार इन दोनों के भौतिक गुण अलग २ उपलब्ध होने से दर्शन में भी घोल को दो द्रव्यों का मिश्रण माना जाता है तथा इनके घटक चीनी तथा जल को क्रमशः पार्थिव तथा जलीय मूलद्रव्य कहा जाता है। विज्ञान में घोल मिश्रण है। चीनी तथा जल यौगिक है तथा इनके रासायनिक विभाजन से प्राप्त कार्बन, हाइड्रोजन आदि तत्त्व हैं।

---

1. A mixture is a substance formed by mechanically mixing two or more elements or compounds in any ratio.

४. पृथिवी आदि के परमाणु

दर्शन–शास्त्र में परमाणुवाद सर्वाधिक सुचिन्तित विषयों में से एक है। देश विदेश में कम से कम २५०० वर्षों से निरन्तर इस विषय पर विचार किया जा रहा है। ग्रीस देश में ई.पू. ४०० में डेमोक्रिटस (Democritus) ने यह सिद्धान्त स्थिर किया था कि विश्व के पदार्थ ऐसे छोटे से छोटे कण से बने हैं, जिन्हें विभाजित नहीं किया जा सकता। उन्होंने ऐसे कण को एटम (atom) नाम दिया। यह शब्द अविभाज्य (indivisible) अर्थ वाले ग्रीक शब्द एटोमस (atomos) से निकला है।

अरस्तू (Aristotle 384-322 B.C.) ने इस सिद्धान्त का विरोध करते हुए कहा कि सभी पिण्ड एक ही पदार्थ से बने हैं, जिन्हें अनन्त तक विभाजित किया जा सकता है। यह पदार्थ अलग २ गुण ग्रहण करके चार प्रकार के तत्त्व बनाता है। परवर्ती सैकड़ों वर्षों तक इस सिद्धान्त का वर्चस्व रहा। लोगों ने सोचना शुरू किया कि जब एक ही पदार्थ से गुणभेद से कोई भी पदार्थ बन सकता है तो सोना क्यों नहीं बन सकता। अरब देश में इस सिद्धान्त के आधार पर 'कीमियागीरी' पर महान् परिश्रम किया गया। यूरोप में भी इसी कीमिया के आधार पर Chemistry शब्द तथा इस शास्त्र का विकास हुआ।

भारत में भी लगभग ईसा पूर्व ५०० वर्ष से वैशेषिक सम्प्रदाय का विकास होता रहा है। महर्षि कणाद ने अपने वैशेषिक सूत्रों में परमाणुवाद की अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में स्थापना की। उनके अनुसार इसकी कुछ प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

परमाणुवाद की प्रमुख विशेषताएँ (दर्शन)

१. परमाणु द्रव्य का सूक्ष्मतम अंश है– परमाणु किसी द्रव्य का वह छोटा से छोटा अंश है, जिससे छोटा कोई नहीं हो सकता। जहाँ पर सूक्ष्मता की सीमा समाप्त हो जाती है, वही परमाणु है। अनवस्था से बचने के लिये ऐसा मानना आवश्यक है। क्योंकि यदि सूक्ष्मता की कोई सीमा न हो तब तो 'उससे छोटा कौन, उससे छोटा कौन' इस प्रकार के प्रश्नों का कहीं अन्त ही नहीं होगा। अतः इससे बचने के लिये सूक्ष्मता की अन्तिम सीमा मानी गई है तथा इसे ही परमाणु कहा गया है।

परमाणु कितना छोटा है, इस विषय में अनेक मतभेद हैं। न्यायसूत्र में कहा है कि यह 'त्रुटि' या त्रसरेणु से कहीं अधिक सूक्ष्म है[1]। किसी अँधेरे कमरे में किसी

---

१. परं वा त्रुटेः। —न्याय सूत्र ४.२.१७

प्रकाशमय छिद्र से जो धूल के कण दिखाई देते हैं, उसे त्रसरेणु कहा जाता है। यह तीन द्व्यणुकों से बनता है तथा ये द्व्यणुक स्वयं दो अणुओं से बनते हैं। इस प्रकार ३ द्व्यणुकों का दुगुना अर्थात् त्रसरेणु का छठा अंश परमाणु होता है।

बौद्धों में वैभाषिकों ने इसका कुछ विस्तृत पैमाना बताया है। उनके अनुसार ७ परमाणु का एक अणु, ७ अणु का एक लोहरज, ७ लोहरज का एक अब्रज, ७ अब्रज का एक शशरज बनता है। इस प्रकार कोई परमाणु 'शशरज' अर्थात् खरगोश के बाल के समान सूक्ष्म रज या धूलिकणों का 7X7X7X7=2401वाँ हिस्सा होता है।

२. परमाणु तथा उसके गुण अतीन्द्रिय या अप्रत्यक्ष होते हैं– इस प्रकार के सूक्ष्मतम परमाणुओं में वे सभी गुण वर्तमान होते हैं जो इनसे निर्मित महत् द्रव्य में उत्पन्न होते हैं। पर इनका किसी भी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। क्योंकि इनके प्रत्यक्ष में महत् परिमाण को भी कारण माना गया है[1]। परमाणु के अणु–परिमाण होने के कारण उसका तथा उसके किसी गुण का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है।

३. परमाणु अविभाज्य तथा निरवयव होता है– परमाणु के अप्रत्यक्ष तथा सूक्ष्मतम सिद्ध होने पर इसका निरवयव तथा अविभाज्य होना स्वतः सिद्ध है। क्योंकि यदि यह विभाज्य हो, तब तो यह सूक्ष्मतम नहीं कहा जा सकता। उस दशा में यह परमाणु भी न होगा। परमाणु तभी होगा, जब विभाजन की सीमा समाप्त हो जाय तथा इस प्रकार इसका इससे छोटा कोई अवयव न रह जाय।

महर्षि कणाद के मन्तव्य के विपरीत अरस्तू ने इसे विभाज्य माना है। उनका कहना है कि ऐसे अविभाज्य परमाणु का कोई अस्तित्व नहीं है। अतः कोई भी अंश अनन्त विभाज्य है[2]। हमारे पास विभाजन के जो साधन उपलब्ध हैं, उससे हम अपनी दृष्टि से सूक्ष्मतम विभाजन कर सकते हैं। पर इससे भी अच्छे साधन उपलब्ध होने पर यह इससे भी अधिक विभाज्य हो सकता है तथा इस प्रक्रिया की कोई सीमा नहीं। इस प्रकार आकाश के अनन्त विस्तार के समान इसका अनन्त अणुत्व है। ऐसा मानने से अनवस्था–मूलक प्रश्न भी समाहित हो जाते हैं। इससे सिद्ध है कि यह अनन्त सूक्ष्म तथा अनन्त विभाज्य है।

न्याय वैशेषिक में इस मान्यता का बहुत अच्छे तर्क से खण्डन किया है।

---

१. महत्त्वं षड्विधे हेतुः —कारिकावली श्लोक ५८

२. Aristotle categorically denied the existence of atoms. Any body can be infinitely divided, taught Aristotle.

—Physics for everyone, Book 2, Page 13.

उनका कहना है कि तब तो सुमेरु पर्वत तथा सरसों का दाना– इन दोनों के परिमाणों में कोई अन्तर ही नहीं रह जावेगा। क्योंकि आपके अनुसार दोनों अनन्त परमाणु से निर्मित होंगे। अनन्त का योग तथा गुणन सदा अनन्त ही होता है, उससे कम अधिक नहीं[1]। इससे सिद्ध है कि ये दोनों अलग २ सान्त संख्या वाले परमाणुओं से निर्मित हैं। यह सच है कि यह संख्या बहुत बड़ी होगी। जिस प्रकार समुद्र में रेत के कण बहुत अधिक हैं, पर अनन्त नहीं। उसी प्रकार किसी द्रव्य की उत्पत्ति में कारण परमाणु भी अनन्त नहीं हैं[2]।

४. परमाणु तथा द्व्यणुक या अणु में कोई अन्तर नहीं– दो परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुक या अणु निर्मित होता है। इससे इनके परिमाण आकार आदि में कोई अन्तर नहीं आता। न्याय की एक विशिष्ट मान्यता के अनुसार परमाणु के अणु परिमाण जैसे गुण त्रसरेणु आदि के महत्परिमाण आदि गुणों से सर्वथा विरोधी हैं। ये दोनों कम–अधिक, ऊँचा–नीचा के समान परस्पर–सापेक्ष गुण नहीं, अपितु दर्शन में मान्य शीत–उष्ण के समान परस्पर विरोधी तथा विलक्षण गुण हैं। अगर लोक में प्रत्यक्ष किये गए द्रव्यों के लिये अणु–महत् या ह्रस्व–दीर्घ का व्यवहार होता है तो वह औपचारिक या अवास्तविक है[3]। बाहरी दुनियाँ में ये दोनों गुण विरोधी होने से किसी एक पिण्ड में एक साथ नहीं रह सकते। साथ ही किसी एक निश्चित गुण वाले पदार्थ से दूसरा विरोधी गुण वाला पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकता। अपितु जिस पदार्थ में जो परिमाण हो, उस पदार्थ को बढ़ाने से उसमें उसी जाति वाले परिमाण की वृद्धि होती है[4]।

ऐसी दशा में दो परमाणुओं से निर्मित द्व्यणुक या अणु में महत् गुण उत्पन्न नहीं हो सकता, अपितु उल्टे इसमें अणुतर परिमाण की आपत्ति होती है। पर ईश्वर की द्वित्व संख्या के बल से ऐसा होने से बचा लिया जाता है। इससे यह द्व्यणुक अणुतर तो नहीं होता, पर परमाणु जैसा अणु–परिमाण वाला बना रहता है[5]। इससे

---

१. महान् गणितज्ञ भास्कराचार्य ने इसे अपने गणित से सिद्ध कर दिया था। उन्होंने ऐसे अनन्त को 'खहर' नाम दिया था। द्रष्टव्य–

अस्मिन् विकारः खहरे न राशावपि प्रविष्टेष्वपि निःसृतेषु।
बहुष्वपि स्याल्लय–सृष्टिकालेऽनन्तेऽच्युते भूतगणेषु यद्वत्। —बीज गणित श्लोक ४

२. अनन्त–द्रव्यारब्धत्वाविशेषेण मेरुसर्षपयोरपि तुल्य–परिमाणत्व–प्रसंगः। तस्मादनारब्ध एव परमाणुः। —तर्कभाषा. प्रमेयनिरूपण, पृ. १८४

३. न चैकस्य दीर्घत्वं ह्रस्वत्वं चोभयमपि वास्तवं युक्तं, विरोधात्। —न्याय कन्दली पृ० ३२२

४. परिमाणस्य स्वसमानजातीयोत्कृष्ट–परिमाणजनकत्वनियमात्। —मुक्तावली पृ. ४५८

५. द्व्यणुकस्याणुपरिमाणं तु परमाण्वणुत्वापेक्षया नोत्कृष्टम् —अतः परमाणौ द्वित्व–संख्या द्व्यणुकपरिमाणस्य असमवायिकारणम्। —वही पृ. ४५८

स्पष्ट है कि परमाणु तथा अणु की संरचना में कोई अन्तर उपस्थित नहीं होता। जो भी अन्तर है, वह 'द्वयणुक परिमाण' इस नाम का है, 'अनित्य–परिमाणता' का है, वस्तु–स्वरूप का नहीं।

इसके पश्चात् ईश्वर की अपेक्षा बुद्धि से ऐसे तीन द्वयणुकों में त्रित्व संख्या नामक गुण उत्पन्न होता है। इसके बल से इनसे निर्मित त्रसरेणु नामक अतिरिक्त अवयवी द्रव्य में रूप आदि गुणों के साथ ही दीर्घ तथा महत्परिमाण उत्पन्न होता है। इससे आगे के द्रव्य महत् तथा महत्तर बनने लगते हैं[1]।

यह उल्लेखनीय है कि वैशेषिक सूत्र में द्वयणुक शब्द तथा इसके निर्माण की यह प्रक्रिया प्राप्त नहीं है। सबसे पहले प्रशस्त पाद भाष्य (४थी शताब्दी ई०) में यह प्रक्रिया सुनिश्चित की गई तथा इसके पश्चात् यह सदा दार्शनिकों में मान्यता प्राप्त रही।

५. कुछ निश्चित गुणों वाले ४ प्रकार के परमाणु– विश्व में सभी महत् द्रव्यों में बाह्य इन्द्रियों से ग्रहण किये जाने वाले गुणों के अनेक प्रकार पाए जाते हैं। इनमें से कुछ गुणों का किसी एक द्रव्य में समाहार पाया जाता है। पर कुछ गुण एक साथ नहीं पाए जाते। अतः इस आधार पर द्रव्य का बढ़िया विभाजन हो सकता है। जैसे मृदु–कठोर स्पर्श, नील पीतादि रूप तथा गन्ध आदि का समाहार देखा जाता है। अतः इन सभी गुणों वाला एक पृथिवी द्रव्य है। पर इन गुणों के साथ शीत, उष्ण, अपाकज अनुष्णाशीत स्पर्श का एकत्र सहभाव नहीं हो सकता। अतः इन गुणों वाले अलग २ द्रव्य हैं। इस प्रकार पृथिवी, जल, तेज, वायु नामक ४ प्रकार के द्रव्यों के परमाणु सिद्ध होते हैं।

६. सभी परमाणु 'विशेष' नामक पदार्थ द्वारा भिन्न होते हैं– ये सभी परमाणु अपने आकार, भार आदि में सर्वथा समान होते हैं। इनके स्वरूप की भिन्नता बनाने के लिये कोई भी कारक उपस्थित नहीं होता। हम किसी पदार्थ को उसकी आकृति संरचना, क्रिया आदि की भिन्नता से ही भिन्न समझ पाते हैं[2]। परमाणु में ऐसा कुछ भी नहीं होता। अतः इन्हें परस्पर भिन्न बनाने के लिये 'विशेष' नामक अतिरिक्त पदार्थ माना जाता है। यह इन्हें परस्पर स्वभावतः भिन्न किये रखता है।

'विशेष' नामक पदार्थ वैशेषिक की सर्वथा मौलिक परिकल्पना है। इसके

---

१. तैरारब्धे कार्यद्रव्ये त्र्यणुकादिलक्षणे रूपाद्युत्पत्तिसमकालं महत्त्वं दीर्घत्वं च करोति।
— प्रशस्तपादभाष्य, परिमाण–प्रकरण, पृ. ३२२

२. अस्मद्विशिष्टानां योगिनां नित्येषु तुल्याकृतिगुणक्रियेषु परमाणुषु मुक्तात्ममनस्सु चान्यनिमित्तासम्भवाद् येभ्यो निमित्तेभ्यः प्रत्याधारं विलक्षणोऽयं, विलक्षणोऽयमिति प्रत्ययव्यावृत्तिः ......तेऽन्त्या विशेषाः। ——वही, विशेष–निरूपण प्रकरण, पृ. ७६७

आधार पर ही इस सम्प्रदाय का नाम 'वैशेषिक' रखा गया है। इस पर दार्शनिकों में बहुत मतभेद भी रहे। पर वैशेषिक की स्पष्ट अवधारणा है कि जिस प्रकार प्रत्येक द्रव्य में समानता स्थापित करने के लिये 'सामान्य' नामक अतिरिक्त द्रव्य माना जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक परमाणु में सर्वथा 'व्यावृत्ति' या भिन्नता स्थापित करने के लिये 'विशेष' नामक अतिरिक्त द्रव्य भी मानना चाहिये[१]।

७. परमाणुओं के गुणों से ही किसी महत् द्रव्य में गुण उत्पन्न होते हैं– परमाणुओं से द्व्यणुक तथा उनसे विभिन्न महत् द्रव्यों की उत्पत्ति के क्रम में परमाणुओं के गुणों से उन कार्य–द्रव्यों में गुण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार परमाणु के गुण उस महत् द्रव्य में गुण उत्पन्न करने का असमवायिकारण माना जाता है। किसी द्रव्य में वही गुण उत्पन्न हो सकता है जो परमाणु में हो। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि कोई गुण कई प्रकार के परमाणुओं से बनने वाले यौगिक में हो, पर उसके परमाणुओं में न हो। किसी यौगिक में उन गुणों को देख कर उनके परमाणुओं में उन गुणों के अस्तित्व का अनुमान किया जा सकता है।

८. जल, तेज, वायु के परमाणु के गुण नित्य होते हैं– इस प्रकार इनसे निर्मित होने वाले कार्यद्रव्यों के गुण भी नहीं बदलते। जैसे पानी को चाहे जितना उबाला जाय, उसके मधुर रस आदि गुण उसी प्रकार बने रहते हैं[२]। अगर कहीं इनका कोई गुण परिवर्तित दीख पड़े तो वह वास्तव में उससे संयुक्त पृथिवी का गुण है, यह मानना चाहिये।

९. केवल पृथिवी के परमाणु के गुण ही बदलते हैं– अतः पार्थिव द्रव्यों के रूप, रस आदि अलग २ समयों में भिन्न २ प्रकार के देखे जाते हैं। जैसे आम पहले कठोर तथा हरा है।पर बाद में नरम तथा पीला हो जाता है। यह इसके गुणों के अनित्य होने के कारण है। किसी भी द्रव्य के गुणों के बदलने की प्रक्रिया में उनसे सूक्ष्म, सूक्ष्मतर कारणों के क्रम से चलते हुए अन्त में परमाणु के गुणों का विनाश तथा नए गुणों की उत्पत्ति होती है। पश्चात् इनसे इसी क्रम से महत् द्रव्य में नए गुणों की उत्पत्ति होती है[३]। इसे पांकज प्रक्रिया के अन्तर्गत पीलूपाकवाद कहा जाता है।

१०. विजातीय परमाणुओं से कोई द्रव्य निर्मित नहीं होते– इन चार प्रकार के परमाणुओं में कोई भी विजातीय परमाणु एक दूसरे से संयोग करके अतिरिक्त द्रव्य

---

१. नित्यद्रव्येषु प्रतिद्रव्यमेकैकशो वर्तमाना अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः (विशेषाः)। —वही पृ.७६६

२. न हि शतधाऽपि ध्मायमाने जले रूपादिकं परिवर्तते।
—कारिकावली, श्लोक १०५ पर मुक्तावली।

३. एतेषां पाकजत्वं तु क्षितौ नान्यत्र कुत्रचित्। —वही श्लोक १०५

नहीं बनाता। अतः समानजातीय परमाणुओं से समानजातीय द्रव्य ही निर्मित हो सकता हैं। कोई भी निष्पन्न द्रव्य पार्थिव ही हो सकता है या जलीय ही। दोनों से निर्मित एक द्रव्य नहीं। क्योंकि ऐसे द्रव्यों में सांकर्य दोष के कारण पृथिवीत्व, जलत्व दोनों जातियाँ अवस्थित नहीं हो सकतीं[1]।

उल्लेखनीय है कि अनेक द्रव्यों के मिश्रण से कोई भोज्य व्यंजन या कोई घोल बन सकता है। पर यह एक द्रव्य नहीं है। अपितु अनेक द्रव्यों का संयोग है। पानी में पार्थिव मसी या स्याही घुलाने पर दोनों के गुण परिवर्तित दिखने पर भी यह माना जाता है कि मसी का कठोर स्पर्श तथा पानी का अभास्वर शुक्ल रूप दोनों एक दूसरे के प्रभाव से केवल छिप गए हैं। पर मूलतः उनके परमाणुओं में वे अपने २ गुण यथावत् वर्तमान हैं। इस प्रकार यह स्याही पृथिवी तथा जल से निर्मित किसी एक द्रव्य के रूप में मान्य नहीं है।

परमाणुवाद पर अजर अमर समस्याएँ

परमाणुवाद की उक्त विशेषताओं को प्रमुख रूप से न्याय के अनुसार रेखांकित किया गया है। परमाणु के इस स्वरूप पर उपस्थित अनेक समस्याओं के समाधान के लिये दार्शनिकों ने हजारों वर्ष बिताए हैं। फिर भी समस्याएँ अपनी जगह पर ज्यों की त्यों हैं। ऐसी कुछ प्रमुख समस्याएँ इस प्रकार हैं–

१. अनेक परमाणुओं के संयोग से कोई अतिरिक्त अवयवी उत्पन्न होता है या नहीं। यदि ऐसा नहीं होता तब तो परमाणु के अणु–परिमाण तथा सूक्ष्म होने से परमाणु–पुञ्ज भी ऐसा ही होगा। क्योंकि अतिरिक्त अवयवी को स्वीकार किये बिना बड़े द्रव्य में परमाणु के गुणों से विरोधी महत्त्व तथा दृश्यत्व उत्पन्न नहीं हो सकते[2]। अतिरिक्त अवयवी को स्वीकार करने पर दुगुना रूपादि गुण तथा दुगुना द्रव्यमान बढ़ने का प्रसंग उपस्थित होता है[3]।

२. परमाणु का कोई अवयव होता है या नहीं। यदि अवयव है तो उसके विभाज्य तथा अनित्य होने का प्रसंग उपस्थित होता है। यदि अवयव नहीं है तो प्रश्न है कि एक परमाणु के अन्य परमाणु के साथ एक हिस्से से संयोग होता है या

१. व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः ।
रूपहानिरसम्बन्धो जाति–बाधकसंग्रहः । —उदयनाचार्यकृत किरणावली, पृ. ३२१

२. परमाणोरतीन्द्रियत्वेन तत्समूहस्यापि प्रत्यक्षत्वायोगात्। —श्लोक ३७ पर मुक्तावली।

३. इतश्च पटस्तन्तुभ्यो न भिद्यते, गुरुत्वान्तरकार्याग्रहणात्।
—सांख्यकारिका ६ पर तत्त्व–कौमुदी।

आरम्भवादिनः कार्ये मृदो द्वैगुण्यमापतेत्। —पञ्चदशी १३.५२

तथा च सति गुरुत्वादिद्वैगुण्यमप्यापद्येतेति भावः। —वहीं पर दीपिका।

सब तरफ से। यदि हिस्से से संयोग मानें तो कम से कम ६ ओर से संयोग सम्भव होने के कारण परमाणु के ६ हिस्सों की तथा इस प्रकार पुनः अनित्यता की प्राप्ति होती है। यदि सब तरफ से संयोग मानें तो कोई पदार्थ बढ़ कैसे सकता है[1]।

३. परमाणु स्पर्श करता है या नहीं। यदि स्पर्श नही करता तो संयोग के बिना महत् द्रव्य कैसे बनेगा। यदि स्पर्श करता है तब तो दोनों मिल कर एक हो जाएँगे। क्योंकि दोनों में कोई सान्तरता या दिग्भागभेद तो है नहीं[2]।

४. परमाणु नित्य है या अनित्य। यदि नित्य है तो वह क्रियाशील कैसे हो सकता है। क्योंकि क्रिया अनित्य है तथा वह परमाणु से भिन्न नहीं है। यदि अनित्य है तो इसे अपरिवर्तनीय किस प्रकार कह सकते हैं।

परमाणुवाद से राहें बदलती हैं।

दर्शनशास्त्र में परमाणुवाद एक ऐसा विशाल चौराहा है जहाँ से अलग २ दर्शन सम्प्रदाय अलग २ राह पकड़ लेते हैं। वे या तो परमाणु का एक स्वरूप निश्चित करके उस पर उपस्थित समस्याओं के समाधान का निरन्तर प्रयास करते हैं। अथवा परमाणु को ही सर्वथा नकार देते हैं। परमाणुवाद से निकली कुछ प्रमुख राहें इस प्रकार हैं–

१. अनेक परमाणुओं से उत्पन्न किसी द्रव्य में महत्त्व या दृश्यत्व नहीं आ सकता। फिर भी इन गुणों की वर्तमानता से सिद्ध है कि परमाणुओं से सर्वथा अतिरिक्त अवयवी उत्पन्न होता है तथा इसमें ये विरोधी गुण समवेत होते हैं। यह न्याय का असत्कार्यवाद है।

२. परमाणुओं से अतिरिक्त अवयवी उत्पन्न होने पर उससे दुगुने रूप तथा दुगुने द्रव्यमान बढ़ने का प्रसंग उपस्थित होता है। इससे सिद्ध है कि ऐसा कोई असत् कार्य या अतिरिक्त अवयवी उत्पन्न नहीं होता। यह सांख्य का सत्कार्यवाद है।

३. परमाणुओं से अवयवी के भिन्न होने तथा न होने में भी दोष है। अतः

---

१. सर्वात्मना चेदुपचयानुपपत्तेरणुत्वमात्र–प्रसंगः।............ प्रदेशवतो द्रव्यस्य प्रदेशवता द्रव्यान्तरेण संयोगस्य दृष्टत्वात्। एकदेशेन चेत् सावयवत्व–प्रसंगः।– ब्रह्मसूत्र २.१.१२ पर शांकर भाष्य।
संयोगोपपत्तेश्च। –न्याय सूत्र ४.२.२४ तथा उस पर वात्स्यायन भाष्य।
षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता।
षण्णां समानदेशत्वे पिण्डः स्यादणुमात्रकः। –न्याय वार्तिक।

२. किं पुनः परमाणवः स्पृशन्त्यन्योन्यम्, आहोस्विन्न। यदि तावत् सर्वात्मना स्पृशेयुर्मिश्रीभवेयु–र्द्रव्याणि। अथैकदेशेन, सावयवाः प्रसज्येरन्, निरवयवाश्च परमाणवः।
–अभिधर्मकोश १.४३. पृ० १२१

सिद्ध है कि अंवयवी इन परमाणुओं से भिन्न भी नहीं है, अभिन्न भी नहीं है। इसी प्रकार परमाणुओं का अवयव होना तथा न होना– ये दोनों पक्ष दोषपूर्ण हैं। अतः परमाणु या माया अवयव भी नहीं तथा अनवयव भी नहीं है। यह वेदान्त का अनिर्वचनीयवाद है।

४. परमाणु नित्य होकर क्रिया नहीं कर सकता तथा क्रिया न करके वह महत् द्रव्य नहीं बन सकता। अतः किसी भी नित्य परमाणु का अस्तित्व नहीं है। सर्वत्र क्षणिकता व्याप्त है। यह बौद्धों का क्षणभंगवाद है।

इस प्रकार अनेक दर्शन–सम्प्रदायों द्वारा यह सुनिश्चित मान लिया गया था कि अन्य सम्प्रदायों द्वारा स्थापित परमाणुवाद सर्वथा व्यर्थ के तर्कों से परिपूर्ण है। इसे शिष्ट पुरुषों ने कदापि स्वीकार नहीं किया है। अतः कल्याण चाहने वाले को इसकी पूरी तरह उपेक्षा कर देना चाहिये[1]।

विदेशों में भी अरस्तू के सिद्धान्तों के आधार पर सोना बनाने के लिये अथवा 'दार्शनिकों का जादुई पत्थर' (Philosopher's stone) या पारस–मणि ढूँढ़ने के लिये अनन्त प्रयत्न हुए। पर उसमें असफलता ही हाथ लगी। अतः लोगों में इस ओर वितृष्णा हुई। १८वीं शताब्दी तक परमाणु पर कार्य करने वाले लोगों को असम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। पिछली शताब्दी के अन्त में एक वैज्ञानिक ने कहा था कि अगले कुछ दसियों वर्ष बाद परमाणु केवल पुस्तकालयों की धूल में ही प्राप्त किये जा सकेंगे[2]।

सूक्ष्मदर्शी यन्त्रों के विकास के पश्चात् परमाणुवाद ने विकास के अनन्त रास्ते खोल दिये। इससे समूची दुनियाँ में एक क्रान्ति आई । इन यन्त्रों की सहायता से परमाणु के निरीक्षण के पश्चात् पिछले हजारों वर्षों से चली आ रही समस्याओं का समाधान हुआ। परमाणु के प्राचीन दार्शनिक स्वरूप के सम्बन्ध में आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण इस प्रकार है–

परमाणुवाद की प्रमुख विशेषताएँ (विज्ञान)

१. परमाणु द्रव्य का सूक्ष्मतम अंश है– किसी द्रव्य का सबसे छोटा अंश परमाणु

---

१. तदेवम् असारतर्कसंदृब्धत्वात्.............. श्रुतिप्रवणैश्च शिष्टैर्मन्वादिभिरपरिगृहीतत्वात् अत्यन्तमेवानपेक्षाऽस्मिन् परमाणुकारणवादे कार्या श्रेयोऽर्थिभिः।।
–ब्र०सू० २.२.१७ पर शांकर भाष्य।

2. Even at the very end of the last century, one of them wrote that after several decades, it would be possible to find atoms only in the dust of libraries!
—Physics for everyone, Book II, Page.14

है। आधुनिक युग में इस सूक्ष्मतम अंश का भी एलेक्ट्रोन, प्रोट्रोन आदि के रूप में विभाजन तो किया जा सकता है। पर वह उस दशा में द्रव्य या तत्त्व की सम्पूर्ण विशेषताएँ खो देता है। अतः यह कहना अब भी सर्वथा सही है कि तत्त्व के स्वरूप में परमाणु सूक्ष्मतम है।

इसकी सूक्ष्मता कल्पनातीत है। दर्शनशास्त्र में जितनी सूक्ष्मता की कल्पना की गई थी, उससे बहुत सूक्ष्म है। पानी के एक अणु का व्यास ३ एंग्स्ट्रोम माना जाता है। एक एंग्स्ट्रोम एक सेंटीमीटर का १० करोड़वाँ हिस्सा होता है। सबसे बड़े परमाणु के नाभिक का व्यास $१०^{-१४}$ मीटर होता है। स्पष्टतः यह सूक्ष्मता कल्पनातीत है।

२. परमाणु अतीन्द्रिय या अप्रत्यक्ष होता है– इतने सूक्ष्म परमाणु का अभी तक किसी उपाय से प्रत्यक्ष नहीं किया जा सका है। शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शी से भी गैस के अणुओं की गति को नहीं देखा जा सका है जो कि परमाणुओं की तुलना में काफी बड़ा है। फिर भी अन्य अनेक उपायों से इनके विषय में पर्याप्त विस्तार से जान लिया गया है[1] तथा इनकी सत्यता की अनेकानेक उपायों से परीक्षा की जा चुकी है। अतः इन्हें सर्वसम्मति से स्वीकार किया जाता है।

३. परमाणु अपनी तत्त्वं दशा तक अविभाज्य होता है– दर्शन में ऐसे परमाणु की कल्पना की गई है, जिसमें द्रव्य के सभी लक्षण पाए जायँ, उसमें विविध गुण वर्तमान रहें। कोई परमाणु इन विशेषताओं को रखते हुए अविभाज्य है।

आधुनिक युग में परमाणु का विखण्डन सम्भव हो सका है। इस दशा में कोई तत्त्व अपने गुण, रचना, भार तथा इस प्रकार अपनी सम्पूर्ण पहचान खो बैठता है। अतः यह अपनी तत्त्व दशा को खोते हुए सर्वथा विभाज्य है।

४. परमाणु तथा अणु में अन्तर होता है– परमाणु तथा इनके संयोग से निर्मित होने वाले अणुओं में स्पष्ट तथा मौलिक अन्तर है। अतः इनकी अलग २ परिभाषाएँ हैं, जो इस प्रकार हैं–

परमाणु (atom) – किसी तत्त्व का वह छोटा से छोटा कण जो रासायनिक क्रिया में भाग ले सकता है, उसे परमाणु कहते हैं।

इसमें तत्त्व के सभी गुण वर्तमान रहते हैं। यह प्रकृति में अकेला नहीं रहता। अपितु समान या असमान परमाणुओं से मिल कर अणु रूप में उपलब्ध होता है।

---

1. *There is no microscope which would permit one to see the motion of gaseous molecules, but in spite of this physicists can describe the life of this invisible world in sufficient detail. ibid, Page 38*

अणु (molecule) – किसी तत्त्व या यौगिक का वह छोटा से छोटा कण जो स्वतन्त्र अवस्था में रह सके तथा जिसमें क्रमशः उस तत्त्व या यौगिक के गुण हों, उसे अणु कहते हैं।

समान परमाणुओं के संयोजन से तत्त्व के अणु बनते हैं। जैसे दो ऑक्सीजन परमाणु से एक अणु बनता है। जिसका हम प्राण लेने में उपयोग करते हैं। असमान परमाणुओं के संयोजन से यौगिक के अणु बनते हैं। इस प्रकार ये किसी यौगिक पदार्थ के सूक्ष्मतम अंश होते हैं। जैसे हाइड्रोजन के दो तथा ऑक्सीजन के एक परमाणु के संयोजन से जल का एक अणु बनता है।

इस प्रक्रिया में किसी परमाणु के अन्य के साथ संयोजन होने पर उसका अणु–भार ठीक उसी अनुपात में बढ़ता है। विज्ञान में संहति संरक्षण नियम (The law of conservation of mass) के अनुसार द्रव्यमान किसी पदार्थ का सबसे महत्त्वपूर्ण अचर गुण है। अतः किसी अणु, कण आदि में विद्युत्, ऊष्मा आदि किसी गुण को क्षीण करने पर भी उसमें किसी अणु को बढ़ाने पर उसका द्रव्यमान उसी अनुपात में बढ़े बिना नहीं रह सकता[1]।

इस प्रकार विज्ञान में दर्शन का यह सिद्धान्त स्वीकार्य नहीं है कि परमाणुओं के संयोजन से द्व्यणुक के परिमाण में कोई अन्तर नहीं होता। दर्शन में अणु तथा महत् को ऐसा परस्पर विरोधी तथा परस्पर–निरपेक्ष, वस्तुनिष्ठ धर्म मान लिया गया है, जिनका एकत्र सहभाव नहीं हो सकता। ऐसा मान कर वे परमाणु में परम अणुत्व की तथा ऐसे परमाणु को बढ़ाने पर अणुतर, अणुतम आदि के प्रसंग की कल्पना करते हैं।

पर भौतिक जगत् में ऐसा कोई उदाहरण नहीं, जिसमें ऐसा कोई प्रसंग उपस्थित होता हो। अणु–महत् आदि की सर्वथा विरोधिता को तथा अणुतर आदि के स्वरूप को भी निरूपित नहीं किया जा सकता। अतः विज्ञान में अणु–महत् विरोधी धर्म नहीं, अपितु सापेक्ष धर्म माने जाते हैं। अणु का अर्थ कम महत् तथा महत् का अर्थ कम अणु है। प्रत्येक अणु कहा जाने वाला पदार्थ अणु, महत् दोनों एक साथ है। किसी की दृष्टि से वह अणु तथा उसी समय किसी की दृष्टि से वह महत् है। किसी अणु का अन्य के साथ संयोजन करने पर हम सदा उनके सापेक्ष महत्त्व में वृद्धि करते हैं। ऐसा होने पर उसके सापेक्ष अणुत्व में कमी आती है। इसी प्रकार किसी अणु में से किसी का वियोजन करने पर उसके सापेक्ष अणुत्व में वृद्धि करते हैं। इससे उसके सापेक्ष महत्त्व में कमी आती है।

१. विस्तार के लिये द्रष्टव्य – प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम खण्ड का पृ. ७३–७४

विज्ञान की इस मान्यता की उपस्थिति में भौतिक जगत् में द्वित्व और त्रित्व जैसे अपेक्षा बुद्धि मात्र से उत्पन्न और नष्ट होने वाले विलक्षण गुण की कल्पना नहीं करनी पड़ती, जिनके अस्तित्व को न्याय के अलावा अन्य दार्शनिकों ने भी स्वीकार नहीं किया है।

५. निश्चित स्वरूप वाले ९२ प्रकार के परमाणु– दर्शन में बाह्येन्द्रिय से उपलब्ध होने वाले गुणों के आधार पर ४ प्रकार के द्रव्यों के परमाणु माने गए हैं। पिछले परिच्छेद में यह विस्तार से प्रकट किया गया है कि मूल द्रव्य या तत्त्वों के वर्गीकरण का यह आधार समुचित नहीं है। आधुनिक युग में रासायनिक संरचना के आधार पर प्रकृति में उपलब्ध ९२ प्रकार के परमाणु खोजे जा चुके हैं। जिनमें हाइड्रोजन का परमाणु भार सबसे कम १.००८ है तथा यूरेनियम का सबसे अधिक २३८ है। इसके पश्चात् अनेक कृत्रिम तत्त्वों के परमाणु खोज निकाले गए हैं तथा यह खोज आज भी जारी है।

६. परमाणुओं को भिन्न करने के लिये 'विशेष' नामक अतिरिक्त पदार्थ की कोई आवश्यकता नहीं– सभी परमाणु स्वतः एक दूसरे से भिन्न हैं। वे परस्पर भिन्न होकर ही आकाश में अलग २ स्थान घेर सकते हैं। उन्हें अलग बनाने के लिये किसी अतिरिक्त 'विशेष' पदार्थ की आवश्यकता नहीं। क्योंकि यदि ऐसी आवश्यकता हो तो पुनः प्रश्न उठेगा कि यह 'विशेष' अन्य से भिन्न किस प्रकार है। इसके लिये अलग पदार्थ की कल्पना में अनवस्था होगी। अतः यदि इससे बचने के लिये 'विशेष' को स्वभाववश अन्य से भिन्न मानना हो तो परमाणु को ही स्वभाववश अन्य से भिन्न क्यों न मान लिया जाय। इसी तर्क से अन्य दार्शनिकों ने भी इस 'विशेष' नामक पदार्थ को स्वीकार नहीं किया है[1]।

७. यौगिक पदार्थों के गुण उनके अणुओं से ही प्राप्त होते हैं, परमाणुओं से नहीं– समान परमाणुओं वाले समांगी अणुओं (homogeneous molecules) से बनने वाले साधारण पदार्थों के गुण उनके अणुओं से प्राप्त होते हैं। जैसे प्राणन के लिये उपयोगी ऑक्सीजन के गुण उनके अणुओं से आए हैं। इन अणुओं के परमाणु प्रकृति में स्वतन्त्र रूप से उपलब्ध नहीं हैं। अतः ये किसी गुण के प्रभाव को प्रदर्शित करने की क्षमता नहीं रखते। इसलिये हम केवल सिद्धान्ततः कह सकते हैं कि ऑक्सीजन के गुण मूलतः ऑक्सीजन परमाणु से प्राप्त हैं, व्यवहारतः नहीं।

असमान परमाणुओं वाले विषमांगी अणुओं (heterogeneous molecules) से

१. नवीनास्तु विशेषेऽतिरिक्ते मानाभावः। यथैव विशेषाणां स्ववृत्तिधर्मं विना व्यावृत्तित्वं, तथैव नित्यद्रव्याणामपीत्याहुः। ——कारिकावली, श्लोक १० पर दिनकरी पृ. ६४।

बनने वाले यौगिक पदार्थों के गुण स्पष्टतः उनके अणुओं से ही प्राप्त होते हैं, उनके परमाणुओं से नहीं। इन यौगिक पदार्थों के अणुओं का विभाजन करने पर ये असमान गुण वाले तत्त्वों के परमाणुओं में विभाजित हो जाते हैं। यौगिक की परिभाषा के अनुसार यह उनकी आवश्यक शर्त है। जैसे H_2O सूत्र वाले जल का विभाजन करने पर यह उन हाइड्रोजन, ऑक्सीजन तत्त्वों के परमाणुओं में विभाजित हो जाता है, जिनमें जल का कोई गुण नहीं। इससे स्पष्ट है कि यौगिक के गुण उनके परमाणु से प्राप्त नहीं होते।

यहाँ दर्शन का कहना है कि 'कारण के गुणों से ही कार्य में गुण उत्पन्न होते हैं' इस सुनिश्चित सिद्धान्त के अनुसार उन परमाणुओं में वे गुण अवश्य होने चाहिये जो उनसे निर्मित अणुओं या यौगिक पदार्थों में पाए जाते हैं। इस सिद्धान्त का अपवाद केवल तभी हो सकता है जब अणुओं से सर्वथा भिन्न कोई अतिरिक्त अवयवी उत्पन्न हो।

विज्ञान का कहना है कि सामान्य दैनिक जीवन में यह सिद्धान्त सही है। जैसा तन्तु का रूप है, वैसा ही पट का रूप उत्पन्न होता है। साथ ही तन्तु की क्रिया से पट के गुणों से सर्वथा भिन्न क्रिया पट में उत्पन्न होती है। पर अणु परमाणु के संसार में कारण–कार्य का यह स्वरूप तथा गुण, क्रिया का यह विभेद मिट जाता है। इनकी विविध क्रियाएँ ही हमें विविध गुणों के रूप में उपलब्ध होती हैं। पिछले खण्डों में विस्तार से सिद्ध किया गया है कि अणुओं का अधिक तथा न्यून प्रकम्पन ही हमें क्रमशः उष्ण तथा शीत गुण के रूप में उपलब्ध होता है। इस प्रकार अणुओं की परस्पर सापेक्ष कम दूरी तथा अधिक दूरी जैसी अलग २ अवस्थाओं के होने पर अणुओं की अलग २ प्रकार की क्रियाएँ विविध गुणों के प्रकाशन के लिये उत्तरदायी होती हैं। जैसे अणुओं में सापेक्ष कम दूरी होने पर उन अणुओं में परस्पर दृढ़ आकर्षण बल के साथ उनमें प्रकम्पनिक गति (Vibrational motion) का प्रभाव हमें ठोस गुण के रूप में उपलब्ध होता है। अणुओं के सापेक्षतः अधिक दूरी होने पर कम आकर्षण बल होने पर उनमें रुकावट के साथ स्थानान्तरीय गति (translational motion) के प्रभाव को हम द्रव गुण के रूप में उपलब्ध करते हैं। इसी प्रकार कभी प्रकाश के प्रभाव को पदार्थ में आरोपित करके पदार्थ में रूप गुण को अथवा ध्वनि–तरंगों के प्रभाव को घण्टा में या उससे संयुक्त आकाश में आरोपित करके उसमें शब्द गुण का अनुभव करते हैं। पर बाह्य जगत् में ये गुण उन तरंगों अथवा क्रियाओं से भिन्न नहीं होते। इनकी केवल अतिरिक्त रूप से प्रतीति होती है।

इस सिद्धान्त के स्थापित होने पर दर्शन की पूर्वोक्त कारण–कार्य की अवधारणा में मौलिक विभेद प्रकट होता है। यह बिल्कुल भी आवश्यक नहीं कि कोई पदार्थ जिस प्रकार की क्रिया करे, उसके अवयव भी उसी प्रकार की क्रिया करें। अथवा यह भी जरूरी नहीं कि अवयव की क्रियाओं से उसी के समान पदार्थ में क्रिया उत्पन्न हो।

आधुनिक विज्ञान बताता है कि परमाणुओं के एलेक्ट्रोन विभिन्न दीर्घवृत्ताकार कक्षाओं में नाभिक के चारों ओर चक्रण करते हैं। इनसे बनने वाले अणु कम्पनिक या स्थानान्तरीय गति करते हैं। इनसे निर्मित होने वाले कण विविध तरंग–गति करते हैं। इन कणों से बनने वाले स्थूल पदार्थ सरल रेखा में गति कर सकते हैं। ये सभी एक दूसरे से भिन्न प्रकार की गतियाँ प्रेक्षक की इन्द्रियों के लिये भिन्न २ गुणरूपी प्रभाव उत्पन्न करती हैं। यहाँ हम यह नहीं कह सकते कि इनकी कोई भी गति तथा उनसे अभिन्न गुण उनके कारणभूत अवयव से उत्पन्न है। क्योंकि कारण में तो वह गत्ति है ही नहीं। इससे स्पष्ट है कि अणु–परमाणु जैसे सूक्ष्म पदार्थों के प्रसंग में कारण के गुणों से उनके अनुरूप कार्य उत्पन्न नहीं होता। अतः सिद्ध है कि यौगिक पदार्थों के गुण उनके परमाणुओं के गुणों से उत्पन्न नहीं होते।

८. जल, तेज, वायु के गुण बदलते हैं– जल यौगिक अणु का विभाजन करने पर उसके गुण बदलते हैं। तेज कोई अतिरिक्त द्रव्य नहीं है। अतः उसके गुण बदलने न बदलने का कोई प्रश्न नहीं है। वायु मिश्रण के तथा इनके अलग २ अणुओं के गुण भी शीत, उष्ण आदि के रूप में अवश्य ही बदलते हैं।

९. पृथिवी के गुण बदलते हैं– पृथिवी को विविध तत्त्वों के रूप में बताया जा चुका है। इनके अणु–परमाणुओं के गुण विज्ञान की अपनी प्रक्रिया के अनुसार अवश्य ही बदलते हैं।

१०. विजातीय परमाणुओं से अवश्य ही यौगिक द्रव्य निर्मित होते हैं– सभी यौगिक अणु विजातीय परमाणुओं के संयोग से ही निर्मित होते हैं। किसी बड़े यौगिक में उसी अनुपात में परमाणु एक साथ रहते हैं, जिस अनुपात में वे अलग २ जाति वाले छोटे यौगिक द्रव्य बनाते हैं। जैसे H_2O से जल बनता है। इसमें पाए जाने वाले परमाणु कार्बन परमाणु के साथ मिल कर कार्बोहाइड्रेट यौगिक बनाते हैं। इन यौगिकों के निर्माण के क्रम में कार्बन परमाणुओं की संख्या बढ़ने के अनुपात में H_2O की संख्या का अनुपात बढ़ता जाता है। जैसे द्राक्षा शर्करा यौगिक में $C_6H_{12}O_6$ परमाणु वर्तमान होते हैं। यहाँ दर्शन की भाषा में जल तथा पृथिवी से यह द्रव्य निर्मित हुआ है। इससे सिद्ध है कि विजातीय परमाणुओं से भी अवश्य

ही यौगिक द्रव्य निर्मित हो सकता है।

परमाणुवाद पर अजर अमर समस्याओं का वैज्ञानिक समाधान

परमाणुवाद पर दर्शनशास्त्र द्वारा प्रस्तुत पूर्व उल्लिखित कुछ विशिष्ट समस्याओं का वैज्ञानिक समाधान क्रमशः इस प्रकार है–

१. बाहरी दुनियाँ में अनेक परमाणुओं के संयोग से अवयवों से अतिरिक्त कोई अवयवी उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि यह द्रव्यमान पर कोई प्रभाव नहीं डालता। आधुनिक विज्ञान में किसी पदार्थ का द्रव्यमान उसका सबसे विशिष्ट अचर गुण है[1]। किसी पदार्थ के चाहे जितने हिस्से किये जायँ, उसे चाहे जिस आकार में बदला जाय, उसमें चाहे जो भी भौतिक या रासायनिक गुण आरोपित किये जायँ, पर उसका द्रव्यमान नहीं बदल सकता, अगर उसमें कोई द्रव्य बढ़ाया या घटाया न जाय तो। इस सिद्धान्त की उपस्थिति में यह भी स्पष्ट है कि किसी पदार्थ में किसी गुणगत परिवर्तन के होने पर भी द्रव्यमान न बदलने की स्थिति में किसी अतिरिक्त अवयवी का प्रवेश मान्य नहीं हो सकता। इस प्रकार विज्ञान में सांख्य के समान कोई अतिरिक्त अवयवी स्वीकार्य नहीं है।

इस पर प्रश्न है कि किसी परमाणु से उत्पन्न पदार्थ में परमाणु के गुण से विरोधी महत् गुण किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है। इसका उत्तर उपवर्ग ४ में दिया जा चुका है। विज्ञान में अणु–महत् आदि वस्तुनिष्ठ विरोधी धर्म नहीं, अपितु सापेक्ष धर्म हैं। अणु कहे जाने वाले पदार्थ का अन्य अणु के साथ संयोजन करने पर उसका सापेक्ष महत्त्व बढ़ता है तथा सापेक्ष अणुत्व घटता है। उसमें से किसी अणु का वियोजन करने पर उसका सापेक्ष अणुत्व बढ़ता है तथा सापेक्ष महत्त्व घटता है।

इस विवेचन के अनुसार दर्शन तथा विज्ञान में मतभेद संक्षेपतः इस प्रकार हैं। **दर्शन**–कारण के गुणों से ही कार्य के गुणों की उत्पत्ति होती है। पर महत् आदि विरोधी गुणों की उत्पत्ति में ऐसा न हो सकने की स्थिति में अतिरिक्त द्रव्य की उत्पत्ति होती है। **विज्ञान**–कारण द्रव्य से ही कार्य द्रव्य की उत्पत्ति होती है। क्योंकि द्रव्यमान किसी पदार्थ का अचर गुण है। अतः अतिरिक्त द्रव्य की उत्पत्ति कभी नहीं होती। कार्य द्रव्य में उत्पन्न महत् आदि विरोधी गुण, नहीं हैं। इसलिये किसी यौगिक अणु–पुञ्ज में इन गुणों की उत्पत्ति सर्वथा सम्भव है। साथ ही

1. Mass is the most important invariable characteristic of a body.
—Physicks for everyone, Book 1, page 25

कारण के गुणों से ही कार्य के गुण उत्पन्न होना आवश्यक नहीं। अतः परमाणु में अवर्तमान गुण यौगिक अणु में उत्पन्न होते हैं।

२. परमाणु का अपने तत्त्व स्वरूप में बने रहने तक कोई अवयव नहीं होता। प्रोट्रोन, एलेक्ट्रोन आदि के रूप में विभाजन के पश्चात् यह तत्त्व या द्रव्य की परिभाषा से विहीन हो जाता है। इस प्रकार द्रव्य की दृष्टि से परमाणु अविभाज्य तथा निरवयव है। परमाणु का अन्य परमाणु के साथ उस प्रकार संयोग नहीं होता जैसा दार्शनिक 'कुण्ड–बदर' के संयोग द्वारा समझते हैं। हम लौकिक उदाहरणों को आगे रख कर उनकी प्रकृति के अनुसार परमाणु को नहीं समझ सकते। अपितु उसका सर्वथा भिन्न स्वरूप है, जिसमें सामान्य उदाहरण लागू नहीं होते।

३. अणु–परमाणु स्वयं तथा परस्पर एक दूसरे का स्पर्श नहीं करते। परमाणु के नाभिक (nucleous) में धनावेश केन्द्रित होता है। इसके चारों ओर घूमने वाले एलेक्ट्रोन परमाणु के आकार की सीमा बनाते हैं। ये अपने ऋणात्मक आवेश से किसी अन्य परमाणु को प्रविष्ट नहीं होने देते। साथ ही अपने नाभिक से काफी दूरी बनाए रखते हुए उनके समीप नहीं ज़ा सकते। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि अगर हाइड्रोजन परमाणु के नाभिक को एक सुई की नोक के बराबर मानें तो इस अनुपात में एलेक्ट्रोन इससे लगभग १२ मीटर की दूरी पर होगा। यदि परमाणु कहीं ठोस होता तो गिलास के पानी का भार २ टन होता[1]! स्पष्टतः परमाणु के बीच अवकाश बहुत अधिक है।

यौगिक पदार्थ के अणु भी अपने आकर्षण बल से आपस में बँधे रहते हैं। ये अपने प्रतिकर्षण बल के द्वारा एक दूसरे से दूरी भी बनाए रखते हैं। किसी पदार्थ की द्रव अवस्था में दो अणुओं के बीच की दूरी लगभग ३ एंग्स्ट्रॉम होती है। १ एंग्स्ट्रॉम १ सेंटीमीटर का १० करोड़वाँ हिस्सा होता है। गैस अवस्था में इन अणुओं के बीच की दूरी कम से कम ३५ A° होती है। स्पष्टतः ये अणु आपस में कभी स्पर्श नहीं करते।

इस प्रकार ये परस्पर दूर रह कर भी स्पर्श न करते हुए भी अपने आकर्षण बल से बँध कर महत् द्रव्य का रूप ले लेते हैं। इनकी अतिसूक्ष्म सान्तरता हमें उपलब्ध नहीं होती। पर इनके आकर्षण बल तथा इससे सम्पन्न विविध गतियों के प्रभाव को हम ठोस, द्रव आदि गुणों के रूप में अनुभव करते हैं।

४. कोई परमाणु अपनी तत्त्व दशा के बने रहने तक नित्य होता है। इस

---

१. विस्तार के लिये द्रष्टव्य सरल माध्यमिक भौतिकी, भाग २, पृ. ४७०

समय इसके एलेक्ट्रोन निरन्तर समान गति करते हैं। ऐसा करते हुए ये इसका कोई परिवर्तित स्वरूप उपस्थित नहीं करते। अतः इस दृष्टि से इसे नित्य या स्थिर कहा जाता है। पर तात्त्विक दृष्टि से यह क्षणिक है। क्योंकि इसका स्वरूप ही गतिमूलक है। एंजेल्स ने कहा है कि *गति द्रव्य के अस्तित्व का ही एक प्रकार है। हम किसी द्रव्य को गति के बिना उसी प्रकार नहीं सोच सकते जैसे गति को द्रव्य के बिना नहीं सोच सकते*[1]। विश्व के **'अणोरणीयान्'** (छोटे से छोटे) तथा **'महतो महीयान्** (बड़े से बड़े) पदार्थों में यही स्थिति देखने में आती है।

हमारे सौरमण्डल में सबसे विशाल सूर्य के चारों ओर पृथ्वी समेत सभी ग्रह निरन्तर गतिशील रहते हुए दीर्घवृत्ताकार कक्षा (elliptical orbit) में उसका चक्कर लगाते हैं। उपनिषदों की **'यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे'** इस सूक्ति को चरितार्थ करते हुए पदार्थ के सबसे सूक्ष्म परमाणु के नाभिक के भी चारों ओर एलेक्ट्रोन ठीक इसी प्रकार निरन्तर दीर्घवृत्ताकार कक्षा में चक्कर लगाते हैं। इस प्रकार गतिशीलता इनका स्वरूप है। बाहरी दुनियाँ के पदार्थों के लिये पूर्ण स्थिरता अथवा गति की अतिरिक्तता की कल्पना उसी प्रकार अलीक है, जैसे किसी रेखा में चौड़ाई से अतिरिक्त केवल लम्बाई की कल्पना है। विज्ञान में गति तथा स्थिरता को परस्पर विरोधी नहीं, अपितु इन्हें किसी पदार्थ में एक साथ रहने वाला ऐसा धर्म बताया जाता है, जिनमें से हम एक समय में एक पक्ष का ही निरूपण कर पाते हैं[२]।

दैनिक जीवन में हम दो दशाओं में पदार्थों की गति को छोड़ कर स्थिरता या नित्यता की कल्पना करते हैं। प्रथम–कोई गति निरन्तर समान परिणाम उत्पन्न कर रही हो। जैसे परमाणु के नाभिक के चारों ओर घूमते हुए एलेक्ट्रोन परमाणु के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं लाते। अतः हम इन्हें नित्य कहते हैं। अथवा दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत अलात चक्र की गति को हम स्थिर गोला मान लेते हैं। द्वितीय– किसी गति की अन्य से सापेक्षता न बन पा रही हो। जैसे, सभी प्रकार के धक्कों से रहित वातानुकूलित, चारों ओर से बन्द ट्रेन के डिब्बे में बैठ कर हम उसकी गति का अनुभव नहीं कर पाते। इस प्रकार हमारे दैनिक जीवन में गति का कोई भी अनुभव सापेक्षतामूलक ही है। ऐसी सापेक्षता न मिलने पर हम पदार्थ को स्थिर मान लेते हैं।

---

1. Motion is the mode of existence of matter. Matter without motion is just unthinkable as motion without matter. —Dialectical materialism, page 36.
२. यदि आप यह जानते हैं कि आप कहाँ हैं, तो आप यह नहीं बता सकते कि आप कितनी तेजी से गतिशील हैं, और यदि आप यह जानते हैं कि कितनी तेजी से आप गतिशील हैं तो आप यह नहीं बता सकते कि आप कहाँ हैं। –वैज्ञानिक परिदृष्टि, बर्ट्रेंड रसेल, पृ० ७३

सामान्य कार्य व्यवहार में हमारे द्वारा ऐसा कोई स्थिरतामूलक प्रयोग दोषावह नहीं है। क्योंकि इससे हमारे कार्य दोषपूर्ण नहीं बनते। पर केवल तांत्त्विक दृष्टि से किसी पदार्थ को गतिविहीन बताना दोषावह है। इस प्रकार गति को वस्तु का स्वरूप मानते हुए बौद्ध दार्शनिकों द्वारा अणु–परमाणु को क्षणभंगी बताना सही है। पर इसके साथ ही दैनिक जीवन में सामान्य रूप से औपचारिक दृष्टि से स्थिर बताना भी दोषपूर्ण नहीं है।

गति तथा स्थिरता के सम्बन्ध में इस प्रकार का दृष्टिकोण बहुत महत्त्वपूर्ण है। दर्शनशास्त्र में बौद्ध दार्शनिक पदार्थ को क्षणिक बताते हुए स्थिरता पर अनेक दोष उपस्थित करते हैं। इसके विपरीत वेदान्त में क्षणिकता पर ढेरों दोष देते हुए नित्यता की स्थापना की जाती है[१]। पर विज्ञान में तात्त्विकता तथा व्यावहारिकता को ध्यान में रखते हुए इनमें सामंजस्य स्थापित किया जाता है।

---

१. तत्रैवं सत्येकस्य दर्शनस्मरण–लक्षण–द्वयसम्बन्धे क्षणिकत्वाभ्युपगमहानिरपरिहार्या वैनाशिकस्य स्यात्। तथाऽनन्तरामनन्तरामात्मन एव प्रतिपत्तिं प्रत्यभिजानन् – – – कथं क्षणभंगवादी वैनाशिको नापत्रपेत— ब्र.सू. २.२.२५ पर शांकरभाष्य।

५. पृथिवी के चार शरीर!

पृथिवी के शरीर (दर्शन)

दर्शन–शास्त्र में पृथिवी, जल, तेज तथा वायु से निर्मित जीवधारी प्राणी अथवा शरीर का वर्णन प्राप्त होता है। उनमें से पार्थिव शरीर का अनेक उपविभाजनों के साथ विस्तार से वर्णन किया गया है। न्याय में सबसे पहले इसके योनिज तथा अयोनिज शरीर के रूप में दो विभाजन किये गए हैं। टीकाकारों के अनुसार योनिज का अर्थ शुक्र–शोणित के मेल से निर्मित शरीर है[1]। इसके अन्तर्गत मनुष्य आदि के 'जरायुज' तथा सर्प आदि के 'अण्डज' शरीर सम्मिलित हैं। अयोनिज शरीर में कृमि, दंश आदि के लिये 'स्वेदज' तथा तरु, गुल्म आदि के लिये 'उद्भिज्ज' नामक उपविभागों की गणना की गई है[2]।

पार्थिव शरीर के इन चारों विभागों का इन नामों के साथ वर्णन सबसे पहले ऐतरेयोपनिषद् में प्राप्त है[3]। साथ ही वहाँ स्थलचारी, नभचारी तथा स्थावर के रूप में अन्य प्रकार से भी प्राणियों का विभाजन किया गया है। वहाँ कहा है कि जल या थल पर चलने वाले– 'जंगम', आकाश में उड़ने वाले– 'पतत्रि' तथा वृक्ष आदि 'स्थावर' ये सभी प्राणी 'प्रज्ञानेत्र' अर्थात् निरुपाधिक चैतन्य में अवस्थित हैं[4]।

शरीर के पूर्वोक्त विभाजन का विस्तृत वर्णन मनुस्मृति में प्राप्त है। दर्शन में भी उसका ही अनुसरण किया गया है। अतः उसके आधार पर पृथिवी के चार शरीरों का क्रमशः निरूपण इस प्रकार है–

१. जरायुज– जरायु से उत्पन्न शरीर का नाम जरायुज है। गर्भाशय से लिपटी झिल्ली को जरायु कहा जाता है। यजुर्वेद में 'जरायु' तथा 'उल्ब' नामक ऐसी दो प्रकार की झिल्लियों का उल्लेख प्राप्त है[5]। जरायु से निर्मित प्राणी इस प्रकार हैं–

पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः।
रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः ।। मनुस्मृति १.४३

---

१. योनिजं–शुक्रशोणितयोः परस्पर–मेलनजन्यं, तद्भिन्नमयोनिजम्।
—कारिकावली श्लोक ३७ पर दिनकरी, पृ. ११७

२. कारिकावली श्लोक ३७ तथा उसकी मुक्तावली।

३. इतराणि चाण्डजानि च जरायुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चं।
— ऐतरेय उपनिषद् ३.१.३

४. यत्किंचेदं प्राणि जंगमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रम्। —वहीं ३.१.३

५. गर्भो जरायुणावृत उल्बं जहाति जन्मना। —यजुर्वेद १६.७६

अर्थात् ग्रामीण चौपाए– पशु, जंगली चौपाए– मृग, ऊपर नीचे दोनों तरफ बड़े दाँतों वाले– व्याल तथा राक्षस, पिशाच मनुष्य जैसे दोपाए प्राणी जरायुज के अन्तर्गत माने जाते हैं। इस निर्धारण में स्पष्टतः यजुर्वेद के पुरुष सूक्त एकतीसवें अध्याय के छठे तथा आठवें मन्त्र से प्रेरणा प्राप्त हुई है[1]।

२. अण्डज– अण्डे से उत्पन्न प्राणी अण्डज हैं। इसके अन्तर्गत आने वाले प्राणी इस प्रकार हैं–

अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः।
यानि चैवं प्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च।।– मनुस्मृति १.४४

अर्थात् पक्षी, साँप, घड़ियाल, मछली, कछुए जैसे अण्डे से उत्पन्न प्राणी, चाहे वे स्थलचारी हों या जलचारी, सभी अण्डज कहे जाते हैं। इस परिभाषा के अनुसार नभचारी पक्षी, जलचारी मछली, रेंगने वाले साँप आदि तथा पैरों वाले कछुए इत्यादि भी अण्डे से उत्पन्न होने के क़ारण इस वर्ग के अन्तर्गत सम्मिलित हैं।

न्याय वात्स्यायन–भाष्य में चींटी जैसे बहुपद लघु प्राणी को अण्डज माना है। वहाँ कहा है कि यदि बहुत सी चींटियाँ एक साथ अपने अण्डे लेकर अन्यत्र जाने लगें, तो उससे शीघ्र वर्षा होने का अनुमान होता है[2]।

३. स्वेदज– हल्की नमी तथा गर्मी में स्वेद के प्रभाव से उत्पन्न प्राणियों को 'स्वेदज' कहते हैं। इसका विवरण इस प्रकार है–

स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम्।
ऊष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत् किंचिदीदृशम्।। मनुस्मृति १.४५।

अर्थात् दंश, मच्छर, जूँ, मक्खी, खटमल तथा इसी प्रकार के नमी तथा गर्मी से उत्पन्न होने वाले अन्य प्राणी स्वेदज कहे जाते हैं।

यह उल्लेखनीय है कि प्रशस्तपाद भाष्य में इस 'स्वेदज' उपविभाजन को स्वीकार न करते हुए इन प्राणियों को अयोनिज माना है। उनका कहना है कि ये क्षुद्र–जन्तु शुक्र–शोणित सम्मिलन की अपेक्षा न करते हुए अधर्मविशिष्ट अणुओं से उत्पन्न होते हैं[3]। न्याय कन्दलीकार का कहना है कि ऐसा मानना आवश्यक है।

१. पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये। ——यजुर्वेद ३१.६
तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः। ——यजुर्वेद ३१.८

२. पिपीलिकाप्रायस्याण्डसंचारे 'भविष्यति वृष्टिः' इत्यनुमीयते।
——न्याय सूत्र २.१.३८ पर वात्स्यायन भाष्य।

३. क्षुद्रजन्तूनां यातनाशरीराण्यधर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायन्ते।
——प्रशस्तपाद भाष्य, पृथिवीप्रकरण, पृ. ८२

क्योंकि शलभ या टिड्डा आदि के शरीर शुक्रादि से निरपेक्ष होकर उत्पन्न होते हैं[1]।

बिच्छू जैसे प्राणी भी स्वेदज हैं– प्राचीन काल से यह मान्यता प्रचलित रही है कि गोबर से बिच्छू उत्पन्न होता है। व्याकरण के विद्वानों ने यह माना है कि नमी तथा गर्मी वाला गोबर बिच्छू की उत्पत्ति की प्रकृति या उपादान कारण होता है। 'उपादान कारण से कार्य पृथक् नहीं हो सकता' इस सिद्धान्त के होने से गोबर उपादान में सामान्य सूत्र से पञ्चमी असम्भव थी। अतः इसमें पञ्चमी का विधान करने के लिये अलग सूत्र का निर्माण किया गया है[2]।

दर्शन शास्त्र में भी अनेक समस्याओं के समाधान के लिये इस उदाहरण का उपयोग किया गया है। वेदान्त शास्त्र में कहा है कि गोबर से बिच्छू के समान चेतन ब्रह्म से विरोधी अचेतन पदार्थों की उत्पत्ति होती है। ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य में इससे सम्बन्धित विवाद को यहाँ प्रश्नोत्तर के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है[3]–

शिष्य– गुरु जी, चेतन–स्वरूप ब्रह्म से सर्वथा भिन्न अथवा विलक्षण जगत् किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है?

शंकराचार्य– यह आवश्यक नहीं कि विरोधी से विरोधी पदार्थ कभी उत्पन्न न होते हों। लोक में देखते हैं कि चेतन प्राणी से अचेतन् केश, नखादि अथवा अचेतन गोबर से चेतन बिच्छू उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार यहाँ ब्रह्म से जगत् उत्पन्न होता है।

शिष्य– गुरु जी, प्रस्तुत उदाहरण के गोबर और बिच्छू में इतनी समानता तो है कि ये दोनों मूलतः अचेतन हैं। दर्शन में चेतना वाले शरीर को अचेतन ही माना जाता है। पर चेतनास्वरूप ब्रह्म तथा जगत् तो परस्पर सर्वथा विरोधी हैं। अतः ऐसे ब्रह्म से जगत् किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है?

शंकराचार्य– गोबर और बिच्छू भी महान् विरोधी हैं। प्रथम चेतना का आधार नहीं, पर दूसरा चेतना का आयतन है। सभी समानता होने पर तो प्रकृति– विकार ही नहीं बनेगा।

शिष्य– गुरु जी, गोबर और बिच्छू में परस्पर अचेतनत्व की समानता है, पर

---

१. शुक्रादिनिरपेक्षस्यापि शलभादिशरीरस्य दर्शनात् —वहीं पर न्यायकन्दली पृ. ८४
२. 'गोमयाद् वृश्चिको जायते' इस उदाहरण में गोमय से पञ्चमी करने के लिये ध्रुवमपायेऽपादानम् (अ.सू. १.४.२४) इस सामान्य सूत्र से अपादान कारक न बन पाने की स्थिति में जनिकर्तुः प्रकृतिः (१.४.३०) यह अलग सूत्र बनाया गया है।
३. द्रष्टव्य– 'दृश्यते तु' इस ब्रह्मसूत्र २.१.६ पर विस्तृत शांकर भाष्य, पृ. ४४३

चेतनाधारत्व की दृष्टि से विरोध है। अतः कुछ समानता तथा कुछ विरोध होने पर यहाँ प्रकृति–विकार भाव बन सकता है। पर ब्रह्म तथा जगत् के परस्पर सर्वथा विरोधी होने से ब्रह्म से जगत् किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है?

शंकराचार्य– ब्रह्म और जगत् सर्वथा विरोधी नहीं, अपितु दोनों में अस्तित्व की समानता है। इसी समानता के आधार पर ब्रह्म से जगत् उत्पन्न होता है।

इस प्रकार यहाँ आचार्य ने ब्रह्म से जगत् को सिद्ध करने के लिये गोबर और बिच्छू के उदाहरण से परोक्षतः यह मान लिया है कि केवल अस्तित्व की समानता से, अथवा केवल 'है' इतने मात्र से दुनियाँ के किसी पदार्थ से कोई भी पदार्थ उत्पन्न हो सकता है। अपने अभिमत को सिद्ध करने के लिये यह कैसी विवशता है!!

४. उद्भिज्ज– जमीन को फोड़ कर उत्पन्न होने वाले वृक्ष, वनस्पति आदि को इसके अन्तर्गत रखा गया है। इसका विस्तृत विवरण अगले परिच्छेद में प्रस्तुत है।

पृथिवी के शरीर (विज्ञान)

अण्डज का उपभेद जरायुज– आधुनिक विज्ञान में माना है कि दर्शन में जिन प्राणियों की चर्चा की गई है, उस प्रकार के सभी प्राणी सामान्य दृष्टि से 'अण्डज' नामक उपभेद में समाहित हो जाते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों आदि में अण्डज प्राणियों के अतिविस्तार का आभास रहा है[1]। उनके आधार पर प्रशस्तपाद भाष्य में भी कहा है कि सृष्टि के आदि में महान् अण्ड की तथा उसमें सम्पूर्ण लोकों सहित ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई है[2]। फिर भी 'जरायुज' में कुछ महत्त्वपूर्ण विलक्षणता होने के कारण इसे दर्शन में अलग से स्थान प्रदान किया है।

आधुनिक भ्रूणविज्ञान में विस्तार से बताया जाता है कि 'जरायुज' कहे जाने वाले प्राणी भी मूलतः रज–अण्ड (ovum) से निर्मित होते हैं। मादा में इन अण्डों को उत्पन्न करने के लिये अण्डाशय (ovary) वर्तमान होता है। किसी भी 'अण्डज' कहे जाने वाले प्राणियों के समान जरायुज प्राणियों के भी गर्भाधान के समय शुक्राणु द्वारा शरीर के अन्दर रज अण्ड का निषेचन होता है। दर्शन या वैद्यक शास्त्र में शुक्र–शोणित के मेल या रजो–वीर्य संयोग की बात कही गई है। आधुनिक वैज्ञानिक इनमें से शुक्र या वीर्य को शुक्र कीटाणु (spermatozoon) तथा

---

१. विस्तार के लिये द्रष्टव्य– प्रस्तुत ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड का प्रथम परिच्छेद, पृ. १,२

२. ....तैजसेऽणुभ्यः पार्थिवपरमाणुसहितेभ्यो महदण्डमारभ्यते। तस्मिन्...............ब्रह्माणं सकलभुवनसहितमुत्पाद्य प्रजासर्गे विनियुङ्क्ते।

———प्रशस्तपादभाष्य, सृष्टि उत्पत्ति प्रकरण, पृ. १२६

शोणित या रज को रज अण्डाणु (ovum) कहते हैं। यह रज अण्ड शुक्र की तुलना में बड़ा होता है। फिर भी सामान्य दृष्टि से काफी छोटा १/१० मिलीमीटर अथवा (.) इस बिन्दु के बराबर होता है। यह चारों ओर पाण्डुक्षेत्र (Zona pellucida) से लिपटा होता है। रजःस्राव के समय यह बहुत अधिक रक्त के साथ बाहर निकलता है। अतः इसे लाल रंग का मानते हुए 'शोणित' या 'रजस्' नाम दिया जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि शोणित के साथ मेल वस्तुतः रज–अण्ड से संयोग है तथा यह प्रक्रिया अण्डज प्राणियों के समतुल्य है।

अण्डज से जरायुज में इस मौलिक समानता के होने पर भी कुछ सुनिश्चित भिन्नताएँ भी हैं। अण्डज प्राणियों में गर्भ–परिपाक शरीर से बाहर होता है। इस परिपाक के लिये पोषक आहार की अत्यावश्यकता होती है। अतः अण्डज प्राणी पर्याप्त पोषक आहार के साथ बड़े अण्डे देते हैं। शतुर्मुर्ग का अण्डा तो कई किलो तक का होता है। जरायुज प्राणियों में गर्भ का परिपाक शरीर के अन्दर गर्भाशय में होता है। इसलिये इन प्राणियों के अण्डों के बड़े होने की आवश्यकता नहीं होती। निषेचित रज–अण्ड गर्भाशय में चला जाता है तथा वहाँ गर्भ–नाल के द्वारा उसे पोषक आहार प्राप्त होने लगता है[1]।

गर्भाशय में आकर यह रज–अण्ड समान भागों में विभक्त होते हुए गुणात्मक संख्या में वृद्धि करने लगता है। इससे शहतूत के आकार की रचना बनती है। इसे वैद्यक में कलल (morula) कहते हैं। इसमें सबसे समीपवर्ती, नरम, लगभग तरल पदार्थ से निर्मित झिल्ली को उल्व कहा गया है तथा सबसे बाहरी मजबूत झिल्ली को जरायु (chorion) नाम दिया गया है। इसके आधार पर ही प्राणियों का 'जरायुज' नामक अलग उपविभाजन सम्भव हुआ है।

मनुस्मृति में 'अण्डज' के अन्तर्गत जिन प्राणियों की चर्चा की गई है, वे सभी शरीर से बाहर अण्डे देते हैं। इनमें चिड़िया जैसे नभचारी, मछली जैसे जलचारी, घड़ियाल जैसे जलचारी सरीसृप तथा साँप जैसे स्थलचारी सरीसृप भी सम्मिलित हैं। आधुनिक जन्तु विज्ञान में माना है कि घड़ियाल भी मूलतः स्थलचारी है। क्योंकि इसे प्रजनन के लिये बालू पर आना पड़ता है।

अण्डज का उपभेद स्वेदज– स्वेदज के अन्तर्गत जिन प्राणियों की चर्चा की गई है, वे भी मूलतः अण्डे से उत्पन्न होते हैं। फिर भी इन्हें 'स्वेद' या गन्दगी में

---

१. दोनों प्रकार के प्राणियों में इस विलक्षणता के कारण आधुनिक प्राणि विज्ञान में भी इनके oviparous तथा viviparous ये दो उपविभाजन किये हैं, जो क्रमशः दर्शन के 'अण्डज' तथा 'जरायुज' के समकक्ष हैं।

अण्डे देने के कारण अलग से उपविभाजित किया जा सकता है।

मादा जूँ परिपक्व होने पर अण्डे देना शुरू करती है। इन अण्डों से युवा जूँ बनने में लगभग ३ सप्ताह लगते हैं। अण्डों से निकलने के बाद ये खून चूसना शुरू कर देते हैं। खटमल के अण्डे से शिशु खटमल ६–१० दिन में बाहर निकलता है। पर इसे वयस्क होने में ८–१० सप्ताह लग जाते हैं।

मच्छर की कुछ प्रजातियाँ गन्दे स्थिर पानी में २०० से ४०० के बीच अण्डे देती हैं। अण्डों का ऊपरी सिरा कुछ नुकीला तथा निचला कुछ गोलाकार होता है। ये अण्डे ३ दिन के भीतर स्फुटित हो जाते हैं। इनसे डिम्भक या लार्वा (larva) बनता है। इनका जीवन–काल २ से ४ सप्ताह होता है। पुनः ये प्यूपा (pupa) में बदल जाते हैं। इनमें पूर्ण वयस्क अंग बनने के पश्चात् यह मच्छर बन जाता है।

मक्खी गन्दे स्थानों में ५–६ बार में ५००–६०० अण्डे देती है। ये अण्डे अण्डाकार, उजले तथा लगभग १ मिलीमीटर लम्बे होते हैं। ये गर्म तथा अँधेरी जगह में १ दिन के भीतर ही स्फुटित हो जाते हैं। इनसे डिम्भक उत्पन्न होता है। इसके ३ स्तर होते हैं। तीसरे स्तर पर आने के बाद यह प्यूपा में बदल जाता है। इसका विकास होने के पश्चात् यह इसमें से पूर्णकीट के रूप में बाहर निकलता है। पश्चात् १० से १४ दिन के भीतर वयस्क मक्खी तैयार होती है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि ये सभी प्राणी अण्डज की सम्पूर्ण परिभाषा को धारण करते हैं। ये सभी प्राणी योनिज हैं। शलभ या टिड्डा (grasshopper) भी इसका अपवाद नहीं है। मादा टिड्डी का भी अस्तित्व है। इनमें मैथुन क्रिया के पश्चात् अन्य प्राणियों के समान यह अण्डे देती है। इससे यह प्राणी भी अण्डज सिद्ध होता है।

बिच्छू भी स्वेदज नहीं है– बिच्छू गोबर से उत्पन्न नहीं होता, अपितु गोबर में उत्पन्न हो सकता है। इसका अर्थ यह कि गोबर बिच्छू का प्रकृति या उपादान कारण नहीं हो सकता। दर्शन शास्त्र में जिन प्राणियों की चर्चा की गई है, उनमें से कोई भी अचेतन से उत्पन्न नहीं होता। अपितु सर्वत्र जीवधारी से ही जीवधारी की उत्पत्ति होती है– चाहे वह शरीर के अन्दर गर्भाशय में गर्भपरिपाक द्वारा हो, या शरीर से बाहर अण्डे द्वारा हो।

मादा बिच्छू एक बार में २ या ३ दर्जन बिच्छू शिशुओं को जन्म देती है, जो शीघ्र ही वयस्क हो जाते हैं। ये अण्डे नहीं, अपितु अपने समान बच्चों को जन्म देती

है। अत एव इसे 'विविपेरस' (viviparous) श्रेणी के अन्तर्गत रखा जाता है[1]।

उद्भिज्ज का निरूपण अगले परिच्छेद में प्रस्तुत है।

---

1. The scorpians are viviparous. The mother scorpian gives birth to nearly two or three dozen of young ones at a time.
(Viviparous = an animal whose female gives birth to young)
----Modern text book of Zoology, R.L.Kotpal, page 461.

६. पृथिवी का एक शरीर–वनस्पति

पिछले परिच्छेद में कहा गया है कि पृथिवी का एक शरीर 'उद्‌भिज्ज' है। इसका अर्थ जमीन फोड़ कर उत्पन्न होने वाले वृक्ष वनस्पति आदि प्राणी हैं। इन्हें अपने पैरों से पानी पीने वाला मानते हुए 'पादप' नाम भी दिया गया है। सबसे पहले ऐतरेय उपनिषद् में इन्हें प्राणियों के इस उपविभाजन में सम्मिलित किया गया है।

वृक्ष सजीव हैं या नहीं (दर्शन)

फिर भी दर्शन–शास्त्र में यह विवाद का विषय रहा है कि इन वृक्षों को जीवधारी प्राणी माना जाय या नहीं। क्योंकि दर्शन में जीवधारी के जो लक्षण बताए हैं, उनमें से कुछ वृक्षों में परिघटित होते हैं, कुछ नहीं। वैशेषिक में इसका लक्षण इस प्रकार है–

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियविकाराः सुखदुखेच्छाद्वेषप्रयंत्ना–श्चात्मनो लिंगानि। —वैशेषिक सूत्र ३.२.४

अर्थात् प्राण, अपान, निमेष–उन्मेष (आँखों का बन्द करना, खोलना) जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तरविकार (आँखों से देखने से मुँह में पानी आना) सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न– ये आत्मा के लिंग माने गए हैं।

वैशेषिक के सबसे प्रमुख व्याख्याकार प्रशस्तपाद का मानना है कि इनमें से लगभग कोई भी लक्षण वृक्षों में नहीं पाया जाता। अत एव उन्होंने पृथिवी के योनिज या अयोनिज शरीर के अन्तर्गत वृक्षों की गणना नहीं की है। अपितु 'विषय' अर्थात् जड़ पदार्थों में इन्हें सम्मिलित किया है।

फिर भी सजीव प्राणी के कुछ लक्षणों के वृक्षों में परिघटित होने के सम्बन्ध में दर्शनशास्त्र में सन्देह बना रहा है। जैसे इसके लक्षणों में प्राण, अपान तथा जीवन को सम्मिलित किया गया है। वैशेषिक के टीकाकार 'उपस्कार' का कहना है कि यहाँ 'जीवन' से तात्पर्य जीवन चलाने के लिये किये गए कार्यों से है। जैसे किसी घर का मालिक अपने घर की रक्षा के लिये टूटे हिस्से का पुनर्निर्माण करता है, अथवा छोटे हिस्से को बड़ा बनवाता है। इन कार्यों से उसमें गृहस्वामी होने की सूचना प्राप्त होती है। इसी प्रकार शरीर में भी जीवन के लिये उसके टूट, फूट की मरम्मत होती रहती है तथा छोटे अंग बड़े होते रहते हैं। इससे प्रकट है कि उसमें शरीर का स्वामी चेतन जीव वर्तमान है। इससे शरीर का जीवधारी होना सिद्ध

होता है[1]।

प्रशस्तपाद ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि घर की मरम्मत तथा विकास को देख कर उसकी मरम्मत करने वाले घर के मालिक के समान शरीर के घाव आदि की पूर्ति तथा उसके विकास से उस शरीर में रहने वाले जीव की सूचना प्राप्त होती है। इस प्रकार ऐसे शरीर का जीवधारी होना प्रकट होता है[2]।

कन्दलीकार का कहना है कि इस लक्षण से भी वृक्षों में सजीवता सिद्ध नहीं हो सकती। यह सच है कि वृक्षों में टूट फूट की मरम्मत होती है, छोटे वृक्ष बड़े भी होते हैं। पर उनमें यह सब क्रिया तो ईश्वर के द्वारा सम्पन्न होती है। ये क्रियाएं जीवधारी होने का अनुमापक तभी बन सकती हैं, जब वे बुद्धि, इच्छा इत्यादि के साथ उत्पन्न हों। वृक्षों में इस प्रकार इच्छा, द्वेष आदि न होने से इन्हें जीवधारी नहीं माना जा सकता[3]।

सामान्यतः न्यायशास्त्र में प्रशस्तपाद तथा कन्दली के सिद्धान्तों को अकाट्य माना जाता रहा है। पर यह सुखद है कि वृक्षों के ज़ीवधारित्व के प्रसंग में परवर्ती न्याय ग्रन्थों ने इन्हें मान्यता न देते हुए प्राचीन उपनिषदों के सिद्धान्त का समर्थन किया है। उन्होंने अनेक तर्कों से वृक्षों में सजीवता की स्थापना की है। सिद्धान्त मुक्तावली में कहा है कि वृक्षों में अध्यात्म वायु अर्थात् प्राणों के साथ सम्बन्ध होने से इनका ज़ीवधारी पार्थिव शरीर होना सिद्ध होता है। पर इसमें ही क्या प्रमाण है कि वृक्ष प्राण ग्रहण करते हैं? इसका उत्तर है कि इनके द्वारा टूट फूट की मरम्मत से इनके प्राण ग्रहण का अनुमान होता है। क्योंकि जहाँ २ ऐसा 'भग्नक्षतसंरोहण' होता है वहाँ २ अवश्य ही प्राणित्व पाया जाता है। इससे वृक्षों का भी प्राणी होना सिद्ध[4] है। इस प्रकार वैशेषिक में उल्लिखित लक्षणों में से 'जीवन' के द्वारा प्राण का अनुमान होता है तथा प्राण से इनकी सजीवता की सिद्धि होती है।

---

१. यथा गृहपतिर्भग्नस्य गृहस्य निर्माणं करोति, लघीयो वा गृहं वर्धयति। ....तथा च गृहपतिरिव देहस्याप्यधिष्ठाता सिद्ध्यति। — वै.सू. ३.२.४ पर उपस्कार

२. देहस्य वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणादिनिमित्तत्वाद् गृहपतिरिव। —प्रशस्तपाद भाष्य, आत्मनिरूपण, पृ. २००

३. वृक्षादिगतेन बुद्ध्यादिना व्यभिचार इति चेन्न, तस्यापीश्वर–कृतत्वात्। न तु वृक्षादयः सात्मकाः, बुद्ध्युत्पादनसमर्थस्य विशिष्टात्मसम्बन्धस्याभावात्। –वहीं पर न्यायकन्दली, पृ. २०२

४. न च वृक्षादेः शरीरत्वे किं मानमिति वाच्यम्, अध्यात्म–वायुसम्बन्धस्य प्रमाणत्वात्। तत्रैव किं मानमिति चेत्, भग्नक्षत–संरोहणादिना तदुन्नयनात्। —कारिकावली श्लोक ३८ पर मुक्तावली।

वृक्ष सजीव हैं (विज्ञान)

आधुनिक वनस्पति–विज्ञान में यह तथ्य सर्वथा सन्देहरहित है कि वृक्ष वनस्पति अन्य प्राणियों के समान जीवधारी होते हैं। इसमें बढ़िया प्रमाण वही 'प्राण' है, जिसका दर्शन शास्त्र में उल्लेख किया गया है।

वृक्ष या वनस्पति प्राणन के अन्तर्गत श्वसन भी करते हैं, निःश्वसन भी करते हैं। वे खाते पीते भी हैं, पचाते भी हैं। वे प्रजनन भी करते हैं। यह भी सिद्ध किया गया है कि वे भय, सुख, दुख, इच्छा आदि भावों को भी प्रकट करते हैं। इस प्रकार वे प्राणी होने की पक्की पहचान उपस्थित करते हैं। साथ ही वे ऐसी विलक्षणताएँ भी रखते हैं, जिन्हें हम नहीं रख सकते। वे उस वस्तु का श्वसन करते हैं, जिसका हम नहीं करते। वे उसे खाते हैं, जिसे खाने का हममें सामर्थ्य नहीं। वे उसका उत्पादन करते हैं, जिनका करना हमारे बस की बात नहीं।

सामान्यतः श्वसन एक ऐसी प्रक्रिया का नाम है, जिसमें ऑक्सीजन विविध भोज्य पदार्थों के, विशेषतः शर्कराओं के अणुओं के साथ संयोग करके उनका रासायनिक अपघटन करते हुए उनमें छिपी संचित ऊर्जा को मुक्त करने में सहायक बनती है। इस ऊर्जा को प्राप्त करके कोई भी पदार्थ गतिशील हो उठता है। हम इसी उपाय से अपने शरीर को ऊर्जस्वी या गतिशील बनाए रखते हैं। इस प्रक्रिया में पदार्थों की रासायनिक ऊर्जा या स्थितिज ऊर्जा गतिज ऊर्जा में बदलती रहती है।

इस श्वसन की एक विलोम प्रक्रिया भी है, जिसे प्रकाश–संश्लेषण (photosynthesis) के नाम से जाना जाता है। इसमें वृक्षों के पर्ण–हरित (chlorophyll) सूर्य–प्रकाश के प्रभाव से ऑक्सीकरण तथा अपचयन (Oxidation and reduction) करते हैं। इसमें ऑक्सीकरण के द्वारा जल अणुओं के साथ ऑक्सीजन का संयोग होता है तथा जल अणु से हाइड्रोजन परमाणु का विच्छेदन होता है। साथ ही अपचयन के द्वारा विच्छेदित हाइड्रोजन का कार्बन डाइ ऑक्साइड गैस के कार्बन परमाणुओं के साथ संयोग तथा इसमें से ऑक्सीजन का विमोचन होता है[1]। इस प्रक्रिया में कार्बन के परमाणुओं की संख्या के कम या अधिक होने से अनेक प्रकार के यौगिकों का निर्माण होता है। इसमें ऑक्सीजन तथा हाइड्रोजन परमाणुओं का वही अनुपात होता है, जो जल के यौगिक में होता है। जैसे इन शर्करा यौगिकों के परमाणुओं का संयोजन इस प्रकार है–

---

१. विस्तार के लिये द्रष्टव्य – वनस्पति विज्ञान, पृ. ४४२ इत्यादि।

	कार्बन	हाइड्रोजन	ऑक्सीजन
अंगूरं की शर्करा	६	१२	६
ईख की शर्करा	१२	२२	११

इन यौगिकों में सूर्य की ऊर्जा संचित होती है। इस प्रकार इस प्रक्रिया में सूर्य की गतिज ऊर्जा को स्थितिज ऊर्जा या रासायनिक ऊर्जा में बदला जाता है।

हम जंगम प्राणी केवल प्रथम प्रकार की 'श्वसन' नामक प्रक्रिया को संचालित रख पाते हैं। इस प्रकार निरन्तर ऊर्जा का उपयोग करते हुए गतिशील बने रहते हैं। पर एक जगह स्थिर रहने से 'स्थावर' कहे जाने वाले वृक्ष दोनों प्रक्रियाओं को संचालित रखने में माहिर हैं। ये दिन में प्रकाश–संश्लेषण के द्वारा कार्बन आदि के यौगिक बनाते हैं तथा ऑक्सीजन मुक्त करते हैं। साथ ही श्वसन द्वारा ऑक्सीजन ग्रहण करके आवश्यक ऊर्जा प्राप्त करते हैं। पर प्रकाश–संश्लेषण द्वारा मुक्त ऑक्सीजन की मात्रा श्वसन द्वारा उपभुक्त ऑक्सीजन से अधिक होती है। अतः ये ऑक्सीजन का अधिकांश भाग वातावरण में मुक्त करते रहते हैं। इससे स्पष्ट है कि वृक्ष प्रकाश–संश्लेषण के साथ २ प्राणन या श्वसन भी करते हैं। अथवा वैज्ञानिक भाषा में– ये बाहरी वातावरण के बीच निरन्तर गैसों का विनिमय करते रहते हैं।

इन प्रक्रियाओं को सम्पादित करते हुए ये विविध पदार्थों का भोजन करते हैं। इस प्रकार अपने अंगों की वृद्धि करते हैं तथा टूट फूट की मरम्मत भी करते हैं। ये धरती से जल तथा उसमें घुले हुए अनेक खनिज पदार्थों को तथा वातावरण से प्रमुखतः कार्बन डाइ ऑक्साइड गैस को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार ये उन पदार्थों का भक्षण करते हैं, जो हमारे किसी काम का नहीं। यह सच है कि हम कार्बोहाइड्रेट इत्यादि यौगिक पदार्थों के अन्तर्गत कार्बन, हाइड्रोजन आदि का उपभोग करते हैं। पर इन्हें अलग २ इन तत्त्वों के रूप में या इनके किसी मिश्रण के रूप में अथवा कार्बन डाइऑक्साइड जैसी गैस के रूप में खा कर हम इन्हें अपने शरीर का अंग नहीं बना सकते। लालटेन के शीशे में जमी कालिख कार्बन है। इसका पानी के साथ मिश्रण हमारे लिये बेकार की चीज है। पर वृक्षों द्वारा इन्हीं उपादान तत्त्वों से निर्मित यौगिक रूप– चासनी या शीरा हमारे लिये बढ़िया भोजन है। इससे स्पष्ट है कि जो वे खाते हैं, उसे हम खा नहीं सकते। साथ ही यह भी कि जो वे बनाते हैं, उसे हम बना भी नहीं सकते।

हम जानते हैं कि कार्बन डाइ ऑक्साइड या जल का अपघटन करते हुए उसके एक तत्त्व को प्राप्त करना अथवा किसी तत्त्व को अन्य से संयोजित करके नया यौगिक बनाना आसान काम नहीं है। उदाहरणतः, हम किसी भी भौतिक

उपाय से, जैसे– जमा कर, उबाल कर या छान कर पानी को हाइड्रोजन, ऑक्सीजन तत्त्वों में अलग २ नहीं कर सकते। इसके लिये विज्ञान में वैद्युत अपघटन (electrolysis) की विशेष प्रक्रिया अपनानी पड़ती है। पर यह गजब का चमत्कार है वृक्षों का! ये अपने छोटे से कारखाने में विविध पदार्थों के अपघटन से कार्बन, हाइड्रोजन आदि तत्त्वों को प्राप्त करके उन्हें अनेक यौगिकों में बदलते हुए समूची दुनियाँ के लिये भोजन का प्रबन्ध करते हैं!!

वृक्षों के जीवधारी होने का एक और बढ़िया प्रमाण इनके द्वारा 'प्रजनन' है। विश्व में लाखों प्रकार के प्राणियों में कोई भी ऐसा नहीं, जो अपने समान सन्तति न उत्पन्न करता हो। दर्शन में इसे 'जाति' यह पारिभाषिक नाम दिया है तथा माना है कि समान आकृति से किसी जाति की पहचान की जा सकती है[1]। विज्ञान में भी अपने समान आकार का प्रजनन करने वाले प्राणी को एक जाति या एक स्पेसीज (species) के अन्तर्गत रखा जाता है। इस प्रकार प्रजनन जीवधारी होने की बढ़िया पहचान है। पिछले परिच्छेद में कहा गया है कि सभी प्राणी अपने विस्तृत अर्थों में 'अण्डज' हैं। क्योंकि अण्ड में निषेचन से प्रजनन की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। वृक्ष भी इसी प्रक्रिया से समान आकार का प्रजनन करते हैं। अतः वे भी जीवधारी सिद्ध होते हैं।

सामान्यतः वृक्षों के पुष्पों के ऊपरी भाग में पुंकेसर (stamen) अवस्थित होता है। यहाँ पराग–कणों (pollengrains) का निर्माण होता है। इसके कुछ नीचे स्त्रीकेसर (pistil) में अण्डाशय (ovary) वर्तमान होता है। यहाँ पर बीजाण्ड (ovule) का निर्माण होता है, जो कि किसी मादा प्राणी के रज अण्ड (ovum) के समतुल्य है। यहाँ पर गर्भाधान या निषेचन क्रिया होती है। इस प्रक्रिया में पराग–कण अपने पुंकेसर से चल कर अण्डाशय में पहुँच कर वहां के किसी बीजाण्ड से सायुज्य प्राप्त करता है। इससे निषिक्ताण्ड शीघ्र ही परिवर्धन करके भ्रूण बन जाता है तथा यह बीज का रूप धारण कर लेता है। अब फूल का काम पूरा हो चुका होता है। अतः फूल, उसके पुंकेसर, पराग नलिका (pollen tube) आदि सभी मुरझा कर गिर जाते हैं तथा यह बीज बड़ा होने लगता है।

प्रजनन की यह प्रक्रिया उभयलिंगी वृक्षों में अपनाई जाती है। ऐसे वृक्ष वे हैं, जिनके पुष्पों में पुंकेसर तथा स्त्रीकेसर दोनों वर्तमान होते हैं। पर अधिकांश वृक्ष एकलिंगी होते हैं। अतः उनमें पराग तथा बीजाण्ड का निर्माण अलग २ क्रमशः नर

---

१. समानप्रसवात्मिका जातिः। ——न्याय सूत्र २.२.७०
आकृतिग्रहणा जातिः। ——अष्टाध्यायी सूत्र ४.१.६३ पर महाभाष्य।

तथा मादा वृक्ष में होता है। ऐसे वृक्षों में खजूर, पपीता इत्यादि का नाम लिया जा सकता है। इनमें निषेचन के लिये यह आवश्यक है कि नर पपीता से पराग–कण को ला कर मादा पपीता तक पहुँचाया जाय। पर वृक्ष तो स्थावर ठहरे! वे स्वयं यह कार्य किस प्रकार कर सकते हैं। वनस्पति–विज्ञान के विद्वान् बताते हैं कि इसके लिये ये वृक्ष अनेकानेक उपाय करते हैं। फूलों का सम्पूर्ण सौन्दर्य, उनकी समस्त सुगन्ध उन भौंरों, तितलियों को आकर्षित करने के लिये है, जो उनके इस प्रजनन–यज्ञ को पूरा कर सकें। ये पक्षि–कीट अनजाने ही इस यज्ञ को सम्पादित करते हैं। इसलिये इन्हें वृक्षों के विवाह का पुरोहित कहा जाता है!! कुछ लोगों को अचरज हो सकता है कि रात में फूलने वाले फूल सफेद ही होते हैं, रंगीन नहीं। पर वे तीव्र सुगन्ध वाले होते हैं। इसका कारण यह है कि रात में इन कीटों को रंग नहीं दिखता । अतः ये फूल तीव्र सुगन्ध छोड़ कर इन्हें अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इस प्रकार ये पक्षि–कीट दिन में रंग तथा रात में सुगन्ध से आकर्षित होकर पराग वाले फूल में बैठ कर उसका मकरन्द चूसते हैं या विवाह–भोज ग्रहण करते हैं! इससे इनके पैरों में अनजाने ही पराग–कण चिपक जाते हैं। उसके पश्चात् ये मादा वृक्ष में जाकर उसके केसर में ये पराग–कण बिखेर देते हैं। इस प्रकार पर–परागण (cross-pollination) की क्रिया सम्पन्न होती है। इसके तुरत पश्चात् इनके अण्डाशय में भ्रूण तथा बीज बनने लगते हैं। इसके पश्चात् इनके पोषण के लिये शक्तिशाली आहार के रूप में इनके चारों ओर गूदा बनना प्रारम्भ हो जाता है। यही कुछ समय बाद फल का रूप ले लेता है।

इस संक्षिप्त विवेचना से सभी वृक्ष अन्य जीवधारियों के समान अण्डज प्राणी सिद्ध होते हैं।

स्थावर के प्रकार (दर्शन)

दर्शन–शास्त्र में स्थावर का बहुत अच्छे आधार में विभाजन किया गया है। मनुस्मृति में कहा है कि जमीन फोड़ कर उत्पन्न होने वाले सभी उद्भिज्ज गतिशील न होने से स्थावर कहे जाते हैं। इनका दो प्रकार से विभाजन हो सकता है–

१. प्रथम प्रकार के अन्तर्गत स्थावर के 'बीज–प्ररोही' तथा 'काण्ड–प्ररोही' ये दो उपभेद होते हैं[१]। जो धरती में बीज डालने पर अंकुर उत्पत्ति के पश्चात् वृक्ष बनते हैं, वे आम इत्यादि 'बीजप्ररोही' होते हैं। जिनकी शाखा ही वृक्ष का रूप धारण कर लेती है, वे गुलाब इत्यादि 'काण्डप्ररोही' कहे जाते हैं। इनके गुच्छ

---

१. उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः। —मनुस्मृति १.४.४६

गुल्म, तृण, प्रतान, वल्ली ये उपभेद हैं। जिनके मजबूत शाखा या काण्ड न हों, वे मल्लिका या चमेली आदि 'गुच्छ' हैं। इन फूलों के समूह के लिये भी गुच्छ का प्रयोग होता है। जिनकी एक जड़ से अनेक वृक्ष फूट कर निकलें वे शर, बाँस इत्यादि 'गुल्म' हैं। साधारणतः झुरमुट या झाड़ी के लिये इसका प्रयोग देखा जाता है। छोटी घास आदि को 'उलप' कहते हैं। दूर तक फैलने वाले, नीचे ही धरती में फैलने वाले, रेशों से युक्त लौकी इत्यादि स्थावर 'प्रतान' कहे जाते हैं। वृक्षों से लिपट कर बढ़ने वाली गुरिच आदि को 'वल्ली' कहा जाता है।

२. द्वितीय प्रकार के अन्तर्गत स्थावर के वनस्पति तथा वृक्ष के रूप में विभाजन किया जाता है। इनमें वनस्पति वे हैं, जिनके फूल नहीं लगते, सीधे फल आते हैं[1]। इनमें उदुम्बर या गूलर जैसे वृक्ष सम्मिलित हैं। महावैयाकरण पाणिनि के एक सूत्र में व्याख्याकारों ने ऐसा ही माना है। यहाँ यह भी माना है कि कुछ वेतस या बेंत जैसे वृक्षों में केवल फूल लगते हैं, फल नहीं आते[2]। पर वृक्षों में फूल तथा फल दोनों आते हैं[3]। इममें से उन वृक्षों को अलग से 'ओषधि' नाम दिया गया है, जो फल उत्पन्न होने के बाद सूख जाते हैं। इसमें धान, जौ इत्यादि सम्मिलित हैं[4]। पर जिन पेड़ों में फल आने के बाद शाखाएँ काट देने पर वे और बढ़ते हैं, उन्हें 'वीरुध्' नाम दिया गया है, जैसे नीबू इत्यादि।

स्थावर के प्रकार (विज्ञान)

आधुनिक वनस्पति विज्ञान के अनुसार ऐसा कोई स्थावर नहीं, जिसमें प्रजनन के लिये किसी न किसी रूप में पुष्प न आते हों। इन अनेक प्रकार के पुष्पों से अनेक उपायों से फल उत्पन्न होते हैं। अतः पुष्प–फलों के आधार पर इनका एक प्रमुख विभाजन इस प्रकार है–

१. एकल फल (simple fruits) वाले वृक्ष– इसके अन्तर्गत वे वृक्ष हैं, जिनके पुष्प के अण्डाशय (ovary) से केवल एक ही फल उत्पन्न होता है। इनके उपविभाजन में अस्फुटनशील शुष्क फलों के अन्तर्गत गेहूं, धान, जौ आदि धान्यबीज तथा काजू, सिंघाड़ा जैसे कड़े छिलके वाले काष्ठ–फल (nut) सम्मिलित हैं। स्फुटनशील शुष्क फलों में मटर, सेम, अरहर आदि फली या बीजकोश (pod) आते हैं। द्वितीय उपविभाजन में रसदार फलों के अन्तर्गत आम, बेर, नारियल जैसे

१. अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः। –मनुस्मृति १.४७
२. फलमेव यस्य न पुष्पं स वनस्पतिः–उदुम्बरादिः। पुष्पोपगा वेतसादयः, फलोपगा उदुम्बरादयः, उभयोपगा आम्रादयश्च वृक्षाः–विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः (अ.सू. ८.४.६.) पर पदमञ्जरी।
३. पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः। ——मनुस्मृति १.४७
४. ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः। —वहीं १.४६

अष्ठि–फल (drupe) केला,पपीता, अमरूद, जैसे सरस फल (berry) तथा नीबू, सन्तरा जैसे नारंगक फल (hesperidium) सम्मिलित हैं।

२. पुंज फल (aggregate fruits) वाले वृक्ष– इसके अन्तर्गत वे वृक्ष हैं, जिनके पुष्प में अनेक अण्डाशय एक दूसरे से पृथक् रहते हैं। पर वे सभी मिल कर एक फल बनाते हैं। इनमें कमल, गुलाब, चम्पा, मदार जैसें वृक्ष सम्मिलित हैं।

३. संग्रथित फल (composite fruits) वाले वृक्ष– जिनके अनेक पुष्प एक साथ मिल कर एक फल का निर्माण करते हैं, वे इस उपभेद के अन्तर्गत आते हैं। इसके अन्तर्गत शहतूत, कटहल, अनानास जैसे सरसाक्ष (sorosis) वृक्ष तथा अंजीर, गूलर, पीपल,बरगद जैसे उदुम्बरक (syconus) वृक्ष सम्मिलित हैं। इनमें वृन्तविहीन अनेक नर–पुष्प तथा मादा–पुष्प बनते हैं इनके परिपक्व होने पर इन अनेक पुष्पों से एक फल बनता है।।

---

७. घ्राणेन्द्रिय से गन्ध–प्रत्यक्ष

स्वरूप तथा प्रकार (दर्शन)–. गन्ध गुण को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय को 'घ्राण' कहा जाता है। इसका नासिका के अग्रभाग में निवास माना गया है[1]। किसी पार्थिव द्रव्य से इस इन्द्रिय का संयोग होने पर द्रव्य के गन्ध का प्रत्यक्ष होता है। कभी २ पुष्प आदि द्रव्य इस इन्द्रिय से काफी दूर अवस्थित होते हैं। उस दशा में पुष्पों के सुगन्धित पराग–कण उड़ कर इस इन्द्रिय से संयोग करते हैं। संस्कृत की एक बढ़िया सूक्ति में कहा है कि हवा चलने पर कदम्ब पुष्प की सुगन्धि फैलने से कौन रोक सकता है–

वाते वाति कदम्ब–पुष्पसुरभौ केन प्रतारिष्यते।

इस प्रकार गन्ध–प्रत्यक्ष के लिये घ्राणेन्द्रिय के साथ किसी न किसी प्रकार से संयोग होना अत्यावश्यक है। न्याय के व्यापक सिद्धान्त के अनुसार सभी इन्द्रियाँ द्रव्य से संयुक्त होकर ही अपने २ गुणों का प्रत्यक्ष करती हैं।

अन्य इन्द्रियों के समान घ्राणेन्द्रिय भी महत्परिमाण वाले द्रव्य की गन्ध का ही प्रत्यक्ष कर सकती है[2]। अतः इसके द्वारा परमाणु की गन्ध का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। साथ ही यह केवल गन्ध गुण का प्रत्यक्ष कर सकती है, गन्ध वाले द्रव्य का नहीं।

न्याय में इस घ्राणेन्द्रिय को पार्थिव या पृथिवी तत्त्व से निर्मित माना गया है। क्योंकि जो जिस गुण का ग्रहण करे, उसे उस विशेष गुण वाले द्रव्य से निर्मित होना चाहिये। इस विषय में अनुमानाकार यह है कि जो दूसरे के रूप आदि विशेष–गुणों के अव्यंजक होने के साथ २ केवल गन्ध का व्यंजक हो, वह अवश्य ही पार्थिव होता है। जैसे, कुंकुम अर्थात् केसर की गन्ध का अभिव्यंजक गोघृत पार्थिव है। इसी प्रकार केवल गन्ध की अभिव्यंजक घ्राणेन्द्रिय भी पार्थिव सिद्ध होती है[3]। न्याय में ज्ञान–लक्षण अलौकिक सन्निकर्ष के द्वारा 'सुरभि चन्दनम्' जैसे उदाहरणों में विलक्षण रीति से आँखों से सौरभ का प्रत्यक्ष माना है[4]। पर इसके

१. इन्द्रियं गन्धग्राहकं घ्राणं नासाग्रवर्ति। —तर्कसंग्रह, द्रव्यलक्षण–प्रकरण।
२. महत्त्वं षड्विधे हेतुरिन्द्रियं करणं मतम्। —कारिकावली, प्रत्यक्षखण्ड, श्लोक ५८
३. घ्राणेन्द्रियं पार्थिवं, रूपादिषु मध्ये गन्धस्यैव व्यंजकत्वात्, कुंकुमगन्धाभिव्यंजकगोघृतवत्। —कारिकावली श्लोक ३८ पर मुक्तावली।
४. एवं ज्ञानलक्षणाया अस्वीकारे 'सुरभि चन्दनम्' इति ज्ञाने सौरभस्य भानं कथं स्यात्। —कारिकावली श्लोक ६५ पर मुक्तावली।

अलौकिक होने से इस अनुमान से चक्षु का पार्थिव होना सिद्ध नहीं किया जा सकता।

इस विषय में विज्ञान की दृष्टि से जो कथनीय है, उसे अन्य इन्द्रियों के प्रसंग में विस्तार से कहा जा चुका है।

प्राचीन शास्त्रों के विवरण से संकेत से यह विदित होता है कि इसका अन्य इन्द्रियों की तुलना में मनुष्यों के लिये उतना महत्त्व नहीं है। पर अनेक पशुओं के लिये इसका पर्याप्त महत्त्व है। वैदिक साहित्य में विविध अंगों में ज्ञानेन्द्रियों की अवस्थिति की प्रार्थना के प्रसंग में नासिका में प्राण की प्रार्थना की है, घ्राणेन्द्रिय की नहीं[1]। केनोपनिषद् में कहा है कि वह देव नासिका में अवस्थित प्राणों का भी प्राण है, अर्थात् उसे भी गति देने वाला है। यहाँ शांकर भाष्य में पूछा है कि देव को सभी इन्द्रियों के अधिष्ठाता सिद्ध करने के इस प्रसंग में 'नासिका में घ्राण को शक्ति देने वाला' इस प्रकार क्यों नहीं कहा है। इसके उत्तर में उन्होंने कहा है कि यहाँ श्रुति ने मान लिया है कि प्राण के अन्तर्गत घ्राण भी समाहित है[2]।

लौकिक साहित्य में आँख तथा कान से विहीन पुरुष के लिये क्रमशः 'अन्धा' तथा 'बहरा' शब्द देखने को मिलते हैं। पर घ्राण–शक्ति से विहीन के लिये अलग से कोई शब्द नहीं है। इंग्लिश आदि भाषाओं में भी ऐसी ही स्थिति है। इससे लगता है कि घ्राण शक्ति के होने या न होने को उतना महत्त्वपूर्ण नहीं समझा जाता रहा है।

पर पशुओं के लिये घ्राण का विशेष महत्त्व परिज्ञात रहा है। बाघ में इस विशेषता को देखते हुए इसका 'व्याघ्र' नाम इसी आधार पर रखा गया है[3]। इन पशुओं के लिये गन्ध विविध पदार्थों के स्वभाव का प्रमुख संसूचक है। इसे मानते हुए संस्कृत में 'गन्धन' शब्द सूचन अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है[4]।

न्याय शास्त्र में गन्ध का सौरभ तथा असौरभ अर्थात् सुगन्ध या दुर्गन्ध के रूप में विभाजन किया है। बौद्ध दर्शन में इसके साथ उत्कट तथा अनुत्कट को जोड़

---

१. वाङ्म असन्नसोः प्राणः ....। —अथर्ववेद १९.६०.१

२. श्रोत्रादीन्द्रिय–प्रस्तावे घ्राणस्यैव ग्रहणं युक्तं, न तु प्राणस्य। सत्यमेवम्, प्राणग्रहणेनैव तु घ्राणस्य ग्रहणं कृतमेव मन्यते श्रुतिः। ——केनोपनिषद् १.२ पर शांकर भाष्य।

३. वि आङ् उपसर्गपूर्वक घ्रा धातु से आतश्चोपसर्गे (अ.सू. ३.१.१३६) सूत्र से क प्रत्यय के द्वारा 'व्याजिघ्रति इति व्याघ्रः' इस विग्रह के अनुसार यह शब्द सिद्ध होता है।

४. अष्टाध्यायी सूत्र १.३.३२ में 'गन्धन' शब्द सूचन अर्थ में प्रयुक्त है।

कर चार प्रकार के विभाजन किये हैं[1]। पर यह स्पष्ट है कि उत्कट या अनुत्कट केवल गन्ध की मात्रा में अन्तर बताता है, वस्तु–स्वरूप में नहीं।

स्वरूप तथा प्रकार (विज्ञान)– आधुनिक विज्ञान में माना है कि कोई भी द्रव्य गैसीय अवस्था में ही घ्राण को प्रभावित करके गन्ध की उपलब्धि करा सकता है। दर्शन शास्त्र में भी वायु में उड़े पराग–कणों से गन्ध–ग्रहण के प्रसंग में इसे सर्वथा स्वीकार किया है। विज्ञान ने इसे विस्तृत रूप दिया है। कोई ठोस पदार्थ भी गन्ध की उपलब्धि तभी कराता है, जब उसमें से निकले हुए कण वायु में मिल कर नासिका में घ्राणीय संग्राहक की रोमिकाओं में रासायनिक प्रभाव डालते हैं। रोमिकाओं की रचना लम्बे सूत जैसी होती है। इनका सम्बन्ध मस्तिष्क में अवस्थित घ्राणकन्द (olfactory bulbs) से होता है। ये रोमिकाएँ अपने ऊपर पड़े विविध प्रभावों को इस घ्राण–कन्द के पास सम्प्रेषित करती हैं। यह इस प्रभाव की जिस रूप में व्याख्या करता है, उसे हम 'गन्ध' कह कर पुकारते हैं।

गन्ध के अनेक प्रकार के वर्गीकरण उपलब्ध होते हैं। रसायन शास्त्र की एक पद्धति के अनुसार गन्ध के 'सुरभित' (कस्तूरी के समान), 'अम्ल' (सिरके के सदृश), दग्ध (भुनी हुई कॉफी के समान), अजागन्ध (goat odour) स्वेद आदि के समान– ये चार विभाजन माने गए हैं। इस पद्धति में माना है कि अन्य सभी गन्ध इनके कम या अधिक मिश्रण से प्राप्त किये जा सकते हैं[2]।

---

१. चतुर्विधो गन्धः — सुगन्धदुर्गन्धयोः समविषमत्वात्। अनुत्कटोत्कटगन्धत्वादित्यर्थः।
— अभिधर्मकोश १.१.१० तथा उसकी स्फुटार्था।

२. द्रष्टव्य – मनोविज्ञान, नारमन एल. मन पृ. ४६१